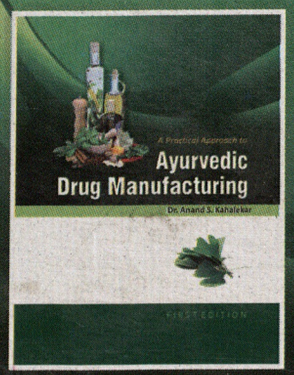

A Practical Approach to

Ayurvedic Drug Manufacturing

Dr. Anand S. Kahalekar

Ayurveda is the incarnation of an imagination of an ideal health which otherwise could have been a dream. No doubt Ayurvedic medical science has a holistic approach to live disease-free long life. Therefore Ayurveda is gaining wide popularity especially in the western countries. Really speaking in this context Ayurvedic medicines have lion's share to put Ayurveda at such a global platform among all medical sciences. A thoroughly well educated student in Ayurvedic pharmaceutical science (Rasashastra and Bhaishajya-Kalpana) having awareness of the situation can really contribute to a great extent to re-establish Ayurveda at the top most position in the medical fraternity spread all over the world.

Therefore it is pertinent to make aware students about the legal status of Ayurvedic medicines especially with respect to the related aspects of Drugs and Cosmetics Act 1940 (and the Rules there under), GMPs (Good Manufacturing Practices), etc. All these ideas and thoughts have been summarized in this book. The present work in the form of book may be useful for all BAMS and MD (Ayu) students, new aspirants entering the vast commercial field of Drug Manufacturing/Pharmacy and all Ayurvedic practitioners.

चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी-221 001 (भारत)

द्रव्यगुण-विज्ञान

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

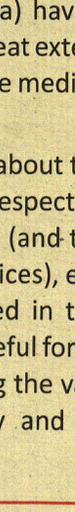

द्रव्यगुण-विज्ञान

द्रव्यगुणे विज्ञाने ग्रन्थो योऽस्ति प्रियव्रतग्रथितः ।
तस्य स्वर्णजयन्ती-संस्करणं भवतु भद्रतरम् ॥

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

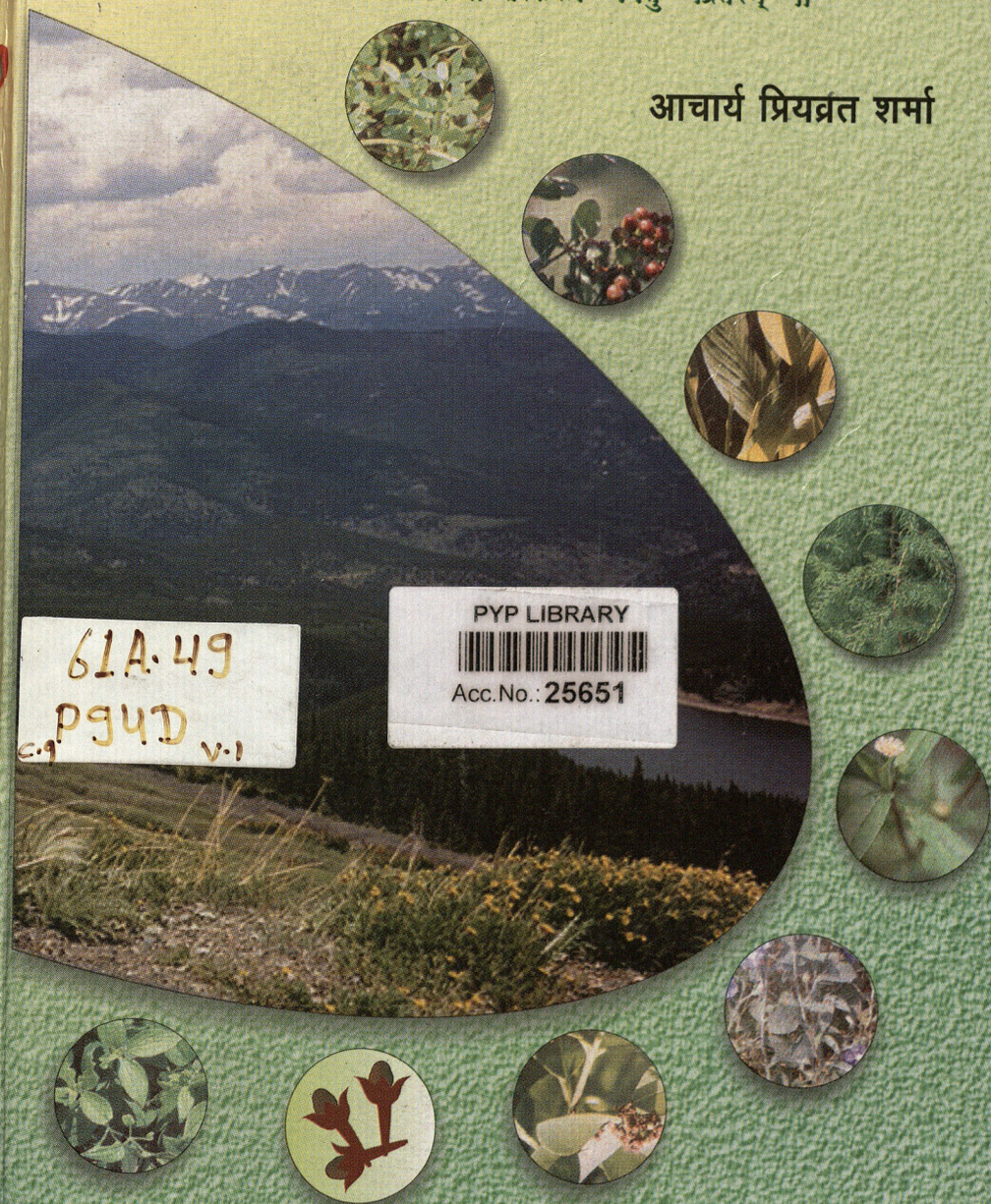

61A.49
P94D
c.1 v.1

PYP LIBRARY
Acc.No.: 25651

वि. आयुर्वेद ग्रन्थमाला
३

द्रव्यगुण-विज्ञान

द्रव्यगुणे विज्ञाने ग्रन्थो योऽस्ति प्रियव्रतग्रथितः।
तस्य स्वर्णजयन्ती-संस्करणं भवतु भद्रतरम्।।

प्रथम भाग
(मौलिक सिद्धान्त)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा
ए.एम.एस., एम.ए. (संस्कृत-हिन्दी), साहित्याचार्य
भूतपूर्व अध्यक्ष, द्रव्यगुणविभाग एवं प्रमुख, आयुर्वेद संकाय,
भूतपूर्व निदेशक, स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राक्कथन लेखक
प्राणाचार्य गोवर्धनशर्मा छांगाणी
सीताबर्डी, नागपुर

चौखम्भा भारती अकादमी
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

द्रव्यगुण-विज्ञान (भाग-१)
₹ 275/=

इस ग्रन्थ का प्रकाशनाधिकार प्रकाशक द्वारा सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का पुनः किसी माध्यम से तैयार होना, सुधार कर आदि किसी पद्धति से संप्रेषण प्रकाशक तथा कापीराइट धारक के पूर्व अनुमति बिना अवैधानिक होगा।

प्रकाशक
चौखम्भा भारती अकादमी
आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
'गोकुल भवन', के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ०५४२-२३३०३४५, २३३०३४९
e-mail : cbavns@gmail.com

© चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी

परिष्कृत स्वर्णजयन्ती-संस्करण : सन् २०१३

१. द्रव्यगुण-विज्ञान (मौलिक सिद्धान्त) प्रथम भाग
२. द्रव्यगुण-विज्ञान (औद्भिद औषध-द्रव्य) द्वितीय भाग, सचित्र
३. द्रव्यगुण-विज्ञान (जांगम, पार्थिव औषध-द्रव्य एवं आहार-द्रव्य) तृतीय भाग
४. द्रव्यगुण-विज्ञान (वैदिक औद्भिद द्रव्य एवं द्रव्यगुण का इतिहास) चतुर्थ भाग
५. द्रव्यगुण-विज्ञान (द्रव्य-विमर्श) पंचम भाग **(१-५ भाग सम्पूर्ण)**

शाखा
चौखम्भा बुक्स
५, यू. ए., जवाहर नगर, (पोस्ट-आफिस के पीछे)
मलकागंज, दिल्ली-११०००७
फोन : ०११-२३८५३१६६

अन्य प्राप्ति स्थान
चौखम्भा विश्वभारती
भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
e-mail : cvbvns@gmail.com

मुद्रक : श्रीजी प्रिंटर्स, वाराणसी

V. AYURVEDA SERIES
3

DRAVYAGUṆA-VIJÑĀNA

Vol. I
(Basic Concepts)

Prof. P.V. Sharma
A.M.S., M.A. (Sanskrit-Hindi), Sahityacharya
Formerly Head, Department of Dravyaguna; Dean, Faculty of Indian Medicine; Formerly Director, Postgraduate Institute of Indian Medicine,
Banaras Hindu University, Varanasi

Preface by
Prāṇācārya Govardhana Śarmā Chāṅgāṇī
Sitābardi, Nagpur

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY
Varanasi (India)

Publishers
CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY
Publishers & Distributors of Monumental Treatises of the East
'Gokul Bhawan' K. 37/109, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221001 (India)
Phone : 0542-2330349, 2330345
e-mail : cbavns@gmail.com

© Chaukhambha Bharati Academy, Varanasi
Revised Golden Jubilee-Edition : Year 2013

610.49
25651
12/3/16

Branch
CHAUKHAMBHA BOOKS
5. U.A. Jawahar Nagar, (Behind Post-office)
Malkaganj, Delhi-110007
Phone : 011-23853166

Also can be had of
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Oriental Publishers & Distributors
K. 37/109, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221001 (India)
e-mail : cvbvns@gmail.com

Printed at Shreejee Printers, Varanasi

प्राक्कथन

आयुर्वेद-शास्त्र में द्रव्यगुणविज्ञान बड़ा उपादेय विषय है। आयुर्वेद का मुख्य उद्देश्य है स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगियों के रोगों को नष्ट कर उनको सुखी करना। यह उद्देश्य तभी सफल होता है जब कि द्रव्यों को सम्यक् प्रकारेण जान कर उनका सदुपयोग किया जाय। जैसे यह सारा दृश्यमान ब्रह्माण्ड (जगत्) पाञ्चभौतिक है वैसे ही उसका यह छोटा-सा रूप पिण्ड (शरीर) भी पाञ्चभौतिक है। समस्त द्रव्य पाञ्चभौतिक तथा औषध है। ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो औषध न हो। पिण्ड और ब्रह्माण्ड से इस प्रकार द्रव्यों का परस्पर समवाय-सम्बन्ध है कि एक दूसरे का काम ही नहीं चल सकता। आयुर्वेद भी उसी का नाम है जो आयुष्य, अनायुष्य तथैव द्रव्य-गुण-कर्म का सम्यक् प्रकारेण बोध कराता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यगुणविज्ञान बड़ा भारी उपादेय विषय है। चिकित्साशास्त्र में वही वैद्य सफलता प्राप्त कर सकता है जो प्रत्येक द्रव्य को भलीभाँति जानता है अर्थात् वह द्रव्य एवं द्रव्य के गुण, कर्म, रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव को भलीभाँति जानता है।

मैं विशुद्ध आयुर्वेद का कट्टर पक्षपाती हूँ और यह अनुभव कर चुका हूँ कि मुद्दत से भारत में चलने वाले मिश्र-पद्धति के महाविद्यालयों से वस्तुतः आयुर्वेद पनपने नहीं पाया है, अपितु उत्तरोत्तर अधिकाधिक उसका गला घोंटा गया है। यह भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि लेबोरेटरियों द्वारा आयुर्वेदिक संशोधन का जो दम भरा जाता है, उनसे आयुर्वेदीय संशोधन ठीक-ठीक नहीं हो सकता। आयुर्वेदीय संशोधन आयुर्वेद के तरीके से ही होना चाहिये। जो कुछ आयुर्वेदिक संशोधन हमारे पूर्वज-महर्षियों आदि द्वारा हुआ है, वह बिलकुल ठीक हुआ है। क्योंकि उनके तरीके से रस-उपरस, धातु-उपधातु आदि का संशोधन होकर जो कल्प, रस, भस्म आदि तैयार होते हैं, उसमें बिलकुल हिचकने की बात नहीं है कि वे प्रत्यक्ष फल देते हैं। वह चिकित्सा प्रायः असफल नहीं होती। मैंने अपनी ८० वर्ष तक की आयु में कई बार यह अनुभव किया है कि जिसका शरीर ठण्डा पड़ गया है, बोली बन्द हो गई है और जो सन्निपात की लहरों में उठापटक कर रहा है, ऐसी अवस्था में आयुर्वेद ही सफलता प्राप्त करता है, न कि आधुनिक पद्धति (Modern system) के कई आविष्कार एवं इंजेक्शन आदि।

कई हमारे समन्वयवादी बन्धु आधुनिक एवं प्राचीन पद्धतियों में समन्वय

करना चाहते हैं। आयुर्वेद का प्रत्यक्ष उपदेश है कि–

ज्वरे प्रथमतः प्रतप्त-सलिलं निवातनिलयं गुरूष्णसिचयम्।

अर्थात् ज्वर के व्याप्त होते ही औटाया हुआ जल, निर्वात स्थान तथा मोटे तथा ऊनी वस्त्र का उपयोग करना चाहिये। जहाँ हमारे एलोपैथिक बन्धु चाहे ज्वर हो, चाहे कोई-सा भी रोग हो, उसमें ठण्डा पानी पीने, हवा में रहने की व्यवस्था करने को कहते हैं। भला इन दोनों परिपाटियों में समन्वय कैसा? कुछ समझ नहीं पड़ता। दो-तीन साल से आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद् चल रही है। उसके पटना एवं हरिद्वार में दो अधिवेशन भी हो चुके हैं; और मैं भी उसका सदस्य हूँ। इस चर्चा में मेरे पूर्व कथनानुसार वैद्य एवं डाक्टर सम्मिलित होते हैं। समन्वय का रास्ता ढूँढते हैं। अभी गत हरिद्वार की चर्चा में द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव के विषय में खूब चर्चा होती रही और सबने मिलकर द्रव्य-गुण विषय में कुछ निश्चय भी किया है परन्तु मैं तो विशुद्ध आयुर्वेद एवं उसका संशोधन आदि उसी के तरीके एवं सीमा में रहे, इस बात का पक्षपाती हूँ। इसका यह अर्थ नहीं कि आधुनिक कल्प, यन्त्रशास्त्राविष्कार आदि सब व्यर्थ है। इनका भी यथास्थान आदर करना ही चाहिए। परन्तु केवल आधुनिक चकाचौंध के भरोसे आयुर्वेद को भूल नहीं जाना चाहिए। आधुनिक प्रणाली से भी उपकार होता है, परन्तु विशेष उपकार करने में, सबसे आयुर्वेद का ही पलड़ा भारी रहता है यह मेरा अनुभव है। अस्तु, हमारे श्रद्धेय आयुर्वेद-वाचस्पति श्री यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य ने द्रव्य-गुण-विज्ञान सविस्तार दो भागों में लिखा है और वह बड़ा ही उपयुक्त है। ऐसी अवस्था में प्रश्न उठ सकता है कि फिर द्रव्यगुण-विज्ञान लिखने की क्या आवश्यकता थी? मैं **'वादे-वादे जायते तत्त्व-बोधः'** का माननेवाला हूँ। प्रत्येक लेखक के विचारों में कुछ न कुछ विशेषता पाई जाती है। अतः यह कोई अनुचित नहीं है कि अन्य ग्रन्थ न लिखा जाये।

श्रीयुत् प्रियव्रत शर्मा एम०ए० हैं और साथ-साथ आयुर्वेदाचार्य भी हैं। आप बेगूसराय (बिहार) के आयुर्वेदिक महाविद्यालय में उपप्रधानाचार्य भी रह चुके हैं। सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। आपने अपने द्रव्यगुण-विज्ञान में अच्छा परिश्रम किया है। आधुनिक एवं प्राचीन प्रणाली का तुलनात्मक विवेचन किया है। अपने वक्तव्य के प्रमाण में यत्र-तत्र आयुर्वेदशास्त्र, दर्शन आदि के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं। मेरा विश्वास है कि पाठकों के लिये आपका यह द्रव्यगुण-विज्ञान उपयोगी होगा। आशा है, पाठक इसे अपना कर लाभ उठायेंगे।

सीतावर्डी, नागपुर
२५ दिसम्बर, १९५४ ई.

श्रीगोवर्धनशर्मा छांगाणी

प्रस्तावना

(स्वर्णजयन्ती-संस्करण)

सन् २००५ द्रव्यगुणविज्ञान का स्वर्णजयन्ती वर्ष है। १९५५ में यह पहली बार प्रकाशित हुआ था उस समय इस विषय का कोई उपयुक्त पाठ्य ग्रन्थ नहीं था जिसकी कमी का अनुभव छात्र एवं अध्यापक सभी कर रहे थे। उस अभाव की पूर्ति यथासम्भव इस ग्रन्थ के द्वारा हुई और अल्पकाल में ही इसने अपना उचित स्थान बना लिया। छात्रों और अध्यापकों ने इसे अपनाया और धीरे-धीरे यह सारे देश एवं विदेश में भी प्रचलित हो गया। बाद में जब केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् गठित हुई तब उसने भी इसका अनुमोदन किया। किसी भी लेखक के लिये यह सौभाग्य का विषय है कि वह अपने ग्रन्थ की स्वर्णजयन्ती के समारोह में सम्मिलित हो।

प्रारम्भ में इसके केवल दो भाग प्रकाशित हुए थे– एक में मौलिक सिद्धान्त था और दूसरे में सभी द्रव्यों का विवरण। बाद में अनेक अध्यापकों के परामर्श से जाङ्गम और पार्थिव द्रव्यों का विवरण पृथक् तृतीय भाग में कर दिया गया। १९६३ में जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ तब कुछ विशेष जानकारी की अपेक्षा होने लगी। इसके लिये इसका चतुर्थ भाग प्रकाशित हुआ जिसमें वैदिक औद्भिद द्रव्यों तथा द्रव्यगुण के इतिहास का विवरण है। द्रव्यों के विमर्श के सम्बन्ध में अनेक विचार समय-समय पर आते रहे। संदिग्धता की बात भी उठाई जाती रही। इसी सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के उद्देश्य से पञ्चम भाग प्रकाश में आया। इस प्रकार तीन दशकों में पाँच भागों में द्रव्यगुणविज्ञान सम्पन्न हुआ।

अध्यापन और शोध के काम में मौलिक सिद्धान्तों का मन्थन होता रहा और आधुनिक विज्ञान के आलोक में नये-नये विचार उद्भूत होते रहे। समस्या यह थी कि पहले तो आयुर्वेद के ऋषि प्रणीत सिद्धान्तों को यथार्थतः हृदयङ्गम किया जाय और फिर उसकी व्याख्या ऐसी भाषा और शैली में की जाय जिससे आयुर्वेदेतर वैज्ञानिकों के लिये भी बुद्धिगम्य हो सके। विगत पाँच दशकों में इस दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ है और विषय की व्याख्या में अपेक्षाकृत अधिक प्राञ्जलता आई है। इस अवधि में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए और अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। मैंने जो चिन्तन के आधार पर पाया उसे समय-

समय पर लेखों और व्याख्यानों के द्वारा प्रकाशित करता रहा, फिर भी यह क्रम निरन्तर चलता रहा। इस संस्करण में प्रयत्न किया गया है कि इस सम्बन्ध में आधुनिकतम विचार सम्मिलित किये जा सकें।

यह भी प्रयत्न किया गया है कि ग्रन्थ को युगानुरूप बनाये रखा जाय तदनुसार इस ग्रन्थ में कई नये अध्याय जोड़े गये हैं। विवरण को अधिक सरल एवं युक्तिसंगत बनाया गया है। इस प्रकार यह संस्करण पिछले संस्करणों से परिष्कृत एवं विशिष्ट हो गया है। पहले पादटिप्पणी के उद्धरणों में स्थलनिर्देश नहीं था यह कमी इसमें दूर कर दी गई है। इनका संकेत विवरण भी दे दिया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ को आद्योपान्त परिमार्जित कर परिष्कृत किया गया है। इस कार्य में प्रोफेसर सत्यदेव दुबे, अध्यक्ष द्रव्यगुण-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सक्रिय भूमिका निभाई है, इसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं। मेरी शुभकामना है कि शास्त्रीय कार्यों में उनकी रुचि एवं तत्परता ऐसी ही बनी रहे।

प्रकाशक भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस कार्य को आगे बढ़ाया और इसे सुरुचिपूर्ण स्वरूप देने में मनोयोग से संलग्न रहे।

अन्त में मैं छात्रों एवं अध्यापकों के प्रति सस्नेह आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इसे अपनाया और इसके प्रचार-प्रसार में योगदान किया।

द्रव्यगुणे विज्ञाने ग्रन्थो योऽस्ति प्रियव्रतग्रथितः।
तस्य स्वर्णजयन्ती-संस्करणं भवतु भद्रतरम्।।

वाराणसी
विजयादशमी
१२ अक्टूबर, २००५

प्रियव्रत शर्मा

प्रस्तावना

(तृतीय संस्करण)

यह संस्करण पाठकों की चिरप्रतीक्षा के बाद प्रकाशित हो रहा है यद्यपि इसका मुद्रण बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था। अनेक कठिनाइयों को पार कर पुनः यह अभिनव रूप में आपके हाथों में है यह हमारे लिए प्रसन्नता का विषय है।

इस संस्करण में अनेक नवीन विचार समाविष्ट किये गये हैं, प्राक्तन विचारों को संशोधित किया गया है तथा अन्य परिवर्तन किये गये हैं जिससे यह ग्रन्थ युगानुरूप हो गया है। कुलानुसार कतिपय प्रमुख वानस्पतिक द्रव्यों की सूची जो पूर्व संस्करण में ग्रन्थभाग में थी अब अनुक्रमणिका में कर दी गई है जिससे विषयक्रम में विशेष व्यवधान न हो। इसके अतिरिक्त उसका आद्योपान्त संशोधन कर अद्यतन रूप दिया गया है। विगत वर्षों में अध्ययन-अध्यापन के क्रम में जो नये-नये विचार प्रादुर्भूत हुये हैं उन सबका यथासम्भव उपयोग ग्रन्थ को अभिनव रूप देने में किया गया है।

मैं सुधीसमाज का आभारी हूँ जिसने इस ग्रन्थ को अपनाकर आसेतुहिमाचल ही नहीं, अन्य देशों में भी इसे अपूर्व लोकप्रियता प्रदान की है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
मालवीय-जयन्ती
दिसम्बर, १९७५

प्रियव्रत शर्मा

प्रस्तावना

(द्वितीय संस्करण)

यह प्रसन्नता का विषय है कि द्रव्यगुण-विज्ञान का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। विगत् १०-१२ वर्षों में आयुर्वेदीय क्षेत्र में बड़े परिवर्तन हुए हैं; अनेक पुरानी संस्थायें लुप्त हो गई और कुछ नवीन संस्थाओं का जन्म हुआ किन्तु इस सारी उथल-पुथल के बावजूद यह ग्रन्थ देश की सभी आयुर्वेदीय संस्थाओं में लोकप्रिय बना रहा। न केवल भारत में अपितु लंका आदि देशों में भी द्रव्यगुण के पठन-पाठन में इसका महत्त्वपूर्ण भाग रहा। इसके अतिरिक्त, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थाओं में भी यह इस विषय का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ रहा।

आयुर्वेद के दो उद्देश्य हैं- एक स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का रक्षण तथा दूसरा रोगी के विकार का निवारण। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि में द्रव्यों की सर्वाधिक उपयोगिता होने के कारण इनका विचार आदि काल से चला आ रहा है। ऋग्वेद, जो भारतीय वाङ्मय का प्राचीनतम स्रोत माना जाता है, में अनेक औषधियों का वर्णन आया है। यह विचार कालक्रम से बढ़ता ही गया और जैसे-जैसे मानव के प्रयोग सफल होते गये नये-नये द्रव्य प्रकाश में आते गये। फलतः परवर्ती वाङ्मय में इनकी संख्या बढ़ती गई और सैकड़ों-हजारों तक पहुँच गई। यह विचारपरम्परा अद्यावधि चल रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि द्रव्यगुण पर जितना वाङ्मय प्रस्तुत हुआ उतना शायद आयुर्वेद के किसी अङ्ग पर नहीं हुआ। आज भी विश्वभर के वैज्ञानिक नये प्रभावकारी द्रव्यों की खोज में तथा प्राचीन द्रव्यों के पुनर्मूल्याङ्कन के महत्त्वपूर्ण कार्य में अहर्निश लगे हुए हैं।

वैज्ञानिक विकास की यह शृङ्खला आयुर्वेदीय द्रव्यगुण के ग्रन्थों एवं निघण्टुओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जब भी किसी नवीन उपयोगी द्रव्य पर आचार्यों की दृष्टि गई उन्होंने उसे अपने ग्रन्थ में सादर स्थान देकर आयुर्वेद में आत्मसात् कर लिया। इस ग्रन्थ में भी इसी आदर्श और परम्परा को ध्यान में रखकर अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया। विज्ञान की तीव्र प्रगति को देखते हुए यह आवश्यक है कि समय-समय पर इस विषय का सिंहावलोकन एवं निरीक्षण होता रहे और नये संस्करणों में इन नवीन विचारों का समावेश होता

रहे। इस प्रकार ग्रन्थ समय-समय पर परिष्कृत एवं प्रतिसंस्कृत होता रहेगा और ज्ञान की दृष्टि से भी आधुनिकतम रहेगा।

प्रस्तुत संस्करण में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया है कि द्रव्यों के वैज्ञानिक नाम आधुनिकतम दिये गये हैं। इस प्रकार यह प्रकरण प्रायः सर्वथा नवीन हो गया है। द्रव्यगुण के ऐतिहासिक अध्ययन में भी नवीन तथ्यों की दृष्टि से किञ्चित् परिवर्तन किये गये हैं। सैद्धान्तिक स्थल में भी यत्र-तत्र परिवर्तन किये गये हैं। आशा है, इससे विद्वानों एवं जिज्ञासुओं को सन्तोष होगा।

इस कार्य में अपने विभाग के सहयोगी अध्यापक डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर ने सहायता दी है इसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१८ सितम्बर, १९६८

प्रियव्रत शर्मा

दो शब्द

करामलकवत् सर्वं द्रव्यं विज्ञानचक्षुषा।
साक्षात्कृतवते तस्मै भावमिश्राय मे नमः।।

आये दिन आयुर्वेद का द्रव्यगुण न केवल भारतीयों के लिये ही अपितु समस्त भूमण्डल के वैज्ञानिकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना रहा है। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिकाधिक उपयोग मानव को स्वस्थ एवं सबल बनाने में किया जाय इस दृष्टि से राष्ट्र भी इस ओर टकटकी लगाये हैं। यह तो सत्य है कि अतीत काल में जो वैभव आयुर्वेद के हाथों था वह अब नहीं रहा तथापि उसका विकास स्वरलहरी के समान कभी मन्द और कभी तीव्र गति से होता ही जा रहा है, कभी रुका नहीं। काल के अनन्त वारिधि में शताब्दियाँ और सहस्राब्दियाँ तरंग-बुदबुद के समान हैं जिन पर बहुत अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। गतिरोध भी विकास की शृङ्खला में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है जो भविष्य के लिये जागरूकता और नवीन शक्ति का सन्देश देता है।

आयुर्वेद तथा आयुर्वेदीय द्रव्यगुण भी इसके अपवाद नहीं हैं। आयुर्वेद की वैज्ञानिक चिन्ताधारा का प्रवाह अब तक रुका नहीं है यद्यपि राजनीतिक कारणों से गत अनेक शताब्दियाँ इसमें अवरोध उत्पन्न करती रहीं। नवनवोन्मेषशालिता, गुणग्राहिता एवं सत्य-परीक्षण में आयुर्वेद कभी पीछे नहीं रहा। प्रतिरोधी युगों में भी इसने अनेक नवीन विचारों को आत्मसात् किया इसके अनेक उदाहरण इतिहास में उपलब्ध हैं। वैदिक युग से लेकर बौद्धकाल, हिन्दूकाल, यवनकाल, ब्रिटिशकाल एवं वर्त्तमानकाल तक जितने भी चिन्तक और लेखक हुए सबने तत्कालीन विचारधाराओं से अपना सामञ्जस्य स्थापित किया। आजकल जो समन्वय की चर्चा चतुर्दिक् सुनाई पड़ती है वह भी उसी धारा का एक विवर्तमात्र है। विज्ञान की अचल शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण ही आयुर्वेद का आकाशदीप उन्नतशिर नील नभोमण्डल में अपनी सुधाधवल रश्मियों से अनागम-झञ्झावात में पथभ्रष्ट भिषक्सामुद्रिकों का अनादिकाल से कल्याणकारी पथप्रदर्शन करता आ रहा है। चरकसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, माधवनिदान, शार्ङ्गधर, आयुर्वेदविज्ञान, सिद्धान्तनिदान और आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान में अन्तर्निहित विकासक्रम की जो रेखा है वह स्पष्टतः देखी जा सकती है। इसी प्रकार द्रव्यगुण के क्षेत्र में भी वैदिक काल से लेकर अब तक बृहत्त्रयी, कैयदेवनिघण्टु, धन्वन्तरिनिघण्टु, राजनिघण्टु, मदनविनोद,

भावप्रकाश, राजवल्लभनिघण्टु, निघण्टु-संग्रह, निघण्टुरत्नाकर, शालिग्रामनिघण्टु, निघण्टु आदर्श तथा द्रव्यगुणविज्ञानम् के रूप में वैज्ञानिक विकास की धारा अविरत गति से प्रवाहित होती आ रही है। यद्यपि यह बात अवश्य है कि भारतीयों की अन्तरग्नि क्षीण हो जाने के कारण सामाजिक तथा वैज्ञानिक सात्मीकरण (Social and scientific metabolism) की जो शक्ति उनमें पहले थी वह बीच में नहीं रही और इस कारण उसका क्रम कुछ मन्द अवश्य हो गया किन्तु वह प्रवृत्ति नितान्त लुप्त हो गई, यह कहना कठिन है। तथ्य तो यह है कि सरस्वती की अन्तर्धारा के समान यह चिन्ताधारा कुछ काल के लिये सूक्ष्म और अन्तर्हित अवश्य हो गई किन्तु वह सदैव जीवित रहकर शास्त्र को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जीवित रख सकी और अब अनुकूल समय पाकर पुनः वेग के साथ धरातल पर अवतीर्ण हो रही है।

भावप्रकाश भारत में अङ्गरेजों के पदार्पण के समय लिखा गया था और 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' तब प्रकाशित हुआ जब अङ्गरेजों की अन्तिम बिदाई भारत से हो रही थी। भावप्रकाश ने एक ओर पारसीकवचा, पारसीकयवानी, द्वीपान्तरवचा प्रभृति अनेक मध्ययुगीन द्रव्यों को आत्मसात् किया तो दूसरी ओर 'द्रव्यगुण-विज्ञान' भी इसमें पीछे नहीं रहा और उसने आधुनिक युग की सिनकोना, बेलाडोना, डिजिटैलिस आदि अनेक द्रव्यों का समावेश किया। इन दोनों प्रमुख रचनाओं के बीच ४०० वर्षों की लम्बी खाई है फिर भी उनकी मौलिक प्रवृत्तियों में तनिक भी अन्तर नहीं दीखता, यह पर्यवेक्षकों के लिये विस्मय का विषय है।

आयुर्वेदीय द्रव्यगुण की दिशा में आचार्य यादव जी का 'द्रव्यगुण-विज्ञानम्' आधुनिक युग की सर्वप्रथम देन है और वर्तमान काल में आयुर्वेद की देहली पर उन्होंने द्रव्यगुण का पहला दीप संजोया है, किन्तु इससे यह सन्तोष कर लेना कि अब द्रव्यगुण का कार्य समाप्त हो गया अपनी परम्परा के विरुद्ध सोचना है। उन्होंने तो एक सोपान बनाया है जिस पर भावी सन्तति को ऊपर चढ़ना होगा। वैज्ञानिक परम्परा का विकास भी तो समुचित रूप से तभी होगा जब विभिन्न दृष्टिकोणों से शास्त्र का मन्थन कर नित-नूतन साहित्य प्रकाशित होता रहे। अतएव इस दीपावली में एक छोटा-सा दीपक विज्ञान-भारती के पुनीत प्रांगण में उपस्थित करने का दुःसाहस मैं कर रहा हूँ। यदि इसके मन्द प्रकाश से भी पाठकों को कुछ आलोक मिल सका तो मेरा यह दीपदान सार्थक होगा।

अब कुछ प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में। द्रव्य, उसमें स्थित गुण-कर्म तथा उसके विभिन्न कल्पों की विशद व्याख्या के लिये इस ग्रन्थ के चार खण्ड किये गये हैं- द्रव्यखण्ड, गुणखण्ड, कर्मखण्ड और कल्पखण्ड। द्रव्यखण्ड में द्रव्य का

वर्गीकरण रचनानुसार (Morphological), कुलानुसार (Genaeological), कर्मानुसार (Pharmacological) तथा मिश्रक (Mixed), इस क्रम से विस्तृत रूप में दिया गया है। उनमें भी प्राच्य और पाश्चात्य दोनों मत उपस्थित किये गये हैं। आयुर्वेदीय औषध-द्रव्यों को आधुनिक शैली से शरीर के प्रत्येक संस्थान पर होने वाले कर्म की दृष्टि से भी व्यवस्थित किया गया है तथा मिश्रक गणों की भी एक नवीन व्यवस्था दी गई है। अन्त में, द्रव्यों के वर्गीकरण की ऐतिहासिक और तुलनात्मक समीक्षा की गई है। गुणखण्ड में गुणों का वर्गीकरण तथा उनका दोष-धातु-मलों पर प्रभाव उदाहरण के साथ विशद् रूप में वर्णित है। रस के कर्म भी इसी प्रकार सांस्थानिक क्रम से सुव्यवस्थित किये गये हैं। विपाक के सम्बन्ध में प्रचलित मतभेदों की विस्तृत समीक्षा की गई है। वीर्य के स्वरूप एवं प्रभाव के वर्गीकरण में भी मौलिक दृष्टिकोण रक्खा गया है। कर्मखण्ड में द्रव्य के कर्मों की व्याख्या प्राचीन और नवीन दोनों दृष्टियों से की गई है। अनेक आधुनिक कर्मों की व्याख्या आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार करने का प्रयत्न किया गया है। प्रभावजन्य कर्मों का विवेचन भी सरल और बुद्धिगम्य बनाया गया है। कल्पखण्ड में जानबूझ कर विषय का संक्षेप अत्यधिक किया गया है क्योंकि भैषज्य-कल्पना यद्यपि द्रव्यगुण का ही एक अङ्ग है तथापि अब इसका साहित्य इतना बढ़ गया है और कलेवर इतना विस्तृत हो गया है कि उसकी मर्यादा को इस सीमा से समेटना न तो सम्भव ही है और न उचित ही। अतएव यहाँ पर आवश्यक बातों का सामान्य परिचयमात्र दिया गया; जिससे उस विषय में पाठकों की रुचि और प्रवृत्ति उत्पन्न हो सके। विशेष ज्ञान के लिए तत्सबन्धी अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

समस्त ग्रन्थ के विवेचन में आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक शैली को प्रधानता दी गई है। ग्रन्थ से सम्बन्ध रखनेवाले मूलवाक्य सर्वत्र टिप्पणी (फुटनोट) में दे दिये गये हैं जिससे मूलग्रन्थ की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित हो। अनावश्यक टीका-टिप्पणी नहीं दी गई है यद्यपि सभी टीकाओं का सार संकलित कर दिया गया है। सारांश यह कि अध्यापन के फलस्वरूप जो समस्यायें मेरे समक्ष उपस्थित हुई उन्हींके समाधान में इस ग्रन्थ का आविर्भाव हुआ है।

द्रव्यों के आधुनिक रचनानुसार वर्गीकरण में मेरे समादरणीय प्रोफेसर बलवन्त सिंह जी एम०एस्-सी० से प्रचुर सहयोग-लाभ हुआ है तदर्थ मैं उनका अतीव कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त जिन-जिन ग्रन्थों से इस पुस्तक के निर्माण में सहायता प्राप्त हुई है। उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। विशेषत: प्रात:स्मरणीय आचार्य यादव जी के प्रति अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि

अर्पित करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने वर्त्तमान युग में आयुर्वेद तथा द्रव्यगुण को एक नवीन दिशा प्रदान की है और भावी लेखकों का मंगलमय पथप्रदर्शन किया है।

भारत के विद्यावयोवृद्ध आयुर्वेदपारङ्गत मनीषी भिषक्शिरोमणि प्राणाचार्य श्री पं० गोवर्धन शर्मा छाङ्गाणी जी का मैं अतीव उपकृत हूँ जिन्होंने मुझ पर इतनी कृपा कर आशीर्वाद के रूप में प्राक्कथन लिखने का कष्ट उठाया।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक महोदय श्रीमान् बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त भी परम धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी निरन्तर प्रेरणा से ही मेरी लेखनी का आलस्य दूर हुआ और इतने अल्प काल में इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका। बन्धुवर पं. रामचन्द्र झा जी को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ, जो मुद्रणकाल में मेरी रचनाओं को सर्वदा अपनी स्नेहदृष्टि से सिञ्चित करते रहते हैं।

आशा है, यह ग्रन्थ अध्यापकों और छात्रों के काम आयगा।

सद्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिता भावप्रकर्षोज्ज्वला।
कल्पान्ता सरसा सवीर्यविभवा पाकप्रभावान्विता
तोषार्थं विदुषां मुदे च सुहृदामास्तां मदीया कृति:।।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा, सं० २०११ — **प्रियव्रत शर्मा**
काशी

संकेत-विवरण

अ०को०– अमरकोश
अथर्व०– अथर्ववेद (शौनकीय)
अ०द०– अरुणदत्त
अ०सं०– अष्टाङ्गसंग्रह
अ०ह०– अष्टाङ्गहृदय
आ०– आढमल्ल
इ०– इन्द्रियस्थान
उ०– उत्तरतन्त्र
उ०रा०– उत्तररामचरित
ऋ०– ऋग्वेद
क०– कल्पस्थान
कर०– करवीरादि वर्ग
का०सं०– काश्यपसंहिता
कै०नि०– कैयदेवनिघण्टु
क्षे०कु०– क्षेमकुतूहल
खि०– खिलस्थान
गं०– कविराज गंगाधरकृत चरकसंहिताव्याख्या (जल्पकल्पतरु)
गी०– श्रीमद्भगवद्गीता
गु०– गुडूच्यादि वर्ग
च०– चरकसंहिता
चक्र०– चक्रपाणिदत्तकृत चरकसंहिता-व्याख्या (आयुर्वेददीपिका) और सुश्रुतसंहिताव्याख्या (भानुमती)
च०द०– चक्रदत्त (चिकित्सासारसंग्रह)
चि०– चिकित्सास्थान
ड०– डल्हणकृत सुश्रुतसंहिताव्याख्या (निबन्धसंग्रह)
दि०– दिनचर्यादिप्रकरण
द्र०– द्रष्टव्य
द्र०गु०सं०– द्रव्यगुणसंग्रह
ध०नि०– धन्वन्तरिनिघण्टु
ध०नि०उप०– धन्वन्तरिनिघण्टु उपक्रमभाग
नि०– निदानस्थान
प०प्र०– परिभाषाप्रदीप
पं०भू०– पञ्चभूत विज्ञानम् (उपेन्द्रनाथ दास विरचितम्)
पू०– पूर्वखण्ड
प्र०पा०भा०– प्रशस्तपाद भाष्य
ब्र०सू०– ब्रह्मसूत्र
भा०– भाष्य
भा०प्र०– भावप्रकाश
भा०प्र०नि०– भावप्रकाशनिघण्टु
भू०– भूम्यादि वर्ग
भै०र०– भैषज्यरत्नावली
मधु०– मधुकोश-व्याख्या
मनु०– मनुस्मृति
मा०नि०– माधवनिदान
मि०– मिश्रकादिवर्ग
या०नि०– यास्कनिरुक्त
यो०– योगीन्द्रनाथ सेन कृत चरकसंहिताव्याख्या (चरकोपस्कार)
र०चू०– रसेन्द्रचूडामणि
र०त०– रसतरंगिणी
र०र०स०– रसरत्नसमुच्चय
र०वै०– रसवैशेषिकसूत्र
रा०नि०– राजनिघण्टु
वि०– विमानस्थान
वै०को०– वैजयन्ती कोश
वै०जी०– वैद्यजीवन
वै०द०– वैशेषिकदर्शन
वै०सू०– वैशेषिकसूत्र
शा०– शारीरस्थान
शा०उ०– शार्ङ्गधरसंहिता उत्तरखण्ड
शा०पू०– शार्ङ्गधरसंहिता पूर्वखण्ड
शा०म०– शार्ङ्गधरसंहिता मध्यमखण्ड
शि०– शिवदाससेनकृतचरकसंहिता-व्याख्या (चरकतत्त्वप्रदीपिका) और द्रव्यगुणसंग्रहव्याख्या
सं०– सन्धानादि वर्ग
सां०द०– सांख्यदर्शन
सि०– सिद्धिस्थान
सि०म०प्र०– सिद्धमन्त्रप्रकाश
सु०– सुश्रुतसंहिता
सू०– सूत्रस्थान
स्व०– स्वरचित
ह०– हरीतक्यादि वर्ग
हा०– हाराणचन्द्रकृतसुश्रुतसंहिताव्याख्या (सुश्रुतार्थसन्दीपन)

विषय-सूची

उपक्रम	पृष्ठ सं०
द्रव्यगुण	३-८
परिभाषा	३
महत्त्व और प्रयोजन	३
विभाग	६
पदार्थ (Basic concepts)	७
प्रथम खण्ड-द्रव्य (Substance)	
प्रथम अध्याय	११-२०
निरुक्ति	११
लक्षण (Definition)	११
पाञ्चभौतिक निष्पत्ति (Pāñcabhautika composition)	१२
औषधत्व (Dravya as drug)	१४
प्राधान्य (Importance)	१५
द्वितीय अध्याय	२१-२३
द्रव्यों का नामकरण एवं पर्याय (Nomenclature and synonyms of dravyas)	२१
तृतीय अध्याय	२४-३७
द्रव्यों का मौलिक वर्गीकरण (Basic classification of dravyas)	२४
चतुर्थ अध्याय	३८-४३
द्रव्यों का रचनात्मक वर्गीकरण (Morphological classification)	३८
आधुनिक और प्राचीन रचनानुसार वर्गीकरण में अन्तर	३८
चरकोक्त वर्ग	३८
सुश्रुतोक्त वर्ग	३९
चरक और सुश्रुत का रचनात्मक वर्गीकरण : एक तुलनात्मक समीक्षा	४०
औद्भिद द्रव्यों का आधुनिक रचनात्मक वर्गीकरण (Morphological classification)	४०
पञ्चम अध्याय	४४-६३
द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण (Pharmacotherapeutical classification)	४४
चरकोक्त वर्ग	४५-६३

षष्ठ अध्याय ६४-८९
सुश्रुतोक्त गण ६४
चरक और सुश्रुत का कर्मात्मक वर्गीकरण– एक तुलनात्मक समीक्षा ८६
सप्तम अध्याय ९०-९८
वाग्भटोक्त वर्गीकरण ९०
अष्टाङ्गहृदय ९०
अष्टाङ्गसङ्ग्रह ९७
अष्टम अध्याय ९९-१००
रसशास्त्र में प्रयुक्त द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण ९९
नवम अध्याय १०१-११३
सांस्थानिक कर्मात्मक वर्गीकरण (Systemic pharmacological classification) १०१
दशम अध्याय ११४-१३५
मिश्रक वर्गीकरण (Mixed classification) ११४
औद्भिद गण ११४
जाङ्गम गण १३१
भौम गण १३३
मिश्रगण १३५
एकादश अध्याय १३६-१४६
द्रव्यों के वर्गीकरण का विकास : ऐतिहासिक समीक्षा १३६
वैदिक युग १३६
संहिता-काल १३७
निघण्टु-वाङ्मय १४२

द्वितीय खण्ड-गुण (Property)

प्रथम अध्याय १४९-१६१
गुण
निरुक्ति १४९
लक्षण १४९
वर्गीकरण १५०
स्वरूप १५५
कार्मुकता १५८
द्वितीय अध्याय १६२-१७५
गुर्वादि गुण १६२

तृतीय अध्याय १७६-१८९
परादि गुण १७६
गुण का प्राधान्य १८४
गुण का महत्त्व १८६
चतुर्थ अध्याय १९०-२३३
रस
निरुक्ति १९०
लक्षण १९१
संख्या १९१
पाञ्चभौतिक आधार १९६
रस और अनुरस १९७
रसों का वैशिष्ट्य १९८
भौतिक निष्पत्ति का निर्धारण २०५
रस की उपलब्धि २०७
रस का रूपान्तर २०७
रसों का वर्गीकरण २०९
रसों का लक्षण २०९
रसों के गुण २११
रसों के कर्म २१४
शामक रस २१९
कोपक रस २१९
औषध में रसों का प्रयोग-क्रम २२०
आहार में रसोपयोग-क्रम २२२
रसों के अतियोग से उत्पन्न होने वाले रोग २२३
रस-भेद-विकल्प २२५
अनेकरस द्रव्यों के प्रभाव का विश्लेषण २२९
रसों का औषधीय प्रयोग २३०
रस का प्राधान्य २३१
रस का महत्त्व २३३
पञ्चम अध्याय २३४-२६२
विपाक
निरुक्ति २३४
लक्षण २३४
विपाक का स्वरूप २३६
प्रकार-निरूपण २४१

विपाक के गुण-कर्म २५८
विपाक का तारतम्य २५९
विपाक की उपलब्धि २६०
रस और विपाक २६०
विपाक का प्राधान्य २६२
षष्ठ अध्याय २६३-२७८
वीर्य
निरुक्ति २६३
लक्षण २६३
स्वरूप २६३
संख्या २६९
भौतिक सङ्घटन २७३
कर्म २७३
उपलब्धि २७५
वीर्य का निर्धारण २७६
वीर्य का प्राधान्य २७७
सप्तम अध्याय २७९-२८५
प्रभाव
निरुक्ति २७९
लक्षण २७९
स्वरूप २८०
प्रभावजन्य कर्म २८१
प्रभावजन्य विशिष्ट कर्म का आधार २८१
प्रभाव का प्राधान्य २८३
वीर्य और प्रभाव में अन्तर २८४
अष्टम अध्याय २८६-२८७
द्रव्यगत पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध २८६

तृतीय खण्ड-कर्म (Action)

प्रथम अध्याय २९१-२९७
कर्म
निरुक्ति २९१
लक्षण २९१
स्वरूप २९१
द्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया २९२
प्रकार २९३

कर्मों का वैज्ञानिक विश्लेषण २९४
कर्मों का वर्गीकरण २९५
द्वितीय अध्याय २९८-३०४
नाडीसंस्थान के कर्म २९८
मेध्य (Intellect-promoting) २९८
मदकारी (Narcotic) २९९
संज्ञास्थापन ३०२
निद्राजनन (Hypnotic) ३०२
निद्राहर (Anti-hypnotic) ३०३
वेदनास्थापन (Analgesic) ३०३
आक्षेपजनन (Convulsant) ३०४
आक्षेपशमन (Anti-convulsant) ३०४
तृतीय अध्याय ३०५-३१७
इन्द्रियाधिष्ठानों के कर्म ३०५
चक्षुष्य ३०५
दृष्टि विकासी (Mydriatic) ३०५
दृष्टिसङ्कोची (Myotic) ३०६
कर्ण्य ३०६
शिरोविरेचन (नस्य) ३०७
रेचन ३०७
तर्पण ३०७
शमन ३०८
नावन ३०८
अवपीड ३०८
ध्मापन ३०८
धूम ३०८
प्रतिमर्श ३०८
स्वेदन ३०९
स्वेदोपग ३११
स्वेदापनयन ३११
रोमसञ्जनन ३१२
रोमशातन ३१२
केश्य ३१२
केशवर्धन ३१२
केशरञ्जन ३१३

प्रतिक्षोभक ३१३
रक्तोत्क्लेशक ३१४
स्फोटजनन (अरुष्कर) ३१४
क्षारण ३१४
व्रणहर ३१४
पाचन ३१४
दारण ३१४
प्रपीडन ३१४
शोधन ३१४
रोपण ३१४
स्नेहन ३१५
स्नेहोपग ३१५
रूक्षण ३१५
वर्ण्य ३१६
कण्डूघ्न ३१६
कुष्ठघ्न ३१६
उदर्दप्रशमन ३१७
पूतिहर ३१७
रक्षोघ्न ३१७
दुर्गन्धहर ३१७
चतुर्थ अध्याय ३१८-३२२
रक्तवहसंस्थान के कर्म ३१८
हृदय पर द्रव्यों के कर्म ३१८
हृद्य (Cardiac tonic) ३१९
हृदयोत्तेजक (Cardiac stimulant) ३१९
हृदयावसादक (Cardiac depressant) ३१९
रक्तभारवर्धक (Hypertensive) ३२०
रक्तभारशामक (Hypotensive) ३२०
रसवहसंस्थान के कर्म ३२१
शोथहर ३२१
शोथजनन ३२२
गण्डमालानाशक ३२२
पञ्चम अध्याय ३२३-३२५
श्वसनसंस्थान के कर्म ३२३
श्वसनोत्तेजक (Respiratory stimulant) ३२३

श्वसनावसादक (Respiratory depressant) ३२३
कफनि:सारक (Expectorant) ३२३
कासहर (Bronchial sedative or anti-tussive) ३२४
श्लेष्मपूतिहर (Pulnonary antiseptic) ३२४
श्वासहर (Bronchial antispasmodic) ३२५
हिक्कानिग्रहण ३२५
कण्ठ्य (Beneficial for throat) ३२५
षष्ठ अध्याय ३२६-३४६
पाचनसंस्थान के कर्म ३२६
मुखगत कर्म ३२६
लालाप्रसकजनन (Sialagogue) ३२६
लालाप्रसेकशमन (Anti-sialagogue) ३२७
तृष्णानिग्रहण ३२७
दुर्गन्धनाशन ३२८
वैशद्यकारक ३२८
दन्त्य (Dentifrice) ३२८
दन्तशोधन ३२८
दन्तदार्ढ्यकर ३२९
आमाशयगत कर्म ३२९
तृप्तिघ्न ३२९
रोचन ३३०
दीपन (Stomachic) ३३१
पाचन (Digestive) ३३२
दीपन और पाचन में अन्तर ३३२
अग्निसादन ३३३
विदाही ३३४
विदाहशामक (Gastric sedative) ३३४
वमन (Emetic) ३३४
वमनोपग ३३६
छर्दिनिग्रहण (Anti-emetic) ३३६
उपशोषण ३३६
आन्त्रगत कर्म ३३६
वातानुलोमन ३३७
विष्टम्भी ३३७
पुरीषजनन ३३७

विरेचन (Purgative) ३३८
मृदुविरेचन (Laxative) ३४०
सुखविरेचन (Purgative) ३४०
तीक्ष्णविरेचन (Drastic purgative) ३४०
पित्तविरेचन (Cholagogue purgative) ३४०
विरेचनोपग ३४१
उभयतोभागहर ३४१
पुरीषसङ्ग्रहणीय ३४१
ग्राही ३४१
स्तम्भन ३४२
ग्राही और स्तम्भन के भेद ३४२
पुरीषविरजनीय ३४३
भेदनीय ३४३
शूलप्रशमन ३४३
आस्थापन ३४३
आस्थापनोपग ३४४
अनुवासन ३४४
अनुवासनोपग ३४४
कृमिघ्न ३४४
अर्शोघ्न ३४६

सप्तम अध्याय ३४७-३४८
यकृत्-प्लीहा के कर्म ३४७
यकृत् के कर्म ३४७
पित्तस्रावक (Choleretic) ३४७
पित्तसारक (Cholagogue) ३४७
पित्तस्रावरोधक (Anticholagogue) ३४८
पित्ताश्मरी-भेदन (Biliary lithontriptic) ३४७
प्लीहा के कर्म ३४७
प्लीहवृद्धिहर ३४८

अष्टम अध्याय ३४९-३५३
प्रजननसंस्थान के कर्म ३४९
स्त्री-प्रजननसंस्थान के कर्म ३४९
प्रजास्थापन ३४९
गर्भरोधक ३५०
गर्भाशयसङ्कोचक (Ecbolic) ३५०

गर्भाशयशामक (Uterine sedative) ३५०
आर्त्तवजनन (Emmenagogue) ३५०
आर्त्तवरोधक (Anti-emmenagogue) ३५१
स्तन्यजनन (Galactogogue) ३५१
स्तन्यरोधक (Anti-galactogogue) ३५१
स्तन्यशोधन ३५१
पुं-प्रजननसंस्थान के कर्म ३५१
वाजीकरण (Aphrodisiac) ३५२
शुक्रजनन ३५२
शुक्ररेचन ३५२
शुक्रजनन-रेचन ३५३
शुक्रस्तम्भन ३५३
कामसादक (Anaphrodisiac) ३५३
शुक्रशोधन ३५३
शुक्रशोषण ३५३

नवम अध्याय ३५४-३५६
मूत्रवहसंस्थान के कर्म ३५४
मूत्रविरेचनीय (Diuretic) ३५४
मूत्रविरजनीय ३५५
अश्मरीभेदन (Urinary lithontriptic) ३५५
मूत्रसङ्ग्रहणीय (Anti-diuretic) ३५६
मूत्रविशोधन (Urinary antiseptic) ३५६

दशम अध्याय ३५७-३५८
सार्वदैहिक कर्म ३५७
ज्वरघ्न ३५७
सन्तापहर (Antipyretic) ३५७
आमपाचन ३५७
विषमज्वरघ्न (Antiperiodic) ३५८
दाहप्रशमन (Refrigerant) ३५८
शीतप्रशमन ३५८
मधुरकजनन ३५८
मधुरकशमन ३५८

एकादश अध्याय ३५९-३६१
सार्वधातुक कर्म ३५९
जीवनीय (Vitaliser) ३५९

आयुष्य (Life-promoter) ३५९
सन्धानीय (Union-promoter) ३५९
बल्य (Tonic) ३६०
ओजोवर्धक ३६०
ओजोह्रासक (विकासी) ३६०
रसायन ३६०
विष (Poison) ३६१
विषघ्न या प्रतिविष (Antidote) ३६१
अङ्गमर्दप्रशमन ३६१

द्वादश अध्याय ३६२-३६८
धातुकर्म ३६२
रसवर्धन ३६२
रसक्षपण ३६२
शोणितस्थापन ३६३
रक्तवर्धन ३६३
रक्तकणवर्धन (Haematinic) ३६३
अम्लवर्धक ३६४
क्षारवर्धक ३६४
रक्तस्तम्भन (Haemostatic) ३६४
रक्तस्रावक ३६४
रक्तक्षपण ३६४
रक्तदूषण ३६४
रक्तप्रसादन ३६५
बृंहण ३६५
लङ्घन ३६५
श्रमहर ३६६
उत्सादन ३६६
अवसादन ३६६
मेदोवर्धन ३६६
मेद:क्षपण ३६७
अस्थिवर्धन ३६७
अस्थिक्षपण ३६७
अस्थिसन्धानीय ३६७
मज्जवर्धन ३६७
मज्जक्षपण ३६७

शुक्रवर्धन ३६८
शुक्रनाशन ३६८
स्रोतों के कर्म ३६८
अभिष्यन्दी ३६८
प्रमाथी ३६८

त्रयोदश अध्याय ३६९-३७१
दोषकर्म ३६९
वातकोपन ३६९
वातशमन ३६९
पित्तकोपन ३६९
पित्तशमन ३७०
कफकोपन ३७०
कफशमन ३७०
संशमन ३७०
कर्मों का उपसंहार ३७१

चतुर्थ खण्ड-कल्प (Pharmacy)

प्रथम अध्याय ३७५-३८०
• द्रव्य-परिचय (Indentification of drugs) ३७५
देश-विभाग (Ecology) ३७७
आनूप देश ३७७
जाङ्गल देश ३७७
साधारण देश ३७८
काल-विभाग ३७८
आधुनिक कालमान ३७९
ऋतुविभाग ३७९

द्वितीय अध्याय ३८१-३८९
• द्रव्य का सङ्ग्रहण और भण्डारण (Collection & storage of drugs) ३८१
भूमि-परीक्षा ३८१
प्रशस्त भूमि ३८२
सङ्ग्रहणीय द्रव्य ३८३
सङ्ग्रह-विधि ३८३
विशिष्ट सङ्ग्रह-काल ३८४
विशिष्ट ओषधियों का सङ्ग्रह ३८६
आहार-द्रव्यों का सङ्ग्रह ३८६
जाङ्गम द्रव्यों का सङ्ग्रह ३८७

- द्रव्यों का भण्डारण (Storage) ३८७
- भेषजागार (Store-house) ३८८
- भण्डारण की अवधि ३८८
- द्रव्यों का संरक्षण (Preservation) ३८८

तृतीय अध्याय ३९०-३९७

मान-परिभाषा ३९०
मान की निरुक्ति ३९०
मानज्ञान का प्रयोजन ३९०
मान के प्रकार ३९०
पौतव मान ३९०
द्रुवय मान ३९०
पाय्य मान ३९०
पौतव मान ३९१
मागध और कालिङ्ग मान ३९४
चरक, सुश्रुत और शार्ङ्गधर के मतों का आधुनिक मत से समन्वय ३९५
दाशमिक पौतव मान (Metric system) ३९५
आयुर्वेदीय द्रुवय मान ३९६
दाशमिक द्रुवयमान (Metric system) ३९६
भारतीय पाय्यमान ३९६
दाशमिक पाय्यमान (Metric system) ३९७
तुलनात्मक स्वरूप ३९७

चतुर्थ अध्याय ३९८-४०२

- द्रव्यों की अशुद्धियाँ और उनका शोधन (Impurities of drugs and their purification) ३९८
- भौतिक (Physical) ३९८
- रासायनिक (Chemical) ३९८
- सहज (Natural) ३९८
- शोधन ३९८
- शोधन का प्रयोजन ३९८
- शोधन की सामान्य विधियाँ (General methods of purification) ३९९
- विशिष्ट द्रव्यों का शोधन ४००

पञ्चम अध्याय ४०३-४१८

भैषज्यकल्पना (Pharmacy) ४०३
भेषज-निर्माणशाला ४०३
निर्माणशाला के उपकरण ४०३

कल्प (Pharmaceutical preparations) ४०४
कषाय-कल्प ४०४
स्वरस (Expressed juice) ४०५
कल्क (Paste) ४०६
चूर्ण (Powder) ४०६
शृत या क्वाथ (Decoction) ४०७
प्रमथ्या ४०८
क्षीरपाक ४०८
शीत या हिम (Cold infusion) ४०९
तण्डुलोदक ४०९
फाण्ट (Hot infusion) ४१०
स्नेह-कल्प (Fatty preparations) ४१०
तैल-मूर्च्छन ४११
घृत-मूर्च्छन ४१२
सन्धान-कल्प (Fermentative preparations) ४१२
अरिष्ट ४१२
आसव ४१३
सुरा ४१३
वारुणी ४१३
सीधु ४१३
शुक्त ४१३
काञ्जिक ४१३
तुषोदक ४१३
सौवीर ४१३
सुरासव ४१४
अन्य कल्प ४१४
अवलेह ४१४
गुडिका (Pills) ४१४
शार्करपानक (Syrup) ४१५
लाक्षारस ४१५
क्षार (Alkali) ४१५
गुडूचीसत्त्व ४१५
चूर्णोदक (Lime water) ४१५
आहार-कल्प ४१६
यूष ४१६

यवागू	४१६
मण्ड	४१६
पेया	४१६
विलेपी	४१६
मांसरस	४१७
वेशवार	४१७
वाट्यमण्ड	४१७
लाजमण्ड	४१७
मन्थ	४१७
तक्र	४१७
पानक	४१७
उष्णोदक	४१७
सिद्धोदक	४१७
आहार-कल्पों का प्रयोजन	४१८
कल्पों का प्रयोग	४१८
कल्प-परिभाषा	४१८
षष्ठ अध्याय	४१९-४३४
भेषज-प्रयोग (Administration of drugs)	४१९
प्रशस्त भेषज (Ideal drug)	४१९
प्रयोज्य अंग (Part used)	४२०
संयोग (Combination) और विरोध (Incompatibility)	४२१
योग (Formulation)	४२३
मात्रा (Dosage or posology)	४२४
अनुपान	४२७
भैषज्य-काल (Time of administration)	४२८
भैषज्य-मार्ग (Channels of administration)	४३२
उपसंहार	४३४
परिशिष्ट–१	
कुलानुसार प्रमुख वानस्पतिक द्रव्यों की सूची	४३५-४७०
परिशिष्ट–२	
आयुर्वेदोक्त प्रमुख ओषधियाँ	४७१-४८३
अनुक्रमणिका	४८४-५०७
Index	५०८-५१२

द्रव्यगुण-विज्ञान

द्रव्यगुणे विज्ञाने ग्रन्थो योऽस्ति प्रियव्रतग्रथितः।
तस्य स्वर्णजयन्ती-संस्करणं भवतु भद्रतरम्।।

उपक्रम

द्रव्यगुण

१. परिभाषा

द्रव्यों के नाम-रूप (परिचय), गुण-कर्म और प्रयोग का सर्वाङ्गीण विवेचन जिस शास्त्र में हो उसे द्रव्यगुण कहते हैं।[१] 'द्रव्यगुण' में 'द्रव्य' में 'अद्रव्य' भी अन्तर्भूत है जिसमें अमूर्त भावों (विहार, ताप, धूप आदि) का भी ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'गुण' शब्द धर्म में रूढ हो गया है, अत: उससे रस, विपाक आदि गुण और कर्म दोनों का बोध होता है। पुन: इसी से द्रव्यों का गुणकारी प्रयोग भी लक्षित होता है।[२]

२. महत्त्व और प्रयोजन

मानव की कोई प्रवृत्ति निरुद्देश्य नहीं होती, अत: सब शास्त्रों की रचना सप्रयोजन है। चिकित्सा-शास्त्र का मुख्य अङ्गभूत विषय होने के कारण द्रव्यगुणशास्त्र अत्यधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेद के दो मौलिक उद्देश्य हैं– स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी के विकार का प्रशमन। ये दोनों उद्देश्य द्रव्यों के समुचित प्रयोग से सिद्ध होते हैं। मनुष्य और अन्य प्राणी अपने शरीर की रक्षा के लिए नाना द्रव्यों का आहाररूप में उपयोग करते हैं जिनके द्वारा उनके शारीर दोषों की स्थिति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इन्हीं द्रव्यों से शरीर के दोष-धातु-मल कभी घटते और कभी बढ़ते हैं जिससे उनमें वैषम्य होने के कारण पुरुष अनेक विकारों से आक्रान्त होता है। इन क्षीण और वृद्ध दोषों को क्रमश: वर्धन एवं क्षपण के द्वारा साम्यस्थिति में लाने का साधन भी द्रव्य ही है। इसका कारण यह है कि द्रव्य और शरीर में तात्त्विक समानता है। दोनों ही पाञ्चभौतिक हैं, अत:

---

१. द्रव्याणां नामरूपाणि गुणकर्माणि सर्वश:।
प्रयोगाश्चापि वर्ण्यन्ते यस्मिन् द्रव्यगुणं हि तत्।। (स्व०)
अपरञ्च–द्रव्याण्यद्रव्यसहितानि, तेषां गुणा धर्मा नामरूपात्मका गुणकर्मात्मका: प्रयोगात्मकाश्च वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति द्रव्यगुणशास्त्रम्। (स्व०)

२. गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावा: सर्व एव गृह्यन्ते। (च० सू० १.५९-चक्र०)
गुणशब्दोऽत्र धर्मवाची रसकर्माद्यन्तर्भावी। (द्र० सू० १.२)

द्रव्य से शरीर के दोष-धातु-मल निरन्तर प्रभावित होते रहते हैं और तदनुसार उनका साम्य, क्षय या वृद्धि हुआ करती है।[१] स्वास्थ्य के रक्षण के लिए भी द्रव्यों का सन्तुलित प्रयोग आवश्यक होता है क्योंकि द्रव्यों के समयोग से ही शारीरिक तत्त्वों की साम्यस्थिति सम्भव है और साम्यस्थिति ही आरोग्य है। इसके विपरीत, उनके असम्यग्योग से दोषवैषम्य के कारण अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।[२] रोगों के प्रतिषेध के लिए भी द्रव्यों का ज्ञान अपेक्षित है क्योंकि विकृत ओषधियाँ जनपदोद्ध्वंस का कारण होती हैं।[३] चिकित्सा के चतुष्पाद में वैद्य कर्ता और द्रव्य करण है।[४] शास्त्रों में यत्र-तत्र चिकित्सक की उपमा धानुष्क से दी गई है।[५] जिस प्रकार धानुष्क (कर्त्ता) अपने करणभूत तीरों से लक्ष्य को प्राप्त करता है उसी प्रकार चिकित्सक करणभूत द्रव्यों से चिकित्सा कर्म का सम्पादन करता है। औषध के सयुक्तिक और आशुकारी प्रयोग को देखकर लोक में भी कहते हैं कि 'अमुक औषध तीर की तरह लगी।' इसी प्रकार अव्यर्थ औषध के लिए 'रामबाण' शब्द का व्यवहार होता है। किन्तु कार्य में सफलता तभी सम्भव है जब करण का पूर्ण ज्ञान तथा सयुक्तिक प्रयोग हो।[६] अतः चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि समस्त

१. गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः। (सु० सू० ४१.१२)
द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च क्षयवृद्धी दोषाणां साम्यं च। (सु० सू० ४६.३)

२. सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः। (च० शा० १.१२९)
रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता। (अ० हृ० सू० १.२०)
येषामेव हि भावानां सम्पत् सञ्जनयेन्नरम्। तेषामेव विपद् व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत्।।
(च० सू० २५.२९)

३. ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्।
(च० वि० ३.२०)

४. भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये।।
(च० सू० ९.३)
भिषक् कर्ताऽथ करणं रसा दोषास्तु कारणम्। कार्यमारोग्यमेवैकमनारोग्यमतोऽन्यथा।।
(सु० उ० ६६.१४)
कारणं भिषक्.....करणं पुनर्भेषजम्। (च० वि० ८.८६-८७)

५. यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यत्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यं, तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान्। (च० सू० १०.५)

६. मात्राकालाश्रया युक्तिः, सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता। तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा।।
(च० सू० २.१६)

द्रव्यों का पूर्ण परिचय हो, उनके सभी पक्षों की जानकारी हो और देश, काल तथा प्रकृति के अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर कर्मों में उनके योग, संयोग तथा प्रयोग का यथावत् ज्ञान हो।[१] योग द्रव्य का शरीर से सामान्य सम्पर्क है, अनेक द्रव्यों को सम्यग् रूप से एक में मिलाना संयोग है तथा दोष-दूष्य आदि का विचार कर औषध की सयुक्तिक योजना प्रयोग है। 'प्रयोग' में 'प्र' उपसर्ग प्रकृष्ट (सयुक्तिक) का द्योतक है (प्रकृष्टः सयुक्तिको योगः प्रयोगः)।[२] इसके बिना वैद्य रोग के प्रतिषेध या प्रशम में समर्थ नहीं हो सकता।[३] किसी साधन के प्रयोग पर ही उसका गुणदोष निर्भर है, यथा शस्त्र से जीवन की रक्षा भी हो सकती है और विनाश भी। अतः प्रयोग के पूर्व इसका पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।[४] द्रव्य भी साधन होने के कारण शस्त्र के समान ही है। अतः एक ओर उनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग अमृत के समान जीवनदायक है तो दूसरी ओर उनका अज्ञानपूर्वक प्रयोग या दुष्प्रयोग विष के समान प्राणहर है।[५] अतः सर्वत्र ज्ञानपूर्वक आचरण का ही उपदेश किया गया है।[६] औषध का अज्ञानपूर्वक प्रयोग सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से महान अपराध है, अतः ऐसे दुर्मति वैद्यनामधारी रोगाभिसर का सामाजिक बहिष्कार करने का उपदेश किया गया

१. योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते। किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक्।।
योगमासां तु यो विद्यादेशकालोपपादितम्। पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः।।
(च० सू० १.१२२-१२३)
तेषां कर्मसु बाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च। संयोगं च प्रयोगं च यो वेद स भिषग्वरः।।
(च० सू० ४.२९)

२. संयोगं द्रव्याणामुचितं मेलन(क)म्; प्रयोगं कालप्रकृत्याद्यपेक्षा योजना।
(च० सू० ४.२९-चक्र०)

३. रसादिमानज्ञानायत्तत्वात् क्रियायाः। न ह्यमानज्ञो रसादीनां भिषग् व्याधिनिग्रहसमर्थो भवति।
(च० वि० १.३)
न ह्यनवबुद्धस्वभावा भिषजः स्वस्थानुवृत्तिं रोगनिग्रहणञ्च कर्तुं समर्थाः। (सु० सू० ४६.३)

४. शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये। पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत्।।
(च० सू० ९.२०)

५. यथा विषं यथा शास्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा। तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा।।
औषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणैस्त्रिभिः। विज्ञातं चापि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते।।
योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम्।।
(च० सू० १.१२४-१२६)

६. रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।।
(च० सू० २०.२०)

है और यहाँ तक कहा गया है कि ऐसे पापकर्मा के साथ सम्भाषण मात्र से मनुष्य नरकगामी होता है।[१]

निष्कर्ष यह है कि चिकित्सा-विशारद के लिए द्रव्यगुण शास्त्र का ज्ञान वैसे ही अपेक्षित है जैसे भाषाविद् के लिए व्याकरणशास्त्र का। इसलिए जिस प्रकार व्याकरण के ज्ञान के बिना कोई विद्वान् नहीं हो सकता उसी प्रकार द्रव्यगुणशास्त्र को जाने बिना कोई व्यक्ति चिकित्सक होने का दावा नहीं कर सकता। ये दोनों ही समान रूप से उपहास के पात्र होते हैं।[२]

द्रव्यगुण का आयुर्वेद में महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है कि आचार्य चरक ने 'आयुर्वेद' की परिभाषा यह बतलाई है कि इस शास्त्र से आयुष्य और अनायुष्य द्रव्य और उसके गुण-कर्मों का ज्ञान होने के कारण भी इसे आयुर्वेद कहते हैं।[३] आयुर्वेद का शाश्वतत्व भी द्रव्यों के स्वभाव की नित्यता के आधार पर सिद्ध किया गया है।[४] इसके अतिरिक्त, आयुर्वेद के अष्टाङ्ग व्याप्य हैं जबकि द्रव्यगुण व्यापक है क्योंकि अङ्गों का तत्तत् स्थानों में वर्णन है किन्तु द्रव्यगुण समस्त अङ्गों में व्याप्त है अत: सम्पूर्ण तन्त्र में इसका वर्णन हुआ है।[५] ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ द्रव्य एवं उसके गुण-कर्म का निर्देश न हो। इससे यह शङ्का भी स्वत: निरस्त हो जाती है कि द्रव्यगुण का अष्टाङ्ग में परिगणन क्यों नहीं है।

३. विभाग

वैज्ञानिक अध्ययन की सुविधा के लिए इस शास्त्र को अनेक विभागों में विभाजित किया गया है–

---

१. **यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति।**
त्यक्तधर्मस्य पापस्य मृत्युभूतस्य दुर्मते:।।
नरो नरकपाती स्यात्तस्य संभाषणादपि। (च० सू० १.१२९-१३०)
वरमात्मा हुतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता।
पाणिचाराद् यथाऽचक्षुरज्ञानाद् भीतभीतवत्।।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक् चरति कर्मसु।
यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य नियतायुषम्।।
भिषङ्मानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम्।। (च० सू० ९.१५-१७)

२. **निघण्टुना विना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना।**
अभ्यासेन च धानुष्कस्त्रयो हास्यस्य भाजनम्।। (रा० नि० प्रस्तावना ९)

३. **यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेद:।** (च० सू० ३०.२३)

४. **सोऽयमायुर्वेद: शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भाव-स्वभावनित्यत्वाच्च।** (च० सू० ३०.२७)

५. **तत्रायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण।** (च० सू० ३०.२३)

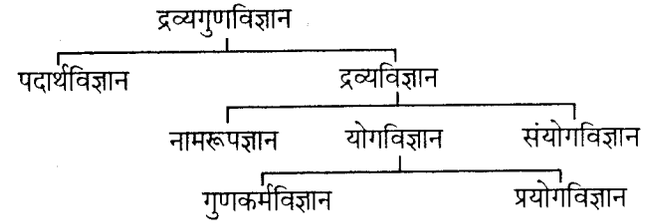

(क) **पदार्थविज्ञान**– इसमें द्रव्यगुण के मौलिक पदार्थों (Basic Concepts) यथा द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव एवं कर्म का सैद्धान्तिक निरूपण किया जाता है।

(ख) **द्रव्यविज्ञान**– इस शाखा में द्रव्यों (Substances) का अध्ययन किया जाता है। इसके तीन उपविभाग हैं–

१. **नामरूपज्ञान** (Pharmacognosy)– इसमें द्रव्यों का कुल, नाम, जाति, स्वरूप आदि के द्वारा पूर्ण परिचय प्राप्त किया जाता है। स्थूल रचना तथा वानस्पतिक विवरण (Morphology) के अतिरिक्त उनकी सूक्ष्म रचना (Histology) का भी अध्ययन किया जाता है। द्रव्यों की प्रकृति पर देश, काल आदि के प्रभाव (Ecology) का ज्ञान भी आवश्यक होता है।

२. **संयोगविज्ञान** (Pharmacy)– इसमें विभिन्न द्रव्यों के संयोग तथा उनकी विविध कल्पनाओं का वर्णन किया जाता है।

३. **योगविज्ञान** (Administration of drugs)– इसमें द्रव्यों की मात्रा, काल आदि का विचार किया जाता है। इसकी पुन: दो शाखायें हैं–

(क) **गुणकर्मविज्ञान** (Pharmacodynamics)– इसमें द्रव्यों के गुण तथा विभिन्न शारीर अवयवों पर उनके कर्म का अध्ययन होता है।

(ख) **प्रयोगविज्ञान** (Pharmacotherapeutics)– इसमें गुणकर्म के आधार पर द्रव्यों का विभिन्न रोगों में सयुक्तिक प्रयोग बतलाया जाता है।

जन्तुओं के शरीर पर द्रव्यों के जो विभिन्न परीक्षण किये जाते हैं वह प्रायोगिक द्रव्यगुणविज्ञान (Experimental Pharmacology) कहलाता है।

आतुर-शरीर पर विभिन्न विकारों में द्रव्यों के कर्म तथा प्रभाव का जो अध्ययन होता है उसे आतुरीय द्रव्यगुणविज्ञान (Clinical Pharmacology) कहते हैं। मानसिक क्रियाओं को प्रभावित करने वाले द्रव्यों का विशिष्ट अध्ययन मानस द्रव्यगुणविज्ञान (Psycho-Pharmacology) के अन्तर्गत किया जाता है।

४. पदार्थ (Basic Concepts)

किसी शास्त्र के विवेच्य विषय 'पदार्थ' कहलाते हैं। द्रव्यगुणविज्ञान के सात

पदार्थ हैं– द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म।[१] इन्हीं का विवेचन द्रव्यगुणशास्त्र में किया जाता है। Pharmacology औषधद्रव्यों तक सीमित है। ऊर्जस्कर द्रव्यों के अध्ययन के लिए एक नया विभाग (Nutra Cetics) उदित हुआ है।

१. **द्रव्य** (Substance)– रसादि गुणों तथा वमनादि कर्मों का आश्रयभूत जो पाञ्चभौतिक विकार है वह द्रव्य कहलाता है[२] यथा हरीतकी, बिभीतक, आमलकी आदि। इसमें आहार, औषध तथा अद्रव्य (अमूर्तभाव) आते हैं। 'Drug' शब्द केवल औषधद्रव्य तक सीमित है।

२. **गुण** (Property)– द्रव्य में रहने वाले शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि भौतिक धर्मों को गुण कहते हैं।[३]

३. **रस** (Taste)– द्रव्यों में जो आस्वाद होता है उसे 'रस' कहते हैं[४] यथा मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। यह उनके पाञ्चभौतिक संघटन का द्योतक होता है।

४. **विपाक** (Metabolic property)– जाठराग्नि-पाक के अनन्तर रस का अन्तिम परिणाम विपाक कहलाता है।[५] यह तीन प्रकार का माना जाता है– मधुर (गुरु), अम्ल और कटु (लघु)।

५. **वीर्य** (Potency)– कर्मण्य गुणों को वीर्य कहते हैं।[६] कुछ लोग शीत और उष्ण दो तथा कुछ लोग शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, गुरु-लघु, मन्द-तीक्ष्ण ये आठ वीर्य मानते हैं। वस्तुत: छ: वीर्य हैं।

६. **प्रभाव** (Specific potency)– द्रव्यों में जो सहज विशिष्ट शक्ति होती है वह प्रभाव कहलाता है[७] यथा अर्जुन का हृद्य, शिरीष का विषघ्न, खदिर का कुष्ठघ्न, विडङ्ग का कृमिघ्न प्रभाव इत्यादि।

७. **कर्म** (Action)– द्रव्य रसादि गुणों के द्वारा पुरुष-शरीर में जो संयोग-विभाग (परिवर्त्तन) उत्पन्न करते हैं उन्हें कर्म कहते हैं[८] यथा वमन, विरेचन, लंघन, बृंहण आदि।

---

१. द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाक: शक्तिरेव च।
पदार्था: पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च।। (भा० प्र० पू० मि० ६.१६९)
द्रव्यं रसो गुणो वीर्यं विपाक: पञ्चमस्तथा। षष्ठ: प्रभाव: कर्मेति पदार्था: सप्त कीर्तिता:।।(स्व०)

२. यत्राश्रिता: कर्मगुणा: कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यम्....(च० सू० १.५१)

३. समवायी तु निश्चेष्ट: कारणं गुण:।।– (च० सू० १.५१)

४. रस्यत आस्वाद्यत इति रस:। (च० सू० १.६४-चक्र०)

५. जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत:।। (अ० हृ० सू० ९.२०)

६. वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया– (च० सू० २६.६५)

७. रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्। (अ० हृ० स्० ९.२६)

८. संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।। (च० सू० १.५२)

प्रथम खण्ड

द्रव्य

SUBSTANCE

(drug and diet)

प्रथम अध्याय

१. निरुक्ति

'द्रु गतौ' धातु से 'द्रव्य' शब्द निष्पन्न है। यहाँ गति से गमन और प्राप्ति अभिप्रेत है। इस प्रकार जिसके प्रयोग से रोग दूर हो जाते हैं और व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ करता है वह द्रव्य कहलाता है। यह औषध एवं आहार दो रूपों में हैं।[१]

'द्रोश्च' सूत्र से भी 'द्रव्य' बनता है किन्तु यह प्रस्तुत प्रसङ्ग में अभीष्ट नहीं है क्योंकि इसमें जाङ्गम और भौम द्रव्यों का समावेश नहीं होने से यह अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

२. लक्षण (Definition)

द्रव्य का लक्षण व्यापक और क्षेत्र विशाल है। प्राय: सभी दर्शनों ने इस पर विचार किया है किन्तु विस्तृत समीक्षा में न जाकर शास्त्रोक्त लक्षण का ही यहाँ उल्लेख करना उचित होगा। महर्षि चरक और सुश्रुत ने द्रव्य का लक्षण निम्नाङ्कित किया है–

'जिसमें गुण और कर्म आश्रित हो तथा जो अपने कार्यद्रव्यों का समवायिकारण हो वह द्रव्य कहलाता है'[२] यह लक्षण व्यापक है और इसमें पञ्चभूत, दिक्, काल, आत्मा और मन इन नौ कारण द्रव्यों तथा इनसे उत्पन्न विविध कार्यद्रव्यों यथा मृत्तिका, तन्तु, हरीतकी, गुडूची आदि का समावेश होता है। मृत्तिका और तन्तु स्व-स्व गुण-कर्मों के आश्रय हैं तथा क्रमश: घट और पट के समवायिकारण हैं। इसी प्रकार हरीतकी, रूक्ष, लघु आदि गुणों, पञ्चरस, मधुरविपाक, उष्णवीर्य तथा त्रिदोषहन्तृत्व प्रभाव प्रभृति गुणों एवं दीपन, अनुलोमन, रसायन आदि कर्मों का आश्रय है और अभयामोदक, अभयारिष्ट आदि भेषजकल्पों का समवायिकारण है। इसके अतिरिक्त, शारीर दोष-धातु-मलों के प्रति भी द्रव्यों की समवायिकारणता है। मिट्टी से जैसे घट बनता है वैसे ही आहार-द्रव्यों से दोष-धातु-मल बनते हैं। इसी प्रकार गुडूची आदि में भी गुणकर्म और समवायिकारणत्व समझना चाहिए। अत: ये द्रव्य हैं।

---

१. द्रवन्ति रोगास्तद्योगान्नर: स्वास्थ्यञ्च विन्दति।
अन्नौषधात्मकं तस्माद् द्रव्यमित्यभिधीयते।। (स्व०)

२. यत्राश्रिता: कर्मगुणा: कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यम्- (च० सू० १.५१)
द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम्। (सु० सू० ४०.३)

इस प्रसङ्ग में समवायिकारण को समझ लेना भी आवश्यक है। कारण तीन प्रकार के होते हैं– समवायी, असमवायी और निमित्त। समवायी कारण उसे कहते हैं जो समवाय (नित्य) सम्बन्ध से कार्य का घटक होता है। यह द्रव्यभूत होता है इसलिए इसे उपादान कारण (Inherent or material cause) भी कहते हैं। असमवायिकारण (Non-inherent cause) उसे कहते हैं जो समवाय सम्बन्ध से कार्य का घटक नहीं होता, केवल उसके अवयवों को मिलाये रखने में सहायक होता है। यह समवायिकारण में आश्रित, अद्रव्यभूत तथा गुणकर्मरूप होता है। निमित्त कारण (Efficient or auxiliary cause) उसे कहते हैं जो कार्य से पृथक् सत्ता रखते हुए कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, पट का समवायिकारण तन्तु, असमवायिकारण तन्तु-संयोग तथा निमित्तकारण तन्तुवाय, वेमा आदि हैं। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के सन्दर्भ में समझना चाहिए।

रसवैशेषिककार नागार्जुन ने द्रव्य के उपर्युक्त दार्शनिक लक्षण को द्रव्यगुण के उपयुक्त बनाकर रक्खा है जिसमें उन्होंने द्रव्य में स्थित गुण और कर्म के स्वरूप का पूर्ण विशदीकरण कर दिया है। उनके अनुसार 'द्रव्य उस पदार्थ को कहते हैं जो रस, गुण, विपाक, वीर्य और कर्म इन पाँचों का आश्रयभूत हो'।[१]

३. पाञ्चभौतिक निष्पत्ति (Pāñcabhautika composition)

संसार के सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। द्रव्यगुणशास्त्र में कारणद्रव्यों का उपयोग न होने से केवल कार्यद्रव्य ही विवक्षित होते हैं अत: इस शास्त्र में 'द्रव्य' शब्द से पाञ्चभौतिक विकार का ही ग्रहण करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सभी द्रव्य चिकित्सार्थ निर्जीवावस्था में प्रयुक्त होते हैं, अत: इस अवस्था में उनमें आत्मा और मन की स्थिति नहीं होती। काल और दिक् भी कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति में निमित्तकारण हैं, समवायी नहीं। इस प्रकार अवशिष्ट पञ्चभूतों से उत्पन्न होने के कारण सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक कहलाते हैं।[२] पञ्चमहाभूतों से द्रव्यों की निष्पत्ति किस प्रकार होती है इसको समझने के पूर्व भौतिक सृष्टि के विकासक्रम पर ध्यान देना आवश्यक है। इस क्रम में भूतों की तीन अवस्थायें होती हैं जो उत्तरोत्तर व्यक्त होती हैं; यथा- भूत, महाभूत और दृश्यभूत। परमाणुरूप में स्थित आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी को भूत या तन्मात्रा कहते हैं। भूत इसलिए कहते हैं कि ये नित्य हैं और महाप्रलयकाल में स्थित रहते हैं तथा इन्हीं से सृष्टि के सारे कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं।[३] इस अवस्था

१. द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्। (र० वै० १.१६६)
रसादीनां (पञ्चानां) पदार्थानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम्। (र० वै० १.१६६-भा०)

२. सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे। (च० सू० २६.१०)

३. भवन्ति नित्यं सत्तामनुभवन्तीति भूतानि अथवा भवन्ति उत्पद्यन्ते येभ्यः द्रव्याणि इति भूतानि।

में उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण अव्यक्तावस्था में रहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार यह तन्मात्रा की स्थिति है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमात्मा की सृष्टि की इच्छा से सर्वप्रथम आकाश के परमाणुओं में परस्पर आकर्षण के द्वारा संयोग होने लगता है। इस प्रकार दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक तथा तीन द्व्यणुकों के मिलने से त्रसरेणु बनता है। द्व्यणुक तक भूत में सूक्ष्मता रहती है किन्तु त्रसरेणु में महत्परिणाम होने से प्रत्यक्षयोग्यता आ जाती है।[१] महत्त्व या स्थूलत्व आने के कारण इस अवस्था में इनको महाभूत या स्थूलभूत कहते हैं। इसी प्रकार वायु के परमाणुओं में परस्पर संयोग होकर पूर्वोक्त रीति से द्व्यणुक और त्रसरेणु बनते हैं। इसके बाद आकाश-त्रसरेणु वायु-त्रसरेणु के साथ उपष्टम्भाख्य संयोग से अनुप्रविष्ट होकर स्थूल वायु या वायुमहाभूत बनता है। इसमें शब्द और स्पर्श दो गुण व्यक्त होते हैं। इसी प्रकार तेज का त्रसरेणु बनता है उससे आकाश और वायु के त्रसरेणु मिलकर महातेज की उत्पत्ति करते हैं अत: इसमें शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण व्यक्त होते हैं। जल के त्रसरेणु से आकाश, वायु और तेज के त्रसरेणु मिलकर महाजल या जलमहाभूत बनाते हैं अत: इसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण व्यक्त होते हैं। अन्त में इन चारों महाभूतों के अनुप्रवेश से पृथिवी महाभूत बनता है और इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण वर्तमान होते हैं। इन महाभूतों में अनुप्रविष्ट भूत की अपेक्षा निज भूत का प्राधान्य रहता है यथा पृथिवी महाभूत में चारों अनुप्रविष्ट महाभूतों की अपेक्षा पृथिवी भूत की प्रधानता रहती है। यह महाभूत या स्थूल भूत की अवस्था हुई, किन्तु ये स्थूल भूत भी द्रव्यों की रचना में समर्थ नहीं हैं। अत: ये पाँचों महाभूत पुन: परस्पर मिलते हैं। इस क्रिया को आयुर्वेद में अन्योन्यानुप्रवेश और वेदान्त में पञ्चीकरण कहते हैं तथा इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के मिश्रण से उत्पन्न विकार को दृश्यभूत कहते हैं।[२] वेदान्त मानता है कि पञ्चीकृत दृश्य भूतों में निज महाभूत का अर्धभाग तथा शेष महाभूतों में प्रत्येक का अष्टम भाग रहता है यथा पार्थिव द्रव्यों में पृथिवी महाभूत का अर्ध भाग तथा शेष अर्धभाग में अन्य चारों के समान अंश (अष्टमांश) रहते हैं किन्तु आयुर्वेद में ऐसा कोई अनुपात नहीं बतलाया गया है।[३] जगत् के स्थूल से स्थूल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी द्रव्यों

१. तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः।।
(च० शा० १.२८)

२. आकाशादीनि भूतानि संर्वाण्येकगुणान्यथ। महाभूतेषु जन्येषु गुणवृद्धिः प्रजायते।।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणत्वं खादिषु स्मृतम्। गुणस्तत्रैक आत्मीयः शेषः संसर्गजः स्मृतः।।
अन्योन्यानुप्रविष्टानि दृष्यभूतानि निर्दिशेत्। तस्मात् पञ्चगुणान्येव सर्वाणीति विनिश्चयः।।
(पं० भू० अ० २, पृ० ६७-६८)

३. अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्। स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते।।
(सु० शा० १.२१)

की निष्पत्ति पञ्चीकृत महाभूतों से ही होती है, अत: सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। किन्तु पाञ्चभौतिक होने पर भी जिस महाभूत का प्राधान्य द्रव्य में होता है। 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से उस विशिष्ट महाभूत के अनुसार ही द्रव्य का अभिधान किया जाता है; यथा- पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूतों का प्राधान्य होने पर द्रव्य को क्रमश: पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और आकाशीय कहते हैं।[१] आधुनिक दृष्टि से, मूल तत्त्वों के परमाणु अब विभाज्य हो गये हैं उनमें इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन आदि अनेक सूक्ष्म तत्त्वों की कल्पना की गई है प्राच्य दृष्टिकोण से ये सूक्ष्म तत्त्व भी पाञ्चभौतिक हैं। उदाहरणार्थ, किसी परमाणु को आप लें। उसमें जो गुरुत्व है, वह पृथिवी तत्त्व के कारण है। इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन आदि का पारस्परिक संश्लेष और आकर्षण जल तत्त्व के कारण है। इनकी विद्युत् शक्ति का कारण तेज तत्त्व है। इनकी गति वायुतत्त्व के कारण होती है तथा अणु के भीतर का अन्तराकाश जिसमें इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं, आकाश तत्त्व का द्योतक है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सृष्टि के सभी पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं और इन्हीं पाञ्चभौतिक द्रव्यों का विचार द्रव्यगुणशास्त्र में किया जाता है।

४. **औषधत्व** (Dravya as drug)

संसार के सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं और शरीर भी पाञ्चभौतिक है अत: शारीरिक तत्त्वों का वैषम्य होने पर सभी द्रव्यों का प्रयोग औषधरूप में हो सकता है, किन्तु कोई भी द्रव्य औषध तभी कहलाता है जब उसका प्रयोग स्वरस-कषायादि कल्पनाओं में मात्रा, काल, संयोग आदि का विचार कर (युक्तिपूर्वक) पुरुष के स्वास्थ्यरक्षण और रोगी के विकारप्रशमन के उद्देश्य से (प्रयोजनपरक) हो।[२] अर्थात् युक्ति और अर्थ (प्रयोजन) ही औषधत्व के प्रयोजक हैं। द्रव्य और शरीर के इसी साधर्म्य को देखकर महर्षि सुश्रुत ने लिखा कि महाभूतों के अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र में अन्य किसी का विचार नहीं किया जाता[३] और सामान्य से वृद्धि तथा विशेष

१. तत्र पृथिव्यप्तजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्ति:, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति- इदं पार्थिवम्, इदमाप्यम्, इदं तैजसम्, इदं वायव्यम्, इदमाकाशीयमिति। (सु० सू० ४.३)

२. अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य। (च० सू० २६.१२)

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमस्ति। (सु० सू० ४१.५)

रसादिभेदैरिति भेषजानां दिङ्मात्रमुक्तं न यतोऽस्ति किंचित्।
अनौषधं द्रव्यमिहावबोध:। (अ० सं० सू० १२.९२)

.....जगत्येवमनौषधम्। न किंचिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयो:।। (अ० ह० सू० ९.१०)

३. भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नस्ति चिन्ता चिकित्सिते। (सु० शा० १.१३)

से ह्रास[१] इस नियम के अनुसार शरीर में जिस महाभूत की कमी होती है उस महाभूतभूयिष्ठ द्रव्य का प्रयोग करते हैं और जब उस महाभूत की वृद्धि होती है तब उसके विपरीत गुणभूयिष्ठ महाभूत वाले द्रव्य का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार तृण-रेणु और मल-मूत्र जैसे तुच्छ और निकृष्ट द्रव्य से लेकर स्वर्ण-रजत तथा हीरक-माणिक्य जैसे बहुमूल्य द्रव्यों का प्रयोग चिकित्सा में होता है।

५. **प्राधान्य** (Importance)

सुश्रुत तथा नागार्जुन ने अपनी रचनाओं में द्रव्य तथा तदाश्रित अन्य पदार्थों का आपेक्षिक प्राधान्य बतलाया है। अपने-अपने प्रकरणों में सभी अन्य पदार्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट बतलाये गये है। आपातत: यह विरोधाभास सा प्रतीत होता है क्योंकि अपने प्रकरण में जिस पदार्थ को प्रधान कहा गया उसी को दूसरे प्रकरण में अप्रधान बना दिया गया; यथा- द्रव्य के प्रसङ्ग में रस आदि अन्य पदार्थों की अपेक्षा द्रव्य ही सर्वप्रधान सिद्ध किया गया किन्तु आगे चलकर रस के प्रसङ्ग में रस ही सर्वप्रधान हो गया और द्रव्य आदि गौण हो गये; किन्तु सूक्ष्म निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्त में आचार्यों ने इन पूर्वकृत प्रसङ्गों का अत्यन्त सुन्दर रीति से समन्वय किया है और उनका तात्पर्य उन पदार्थों में परस्पर विरोध या संघर्ष दिखलाना नहीं है, जैसा कि 'केचित्' और 'एके' आदि शब्दों से एकीय मत का संकेत मिलता है, प्रत्युत उस शैली से सभी पदार्थों का स्वतन्त्र रूप से द्रव्य विज्ञान में महत्त्व प्रतिपादित करना है।[२] अत: इस प्रसङ्ग में प्राधान्य शब्द का अर्थ 'महत्त्व' समझना चाहिए। इसी प्रकार विजयरक्षित ने माधवनिदान की मधुकोष-टीका में निदानपञ्चक को व्यस्त और समस्त दोनों रूपों से व्याधिबोधक बतलाया है। यद्यपि व्यस्त रूप से इनके द्वारा अभीष्ट प्रयोजन उस रूप में सिद्ध नहीं होता तथापि इसके द्वारा उनका पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रूप से रोगविज्ञान में महत्त्व तो ज्ञात हो ही जाता है। इस शैली से प्राचीन आचार्यों ने अनेक स्थलों में महत्त्वपूर्ण विषयों का उद्घाटन किया है।

सुश्रुत ने द्रव्य के प्राधान्य (महत्त्व) में निम्नाङ्कित युक्तियाँ दी हैं-

१. **व्यवस्थितत्व**- द्रव्य के स्वरूप में एक व्यवस्था या स्थिरता रहती है जब कि तदाश्रित गुण और कर्म अव्यवस्थित रूप से परिवर्तित होते रहते

१. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च-(च० सू० १.४४)

२. एतच्च एकीयमतोपदर्शनं सम्यग्द्रव्यादिस्वभावज्ञानार्थं; अभिनिविष्टो हि वादी स्वपक्षसाधनार्थं सर्वं स्वरूपप्राधान्यख्यापकं दर्शयति, तेन चान्ते वक्ष्यमाणाचार्यसिद्धान्तसहितेन सम्यक् प्रतीतिर्भवति। (सु० सू० ४०.३-चक्र०)

हैं;[१] यथा आम्र उत्पत्तिकाल से अन्त तक आम्र ही रहता है किन्तु उसके रूप, रस आदि गुण तथा विविध कर्म निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। व्यवस्थित पदार्थ प्रधान एवं अव्यवस्थित अप्रधान माना जाता है अत: व्यवस्थित होने से द्रव्य प्रधान है।[२]

२. **नित्यत्व–** द्रव्य गुण-कर्म की अपेक्षा नित्य होता है। काल, जल, वात आदि कारणों से रसादि गुण नष्ट हो जाते हैं[३] किन्तु उस अवस्था में भी 'यह वही द्रव्य है' इस प्रकार द्रव्य की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) होती है। नित्य शब्द यहाँ आपेक्षिक है[४] और इससे आचार्य का अभिप्राय यह है कि कालपरिणाम के द्वारा रूपान्तर होने पर भी 'यह वही है' इस प्रकार जिसकी प्रत्यभिज्ञा हो वही नित्य कहा जाता है।[५] नित्य वस्तु अनित्य की अपेक्षा प्रधान होती है अत: द्रव्य नित्य होने के कारण प्रधान है।

३. **स्वजात्यवस्थान–** परिणाम होने पर भी द्रव्य अपनी पार्थिव आदि विशिष्ट जाति में ही रहता है, उसे छोड़ता नहीं,[६] किन्तु रसादि परिवर्तित होने पर अपनी जाति का भी परित्याग कर देते हैं। यथा दधि आद्योपान्त अपनी पार्थिव आदि जाति में ही रहता है जब कि रस तरुणावस्था में मधुर (पार्थिवाप्य) तथा कालान्तर में अम्ल (पार्थिवाग्नेय) हो जाता है। अपनी जाति में स्थिर रहने वाला पदार्थ प्रधान अन्यथा अप्रधान माना जाता है अत: द्रव्य प्रधान है।

४. **पञ्चेन्द्रियग्रहण–** पाञ्चभौतिक होने के कारण सभी द्रव्यों का ग्रहण दीर्घशष्कुलीन्याय से पाँचों इन्द्रियों के द्वारा होता है[७] किन्तु रस, गन्ध आदि गुणों

१. व्यवस्थानात्। (र० वै० १.१०२)
द्रव्यं व्यवस्थितं गुणा ह्यनवस्थिता:। उक्तं च- 'दूर्वाङ्कुरनिभं भूत्वा फलं जम्ब्वास्ततः पुनः। मेचकं भजते वर्णं पुनरञ्जनसंनिभम्।।' इति। एवं तद्गताश्च स्पर्शरसगन्धाश्चानवस्थिता:। जम्बूफलमिति द्रव्यम् सामान्यम्। (र० वै० १.१०२-भा०)

२. केचिदाचार्या ब्रुवते-द्रव्यं प्रधानं, कस्मात्? व्यवस्थितत्वात्, इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादय:, यथा- आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति। (सु० सू० ४०.३)

३. नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणा:, यथा कालादिप्रविभाग:, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति। (सु० सू० ४०.३)

४. अनियतावस्थायिनो गुणा अनित्या उच्यन्ते, द्रव्यं च तदपेक्षया नियतावस्थायि नित्यमाख्यायते। (सु० सू० ४०.३-हा०)

५. नित्यत्वं च द्रव्याणां कालपरिणामेनान्यथाभावेऽपि तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वादवगन्तव्यम्। (सु० सू० ४०.३-हा०)

६. स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शेषाणि। (सु० सू० ४०.३)

७. पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादय:। (सु० सू० ४०.३)
सर्वेन्द्रियोपलब्धे:। (र० वै० १.१०१)....
सर्वैः श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्द्रव्यं गृह्यते। रसादयो ह्येकेन्द्रियग्राह्या:।....एकमनेकेन्द्रियग्राह्यत्वात् प्रधानं द्रव्यमिति। (र० वै० भा०)

का रसना, घ्राण आदि एक ही विशिष्ट इन्द्रिय से ग्रहण होता है। दूसरे शब्दों में, गुण स्वत: व्यष्टिरूप में रहते हैं व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि प्रधान होता है अत: द्रव्य प्रधान है।

५. **आश्रयत्व–** द्रव्य आश्रय है तथा रसादि इसी का अधिष्ठान लेकर आश्रित होते हैं।[१] आश्रित परतन्त्र होने के कारण अप्रधान तथा आश्रय स्वतंत्र होने के कारण प्रधान होता है अत: द्रव्य प्रधान है। इसी आधार पर नागार्जुन ने द्रव्य का लक्षण लिखा है कि जो रसादि पदार्थों का आश्रय हो उसे द्रव्य कहते हैं।[२] अन्य आचार्यों ने भी द्रव्य के लक्षण में गुणकर्माश्रयत्व को ही प्रधानता दी है। वस्तुत: अकेला आश्रयत्व ही द्रव्य को सर्वोपरि स्थान देने में समर्थ है।

६. **आरम्भसामर्थ्य–** चिकित्सा या व्यवहार में आहरण आदि कर्मों के आरम्भ की योग्यता द्रव्य में ही है, रसादि में नहीं। यथा कोई कहे कि 'विदारिगंधादि' वर्ग को लाकर कूट कर पकाओ, तो यहाँ 'विदारिगंधादि' शब्द से उस वर्ग के अन्तर्गत द्रव्यों का ही बोध होता है न कि तदाश्रित रसों का।[३] 'मूल लाओ' कहने पर द्रव्य ही लाया जाता है, रसादि नहीं। रसादि लाये भी नहीं जा सकते क्योंकि ये निश्चेष्ट हैं, द्रव्य के आधार पर ही इनकी गति होती है। सर्वेन्द्रियसंपन्न गतिशील पुरुष पङ्गु की अपेक्षा प्रधान होता है अत: द्रव्य प्रधान है।[४]

७. **शास्त्रप्रामाण्य–** शास्त्र में द्रव्य ही प्रधान रूप में निर्दिष्ट है। विभिन्न योगों के वर्णन में द्रव्यों का ही उल्लेख किया गया है, रसों का नहीं! यथा

१. आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादय: (सु० सू० ४०.३)
अधिष्ठानादाश्रयात्। (र० वै० १.१०३)
द्रव्यमाश्रय: आश्रयिणो रसादय इति। आश्रयभूत: प्रधान: स्वामी दृष्ट इति।। (र० वै० १.१०३-भा०)

२. द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्। (र० वै० १.१६६)
रसादीनां (पञ्चानां) पदार्थानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम्। (र० वै० १.१६६-भा०)

३. आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भ:, यथा- 'विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेत्' इत्येवमादिषु न रसादिष्वारम्भ:। (सु० सू० ४०.३)

४. आरम्भसामर्थ्यात्। (र० वै० १.१०४)
आरम्भश्चिकित्सायां क्रियारम्भ: मूलमाहरेत्यादि तस्मिन् द्रव्यस्यैव सामर्थ्यं न रसादीनामारम्भसामर्थ्यम्। अविकलेन्द्रिय: पुरुष: प्रधानो दृष्ट: पङ्गोरिति। (र० वै०१.१०४-भा०)

मिश्रकाध्याय में सुश्रुत ने मातुलुङ्ग, अग्निमन्थ आदि द्रव्यों का ही निर्देश किया है रसों का नहीं।[१] अत: आगम प्रमाण से भी द्रव्य प्रधान है।

८. **क्रमापेक्षितत्व**– रसादि गुण द्रव्य का अनुगमन करते हैं अत: उनका क्रम द्रव्य के अवस्थाक्रम पर निर्भर है। द्रव्य की जो स्थिति होगी तदाश्रित रसादि गुणों की भी वैसी ही स्थिति होगी; यथा द्रव्य की अपरिपक्वावस्था में रसादि भी अपरिपक्व और परिपक्वावस्था में ये भी परिपक्व होते हैं। अग्रणी प्रधान तथा अनुचर अप्रधान होता है अत: द्रव्य प्रधान तथा अन्य रसादि भाव अप्रधान हैं।[२]

९. **एकदेशसाध्यत्व**– द्रव्यों के एकदेश से भी चिकित्सा की जाती है किन्तु रसादि के एकदेश से कार्य नहीं चलता क्योंकि उनके अवयव होते ही नहीं यथा स्नुही के दुग्ध से ही अनेक रोगों की चिकित्सा की जाती है अत: विभिन्न अङ्गों के द्वारा प्रयोग बाहुल्य होने से द्रव्य प्रधान है।[३]

इनके अतिरिक्त, नागार्जुन ने निम्नाङ्कित युक्तियाँ और दी हैं–

१. शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे हि योगानां, यथा–'मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च' इत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते। (सु० सू० ४०.३)
शास्त्रोपदेशसामर्थ्यात्। (र० वै० १.१०७)
आगमादित्यर्थः। शास्त्र एवोपदिश्यते हि य एव हि गुणा द्रव्ये शरीरेष्वपि ते स्मृताः। तान् द्रव्यैस्तदुगुणैरेव प्रयोगेष्वभिवर्धयेत्। इति सामान्यप्रयोगवचने विशिष्टेन प्रयोगो निर्दिश्यत इति। (र० वै० १.१०६-भा०)

२. क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते यथा–तरुणे तरुणाः, संपूर्णे संपूर्णा इति। (सु० सू० ४०.३)
तदनुविधानाच्चेतरेषाम्। (र० वै० १.१०९)।
इतरेषां रसादीनां द्रव्यस्यानुविधानाद्, द्रव्यमनुवर्त्तन्ते हि रसादयः, तारुण्ये तरुणाः, संपत्तौ संपन्नाः, विपत्तौ विपन्ना भवन्तीति। ये यमनुवर्त्तन्ते, ते तस्मादप्रधाना दृष्टाः। तद्यथा–गुरोः शिष्या इति। (र० वै० १.१०९-भा०)
जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्। अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद् देहदेहिनोः।। (सु० सू० ४०.१६)

३. एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते, यथा–महावृक्षक्षीरेणेति; तस्माद्द्रव्यं प्रधानं, न रसादयः, कस्मात्? निरवयवत्वात्। (सु० सू० ४०.३)
अवयवेन सिद्धेः। (र० वै० १.१०८)
अवयवेन एकदेशेन प्रदेशेन सिद्धेः, प्रयोगेष्विति वाक्यशेषः। यथा मूलत्वगादिना अवयवेन यः साधयति, स प्रधानो दृष्टः। (र० वै० १.१०८-भा०)

१०. **तरतमयोगानुपलब्धि**– गुणों में तारतम्य का प्रयोग होता है किन्तु द्रव्य में नहीं। इसका कारण यह है कि गुण अनियत होने के कारण उनकी मात्रा में न्यूनाधिक्य के वाचक 'तरतम' इन आपेक्षिक प्रत्ययों का प्रयोग होता है किन्तु द्रव्य व्यवस्थित होने के कारण उसके साथ ये प्रत्यय नहीं लगते। यथा मधुरतर, मधुरतम आदि शब्दों का बहुश: प्रयोग देखा जाता है किन्तु हरीतकीतर और हरीतकीतम ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं होता।[१] इसलिए द्रव्य प्रधान है।

११. **विकल्प-सामर्थ्य**– कल्क, कषाय आदि विविध कल्पनायें द्रव्य की ही होती हैं रसादि की नहीं, अत: विकल्प-बाहुल्य के कारण द्रव्य प्रधान है।[२]

१२. **प्रतीघात-सामर्थ्य**– द्रव्य मूर्त्तिमान होने के कारण आवरणात्मक अर्थात् अवकाश को घेरने वाले हैं। जिस स्थान में एक द्रव्य स्थित है उसी स्थान में उस समय दूसरा द्रव्य नहीं रह सकता किन्तु रसादि अमूर्त्त होने के कारण आवरणात्मक नहीं हैं। जिसमें आवरण की शक्ति होती है वह प्रधान होता है यथा चक्रवर्ती राजा। अत: द्रव्य प्रधान है।[३]

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इन सभी युक्तियों में आश्रयत्व की युक्ति सर्वप्रधान है। इसलिए आचार्यों ने द्रव्य के लक्षण का भी वही आधार बनाया है। द्रव्य-प्राधान्य-प्रकरण का उपसंहार करते हुए सुश्रुत ने भी इसी युक्ति को दुहराया है–

'बिना वीर्य के विपाक नहीं, विना रस के वीर्य नहीं और विना द्रव्य के रस नहीं होता अत: इन सबमें द्रव्य ही श्रेष्ठ माना गया है। वीर्यसंज्ञक आठ गुण भी द्रव्य ही में रहते हैं रस में नहीं क्योंकि रस गुण है और गुण में गुण की

१. तरतमयोगानुपलब्धेः। (र० वै० १.१००)
तरतमयोगो रसादिषु दृष्टः।....मधुरतरो, मधुरतमः; शीततरः, शीततमः, छर्दनीयतरं, छर्दनीयतमं, लघुतरः, लघुतमः, कर्मतरं, कर्मतमम् इति। द्रव्येषु नास्ति–यष्टीमधुकतरो यष्टीमधुकतम इति। तस्मात् तरतमयोगाभावाद् रसादिभ्यो द्रव्यं प्रधानमिति। (र० वै० १.१००-भा०)

२. विकल्पसामर्थ्यात्। (र० वै० १.१०५)
विविधः कल्पो विकल्पः कल्ककषायादिभेदेन, तस्मिन् विकल्पे सामर्थ्यात्, तत् सर्वं द्रव्यस्यैव नान्यस्येति। (र० वै० १.१०५-भा०)

३. प्रतीघातसामर्थ्यात्। (र० वै० १.१०६)
प्रतीघात आवरणं, तस्मिन् सामर्थ्यं द्रव्यस्यैव भवति, मूर्त्तिमत्त्वात्।.....प्रतीघातसामर्थ्यात् स्वस्थानेऽन्यस्यानवकाशदानादिति। रसादयः संपृक्तास्तिष्ठन्तीति। आवरणार्थोऽपि स एव घटते। यः स्वस्मिन् स्थानेऽन्यस्यावकाशं निरुणद्धि, स प्रधानो दृष्टः चक्रवर्तीति। (र० वै० १.१०६-भा०)

स्थिति नहीं होती। विपाक भी द्रव्य का ही होता है रसादि का नहीं। अत: द्रव्य आश्रय और श्रेष्ठ है तथा शेष भाव उसके आश्रित और अप्रधान है।'[१]

नागार्जुन ने भी इस प्रसङ्ग की समाप्ति 'द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्' द्रव्य के इस आश्रयमूलक लक्षण से ही की। आचार्य सुश्रुत ने भी लिखा– 'द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति– अर्थात् जो गुणकर्म का आश्रय तथा समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहते हैं।

*

१. पाको नास्ति विना वीर्याद् वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठतमः स्मृतम्।।
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः।।
द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं, शेषा भावास्तदाश्रयाः।। (सु० सू० ४०.१५,१७-१८)

द्वितीय अध्याय

द्रव्यों का नामकरण एवं पर्याय

(Nomenclature and Synonyms of Dravyas)

द्रव्यों का नामकरण अनेक आधारों पर किया गया है। वैदिक काल में आख्यानों के आधार पर वनस्पतियों के नाम रक्खे गये हैं यथा अश्वत्थ (जिसमें अश्वरूप में अग्नि स्थित हो)। ऐसा वैदिक आख्यान है कि अग्नि अश्व का रूप धारण कर देवताओं के यहाँ से भाग आये और इस वनस्पति में छिप गये। अनेक पशु-पक्षियों से भी वनस्पतियों का सम्बन्ध बतलाया गया है। संभवत: उनके नामकरण में इसका भी आधार लिया गया हो यथा सर्पगन्धा, वाराही, नाकुली, हंसपदी आदि। 'सोम' संज्ञा संभवत: उसके सवन-कर्म में उपयोगी होने के कारण हो। दोषों एवं मलों का अपमार्जन (संशोधन) करने के कारण 'अपामार्ग' नाम सार्थक है। इसी प्रकार ऊर्ज (ओज) का वर्धन करने से 'ऊर्जयन्ती' है। 'अजशृङ्गी' 'उत्तानपर्णी' आदि संज्ञायें स्वरूपबोधक हैं। औक्षगंधि, सुगंधितेजन, अश्वगन्धा आदि गुणबोधक नाम हैं। स्वादु, शीतिका, वर्षाभू आदि नाम उद्भवस्थान के बोधक हैं। इस प्रकार वैदिक काल में वनस्पतियों की उद्भवबोधक, गुणबोधक, कर्मबोधक, स्वरूपबोधक आदि संज्ञाओं का स्रोत मिलता है।

राजनिघण्टुकार ने कहा है कि ओषधियों के नाम निम्नाङ्कित सात आधारों पर रक्खे गये हैं[१]–

१. रूढि– आटरूषक, गुडूची, टुण्टुक आदि।
२. प्रभाव– क्रिमिघ्न, हयमार आदि।
३. देश्योक्ति– मागधी, वैदेही, कालिङ्ग, कैरात आदि।
४. लाञ्छन– राजीफल, चित्रपर्णी आदि।
५. उपमा– शालपर्णी, मेषशृङ्गी, अजकर्ण आदि।
६. वीर्य– ऊषण, कटुका, मधुक आदि।[२]
७. इतराह्वय– शक्राह्व, काकाह्वा आदि।

१. नामानि क्वचिदिह रूढितः प्रभावाद् देश्योक्त्या क्वचन च लाञ्छनोपमाभ्याम्।
वीर्येण क्वचिदितराह्वयादि देशाद् द्रव्याणां ध्रुवमिति सप्तधोदितानि।। (रा०नि० प्रस्तावना १३)
२. 'वीर्य' शब्द यहाँ रस, गुण, वीर्य, विपाक का बोधक है।

12/3/15 25651

प्राचीन निघण्टुओं की रचना पर्यायशैली में हुई है, उनमें केवल पर्याय हैं। गुण-कर्म और प्रयोग का पृथक् से वर्णन नहीं है। नाम और रूप का ज्ञान आवश्यक तो था ही अत: इसके लिए विभिन्न पर्यायों का सृजन किया जाता था। पर्यायों के माध्यम से ही वनस्पति के आकार-प्रकार, उद्भवस्थान आदि का बोध कराया जाता था। इसके अतिरिक्त, विशिष्ट गुणों एवं कर्मों के बोध के लिए भी पर्याय बनाये जाते थे। अत: निघण्टुओं में उपलब्ध वानस्पतिक पर्यायों को निम्नाङ्कित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[१]–

१. स्वरूपबोधक

अणु, न्यग्रोध, पुनर्नवा, प्रसारिणी, जटामांसी आदि।

२. अवयवबोधक

पत्र– त्रिपर्णी, चतुष्पत्री, पञ्चाङ्गुल, दीर्घवृन्त।
पुष्प– शतपुष्पा, नागपुष्प, शतदल।
फल– मेषशृङ्गी, आवर्त्तनी, पृथुशिम्ब, तूलफल।
बीज– इन्द्रयव, कृष्णबीज।
काण्ड– त्रिवृत्, कालस्कन्ध, चक्राङ्गी।
मूल– शतमूली, दन्ती, शुक्लकन्दा।
क्षीर– पयस्या, स्वर्णक्षीरी।
ग्रन्थि– षड्ग्रन्था, ग्रन्थिपर्णी।
कण्टक– गोक्षुर, तीक्ष्णकण्टक।
सार– रक्तसार, पीतसार, नि:सारा।
वल्कल– स्थूलवल्कल, दृढवल्कल।
रोम– कपिरोमफला।

३. गुणबोधक

शब्द– गुञ्जा, घण्टारवा।
स्पर्श– दु:स्पर्शा, खरमञ्जरी।
रूप– कान्ता, रक्तयष्टिका।
रस– मधुरसा, वरतिक्त, कटुका, अम्लिका।
गन्ध– गन्धप्रियङ्गु, अश्वगन्धा, तीक्ष्णगन्धा, विट्खदिर।
अन्यगुण– तीक्ष्णफल, मृदुच्छद, स्निग्धदारु।
वीर्य– ऊषण, हिम।

१. अतिरिक्त सूचना के लिए लेखक की पुस्तक 'नामरूपज्ञानम्' देखें।

४. प्रभाव– क्रिमिघ्न

५. कर्मबोधक

वातारि, रेचन, वामक, मेध्या, कृमिघ्न।

६. उद्भवबोधक

(क) योनि– कृमिजा, मृगनाभि।
(ख) रोहण– काण्डरुहा, पर्णबीज।
(ग) अधिष्ठान– जलज, वाप्य, वृक्षादनी।

७. लोकोपयोगबोधक

यज्ञिय, रथद्रुम, स्रुववृक्ष।

८. आख्यानबोधक

अमृतसंभवा, रुद्ररेतस्।

९. इतिहासप्रसिद्धि

बोधिद्रुम (अश्वत्थ)

१०. प्रशस्तिबोधक

भद्रदारु, मङ्गल्या।

११. देशबोधक

(क) उद्भव– मागधी, कालिङ्ग, धन्वयास।
(ख) व्यापार– बाह्लीक, धर्मपत्तन।

१२. कालबोधक

पुष्पकाल– वासन्त, शारद, ग्रैष्मिकी, प्रावृषेण्य।

ये उदाहरणमात्र हैं। इसी प्रकार अन्य पर्यायों को वर्गीकृत कर उन्हें क्रमबद्ध किया जा सकता है जिससे उनकी सार्थकता का सम्यक् ज्ञान हो सके।

*

तृतीय अध्याय

द्रव्यों का मौलिक वर्गीकरण

(Basic classification of Dravyas)

संसार में द्रव्यों की संख्या अगणनीय है, अतः उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन अतीव दुःसाध्य है। इसके अतिरिक्त, नितान्त विभिन्न दृष्टिगोचर होने वाले द्रव्यों में भी कुछ न कुछ आभ्यन्तर साधर्म्य होता है।[१] इसलिए किसी शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसके पदार्थों को व्यवस्थित करना सर्वप्रथम आवश्यक होता है। वह कार्य वर्गीकरण के द्वारा होता है। पदार्थों को विभिन्न वर्गों में व्यवस्थित कर देने से उनके साधर्म्य-वैधर्म्य पूर्णतः परिलक्षित हो जाते हैं और उनका अध्ययन सुकर हो जाता है। अतः वर्गीकरण वैज्ञानिक अध्ययन का प्रथम सोपान माना गया है। वैदिक वाङ्मय में ओषधियाँ चार प्रकार की कही गई हैं- आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी तथा मानुषी।[२] इसके अतिरिक्त, उद्भवस्थान, गुण तथा कर्म के अनुसार भी वर्गीकरण उपलब्ध होता है।

आयुर्वेदीय आचार्यों ने द्रव्यों का वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से किया है-

(क) **कार्यकारणभेद से**- द्रव्य दो प्रकार के हैं- कारणद्रव्य और कार्यद्रव्य। सृष्टि के मौलिक तत्त्व जिनसे सभी द्रव्य उत्पन्न होते हैं कारणद्रव्य कहलाते हैं। ये संख्या में ९ हैं- पञ्चमहाभूत, आत्मा, मन, दिक् और काल।[३] इनसे उत्पन्न होने वाले सृष्टि के सभी द्रव्य कार्यद्रव्य कहलाते हैं यथा घट, पट, गोधूम, गुडूची आदि। द्रव्यगुणशास्त्र में कार्यद्रव्य ही विवक्षित हैं, यह पहले कहा जा चुका है।

(ख) **चेतनाभेद से**- चेतना की स्थिति के अनुसार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं- चेतन (Animate) और अचेतन (Inanimate)।[४] चेतन उसे कहते हैं जिसमें चेतनाधातु (आत्मा) का निवास और अभिव्यक्ति हो यथा जीवजन्तु और वृक्ष आदि। इसके विपरीत, अचेतन वह है जिसमें चेतना की स्थिति और अभिव्यक्ति न हो यथा स्वर्ण आदि धातु तथा अन्य पार्थिव द्रव्य।[५] वैदिक वाङ्मय में इन्हें क्रमशः

१. Unity in diversity.

२. **आथर्वणीराङ्गिरसीः दैवी मनुष्यजा उत।**
ओषधयः प्रजायन्ते यदा तं प्राण जिन्वसि।। (अथर्व० ११.४.१६)

३. **खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।** (च० सू० १.४८)

४. **तच्चेतनावदचेतनञ्च...।** (च० सू० २६.१०)

५. **सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्।** (च० सू० १.४८)

साशन और अनशन कहा गया है। चेतन द्रव्य भी औषध में प्रायः अचेतन रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। चेतन द्रव्य पुनः दो शाखाओं में विभक्त होते हैं- अन्तश्चेतन और बहिरन्तश्चेतन। अन्तश्चेतन वह है जिसमें चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती और जीवन की संवेदनायें प्रच्छन्न और अस्फुट रूप से चलती हैं। इस वर्ग में औद्भिद या स्थावर द्रव्यों का समावेश होता है।[१] बहिरन्तश्चेतन वह है जिसमें अन्तश्चेतना की बाह्य अभिव्यक्ति भी स्फुट और पूर्ण होती है यथा जाङ्गम द्रव्य। औद्भिद वर्ग में चेतना की स्थिति तथा इन्द्रियाभिव्यक्ति के अनेक दृष्टान्त टीकाकारों ने दिये हैं यथा सूर्यमुखी का सूर्य के अनुसार घूमना, लवली में मेघगर्जन से फल लगना, बीजपूर में शृगालादि जन्तुओं की वसा की गन्ध से फलोत्पत्ति, मद्यपरिषेक से आम्र में फल लगना तथा लज्जालु का हस्तस्पर्श से सङ्कोच[२] इत्यादि। विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस के अनेक अनुसन्धान इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे उद्भिद् जाति की अन्तश्चेतना का संकेत मिलता है।

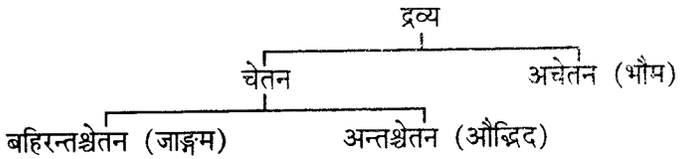

(ग) **निष्पत्ति (भौतिक सङ्घटन) भेद से**- यह पहले कहा जा चुका है कि महाभूतों के उत्कर्ष के अनुसार द्रव्यों की पार्थिव आदि संज्ञायें होती हैं। इस दृष्टि से द्रव्य पाँच प्रकार के होते हैं- पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य, आकाशीय। इसमें तत्तद् महाभूत की अधिकता होती है जिसके कारण उनके गुणकर्म में विशेषता आ जाती है। इन पाँचों वर्गों का स्वरूप तथा गुणकर्म निम्नाङ्कित तालिका से स्पष्ट होगा।

पाञ्चभौतिक द्रव्यों के गुण-कर्म[३]

वर्ग	इन्द्रियार्थ	रस	गुण	कर्म	विपाक
१. पार्थिव	गन्ध	मधुर, ईषत्कषाय	गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल	उपचय, सङ्घात, गौरव, स्थैर्य, बल, अधोगमन	गुरु

क्रमशः...

१. **गुच्छगुल्मं बहुविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च।।**
तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।।
(मनु० १.४८-४९)

२. (च० सू० १.४८-चक्र०)

३. **तत्र स्थूलसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं; तत् स्थैर्य-बल-गौरव-सङ्घातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति, शीतस्तिमितास्निग्ध-**

क्रमशः...

भौम द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं– एक जो प्राकृतावस्था में भूमि से निकलते हैं उन्हें प्राकृत या खनिज कहते हैं और दूसरे जो कृत्रिम विधियों से बनाये जाते हैं उन्हें कृत्रिम कहते हैं। लौह, अभ्रक आदि खनिज तथा लवण (सोडियम क्लोराइड), क्षार (सोडा बाइकार्ब) आदि कृत्रिम हैं।

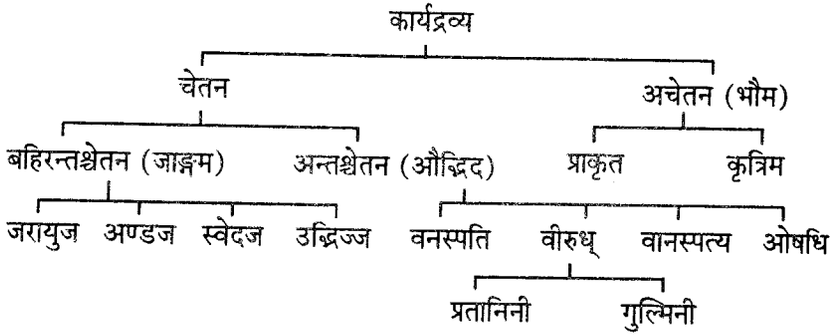

(च) **प्रयोगभेद से**– द्रव्य दो वर्गों में विभाजित हैं– औषधद्रव्य और आहारद्रव्य। औषधद्रव्यों के प्रयोग से शरीर में मुख्यत: शीत, उष्ण आदि गुणों का आधान होता है; रस आदि धातुओं का पोषण इनसे उस प्रकार नहीं होता यथा हरीतकी, पिप्पली आदि। आहारद्रव्यों से प्रधानतया शरीर के रस आदि धातुओं का ही पोषण होता है, शीत, उष्ण आदि गुणों की उत्पत्ति गौणरूप से होती है यथा शालि, गोधूम आदि। दूसरे शब्दों में, यह भी कहते हैं कि औषधद्रव्य वीर्यप्रधान तथा आहारद्रव्य रसप्रधान होते हैं।[१] इसलिए औषधद्रव्यों का प्रयोग रोगनिवारण के लिए विशिष्ट अवस्थाओं में विशेष उद्देश्य एवं योजना के अनुसार करते हैं[२] तथा आहारद्रव्य शरीर की रक्षा एवं वृद्धि के लिए सामान्यत: प्रयुक्त होते हैं।[३] औषधद्रव्य भी गुणों के तारतम्य के अनुसार पुन: तीन प्रकार के बतलाये गये हैं– तीक्ष्णवीर्य, मध्यवीर्य, मृदुवीर्य।[४] शुण्ठी आदि तीक्ष्णवीर्य, बिल्व, अग्निमन्थ आदि मध्यवीर्य, तथा आमलक आदि मृदुवीर्य द्रव्य हैं।

१. यवागूसाधनद्रव्यं तावद् द्विविधं– वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं, तथा रसप्रधानमाहारद्रव्यञ्च। (च० सू० २.१७–चक्र०)

२. तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति। (सु० सू० ४१.५)

३. प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च। स षट्सु रसेष्वायत्तः। (सु० सू० १.२८; ४६.३)

४. तत्राप्यौषधद्रव्यं त्रिविधं, वीर्यभेदात्- तीक्ष्णवीर्यं यथा शुण्ठ्यादि, मध्यवीर्यं बिल्वाग्निमन्थादि, मृदुवीर्यञ्चामलकादि। (च० सू० २.१७-चक्र०)

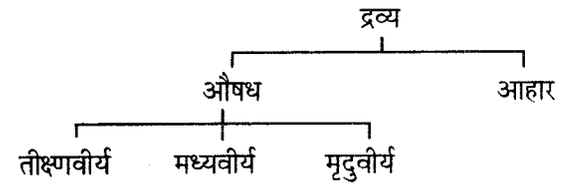

इस तारतम्य-ज्ञान का प्रयोजन यह है कि इसी के अनुसार द्रव्यों की मात्रा निर्धारित होती है। नियमत: तीक्ष्ण द्रव्य की एक कर्ष, मध्य की अर्धपल तथा मृदुवीर्य की एक-एक पल मात्रा बतलाई गई है। आहारद्रव्य सामान्यत: चार पल लिये जाते हैं।[१]

(छ) **अङ्गभेद से**– औषध दो प्रकार की है– द्रव्यभूत (मूर्त) और अद्रव्यभूत (अमूर्त)।[२] 'द्रव्य' से दोनों का ग्रहण होता है।

(ज) **रसभेद से**– रसभेद से द्रव्यों के छ: वर्ग किये गये हैं– मधुरस्कन्ध, अम्लस्कन्ध, लवणस्कन्ध, कटुकस्कन्ध, तिक्तस्कन्ध तथा कषायस्कन्ध। सुश्रुत ने 'स्कन्ध' को 'वर्ग' कहा है।

१. मधुरस्कन्ध

काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची, कर्कटशृङ्गी, ऋद्धि, वृद्धि, जीवन्ती, मधुक, क्षीर, घृत, वसा, मज्जा, शालि, षष्टिक, यव, गोधूम, माष, शृङ्गाटक, कशेरुक, त्रपुष, एर्वारुक, कर्कारुक, अलाबू, कालिन्द, कतक, पियाल, पुष्करबीज, काश्मर्य, मधूक, द्राक्षा, खर्जूर, राजादन, ताल, नारिकेल, इक्षुविकार, कपिकच्छू, विदारी, क्षीरविदारी, गोक्षुर, क्षीरमोरट, मधूलिका, कूष्माण्ड, शतावरी, भूम्यामलकी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, शतपुष्पा, मुण्डी, महामुण्डी, बलाचतुष्टय, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, कण्टकारी, बृहती, एरण्ड, परूषक, दर्भ, कुश, काश, शर, इत्कट, गुन्द्र, राजक्षवक, वनकार्पास, हंसपदी, काकनासा, उच्चटा, सूक्ष्मैला, सारिवा, सोमलता आदि।[३]

१. तीक्ष्णानां कर्षः, मध्यानामर्धपलं, मृदूनां पलमित्युत्सर्गः।...अत्र चतुष्पलद्रव्याभिधानं रसप्रधानद्रव्याभिप्रायेणैव। (च० सू० २.१७–चक्र०)

२. एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधं– द्रव्यभूतम्, अद्रव्यभूतं च। (च० वि० ८.८७)
सर्वं द्रव्यमिहाख्यातं पञ्चभूतविनिर्मितम्। अद्रव्यं तद्विपर्यस्तमन्तर्भूतं तदात्मनि।। (स्व०)

३. काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिषष्टिकयवगोधूममाषशृङ्गाटककशेरुकत्रपुषैर्वारुकर्कारुकालाबूकालिंदकतकगिलोड्यप्रियालपुष्करबीजकाश्मर्यमधूकद्राक्षाखर्जूरराजादनतालनालिकेरेक्षुविकारबलातिबलात्मगुप्ताविदारीपयस्यागोक्षुरकक्षीरमोरटमधूलिकाकूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः। (सु० सू० ४२.११) क्रमशः...

२. अम्लस्कन्ध

दाडिम, आमलक, मातुलुङ्ग, आम्रातक, कपित्थ, करमर्द, बदर, कोल, प्राचीनामलक, तिन्तिडीक, कोशाम्र, भव्य, पारावत, वेत्रफल, लकुच, अम्लवेतस, दन्तशठ (जम्बीर), दधि, तक्र, सुरा, शुक्त, सौवीरक, तुषोदक, धान्याम्ल, आम्र, वृक्षाम्ल, धन्वन, अश्मन्तक, चाङ्गेरी आदि।[१]

३. लवणस्कन्ध

सैन्धव, सौवर्चल, काल, विड, सामुद्र, औद्भिद, यवक्षार, सुवर्चिका आदि।[२]

४. कटुकस्कन्ध

पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, मरिच, अजमोदा, आर्द्रक, विडङ्ग, धनिया, पीलु, तेजबल, एला, कुष्ठ, भल्लातक, हिङ्गु, देवदारु, मूलक, सर्षप, लशुन, करञ्ज, शिग्रु, मधुशिग्रु, गन्धतृण, तुलसी, क्षार,

---

तद्यथा–जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा तामलकी काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी शालपर्णी पृश्निपर्ण्यसनपर्णी मधुपर्णी मेदा महामेदा कर्कटशृङ्गी शृङ्गाटिका छिन्नरुहा च्छत्राऽतिच्छत्रा श्रावणी महाश्रावणी सहदेवा विश्वदेवा शुक्ला क्षीरशुक्ला बलाऽतिबला विदारी क्षीरविदारी क्षुद्रसहा महासहार्ष्यगन्धाश्वगन्धा वृश्चीरः पुनर्नवा बृहती कण्टकारिकोरुबूको मोरटः श्वदंष्ट्रा संहर्षा शतावरी शतपुष्पा मधूकपुष्पी यष्टीमधु मधूलिका मृद्वीका खर्जूरं परूषकमात्मगुप्ता पुष्करबीजं कशेरुकं राजकशेरुकं राजादनं कतकं काश्मर्यं शीतपाक्योदनपाकी तालखर्जूरमस्तकमिक्षुरिक्षुबालिका दर्भः कुशः काशः शालिर्गुन्द्रेत्कटकः शरमूलं राजक्षवः ऋष्यप्रोक्ता द्वारदा भारद्वाजी वनत्रपुष्यभीरुपत्री हंसपादी काकनासिका कुलिङ्गाक्षी क्षीरवल्ली कपोलवल्ली कपोतवल्ली सोमवल्ली गोपवल्ली मधुवल्ली चेति.....मधुरस्कन्धः। (च० वि० ८.१३९)

१. दाडिमामलकमातुलुङ्गाम्रातककपित्थकरमर्दबदरकोलप्राचीनामलकतिन्तिडीककोशाम्रक-भव्यपारावतवेत्रफललकुचाम्लवेतसदन्तशठदधितक्रसुराशुक्तसौवीरकतुषोदकधान्याम्ल-प्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः। (सु० सू० ४२.११)
आम्राम्रातकलकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गण्डीरामलकनन्दी-तकशीतकतिन्तिडीकदन्तशठैरावतककोशाम्रधन्वनानां फलानि, पत्राणि चाम्रातकाश्मन्तक-चाङ्गेरीणां चतुर्विधानां चाम्लिकानां द्वयोश्च कोलयोश्चामशुष्कयोर्द्वयोश्चैव शुष्काम्लिकयो-र्ग्राम्यारण्ययोः, आसवद्रव्याणि च सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकमदिरामधुशुक्तशीधुदधि-दधिमण्डोदश्विद्धान्याम्लादीनि च ....इत्यम्लस्कन्धः। (च० वि० ८.१४०)

२. सैन्धवसौवर्चलकालविडपाक्यानूपकूप्यवालुकैलमौलकसामुद्ररोमकौद्भिदौषरपाटेयकपांशु-जान्येवंप्रकाराणि चान्यानि....इति लवणस्कन्धः। (च० वि० ८.१४१)
सैन्धवसौवर्चलविडपाक्यरोमकसामुद्रकपक्त्रिमयवक्षारोषरप्रसूतसुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः। (सु० सू० ४२.११)

मूत्र, पित्त, कर्पूर, बाकुची, चोरपुष्पी, गुग्गुलु, मुस्तक, लाङ्गली आदि तथा सुश्रुतोक्त पिप्पल्यादि, सुरसादि तथा सालसारादि गण के अधिकांश द्रव्य।[१]

५. तिक्तस्कन्ध

चन्दन, जटामांसी, आरग्वध, नक्तमाल, निम्ब, तुम्बुरु, कुटज, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मुस्त, मूर्वा, किराततिक्तक, कटुरोहिणी, त्रायमाणा, कारवेल्लिका, करवीर, केबुक, पुनर्नवा, वासा, मण्डूकपर्णी, कर्कोटक, वार्ताक, काकमाची, काकोदुम्बर, अतिविषा, पटोल, पाठा, गुडूची, वेत्राग्र, वेतस, विकङ्कत, बकुल, कट्फल, सप्तपर्ण, जाती, अर्क, बाकुची, वचा, तगर, अगुरु, बालक, उशीर, करीर, इन्द्रयव, वरुण, बृहतीद्वय, यवतिक्ता, द्रवन्ती, त्रिवृत्, कृतवेधन, शङ्खपुष्पी, अपामार्ग, अरणी, वृश्चिकाली, ज्योतिष्मती आदि तथा सुश्रुतोक्त आरग्वधादि और गुडूच्यादि गण।[२]

६. कषायस्कन्ध

प्रियङ्गु, आम्रास्थि, पाठा, अरलु, लोध्र, मोचरस, लज्जालु, धातकीपुष्प, कमलकेशर, जम्बू, आम्र, प्लक्ष, वट, अश्वत्थ, पारीष, उदुम्बर, भल्लातक, अश्मन्तक, शिरीष, शिंशपा, श्वेतखदिर, तिन्दुक, प्रियाल, बदर, खदिर, सप्तपर्ण, अश्वकर्ण, तिनिश, अर्जुन, असन, अरिमेद, एलवालुक, कैवर्त्तमुस्तक, कदम्ब, शल्लकी, जिंगिणी, काश, कशेरु, राजकशेरुक, कट्फल, वंश, पद्मक, अशोक,

---

१. पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदार्द्रकविडङ्गकुस्तुम्बुरुपीलु-तेजोवत्येलाकुष्ठभल्लातकास्थिहिङ्गुनिर्यासकिलिममूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुकमधुशिग्रु-कखरपुष्पभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकार्जकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकक्षारमूत्र-पित्तानि... इति कटुकस्कन्धः। (च० वि० ८.१४२)
पिप्पल्यादिः, सुरसादिः शिग्रुमधुशिग्रुमूलकलशुनसुमुखशीतशिवकुष्ठदेवदारुहरेणुकावल्गुज-फलचण्डागगुलुमुस्तलाङ्गलकीशुकनासापीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः।
(सु० सू० ४२.११)

२. चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बतुम्बुरुकुटजहरिद्रादारुहरिद्रामुस्तमूर्वाकिराततिक्तकटु-रोहिणीत्रायमाणाकारवेल्लिकाकरीरकरवीरकेबुककठिल्लकवृषमण्डूकपर्णीकर्कोटक-वार्ताकुकर्कशकाकमाचीकाकोदुम्बरिकासुषव्यतिविषापटोलकुलकपाठागुडूचीवेत्राग्रवेतस-विकङ्कतबकुलसोमवल्कसप्तपर्णसुमनार्कावल्गुजवचातगरागुरुबालकोशीराणि.....इति तिक्तस्कन्धः। (च० वि० ८.१४३)
आरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णीवेत्रकरीरहरिद्राद्वयेन्द्रयववरुणस्वादुकण्टकसप्तपर्णबृहती-द्वयशङ्खिनीद्रवन्तीत्रिवृत्कृतवेधनकर्कोटककारवेल्लवार्ताककरीरकरवीरसुमनःशङ्खपुष्प्य-पामार्गत्रायमाणाशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्चलापुनर्नवावृश्चिकालीज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः। (सु० सू० ४२.११)

शाल, धव, सर्ज, भूर्ज, शणपुष्पी, शमी, माचिका, पुन्नाग, अजकर्ण, बिभीतक, कुम्भीक, कमलबीज, कमलमूल, मृणाल, ताल, खर्जूर, बकुल, कतक, शाकफल, पाषाणभेद, उदुम्बर आदि के फल, कुरबक, कोविदार, जीवन्ती, पालक, सुनिषण्णक आदि तथा सुश्रुतोक्त न्यग्रोधादि, अम्बष्ठादि, प्रियंग्वादि, रोध्रादि, त्रिफला एवं सालसारादि गण के अधिकांश द्रव्य।[१]

वाग्भट ने रस-स्कन्धों में पार्थिव द्रव्यों का भी समावेश किया है यथा स्वर्ण का मधुर में, रजत का अम्ल में, नाग का लवण में, कांस्य और लौह का तिक्त में और मुक्ता, प्रवाल, अञ्जन और गैरिक का कषाय में। (अ० ह० सू० १०.२२-३२)।

(झ) **वीर्यभेद से**– अष्टविध वीर्यवादियों के मत में आठ (गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण) वीर्य होते हैं। द्विविधवीर्यवादी शीत और उष्ण दो प्रकार के मानते हैं। तदनुसार द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं– शीतवीर्य और उष्णवीर्य। व्यवहार में यही मत अधिक प्रचलित है।

१. शीतवीर्य द्रव्य (चन्दनादि)

चन्दन, पद्मक, उशीर, सारिवा, प्रपौण्डरीक, नागकेशर, पद्म, उत्पल, शैवाल, कशेरुक, धन्वयास, कुश, काश, इक्षु, दर्भ, शर, शालिमूल, जम्बू, वेतस, ककुभ, असन, अश्वकर्ण, तिनिश, शाल, ताल, धव, खदिर, कदर, कदम्ब, काश्मर्यफल, सर्ज, प्लक्ष, कपीतन, उदुम्बर, अश्वत्थ, न्यग्रोध, धातकी, दूर्वा, इत्कट, शृङ्गाटक, पुष्करबीज, कोविदार, कदली, कुम्भिका, शतावरी, बला, विदारी, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, मोचरस, वासा, बकुल, कुटज, पटोल, निम्ब, शाल्मली, नारिकेल, खजूर, मृद्वीका, प्रियाल, प्रियङ्गु, धन्वन, आत्मगुप्ता, मधूक,

१. प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थ्यम्बष्ठकीकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मपद्मकेशरजम्ब्वाम्रप्लक्षवटपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकस्थ्यश्मन्तकशिरीषशिंशपासोमवल्कतिन्दुकप्रियालबदरखदिरसप्तपर्णाश्वकर्णस्यन्दनार्जुनारिमेदैलवालुकपरिपेलवकदम्बशल्लकीजिङ्गिनीकाशकशेरुकरराजकशेरुककट्फलवंशपद्मकाशोकशालधवसर्जभूर्जशणखरपुष्पापुरशमीमाचीकवरकतुङ्गाजकर्णाश्वकर्णस्फूर्जकबिभीतककुम्भीकपुष्करबीजबिसमृणालतालखर्जूरतरुणानि इति....। कषायस्कन्धः। (च० वि० ८.१४४)

न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियङ्ग्वादी रोध्रादिस्त्रिफलाशल्लकीजम्ब्वाम्रबकुलतिन्दुकफलानि कतकशाकफलपाषाणभेदकवनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुवककोविदारजीवन्तीचिल्लीपालङ्क्यासुनिषण्णकप्रभृतीनि वरकादयो मुद्गादयश्च समासेन कषायो वर्गः। (सु० सू० ४२.११)

आदि द्रव्य।[१] यह चन्दनादि गण कहलाता है। च० चि० ४.१०२-१०५ में रक्तपित्त की चिकित्सा में भद्रश्रियादि गण का निर्देश है। इसमें भी यही शीतवीर्य द्रव्य हैं।

२. उष्णवीर्य द्रव्य (अगुर्वादि)

अगुरु, कुष्ठ, तगर, पत्र, नलद, शैलेय, स्थौणेयक, एला, त्वक्, गुग्गुलु, रोहिष, सरल, शल्लकी, देवदारु, अग्निमन्थ, बिल्व, श्योनाक, काश्मर्य, पाटला, पुनर्नवा, कण्टकारी, बृहती, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, गोक्षुर, एरण्ड, शोभाञ्जन, वरुण, अर्क, चिरबिल्व, तिल्वक, शटी, पुष्करमूल, अश्मन्तक, मातुलुङ्ग, मूलक, पीलुपर्णी, तिलपर्णी, मूर्वा, हिंस्रा, दन्तशठ, भल्लातक, काण्डीर, काकाण्ड, करञ्ज, धान्यक, अजमोदा, पृथ्वीका, तुलसी, आर्द्रक, पिप्पली, सर्षप, अश्वगन्धा, रास्ना, वचा, बला, अतिबला, गुडूची, शतपुष्पा, नाकुली, गन्धनाकुली, ज्योतिष्मती, चित्रक, तिल, कुलत्थ, माष आदि।[२] यह अगुर्वादि गण कहा जाता है। इसमें कुष्ठ और तगर तीक्ष्ण होने के कारण अनेक स्थलों में इन्हें हटा कर प्रयोग करने का विधान है। इन दोनों के हटाने पर 'अगुरुपत्रादि गण' बनता है जिसका उल्लेख चरक ने धूमपान-प्रकरण में किया है 'गन्धाश्चागुरुपत्राद्याः' (च० सू० ५.२७)।

१. चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवामधुकप्रपौण्डरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूकशैवालकशेरुकानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बुवेतसवानीरगुन्द्राककुभासनाश्वकर्णस्यन्दनवातपोथशालतालधवतिनिशखदिरकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षकपीतनोदुम्बराश्वत्थन्यग्रोधधातकीदूर्वेत्कटशृङ्गाटकमञ्जिष्ठाज्योतिष्मतीपुष्करबीजक्रौञ्चादनबदरीकोविदारकदलीसंवर्तकारिष्टशतपर्वाश्वेतकुम्भिकाशतावरीश्रीपर्णीश्रावणीमहाश्रावणीगेहिणीशीतपाक्यौदनपाकीकालाबलापयस्याविदारीजीवकर्षभकमेदामहामेदामधुरसर्ष्यप्रोक्ततृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटजपटोलनिम्बशाल्मलीनारिकेलखर्जूरमृद्वीकाप्रियालप्रियङ्गुधन्वनात्मगुप्तामधूकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्। (च० चि० ३.२५८)

२. अगुरुकुष्ठतगरपत्रनलदशैलेयध्यामकहरेणुकास्थौणेयकक्षेमकैलावराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वश्योनाककाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारीबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकैरण्डशोभाञ्जनकवरुणार्कचिरबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाश्मन्तकशिग्रुमातुलुङ्गपीलुकमूलकपर्णीतिलपर्णीपीलुपर्णीमेषशृङ्गीहिंस्रादन्तशठैरावतकभल्लातकास्फोतकाण्डीरात्मगुप्ताकाकाण्डैकेषीकाकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुखसुरसकुठेरककालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारुहावरोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुलीगन्धनाकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचाङ्गेरीतिलबदरकुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्। (च० चि० ३.२६७)

(ट) **दोषकर्मभेद से**– द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं– शमन, कोपन और स्वस्थहित।[१] शमन द्रव्य उसे कहते है जो कुपित दोषों को शान्त करे। कोपन द्रव्य उसे कहते हैं जो दोषों को कुपित करे। स्वस्थहित द्रव्य वह है जो दोषों को समावस्था में बनाये रक्खे। ये द्रव्य तीनों दोषों पर प्रभाव डालते हैं और उन्हें प्रतिकूल नहीं होने देते। शमन और कोपन ये दोनों पुन: दोष के अनुसार तीन-तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं यथा वातसंशमन, पित्तसंशमन और कफसंशमन; वातकोपन, पित्तकोपन और कफकोपन।

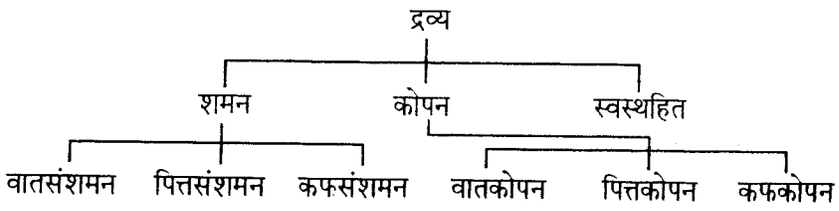

१. वातसंशमन

देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण, मेषशृङ्गी, बला, अतिबला, आर्त्तगल, शल्लकी, वीरतरु, सहचर, अग्निमन्थ, गुडूची, एरण्ड, पाषाणभेद, अर्क, अलर्क, शतावरी, पुनर्नवा, भार्ङ्गी, कार्पासी, वृश्चिकाली, बदर, यव, कोल, कुलत्थ आदि तथा विदारिगन्धादि और दशमूल गण।[२] सामायन्त: स्निग्ध, गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल और श्लक्ष्ण गुणवाले[३]; मधुर, अम्ल, लवणरसयुक्त;[४] मधुरविपाक[५] तथा उष्णवीर्य द्रव्य[६] वातसंशमन होते हैं।

---

१. शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा। (अ० हृ० सू० १.१६)
किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्। स्वस्थवृत्तौ मतं किंचित्त्रिविधं द्रव्यमुच्यते।
(च० सू० १.६७)

२. तत्र भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलातिबलार्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्जनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वातसंशमनो वर्ग:। (सु० सू० ३९.७)

३. रूक्ष: शीतो लघु: सूक्ष्मश्चलोऽथ विशद: खर:। विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुत: संप्रशाम्यति।।
(च० सू० १.५९)

४. तत्र, मधुराम्ललवणा वातघ्ना:। (सु० सू० ४२.४)

५. गुरुपाको वातपित्तघ्न:। (सु० सू० ४१.११)

६. तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ। (सु० सू० ४१.११)

२. पित्तसंशमन

चन्दन, रक्तचन्दन, हीबेर, उशीर, मञ्जिष्ठा, क्षीरविदारी, विदारी, शतावरी, गुन्द्रा, शैवाल, कह्लार, कुमुद, उत्पल, कन्दली, दूर्वा, मूर्वा आदि तथा काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि, उत्पलादि, न्यग्रोधादि और तृणपञ्चमूल गण।[१] सामान्यत: रूक्ष, मृदु, सान्द्र, स्थिर गुणों से युक्त;[२] कषाय, मधुर और तिक्तरसयुक्त;[३] मधुरविपाक[४] तथा शीतवीर्य[५] द्रव्य पितसंशमन होते हैं।

३. कफसंशमन

कालेयक, अगुरु, तिलपर्णी, कुष्ठ, हरिद्रा, कर्पूर, शतपुष्पा, सरल, रास्ना, करञ्जद्वय, इङ्गुदी, जाती, काकादनी, लाङ्गली, हस्तिकर्ण आदि तथा कण्टकपञ्चमूल, पिप्पल्यादि, बृहत्यादि, मुष्ककादि, वचादि, सुरसादि और आरग्वधादि गण।[६] सामान्यत: लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष, सर, विशदगुणयुक्त[७]; कटु, तिक्त, कषायरसयुक्त[८]; कटुविपाक;[९] उष्णवीर्य द्रव्य कफसंशमन होते हैं।

४. वातकोपन

शुष्कशाक, शुष्कमांस, वरक, उद्दालक, कोरदूष, श्यामाक, नीवार, मुद्ग, मसूर, आढकी, चणक, कलाय, निष्पाव, विरूढक, तृणधान्य, करीर, तुम्ब,

---

१. चन्दनकुचन्दनह्रीबेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्यासारिविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द(द)लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादि: सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्ग:। (सु० सू० ३९.८)

२. सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु। विपरीतगुणै: पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।।
(च० सू० १.६०)

३. मधुरतिक्तकषाया: पित्तघ्ना:। (सु० सू० ४२.४)

४. गुरुपाको वातपित्तघ्न:। (सु० सू० ४१.११)

५. शीतमृदुपिच्छिला: पित्तघ्ना:। (सु० सू० ४१.११)

६. कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलरास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनाकाकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिबृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादि: सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्ग:।
(सु० सू० ३९.९)

७. गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिला:। श्लेष्मण: प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणा:।
(च० सू० १.६१)

८. कटुतिक्तकषाया: श्लेष्मघ्ना:। (सु० सू० ४२.४)

९. लघुपाक: श्लेष्मघ्न:। (सु० सू० ४१.११)

कालिङ्गक, चिर्भट, बिस, शालूक, जाम्बव, तिन्दुक आदि।[१] सामान्यत: रूक्ष, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खरगुणयुक्त; कटुतिक्तकषायरस; कटुविपाक; शीतवीर्य तथा विष्टम्भी द्रव्य वातकोपन होते हैं।

५. पित्तकोपन

तिलतैल, पिण्याक, कुलत्थ, सर्षप, अतसी, हरितकशाक, गोधामांस, मत्स्यमांस, आजमांस, आविकमांस, दधि, तक्र, कूर्चिका, मस्तु, सुरा, सौवीरक, अम्लफल, क्षार, शुक्त, शाण्डाकी, मूत्र, काञ्जी, माष, निष्पाव, पीलु, भल्लातकास्थि, लाङ्गली, गरिच आदि तथा कुठेरकादि वर्ग। सामान्यत: स्निग्ध, तीक्ष्ण, द्रव, सर गुणयुक्त; कटु-अम्ल-लवणरस; कटु-अम्ल विपाक; उष्णवीर्य तथा विदाही द्रव्य पित्तकोपन होते हैं।[२]

६. कफकोपन

यवक, इत्कट, माष, महामाष, गोधूम, तिलविकार, पिष्टविकार, दधि, दुग्ध, कृशरा, पायस, इक्षुविकार, आनूपमांस, औदकमांस, वसा, बिस, मृणाल, कसेरुक, शृङ्गाटक, मधुरफल, वल्लीफल, नवान्न, पृथुक, लड्डू आदि स्थूल भक्ष्य, शष्कुली, कच्चा दूध, किलाट (छेना), मोरट, कूर्चिका, तक्रपिण्डक, पीयूष, कदलीफल, खजूर, भव्य, नारिकेल आदि। सामान्यत: गुरु, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिलगुणयुक्त; मधुर, अम्ल-लवणरस; मधुरविपाक; शीतवीर्य तथा अभिष्यन्दी द्रव्य कफकोपन होते हैं।[३]

१. तत्र... कटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवार-मुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पाव...वेगविघातादिभिर्विशेषैर्वायु: प्रकोपमापद्यते। (सु० सू० २१.१९)
अथ तिक्तकटुकषायरूक्षलघुशीतविष्टम्भिविरूढकतृणधान्यकलायचणककरीरतुम्बकालिङ्ग-चिर्भिटबिसशालूकजाम्बवतिन्दुक.....शोकोत्कण्ठादिभिरतिसेवितै:....वायु: प्रकोपमापद्यते। (अ० सं० नि० १.१३)

२. ...कट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाक-गोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभि: पित्तं प्रकोपमापद्यते। (सु० सू० २१.२१)
कट्वम्ललवणक्षारोष्णतीक्ष्णविदाहिशुक्तशाण्डाकीमद्यमूत्रमस्तुदधिधान्याम्लतैलकुलत्थमाष-निष्पावतिलान्नकट्वरकुठेरकादिवर्गाम्राम्रातकाम्लीकापीलुभल्लातकास्थिलाङ्गलिकामरिच.... मैथुनोपगमनादिभि: पित्तं (प्रकोपमापद्यते)। (अ० सं० नि० १.१४)

३. ...मधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेत्कटमाषमहा-माषगोधूमतिलपिष्टविकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरु-कशृङ्गाटकमधुरवल्लीफल...प्रभृतिभि: श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। (सु० सू० २१.२३)
मधुराम्ललवणस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिनवान्नपिष्टपृथुकस्थूलभक्ष्यशष्कुल्यामक्षीर-किलाटमोरटकूर्चिकातक्रपिण्डकपीयूषेक्षुरसफाणितगुडानूपपिशितमोचखर्जूरभव्यनारिकेल... विरेचनाद्ययोगादिभि:...श्लेष्मा (प्रकोपमापद्यते)। (अ० सं० नि० १.१५)

७. स्वस्थहित

रक्तशालि, मुद्ग, आन्तरीक्ष जल, सैन्धव, जीवन्तीशाक, ऐणमृगमांस, लावपक्षिमांस, गोधामांस, रोहितमत्स्य, गव्यघृत, गोदुग्ध, तिलतैल, वराहवसा, पाकहंसवसा, कुक्कुटवसा, अजमेद, शृङ्गवेर, मृद्वीका, शर्करा, दाडिम, आमलक आदि।[१] इनके अतिरिक्त, रसायन और वाजीकरण गण के द्रव्य भी स्वस्थहित हैं।

शमन द्रव्यों का प्रयोग चिकित्सा में होता है। कोपन द्रव्यों का निर्देश रोगों के निदान में है, उनके ज्ञान का महत्त्व चिकित्सा में निदानपरिवर्जन के रूप में है। स्वस्थहित द्रव्यों का उपयोग स्वास्थ्यरक्षण, धातुवृद्धि, दीर्घायुष्य तथा जराव्याधि प्रतिषेध के लिए किया जाता है।

(ठ) **सांस्थानिक कर्मभेद से**– द्रव्यों का शरीर के विभिन्न अङ्गों या संस्थानों पर जो कर्म होता है उसके अनुसार उनके अनेक वर्ग निर्धारित किये गये हैं। ये विभिन्न कर्म दो वर्गों में समाविष्ट किये गये हैं– संशोधन और संशमन। संशोधन कर्म शरीरस्थ मलों को बाहर निकालते हैं और संशमन कर्म शरीरस्थ कुपित दोषों को शान्त करते हैं। चरक और सुश्रुत ने कर्मों के अनुसार द्रव्यों के अनेक गण निर्धारित किये हैं। उनका वर्णन वहीं किया जायेगा। सांस्थानिक कर्मों के अनुसार द्रव्यों को नवीन शैली से व्यवस्थित किया जा सकता है। आकृति या कुल के अनुसार वानस्पतिक वर्गीकरण वनस्पति-परिचय के लिए उपयोगी है और चिकित्सकों के लिए कर्मानुसार वर्गीकरण व्यवहारत: अधिक उपादेय है।

*

१. लोहितशालय: शूकधान्यानां पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गा: शमीधान्यानाम्, आन्तरीक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानां, लाव: पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पि: सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां, पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्, अजमेद: शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करेक्षुविकाराणाम्, इति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। (च० सू० २५.३८)
तद्यथा– रक्तशालिषष्टिककङ्गुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पक-कर्दमकशकुनाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्रवोद्दालकश्यामाकगोधूमयववैणववैणहरिण-कुरङ्गमृगमातृकाश्वदंष्ट्राकरालऋक्षकरकपोतलावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकामुद्गवनमुद्ग-मकुष्ठकलायमसूरमङ्गल्यचणकहरेण्वाढकीसतीनाश्चिल्लिवास्तुकसुनिषण्णकजीवन्ती-तण्डुलीयकमण्डूकपर्ण्य:, गव्यं घृतं, सैन्धवं, दाडिमामलकमित्येष वर्ग: सर्वप्राणिनां सामान्यत: पथ्यतम:। (सु० सू० २०.५)

चतुर्थ अध्याय

द्रव्यों का रचनात्मक वर्गीकरण

(Morphological classification)

यह लिखा जा चुका है कि अति प्राचीन काल में महर्षियों ने वनस्पतियों का अध्ययन रचनानुसार कर लिया था क्योंकि वे उनके निरन्तर सान्निध्य में रहते थे। आगे चल कर निघण्टुकारों ने भी वनस्पति के विभिन्न अङ्गों की रचना पर प्रकाश डाला है। विशेषत: राजनिघण्टु का प्रयास इस दिशा में प्रशंसनीय कहा जा सकता है।

आधुनिक और प्राचीन रचनानुसार वर्गीकरण में अन्तर

आधुनिक वैज्ञानिकों ने विभिन्न वनस्पतियों का रचनामूलक वर्गीकरण उनके आकृतिगत साम्य विशेषत: लैङ्गिक अवयवों की समानता के आधार पर किया है इसलिए उसे कुलानुसार वर्गीकरण भी कहते हैं। किन्तु प्राचीन विद्वानों ने उनकी व्यावहारिक उपादेयता तथा लोक-प्रचलित उपयोग के आधार पर उनका वर्गीकरण किया। प्राचीन महर्षियों की मीमांसा का आधार लोकनिरीक्षण रहा है, अत: इस क्षेत्र में भी उन्होंने इसी आधार से काम लिया है। विभिन्न वनस्पतियों के जिन अङ्गों का उपयोग लोक में मुख्यत: होता है उन्हीं के आधार पर द्रव्यों के विभिन्न वर्ग बनाये हैं यथा जिन द्रव्यों के फल का विशेषत: उपयोग होता है उनका समावेश फलवर्ग में तथा जिनके पुष्पों का उपयोग विशेषत: होता है उनका समावेश पुष्पवर्ग में किया गया है। सर्वप्रथम आहार में उपयोगी द्रव्यों का ही इस प्रकार वर्गीकरण प्रारम्भ हुआ किन्तु क्रमश: औषधद्रव्यों के भी इस प्रकार वर्ग बनाये गये और अन्त में जाकर तो सभी द्रव्यों के वर्गीकरण का यही आधार रह गया। निघण्टुओं में गन्ध-द्रव्यों का पृथक् वर्ग बनाया गया।

चरकोक्त वर्ग

चरक ने इस प्रकार से आहारद्रव्यों का ही वर्गीकरण किया है[१] और समस्त द्रव्यों को बारह वर्गों में विभाजित किया है[२] जो निम्नाङ्कित हैं-

१. परमतो वर्गसंग्रहेणाहारद्रव्याण्यनुव्याख्यास्याम:। (च० सू० २७.५)

२. शूकधान्यशमीधान्यमांसशाकफलाश्रयान्। वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारिकान्।।
दश द्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम्। रसवीर्यविपाकैश्च प्रभावैश्च प्रचक्ष्महे।।
(च० सू० २७.६)

१. शूकधान्य- शालि, यव गोधूम आदि।
२. शमीधान्य- मुद्ग, माष, कुलत्थ आदि।
३. मांस- योनिभेद से इसके आठ उपवर्ग किये गये हैं प्रसह, भूमिशय, आनूप आदि।[१]
४. शाक- वास्तुक, सूरण, पटोल आदि क्रमश: पत्र-कन्द-फलाश्रय शाक।
५. फल- मृद्वीका, परूषक, नारिकेल।
६. हरित- आर्द्रक, नींबू, मूलों आदि जिनका हरित अवस्था में प्रयोग होता है।
७. मद्य- अरिष्ट, आसव, सुरा आदि।
८. जल- दिव्य, भौम आदि।
९. गोरस- गव्य, माहिष आदि दुग्ध, दधि, घृत।
१०. इक्षु- इक्षुरस, गुड, शर्करा आदि।
११. कृतान्न- मण्ड, पेया, सक्तु आदि।
१२. आहारयोगी- तैल, लवण, हिङ्गु आदि।

इनमें शूकधान्य, शमीधान्य, शाक, फल, हरित, इक्षु- ये वर्ग विशिष्ट वानस्पतिक रचना एवं उपादेय अङ्गों के आधार पर निर्धारित किये गये हैं।

सुश्रुतोक्त वर्ग

सुश्रुत ने द्रव्यों को द्रव और अन्न इन दो महावर्गों में विभाजित किया है और दोनों का पृथक्-पृथक् अपनी संहिता के दो स्वतन्त्र अध्यायों (सूत्रस्थान ४५ और ४६ अ०) में विशद रूप में वर्णन किया है। इन दोनों महावर्गों में भी अनेक वर्ग बनाये गये हैं-

(क) द्रवद्रव्य

१. जलवर्ग	२. क्षीरवर्ग	३. दधिवर्ग	४. तक्रवर्ग	५. घृतवर्ग
६. तैलवर्ग	७. मधुवर्ग	८. इक्षुवर्ग	९. मद्यवर्ग	१०. मूत्रवर्ग

(ख) अन्नद्रव्य

१. शालिवर्ग, २. कुधान्य, ३. वैदल, ४. मांसवर्ग- इसके ६ उपवर्ग तथा अनेक अवान्तर वर्ग किये गये हैं।[२] ५. फलवर्ग, ६. शाकवर्ग, ७. पुष्पवर्ग,

१. प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिता:। भूशया बिलशायित्वादानूपाऽनूपसंश्रयात्।।
जले निवासाज्जलजा जलेचर्याज्जलेचरा:। स्थलजा जाङ्गला: प्रोक्ता मृगा जाङ्गलचारिण:।।
विकीर्य विष्किराश्चेति प्रतुद्य प्रतुदा: स्मृता:। योनिरष्टविधा त्वेषा मांसानां परिकीर्तिता।।
(च० सू० २७.५३-५५)

२. जलेशया, आनूपा, ग्राम्या:, क्रव्यभुज, एकशफा, जांगलाश्चेति षण्मांसवर्गा:। (सु० सू० ४६.५३)

८. कन्दवर्ग, ९. लवणवर्ग, १०. क्षारवर्ग, ११. धातुवर्ग, १२. रत्नवर्ग, १३. कृतान्नवर्ग।

इनमें शालिवर्ग, कुधान्य, वैदल, फल, शाक, पुष्प, कन्द तथा इक्षु के वर्ग वनस्पतियों से सम्बद्ध हैं।

चरक और सुश्रुत का रचनात्मक वर्गीकरण- एक तुलनात्मक समीक्षा

चरक और सुश्रुत के रचनात्मक वर्गीकरण की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चरक की अपेक्षा सुश्रुत का वर्गीकरण अधिक विशद और विकसित है। चरक ने सामान्यत: आहारद्रव्यों के बारह वर्ग बनाये हैं, किन्तु आभ्यन्तर साम्य और वैषम्य के आधार पर उनका सूक्ष्म विभाजन नहीं किया; अपनी सूत्रशैली के अनुसार संक्षेप में ही उनका परिगणन किया है। सुश्रुत ने इस पर विशेष ध्यान दिया है और समस्त द्रव्यों को पहले उन्होंने द्रव और अन्न दो महावर्गों में विभाजित किया। द्रव में दस और अन्न में तेरह वर्ग समाविष्ट किये गये। चरक ने गोरसवर्ग में ही दुग्ध, दधि, घृत आदि का वर्णन संक्षेप में कर दिया है किन्तु सुश्रुत ने इसको अधिक पल्लवित कर इनका वर्णन क्षीरवर्ग, दधिवर्ग, तक्रवर्ग तथा घृतवर्ग- इन चार वर्गों में पृथक्-पृथक् विशद रूप से किया है। तैलवर्ग तथा मधुवर्ग सुश्रुत के नवीन हैं। अन्नद्रव्यों में भी पुष्पवर्ग, लवणवर्ग, क्षारवर्ग, धातुवर्ग, रत्नवर्ग इनका वर्णन चरक में पृथक् नहीं मिलता यद्यपि अन्य वर्गों तथा स्थलों में उनका सङ्केत उपलब्ध है। इसका एक कारण शैलीभेद तो है ही दूसरा कारण यह भी है कि चरक ने इस वर्गीकरण में केवल आहारद्रव्यों पर ही दृष्टि रक्खी है किन्तु सुश्रुत के काल तक अनेक औषधद्रव्यों का भी लोक में विशेष प्रचलन हो गया था, इसलिए उन्होंने अपने वर्गीकरण में अनेक नवीन औद्भिद, जाङ्गम तथा पार्थिव द्रव्यों का समावेश किया है और इसके लिए पृथक् वर्गों की कल्पना करनी पड़ी है। यथा मूत्रवर्ग औषध में ही प्रयुक्त होता है, आहार में नहीं, अत: चरक ने इसका पृथक् वर्ग में उल्लेख नहीं किया किन्तु सुश्रुत ने किया है। इसी प्रकार मांसवर्ग का भी विशदीकरण किया गया है। पार्थिव द्रव्यों के भी लवणवर्ग, क्षारवर्ग, धातुवर्ग एवं रत्नवर्ग ये नवीन और स्वतंत्र वर्ग बनाये गये हैं।

औद्भिद द्रव्यों का आधुनिक रचनात्मक वर्गीकरण

(Morphological classification)

(क) **उद्भवभेद से**- औद्भिद द्रव्य चार प्रकार के होते हैं- स्थलज (Terrestrial), जलज (Acquatic), वृक्षरुह (Epiphytic) तथा वृक्षादन (Parasitic)।

१. **स्थलज**- उन्हें कहते हैं जो स्थल में उत्पन्न होते हैं यथा हरीतकी, बिभीतक आदि।

२. **जलज**- उन्हें कहते हैं जो जल में उत्पन्न होते हैं यथा कमल, जलकुम्भी आदि।

३. **वृक्षरुह**- जो द्रव्य वृक्ष पर चढ़े रहते हैं किन्तु अपने जीवन के लिए उस पर निर्भर नहीं होते उन्हें वृक्षरुह कहते हैं यथा जीवन्ती, गुडूची आदि।

४. **वृक्षादन**- उन्हें कहते हैं जो दूसरे वृक्षों का रस लेकर अपना पोषण करते हैं यथा वन्दाक।

(ख) **आयुभेद से**- द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं- एकवर्षायु (Annuals), द्विवर्षायु (Biennials) तथा बहुवर्षायु (Perennials)। जो द्रव्य एक ऋतु या वर्ष तक जीवित रहते हैं, उन्हें एक वर्षायु कहते हैं यथा गेहूँ, यव आदि। जो द्रव्य दो ऋतुओं या वर्षों तक जीवित रहते हैं उन्हें द्विवर्षायु कहते हैं यथा शलगम, गाजर आदि। जो द्रव्य दो वर्षों से अधिक काल तक बने रहते हैं उन्हें बहुवर्षायु या चिरायु कहते हैं यथा नीम, वट आदि।

(ग) **आकृति-भेद से**- द्रव्यों की आकृति तथा प्रमाण के अनुसार चार मुख्य भेद होते हैं- वृक्ष, गुल्म, क्षुप तथा लता।

१. **वृक्ष** (Tree)- इनकी ऊँचाई ५ से ३५ मी० तक होती है। काण्ड दृढ़ और शाखायें ऊपर की ओर तथा दृढ़ होती हैं। इनके भी तीन उपवर्ग किये गये हैं-

(क) **महावृक्ष** (Tall tree)- इनकी ऊँचाई १६ मी० से अधिक होती है यथा देवदारु।

(ख) **वृक्ष** (Medium tree)- इनकी ऊँचाई १३-१६ मी० तक होती है यथा आम, जामुन आदि।

(ग) **वृक्षक** (Small tree)- इनकी ऊँचाई ५-६ मी० होती है यथा पपीता, कुटज आदि।

२. **गुल्म** (Shrub)- जिनमें एक ही मूल से अनेक काण्ड निकल कर झाड़ सा बन जाय उन्हें गुल्म कहते हैं यथा धातकी। छोटे गुल्मों को 'गुल्मक' (Under-shrub) कहते हैं यथा अर्क, दन्ती आदि।

३. **क्षुप** (Herb)- इनकी ऊँचाई ०.५-१ मी० से १.५-२ मी० तक होती है। इनका मूल छोटा और शाखायें कोमल होती हैं यथा चक्रमर्द आदि। ०.५-१ मी० से कम ऊँचाई वाले क्षुप को 'क्षुपक' (Under-herbs) कहते हैं।

४. **लता** (Weak Plants)- जो पौधे काण्ड दुर्बल होने के कारण स्वयं स्थिर नहीं रह सकते और कोई आधार लेकर आगे बढ़ते हैं उन्हें लता कहते हैं। यह पुन: चार प्रकार की होती हैं- प्रसर, वल्ली, आरोहिणी और प्रतानिनी।

(क) **प्रसर** (Prostrate)– जिनमें काण्ड से शाखायें निकल कर भूमि पर थोड़ी दूर तक फैल जाती हैं उन्हें 'प्रसर' कहते हैं यथा कण्टकारी।

(ख) **वल्ली** (Twinning plants)– यह अपने आश्रयभूत वृक्ष आदि को चारों ओर से लपेटती हुई आगे बढ़ती है। इसके भी वामावर्तिनी और दक्षिणावर्तिनी दो भेद हैं। वामावर्तिनी बाईं ओर से यथा उत्तमारणी, अमृतस्रवा आदि तथा दक्षिणावर्तिनी यथा गुडूची, विदारी आदि दाहिनी ओर से आश्रय को लपेटती हैं।

(ग) **आरोहिणी** (Climbing plants)– जो वृक्ष को बिना लपेटे सामान्य रूप से ऊपर चढ़ती है उसे आरोहिणी कहते हैं। इसके पुन: मूलारोहिणी (Root climbers), सूत्रारोहिणी (Tendril climbers), बडिशारोहिणी (Hook climbers) तथा पत्रारोहिणी (Leaf climbers) ये चार भेद किये गये हैं। ये क्रमश: मूलों, सूत्रों, बडिशों तथा पत्रों के द्वारा आगे बढ़ती हैं। इनके उदाहरण क्रमश: पान, कद्दू, बेत और कलिहारी हैं।

(घ) **प्रतानिनी** (Lianes)– जो लतायें वृक्ष के शिखर पर अमर्यादित रूप से फैलती जायें उन्हें प्रतानिनी कहते हैं यथा माधवी, मालइान आदि।

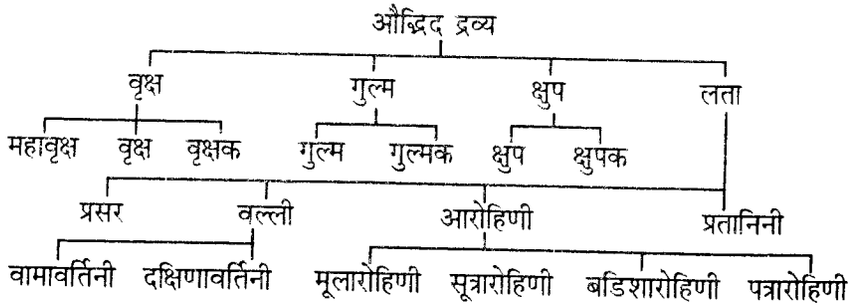

(घ) **कुल-भेद से**– आधुनिक वनस्पति-विज्ञान-वेत्ताओं ने १७वीं शती के अन्त में औद्भिद द्रव्यों का नवीन क्रम से वर्गीकरण करना प्रारम्भ किया और अब तक प्राय: सभी ज्ञात द्रव्यों को वर्गक्रम से व्यवस्थित किया जा चुका है। इसका आधार आकृतिगत तथा प्रकृतिगत साधर्म्य (Morphological and natural similarity) है। द्रव्यों के विभिन्न अङ्गों विशेषत: लैङ्गिक अवयवों की रचना के आधार पर उनके विभिन्न कुल स्थापित किये गये और फिर उनकी विभिन्न प्रजातियाँ और जातियाँ बनाई गईं। कुलसाधर्म्य के आधार पर होने के कारण यह वर्गीकरण 'कुलगत' (Genaeological) भी कहलाता है।

आधुनिक वर्गीकरण के भिन्न-भिन्न स्तरों पर अनेक सोपान हैं जिनसे किसी द्रव्य का उस कुलक्रम में विशिष्ट स्थान निश्चित किया जाता है। इस क्रम में निम्नाङ्कित सोपान हैं।

विभाग (Division)
|
उपविभाग (Subdivision)
|
श्रेणी (Class)
|
उपश्रेणी (Subclass)
|
गण (Order)
|
कुल (Family)
|
प्रजाति (Genus)
|
जाति (Species)

जब कोई वर्ग बड़ा होता है तो उसमें उपविभाग कर दिया जाता है यथा गण के बाद एक उपगण हो सकता है जिसके अन्त में 'इनी' (ineae) होता है। इसी प्रकार कुल के भी उपविभाग होते हैं यथा उपकुल, वंश (Tribe) तथा उपवंश जिनके अन्त में क्रमश: 'ऑयडी' (oideae), 'ई' (eae) तथा 'इनी' (inae) होते हैं। प्रजाति के उपविभाग उपप्रजाति और खण्ड (Sections) होते हैं। जाति के उपविभाग भी कभी-कभी दृष्टिगोचर होते हैं यथा उपजाति, प्रकार (Variety), उपप्रकार और आकृति (Form)।

कुछ प्रमुख प्रचलित ओषधियों का उल्लेख परिशिष्ट में किया गया है।

आकृतिगत साधर्म्य के अनुसार वर्गीकरण का सङ्केत वेदों में भी मिलता है तथा आयुर्वेद में उपलब्ध एतत्सम्बन्धी तथ्यों का उल्लेख पीछे हो चुका है। आयुर्वेद की विभिन्न संहिताओं ने चिकित्सा की दृष्टि से उपादेय होने के कारण कर्मानुसार वर्गीकरण (Pharmacotherapeutical classification) को ही प्रश्रय दिया।

*

पञ्चम अध्याय

द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण

(Pharmacotherapeutical classification)

आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में द्रव्यों का कर्मानुसार वर्गीकरण अत्यन्त विशद और वैज्ञानिक रूप में मिलता है। शरीर के प्रत्येक संस्थान पर होने वाले कर्मों का अध्ययन कर उनके अनुसार द्रव्यों को विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है। चरक और सुश्रुत दोनों ने द्रव्यों का कर्मानुसार वर्गीकरण किया है। यद्यपि इन दोनों में आपाततः कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है किन्तु मूलतः कोई भेद नहीं है। चरक ने वर्गों का नाम कर्मों के अनुसार रक्खा है तो सुश्रुत ने मुख्य द्रव्य के अनुसार; यथा जीवनीय कर्म करने वाले द्रव्यों के वर्ग का नाम चरक ने कर्म के अनुसार 'जीवनीय' दिया और सुश्रुत ने मुख्य द्रव्य 'काकोली' के अनुसार उसे 'काकोल्यादि' कहा।

संहिताओं में एक औषधद्रव्य के विभिन्न कर्मों का अध्ययन तो किया ही गया, विभिन्न औषधद्रव्यों को किसी सामान्य कर्म के आधार पर एक वर्ग में भी व्यवस्थित किया गया; क्योंकि कोई एक द्रव्य ऐसा मिलना कठिन है जो अकेले सब कर्मों के सम्पादन में समर्थ हो। अतः अनेक कर्मों के लिए भिन्न-भिन्न औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार व्यस्त और समस्त, अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विधियों से द्रव्यों के गुण-कर्म का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। चरक संहिता-सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में इस विषय की स्थापना बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। प्रसङ्ग की अवतारणा में अग्निवेश ने यह प्रश्न किया है कि अध्याय के प्रारम्भ में स्थापित पाँच सौ कषायद्रव्यों की संख्या पूरी नहीं उतरती क्योंकि एक ही द्रव्य अनेक गणों में कई बार दुहराये गये हैं और इस प्रकार उनकी कुल संख्या कम हो जाती है। इसका उत्तर देते हुए भगवान् आत्रेय ने अपना सैद्धान्तिक दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार एक पुरुष अनेक कर्मों का सम्पादन करता है तथा उन-उन कर्मों के अनुसार उसकी अनेक गौण संज्ञायें होती हैं, उसी प्रकार एक औषधद्रव्य के भी अनेक कर्म होते हैं और वह अपने विविध कर्मों के अनुसार विभिन्न गणों में स्थान पाता है।[१]

१. एकोऽपि ह्यनेकां संज्ञां लभते कार्यान्तराणि कुर्वन्, तद्यथा- पुरुषो बहूनां कर्मणां करणे समर्थो भवति, स यद्यत् कर्म करोति तस्य तस्य कर्मणः कर्तृ-करण-कार्यसंप्रयुक्तं तत्तद्गौणं नामविशेषं प्राप्नोति, तद्वदौषधद्रव्यमपि द्रष्टव्यम्। यदि चैकमेव किंचिद्-द्रव्यमासादयामस्तथागुणयुक्तं यत्सर्वकर्मणां करणे समर्थं स्यात्, कस्ततोऽन्यदिच्छेदु-पधारयितुमुपदेष्टुं वा शिष्येभ्य इति। (च० सू० ४.२२)

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने की है कि वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्य ने केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से पथप्रदर्शन किया है, विषय की इयत्ता नहीं बतलाई है अतः वैज्ञानिक अनुसन्धान का पथ सदैव प्रशस्त और उन्मुक्त है। जो कुछ भी आचार्य ने बतलाया है वह सङ्केतमात्र समझना चाहिए जिसमें मध्यममार्ग अपनाकर सामान्य बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए पर्याप्त ज्ञान दिया गया है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसी आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से अन्य अज्ञात द्रव्यों या वर्गों का निर्धारण बुद्धिमान् लोग कर सकते हैं।[१] अतः कर्मों के अनुसार वर्गों की संख्या में भी वृद्धि हो सकती है और एक-एक वर्ग के द्रव्यों की संख्या में भी।

चरकोक्त वर्ग

चरकसंहिता सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में द्रव्यों के कर्मानुसार पचास महाकषाय (वर्ग) वर्णित हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है। प्रत्येक वर्ग में दस द्रव्य हैं, इस प्रकार कुल ५०० द्रव्यों का समावेश इनमें होता है। द्रव्यों की दस संख्या सम्भवतः इस कारण रक्खी गई कि दिशायें भी दस होती हैं और इस प्रकार यह संख्या दिशानिर्देश का प्रतीक है। गण के स्वरूप के दिग्दर्शन के लिए यह पर्याप्त है।

१. **जीवनीय**– जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, यष्टीमधु।[२]

२. **बृंहणीय**– क्षीरिणी, दुग्धिका, अश्वगन्धा, काकोली, क्षीरकाकोली, बला, अतिबला, वनकपास, पयस्या, विधारा।[३]

३. **लेखनीय**– मुस्तक, कुष्ठ, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, वचा, अतिविषा, कटुका, चित्रक, चिरबिल्व, श्वेतवचा।[४]

१. एतावन्तो ह्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलाना-मनुक्तार्थज्ञानायेति। (च० सू० ४.२०)
मन्दानां व्यवहाराय, बुधानां बुद्धिवृद्धये। पञ्चाशत्को ह्ययं वर्गः कषायाणामुदाहृतः।।
(च० सू० ४.२८)
(इन कर्मों की व्याख्या कर्मखण्ड में देखें।)

२. जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.९(१)

३. क्षीरिणीराजक्षवकाश्वगंधाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनीभद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.९(२)

४. मुस्तकुष्ठहरिद्रादारुहरिद्रावचातिविषाकटुरोहिणीचित्रकचिरबिल्वहैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.९(३)

४. **भेदनीय**– त्रिवृत्, अर्क, एरण्ड, लाङ्गली, दन्ती, चित्रक, चिरबिल्व, शङ्खिनी, कटुका, स्वर्णक्षीरी।[१]

५. **सन्धानीय**– यष्टीमधु, गुडूची, पृश्निपर्णी, पाठा, लज्जालु, मोचरस, धातकी, लोध्र, प्रियङ्गु, कट्फल।[२]

६. **दीपनीय**– पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, अम्लवेतस, मरिच, अजमोदा, भल्लातक, हिंगु।[३] इसमें प्रथम पाँच द्रव्य पञ्चकोल के अन्तर्गत आते हैं।

७. **बल्य**– ऐन्द्री, कपिकच्छु, शतावरी, माषपर्णी, क्षीरविदारी, अश्वगन्धा, शालपर्णी, रोहिणी, बला, अतिबला।[४]

८. **वर्ण्य**– चन्दन, पुन्नाग, पद्मक, उशीर, यष्टीमधु, मञ्जिष्ठा, सारिवा, क्षीरविदारी, श्वेतदूर्वा, श्यामदूर्वा।[५]

९. **कण्ठ्य**– सारिवा, इक्षुमूल, मधुयष्टी, पिप्पली, द्राक्षा, क्षीरविदारी, कट्फल, हंसपादी, बृहती, कण्टकारी।[६]

१०. **हृद्य**– आम्र, आम्रातक, लकुच, करमर्द, वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, कुवल, बदर, दाडिम, मातुलुङ्ग।[७]

११. **तृप्तिघ्न**– शुण्ठी, चव्य, चित्रक, विडङ्ग, मूर्वा, गुडूची, वचा, मुस्त, पिप्पली, पटोल।[८]

---

१. सुवहार्कोरुबुकाग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनीशकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.९(४)

२. मधुकमधुपर्णीपृश्निपर्ण्यम्बष्ठकीसमङ्गामोचरसधातकीलोध्रप्रियङ्गुकट्फलानीति दशेमानि सन्धानीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.९(५)

३. पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्लातकास्थिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.९(६)

४. ऐन्द्र्यृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्तापयस्याश्वगन्धास्थिरारोहिणीबलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति। (च० सू० ४.१०(७)

५. चन्दनतुङ्गपद्मकोशीरमधुकमञ्जिष्ठासारिवापयस्यासितालता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति। (च० सू० ४.१०(८)

६. सारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पलीद्राक्षाविदारीकैटर्यहंसपादीबृहतीकण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति। (च० सू० ४.१०(९)

७. आम्राम्रातकलिकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति। (च० सू० ४.१० (१०)

८. नागरचव्यचित्रकविडङ्गमूर्वागुडूचीवचामुस्तपिप्पलीपटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति। (च० सू० ४.११(११)

१२. **अर्शोघ्न**– कुटज, बिल्व, चित्रक, शुण्ठी, अतिविषा, हरीतकी, धन्वयास, दारुहरिद्रा, वचा, चव्य।[१]

१३. **कुष्ठघ्न**– खदिर, हरीतकी, आमलकी, हरिद्रा, भल्लातक, सप्तपर्ण, आरग्वध, करवीर, विडङ्ग, चमेली के पत्ते।[२]

१४. **कण्डूघ्न**– चन्दन, उशीर, आरग्वध, करञ्ज, निम्ब, कुटज, सर्षप, यष्टीमधु, दारुहरिद्रा, मुस्त।[३]

१५. **कृमिघ्न**– शोभाञ्जन, मरिच, गण्डीर, केवुक, विडङ्ग, निर्गुण्डी, किणिही, गोक्षुर, वृषपर्णी, मूषापर्णी।[४]

१६. **विषघ्न**– हरिद्रा, मञ्जिष्ठा, रास्ना, सूक्ष्म एला, त्रिवृत्, चन्दन, निर्मली, शिरीष, सिन्दुवार, लसोड़ा।[५]

१७. **स्तन्यजनन**– वीरण, शालि, षष्टिक, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, काश, गुन्द्रा, इत्कट, कतृण-इनके मूल।[६]

१८. **स्तन्यशोधन**– पाठा, शुण्ठी, देवदारु, मुस्त, मूर्वा, गुडूची, इन्द्रयव, चिरायता, कुटकी, सारिवा।[७]

१९. **शुक्रजनन**– जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, शतावरी, उच्चटा, कुलिंग।[८]

---

१. कुटजबिल्वचित्रकनागरातिविषाभयाधन्वयासकदारुहरिद्रावचाचव्यानीति दशेमान्यर्शोघ्नानि भवन्ति। (च० सू० ४.११ (१२)

२. खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडङ्गजातीप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति। (च० सू० ४.११(१३)

३. चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बकुटजसर्षपमधुकदारुहरिद्रामुस्तानीति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति। (च० सू० ४.११ (१४)

४. अक्षीवमरिचगण्डीरकेबुकविडङ्गनिर्गुण्डीकिणिहीश्वदंष्ट्रावृषपर्णिकाखुपर्णिका इति दशेमानि क्रिमिघ्नानि भवन्ति। (च० सू० ४.११(१५)

५. हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहासूक्ष्मैलापालिन्दीचन्दनकतकशिरीषसिन्धुवारश्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति। (च० सू० ४.११(१६)

६. वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकतृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति। (च० सू० ४.१२(१७)

७. पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तककटुरोहिणीसारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१२(१८)

८. जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति। (च० सू० ४.१२(१९)

२०. **शुक्रशोधन**– कुष्ठ, एलवालुक, कट्फल, समुद्रफेन, कदम्बनिर्यास, इक्षु, काण्डेक्षु, इक्षुरक, वसुक, उशीर।[१]

२१. **स्नेहोपग**– मृद्वीका, यष्टीमधु, गुडूची, मेदा, विदारी, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालपर्णी।[२]

२२. **स्वेदोपग**– शोभाञ्जन, एरण्ड, अर्क, वृश्चीर(श्वेत पुनर्नवा), पुनर्नवा, यव, तिल, कुलत्थ, माष, बदर।[३]

२३. **वमनोपग**– मधु, मधुयष्टी, कोविदार, कर्बुदार, नीप, समुद्रफल, बिम्बी, शणपुष्पी, अर्क, अपामार्ग।[४]

२४. **विरेचनोपग**– द्राक्षा, गम्भारी, परूषक, हरीतकी, आमलक, बिभीतक, कुवल, बदर, क्षुद्रबदर, पीलु।[५]

२५. **आस्थापनोपग**– त्रिवृत्, बिल्व, पिप्पली, कुष्ठ, सर्षप, वचा, इन्द्रयव, शतपुष्पा, यष्टीमधु, मदनफल।[६]

२६. **अनुवासनोपग**– रास्ना, देवदारु, बिल्व, मदनफल, शतपुष्पा, वृश्चीर, पुनर्नवा, गोक्षुर, अग्निमन्थ, श्योनाक।[७]

२७. **शिरोविरेचनोपग**– ज्योतिष्मती, छिक्किका, मरिच, पिप्पली, विडङ्ग, शिग्रु, सर्षप, अपामार्गबीज, श्वेता, महाश्वेता।[८]

---

१. कुष्ठैलवालुककट्फलसमुद्रफेनकदम्बनिर्यासेक्षुकाण्डेक्ष्विक्षुरकवसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१२(२०)

२. मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकजीवन्तीशालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२१)

३. शोभाञ्जनकैरण्डार्कवृश्चीरपुनर्नवायवतिलकुलत्थमाषबदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२२)

४. मधुमधुककोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पाप्रत्यक्पुष्पा इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२३)

५. द्राक्षाकाश्मर्यपरूषकाभयामलकबिभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२४)

६. त्रिवृद्बिल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२५)

७. रास्नासुरदारुबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदंष्ट्राग्निमन्थश्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२६)

८. ज्योतिष्मतीक्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपापामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति। (च० सू० ४.१३(२७)

२८. **छर्दिनिग्रहण**– जम्बूपल्लव, आम्रपल्लव, मातुलुङ्ग, अम्लबदर, दाडिम, यव, षष्टिक, उशीर, मिट्टी, लाजा।[१]

२९. **तृष्णानिग्रहण**– शुण्ठी, धन्वयास, मुस्त, पर्पट, चन्दन, चिरायता, गुडूची, ह्रीवेर, धान्यक, पटोल।[२]

३०. **हिक्कानिग्रहण**– शटी, पुष्करमूल, बदरबीज, कण्टकारी, बृहती, बन्दाक, हरीतकी, पिप्पली, धन्वयास, कर्कटशृङ्गी।[३]

३१. **पुरीषसङ्ग्रहणीय**– प्रियङ्गु, अनन्ता, आम्रास्थि, अरलु, लोध्र, मोचरस, लज्जालु, धातकीपुष्प, भार्ङ्गी, पद्मकेशर।[४]

३२. **पुरीषविरजनीय**– जम्बूत्वक्, शल्लकीत्वक्, कच्छुरा, मधूक, शाल्मली, श्रीवेष्टक, भृष्टमृत्, क्षीरविदारी, उत्पल, तिल।[५]

३३. **मूत्रसङ्ग्रहणीय**– जम्बू, आम्र, प्लक्ष, वट, पारीश, उदुम्बर, अश्वत्थ, भल्लातक, अश्मन्तक, सोमवल्क।[६]

३४. **मूत्रविरजनीय**– पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, यष्टीमधु, प्रियङ्गु, धातकीपुष्प।[७]

३५. **मूत्रविरेचनीय**– वन्दाक, गोक्षुर, वसुक, वशिर, पाषाणभेद, दर्भ, कुश, काश, गुन्द्रा, इत्कट के मूल।[८]

---

१. जम्ब्वाम्रपल्लवमातुलुङ्गाम्लबदरदाडिमयवषष्टिकोशीरमृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति। (च० सू० ४.१४(२८)

२. नागरधन्वयवासकमुस्तपर्पटकचन्दनकिराततिक्तकगुडूचीह्रीवेरधान्यकपटोलानीति दशेमानि तृष्णानिग्रहणानि भवन्ति। (च० सू० ४.१४(२९)

३. शटीपुष्करमूलबदरबीजकण्टकारिकाबृहतीवृक्षरुहाभयापिप्पलीदुरालभाकुलीरशृङ्ग्य इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति। (च० सू० ४.१४(३०)

४. प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थिकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मपद्मकेशराणीति दशेमानि पुरीषसङ्ग्रहणीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.१५(३१)

५. जम्बुशल्लकीत्वक्कच्छुरामधूकशाल्मलीश्रीवेष्टकभृष्टमृत्पयस्योत्पलतिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरजनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.१५(३२)

६. जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसङ्ग्रहणीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.१५(३३)

७. पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधुकप्रियङ्गुधातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.१५(३४)

८. वृक्षादनीश्वदंष्ट्रावसुकवशिरपाषाणभेददर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति। (च० सू० ४.१५(३५)

३६. **कासहर**– द्राक्षा, हरीतकी, आमलक, पिप्पली, धन्वयास, कर्कटशृङ्गी, कण्टकारी, वृश्चीर, पुनर्नवा, भूम्यामलकी।[१]

३७. **श्वासहर**– शटी, पुष्करमूल, अम्लवेतस, एला, हिंगु, अगुरु, तुलसी, भूम्यामलकी, जीवन्ती, चोरपुष्पी।[२]

३८. **श्वयथुहर**– पाटला, अग्निमन्थ, श्योनाक, बिल्व, गम्भारी, कण्टकारी, बृहती, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोक्षुर। ये दशमूल के द्रव्य हैं।[३]

३९. **ज्वरहर**– सारिवा, शर्करा, पाठा, मंजिष्ठा, द्राक्षा, पीलु, परूषक, हरीतकी, बिभीतक, आमलक।[४]

४०. **श्रमहर**– द्राक्षा, खर्जूर, प्रियाल, बदर, दाडिम, अञ्जीर, परूषक, इक्षु, यव, षष्टिक।[५]

४१. **दाहप्रशमन**– लाजा, चन्दन, गम्भारीफल, मधूक, शर्करा, नीलोत्पल, उशीर, सारिवा, गुडूची, ह्रीबेर।[६]

४२. **शीतप्रशमन**– तगर, अगुरु, धान्यक, शृङ्गवेर, अजवायन, वचा, कण्टकारी, अग्निमन्थ, श्योनाक, पिप्पली।[७]

४३. **उर्दप्रशमन**– तिन्दुक, प्रियाल, बदर, खदिर, श्वेतखदिर, सप्तपर्ण, अश्वकर्ण, अर्जुन, असन, अरिभेद।[८]

---

१. द्राक्षाभयामलकपिप्पलीदुरालभाशृङ्गीकण्टकारिकावृश्चीरपुनर्नवातामलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति। (च० सू० ४.१६(३६)

२. शटीपुष्करमूलाम्लवेतसैलाहिङ्ग्वगुरुसुरसातामलकीजीवन्तीचण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति। (च० सू० ४.१६(३७)

३. पाटलाग्निमन्थश्योनाकबिल्वकाश्मर्यकण्टकारिकाबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरका इति दशेमानि श्वयथुहराणि भवन्ति। (च० सू० ४.१६(३८)

४. सारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलकबिभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति। (च० सू० ४.१६(३९)

५. द्राक्षाखर्जूरप्रियालबदरदाडिमफल्गुपरूषकेक्षुयवषष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति। (च० सू० ४.१६(४०)

६. लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूचीह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१७(४१)

७. तगरागुरुधान्यकशृङ्गवेरभूतीकवचाकण्टकार्यग्निमन्थश्योनाकपिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१७(४२)

८. तिन्दुकप्रियालबदरखदिरकदरसप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१७(४३)

४४. **अङ्गमर्दप्रशमन**– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, एरण्ड, काकोली, चन्दन, उशीर, एला, मधुयष्टी।[१]

४५. **शूलप्रशमन**– पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, मरिच, अजमोदा, अजगन्धा, जीरक, गंडीर। इनमें प्रथम छः द्रव्य षड्षण के अन्तर्गत आते हैं।[२]

४६. **शोणितस्थापन**– मधु, यष्टीमधु, रक्त, मोचरस, मृत्कपाल, लोध्र, गैरिक, प्रियङ्गु, शर्करा, लाजा।[३]

४७. **वेदनास्थापन**– शाल, कट्फल, कदम्ब, पद्मक, तुम्ब, मोचरस, शिरीष, वेतस, एलवालुक, अशोक।[४]

४८. **संज्ञास्थापन**– हिंगु, कैटर्य, अरिमेद, वचा, चोरक, ब्राह्मी, भूतकेशी, जटामांसी, गुग्गुलु, कुटकी।[५]

४९. **प्रजास्थापन**– ऐन्द्री, ब्राह्मी, दूर्वा, दुर्वाभेद, लक्ष्मणा, गुडूची, आमलकी, नागबला, बला, प्रियङ्गु।[६]

५०. **वयःस्थापन**– गुडूची, हरीतकी, आमलक, रास्ना, श्वेता, जीवन्ती, शतावरी, मण्डूकपर्णी, शालपर्णी, पुनर्नवा।[७]

इन महाकषायों को ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि दोष-धातु-मल, अग्नि, स्रोत तथा विभिन्न अवयवों का विचार करते हुए इनकी योजना की गई है।

---

१. विदारीगन्धापृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकैरण्डकाकोलीचन्दनोशीरैलामधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१७(४४)

२. पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदाजगन्धाजाजीगण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१७(४५)

३. मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियङ्गुशर्करालाजा इति दशेमानि शोणितस्थापनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१८(४६)

४. शालकट्फलकदम्बपद्मकतुम्बमोचरससिरीषवञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१८(४७)

५. हिङ्गुकैटर्यारिमेदवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१८(४८)

६. ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथाशिवाऽरिष्टावाट्यपुष्पीविष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१८(४९)

७. अमृताऽभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति। (च० सू० ४.१८(५०)

इनके अतिरिक्त, चरकसंहिता सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय तथा विमानस्थान अष्टम अध्याय में संशोधन कर्मों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का उल्लेख किया गया है-

१. **वमन**- मदनफल, देवदाली, कटुतुम्बी, कड़वी नेनुआ, कड़वी तोरई, कुटज के फल तथा निम्ब।[१]

२. **विरेचन**- त्रिवृत्, अमलतास, तिल्वक, स्नुही, सप्तला, शंखिनी, दन्ती, द्रवन्ती- इनके क्षीर, मूल, त्वक्, पत्र, पुष्प और फल। इनके अतिरिक्त त्रिफला, नीलिनी, कम्पिल्लक, वचा, इन्द्रायण, स्वर्णक्षीरी, लताकरञ्ज, पीलु, समुद्रफल।[२]

३. **आस्थापन**- आस्थापन द्रव्य रसभेद से ६ वर्गों में विभाजित हैं जिनका रसानुसार वर्गीकरण में उल्लेख किया गया है।[३] इनमें प्रमुख ये हैं- पाटला, अग्निमन्थ, बिल्व, श्योनाक, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, निदिग्धिका, बला, गोक्षुर, बृहती, एरण्ड, पुनर्नवा, यव, कोल, कुलत्थ, गुडूची, मदनफल, भूतृण, स्नेह और लवण।[४]

४. **अनुवासन**- अनुवासन में भी आस्थापन के ही द्रव्य प्रयुक्त होते हैं।[५]

५. **शिरोविरेचन**- आश्रयभेद से इसके सात उपवर्ग दिये गये हैं[६]-

(क) **फल**- अपामार्ग, पिप्पली, मरिच, विडङ्ग, शिग्रु, शिरीष, धान्यक, पीलु, जीरक, अजमोदा, वार्ताकी, पृथ्वीका, एला, हरेणुका।

१. यानि तु खलु वमनादिषु भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा- फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनफलानि। (च० वि० ८.१३५)
मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्। पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च।।
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये। वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूषयन्।।
(च० सू० २.७-८)

२. विरेचनद्रव्याणि तु श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि। (च० सू० ८.१३६)
त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नीलिनीं सप्तलां वचाम्। कम्पिल्लकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीर्यकाम्।।
पीलून्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च। पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्।।
(च० सू० २.९-१०)

३. तस्माद्द्रव्याणां चैकदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य रसैकैकश्येन च नामलक्षणार्थं षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्ते। (च० वि० ८.१३७)

४. पाटलां चाग्निमन्थं च बिल्वं श्योनाकमेव च। काश्मर्यं शालपर्णीं च पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्।।
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम्। यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च।।
पलाशं कत्तृणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च। उदावर्ते विबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापनेषु च।।
(च० सू० २.११-१३)

५. अत एवौषधगणात् संकल्प्यमनुवासनम्। मारुतघ्नमिति प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिकः।।
(च० सू० २.१४)

६. शिरोविरेचनं सप्तविधं, फल-पत्र-मूल-कन्द-पुष्प-निर्यास-त्वगाश्रयभेदात्।
(च० वि० ८.१५१)

(ख) **पत्र**- तुलसी की अनेक जातियाँ, छिक्किका, हरिद्रा, आर्द्रक, मूली, लशुन, अरणी, सर्षप।

(ग) **मूल**- अर्क, अलर्क, कुष्ठ, नागदन्ती, वचा, अपामार्ग, श्वेतापराजिता, ज्योतिष्मती, इन्द्रायण, गण्डीरपुष्पी, अधःपुष्पी, वृश्चिकाली, ब्राह्मी, अतिविषा।

(घ) **कन्द**- हरिद्रा, आर्द्रक, मूली, लशुन।

(च) **पुष्प**- लोध्र, मदनफल, सप्तपर्ण, निम्ब, अर्क।

(छ) **निर्यास**- देवदारु, अगुरु, सरल, शल्लकी, जिंगिणी, असन, हिंगु।

(ज) **त्वक्**- तेजोवती, त्वक्, इङ्गुदी, शोभाञ्जन, बृहती, कण्टकारी।[१]

रसभेद से इसके चार उपवर्ग हैं- लवण, कटु, तिक्त, कषाय।[२]

इनके अतिरिक्त, कुछ अन्य वर्गों का भी सङ्केत चरक में मिलता है जिनका उल्लेख यहाँ किया जाता है-

१. **दन्तधावन**- करञ्ज, करवीर, अर्क, मालती, ककुभ, असन आदि।[३]

२. **मुखशोधन**- जातीफल, लताकस्तूरी, पूग, लवङ्ग, कंकोल, एला, ताम्बूलपत्र, कर्पूरनिर्यास।[४]

३. **लङ्घन**- लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर तथा कठिन गुण वाले द्रव्य यथा गुडूची, भद्रमुस्त, त्रिफला, तक्र, निम्ब, मधु, विडङ्ग, शुण्ठी, क्षार, लौहभस्म, मधु, यवचूर्ण, आमलक, बृहत्पञ्चमूल (मधुयुक्त), शिलाजतु

१. शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनरपामार्गपिप्पलीमरिचविडङ्गशिग्रुशिरीषकुस्तुम्बुरुपील्वजाज्यजमोदावार्ताकीपृथ्वीकैलाहरेणुकाफलानि च, सुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकहरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनतर्कारीसर्षपपत्राणि च, अर्कालर्ककुष्ठनागदन्तीवचापामार्गश्वेताज्योतिष्मतीगवाक्षीगण्डीरपुष्प्यवाक्पुष्पीवृश्चिकालीवयःस्थातिविषामूलानि च, हरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनकन्दाश्च, लोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बार्कपुष्पाणि च, देवदार्वगुरुसरलशल्लकीजिङ्गिन्यसनहिङ्गुनिर्यासाश्च, तेजोवतीवराङ्गेङ्गुदीशोभाञ्जनबृहतीकण्टकारिकात्वचश्चेति। (च० वि० ८.१५१)

२. लवणकटुतिक्तकषायाणि चेन्द्रियोपशयानि तथाऽपराण्यनुक्तान्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्यन्त इति। (च० वि० ८.१५१)

३. करञ्जकरवीरार्कमालतीककुभासनाः। शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः।।
(च० सू० ५.७३-)

४. जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च। कक्कोलस्य फलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा।।
तथा कर्पूरनिर्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च। धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।।
(च० सू० ५.७६-७७)

(अग्निमन्थक्वाथ के साथ), प्रशातिका, प्रियङ्गु, श्यामाक, यवक, यव, जूर्णाह्व, कोद्रव, मुद्ग, कुलत्थ, चक्रमर्द, आढकी, पटोल, मधूदक और अरिष्ट आदि।[१]

४. **बृंहण–** गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर, श्लक्ष्ण गुणवाले द्रव्य यथा नवान्न, शालि, माष, गोधूम, इक्षुविकार, ग्राम्य-आनूप-औदक मांस, दधि, दुग्ध, घृत, वृष्य और रसायन द्रव्य।[२]

५. **रूक्षण–** रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, अपिच्छिल, कठिन गुणवाले द्रव्य[३] यथा यव, मधु, भृष्ट अन्न आदि।

६. **स्नेहन–** द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द, मृदु गुणवाले द्रव्य[४] यथा मधुयष्टी, घृत, आदि।

७. **स्वेदन–** उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर तथा गुरु गुण वाले द्रव्य[५] यथा शोभाञ्जन, चित्रक, विडङ्ग आदि।

८. **स्तम्भन–** शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और लघु गुण वाले द्रव्य[६] यथा कुटज, धातकी, अरलु आदि।

१. गुडूचीभद्रमुस्तानां प्रयोगस्त्रैफलस्तथा। तक्रारिष्टप्रयोगश्च प्रयोगो माक्षिकस्य च।।
विडङ्ग नागरं क्षारः काललोहरजो मधु। यवामलकचूर्णं च प्रयोगः श्रेष्ठ उच्यते।।
बिल्वादिपञ्चमूलस्य प्रयोगः क्षौद्रसंयुतः। शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसः परः।।
प्रशातिका प्रियङ्गुश्च श्यामाका यवका यवाः। जूर्णाह्वाः कोद्रवा मुद्गाः कुलत्थाश्चक्रमुद्गकाः।।
आढकीनां च बीजानि पटोलामलकैः सह। भोजनार्थं प्रयोज्यानि पानं चानु मधूदकम्।।
अरिष्टांश्चानुपानार्थे मेदोमांसकफापहान्। अतिस्थौल्यविनाशाय संविभज्य प्रयोजयेत्।।
(च० सू० २१.२२-२७)

२. नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः। संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च।।
इक्षवः शालयः माषा गोधूमा गुडवैकृतम्। बस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा।।
स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गन्धमाल्यनिषेवणम्। शुक्लं वासो यथाकालं दोषाणामवसेचनम्।।
रसायनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम्। हत्वाऽतिकार्श्यमाधत्ते नृणामुपचयं परम्।।
(च० सू० २१.३०-३३)

३. रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्।
प्रायशः कठिनं चैव यद्द्रव्यं तद्धि रूक्षणम्।। (च० सू० २२.१४-)

४. द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्दं मृदु च यद्द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम्।। (च० सू० २२.१५)

५. उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते।। (च० सू० २२.१६)

६. शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्।
यद्द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम्।। (च० सू० २२.१७)

९. **निद्राकर–** ग्राम्य, आनूप, औदक मांसरस, शाल्यन्न, दधि, दुग्ध, स्नेह, मद्य, नेत्रतर्पण, शिरोलेप, मुखलेप आदि।[१]

१०. **निद्राहर–** वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, लङ्घन आदि।[२]

११. **अपतर्पण–** त्रिकटु, विडङ्ग, त्रिफला, शोभाञ्जन, कुटकी, बृहतीद्वय, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पाठा, अतिविषा, स्थिरा, हिङ्गु, केबुक, यवानी, धान्यक, चित्रक, सौवर्चल, जीरक, हपुषा।[३]

१२. **सन्तर्पण–** मांसरस, क्षीर, घृत, शर्करा आदि।[४]

१३. **संज्ञाप्रबोधन–** तीक्ष्ण मद्य, मातुलुङ्गरस (शुण्ठीयुक्त), सौवर्चल, हिंगु, त्रिकटु, अञ्जन, कपिकच्छूघर्षण आदि।[५]

१४. **हिततम–** रक्तशालि, मुद्ग, सैन्धव आदि।[६]

१. अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः। शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम्।
मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च। चक्षुषोस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च।।
स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः। आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः।।
(च० सू० २१.५२-५४)

२. कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्। चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम्।।
उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमोजयः। निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम्।।
(च० सू० २१.५५-५६)

३. व्योषं विडङ्गं शिग्रूणि त्रिफलां कटुरोहिणीम्। बृहत्यौ द्वे हरिद्रे द्वे पाठामतिविषां स्थिराम्।।
हिङ्गु केबुकमूलानि यवानीधान्यचित्रकान्। सौवर्चलमजाजीं च हपुषां चेति चूर्णयेत्।।
(च० सू० २३.१९-२०)

४. हिता मांसरसास्तस्मै पयांसि च घृतानि च। स्नानानि बस्तयोऽभ्यङ्गास्तर्पणास्तर्पणाश्च ये।।
(च० सू० २३.३३)

५. अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च। सूचीभिस्तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे।।
लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च। आत्मगुप्तावघर्षश्च हितं तस्यावबोधने।।
संमूर्च्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च। प्रभूतकटुयुक्तानि तस्यास्ये गालयेन्मुहुः।।
मातुलुङ्गरसं तद्वन्महौषधसमायुतम्। तद्वत् सौवर्चलं दद्याद्युक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैः।।
हिङ्गूषणसमायुक्तं यावत् संज्ञाप्रबोधनम्।। (च० सू० २४.४६-४९-)

६. तद्यथा–लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, आन्तरीक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानां, लावः पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां, पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्, अजमेदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करेक्षुविकाराणाम्, इति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। (च० सू० २५.३८)

१५. **अहिततम**– यवक, माष, सर्षप आदि।[१]

विभिन्न वर्गों में हिततम और अहिततम द्रव्यों की सूची निम्नाङ्कित तालिका में दी गई है–

सं०	वर्ग	हिततम	अहिततम
१.	शूकधान्य	रक्तशालि	यवक
२.	शमीधान्य	मुद्ग	माष
३.	उदक	आन्तरीक्ष	वर्षानादेय
४.	लवण	सैन्धव	औषर
५.	शाक	जीवन्ती	सर्षप
६.	मृगमांस	ऐणेय	गोमांस
७.	पक्षी	लाव	काणकपोत
८.	बिलेशय	गोधा	मण्डूक
९.	मत्स्य	रोहित	चिलिचिम
१०.	घृत	गोघृत	आविकघृत
११.	दुग्ध	गोदुग्ध	अविक्षीर
१२.	स्थावर स्नेह	तिलतैल	कुसुम्भतैल
१३.	आनूप मृगवसा	वराहवसा	महिषवसा
१४.	मत्स्यवसा	चुलुकीवसा	कुम्भीरवसा
१५.	जलचरविहङ्गवसा	पाकहंसवसा	काकमद्गुवसा
१६.	विष्किरशकुनिवसा	कुक्कुटवसा	चटकवसा
१७.	शाखादमेद	अजमेद	हस्तिमेद
१८.	कन्द	शृङ्गवेर	आलुक
१९.	फल	मृद्वीका	लिकुच
२०.	इक्षुविकार	शर्करा	फाणित

१. यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति, माषाः शमीधान्यानां, वर्षानादेयमुदकानाम्, औषरं लवणानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमांसं मृगमांसानां, काणकपोताः पक्षिणां, भेको बिलेशयानां, चिलिचिमो मत्स्यानाम्, आविकं सर्पिः सर्पिषाम्, अविक्षीरं क्षीराणां, कुसुम्भस्नेहः स्थावरस्नेहानां, महिषवसा आनूपमृगवसानां, कुम्भीरवसा मत्स्यवसानां, काकमद्गुवसा जलचरविहङ्गवसानां, चटकवसा विष्किरशकुनिवसानां, हस्तिमेदः शाखादमेदसां, निकुचं फलानाम्, आलुकं कन्दानां, फाणितमिक्षुविकाराणाम्, इति प्रकृत्यैवाहिततमानामाहारविकाराणां प्रकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति।

(च० सू० २५.३९)

१६. **अग्र्य**– अन्न, उदक, सुरा, क्षीर, मांस, मांसरस, लवण, अम्ल, कुक्कुट, नक्रेरत, मधु, घृत, तैल, वमन, विरेचन, बस्ति, स्वेद, व्यायाम, क्षार, तिन्दुक, आमकपित्थ, आविकघृत, अजाक्षीर, अविक्षीर, महिषीक्षीर, मन्दक दधि, गवेधुकान्न, उद्दालकान्न, इक्षु, यव, जाम्बव, शष्कुली, कुलत्थ, माष, मदनफल, त्रिवृत्, चतुरङ्गुल, स्नुहीक्षीर, अपामार्ग, विडङ्ग, शिरीष, खदिर, रास्ना, आमलक, हरीतकी, एरण्डमूल, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, पुष्करमूल, मुस्त, ह्रीबेर, अरलु, अनन्तमूल, गुडूची, बिल्व, अतिविषा, उत्पल-कुमुद-पद्म-किंजल्क, दुरालभा, गन्धप्रियङ्गु, कुटजत्वक्, काश्मर्यफल, पृश्निपर्णी, विदारिगन्धा (शालपर्णी), बला, गोक्षुर, हिङ्गु, अम्लवेतस, यवक्षार, तक्राभ्यास, क्रव्यादमांसरसाभ्यास, क्षीरघृताभ्यास, समघृतसक्तुप्राशाभ्यास, तैलगण्डूषाभ्यास, चन्दन-उदुम्बर, रास्ना-अगुरु, लामज्जक-उशीर, कुष्ठ, मधुयष्टी, वायु, अग्नि, जल, मद्य, सर्वरसाभ्यास, एकरसाभ्यास।[१]

१. अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्, उदकमाश्वासकराणां, सुरा श्रमहराणां, क्षीरं जीवनीयानां, मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां, लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, अम्लं ह्रद्यानां, कुक्कुटो बल्यानां, नक्रेरतो वृष्याणां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानां, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां, वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां, स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्यकराणां, क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां, तिन्दुकमनन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्, आविकं सर्पिरह्रद्यानाम्, अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यरक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्, अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानां, महिषीक्षीरं स्वप्नजननानां, मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणां, गवेधुकान्नं कर्शनीयानाम्, उद्दालकान्नं विरूक्षणीयानाम्, इक्षुर्मूत्रजननानां, यवाः पुरीषजननानां, जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानां, कुलत्था अम्लपित्तजननानां, माषाः श्लेष्मपित्तजननानां, मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनां, त्रिवृत् सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिघ्नानां, शिरीषो विषघ्नानां, खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना वातहराणाम्, आमलकं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानाम्, एरण्डमूलं वृष्यवातहराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानां, चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणां, पुष्करमूलं हिक्काश्वासकास-पार्श्वशूलहराणां, मुस्तं सांग्राहिकपाचनीयदीपनीयानाम्, उदीच्यं निर्वापणीयदीपनीय-पाचनीयच्छर्द्यतीसारहराणां, कट्वङ्गं सांग्राहिकपाचनीयदीपनीयानाम्, अनन्ता सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्, अमृता सांग्राहिकवातहरदीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्ध-प्रशमनानां, बिल्वं सांग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्, अतिविषा दीपनीयपाचनीय-सांग्राहिकसर्वदोषहराणाम्, उत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, दुरालभा पित्तश्लेष्मप्रशमनानां, गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानां, कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानां, काश्मर्यफलं रक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, क्रमशः ....

अग्र्य-वर्ग

सं०	वर्ग	द्रव्य
१.	वृत्तिकर	अन्न
२.	आश्वासकर	जल
३.	श्रमहर	सुरा
४.	जीवनीय	दुग्ध
५.	बृंहणीय	मांस
६.	तर्पणीय	मांसरस
७.	रुचिकर	लवण
८.	हृद्य	अम्ल
९.	बल्य	कुक्कुट
१०.	वृष्य	नक्रेत
११.	कफपित्तप्रशमन	मधु
१२.	वातपित्तप्रशमन	घृत
१३.	वातकफप्रशमन	तैल
१४.	कफहर	वमन
१५.	पित्तहर	विरेचन
१६.	वातहर	बस्ति
१७.	मार्दवकर	स्वेद
१८.	स्थैर्यकर	व्यायाम
१९.	पुंस्त्वहर	क्षार
२०.	अरुचिकर	तिन्दुक
२१.	अकण्ठ्य	आम कपित्थ

पृश्निपर्णी सांग्राहिकवातहरदीपनीयवृष्याणां, विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणां, बला सांग्राहिकबल्यवातहराणां, गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां, हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्, अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणां, यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानां, तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानां, क्रव्यान्मांसरसाभ्यासो ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानां, क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां, समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणां, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणां, चन्दनोदुम्बरे दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणालेपनानां, रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानां, लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां, कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनां, मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरजनीयरोपणीयानां, वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम्, अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमनानां, जलं स्तम्भनीयानां, ...मद्यं सौमनस्यजननानां, ...सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्...। (च० सू० २५.४०)

सं०	वर्ग	द्रव्य
२२.	अहृद्य	अविधृत
२३.	शोषघ्न-स्तन्य-सात्म्य-रक्तसाङ्ग्राहिक-रक्तपित्तशामक	अजाक्षीर
२४.	कफपित्तकर	अविक्षीर
२५.	निद्राकर	महिषीक्षीर
२६.	अभिष्यन्दकर	मन्दक दधि
२७.	कर्शनीय	गवेधुकान्न
२८.	विरूणक्षीय	उद्दालकान्न
२९.	मूत्रजनन	इक्षु
३०.	पुरीषजनन	यव
३१.	वातजनन	जाम्बव
३२.	कफपित्तजनन	शष्कुली
३३.	अम्लपित्तजनन	कुलत्थ
३४.	कफपित्तजनन	माष
३५.	वमन-आस्थापन-अनुवासनोपयोगी	मदनफल
३६.	सुखविरेचन	त्रिवृत्
३७.	मृदुविरेचन	आरग्वध
३८.	तीक्ष्णविरेचन	स्नुहीक्षीर
३९.	शिरोविरेचन	अपामार्ग
४०.	क्रिमिघ्न	विडङ्ग
४१.	विषघ्न	शिरीष
४२.	कुष्ठघ्न	खदिर
४३.	वातहर	रास्ना
४४.	वयःस्थापन	आमलक
४५.	पथ्य	हरीतकी
४६.	वृष्य-वातहर	एरण्डमूल
४७.	दीपनीय-पाचनीय-आनाहप्रशमन	पिप्पलीमूल
४८.	दीपनीय-पाचनीय-गुदशूल-शोथ-अर्शोहर	चित्रकमूल
४९.	हिक्का-श्वास-कास-पार्श्वशूलहर	पुष्करमूल
५०.	साङ्ग्राहिक-दीपनीय-पाचनीय	मुस्त
५१.	निर्वापणीय-दीपनीय-पाचनीय-छर्दि-अतिसारहर	उदीच्य
५२.	सांग्राहिक-पाचनीय-दीपनीय	कट्वङ्ग
५३.	साङ्ग्राहिक-रक्तपित्तप्रशमन	अनन्ता

सं०	वर्ग	द्रव्य
५४.	साङ्ग्राहिक-वातहर-दीपनीय-श्लेष्मशोणित-विबन्धप्रशमन	अमृता
५५.	सांग्राहिक-दीपनीय-वातकफप्रशमन	बिल्व
५६.	दीपनीय-पाचनीय-सांग्राहिक-सर्वदोषहर	अतिविषा
५७.	सांग्राहिक-रक्तपित्तप्रशमन	उत्पलकुमुदपद्म-किंजल्क
५८.	पित्तकफप्रशमन	दुरालभा
५९.	शोणितपित्तातियोगप्रशमन	गन्धप्रियङ्गु
६०.	श्लेष्मपित्तरक्तसाङ्ग्राहिक-उपशोषण	कुटजत्वक्
६१.	रक्तसाङ्ग्राहिक-रक्तपित्तप्रशमन	काश्मर्यफल
६२.	साङ्ग्राहिक-वातहर-दीपनीय-वृष्य	पृश्निपर्णी
६३.	वृष्य-सर्वदोषहर	शालपर्णी
६४.	सांग्राहिक-बल्य-वातहर	बला
६५.	मूत्रकृच्छ्र-वातहर	गोक्षुर
६६.	छेदनीय-दीपनीय-आनुलोमिक-वातकफप्रशमन	हिंगुनिर्यास
६७.	भेदनीय-दीपनीय-आनुलोमिक-वातकफहर	अम्लवेतस
६८.	स्रंसनीय-पाचनीय-अर्शोघ्न	यवक्षार
६९.	ग्रहणीदोष-शोफ-अर्शो-घृतव्यापत्प्रशमन	तक्राभ्यास
७०.	ग्रहणीदोष-शोष-अर्शोघ्न	क्रव्यान्मांसरसाभ्यास
७१.	रसायन	क्षीरघृताभ्यास
७२.	वृष्य-उदावर्तहर	समघृतसक्तुप्राशाभ्यास
७३.	दन्तबल-रुचिकर	तैलगण्डूषाभ्यास
७४.	दुर्गन्धहर-दाहनिर्वापणालेपन	चन्दन-उदुम्बर
७५.	शीतापनयनप्रलेपन	रास्ना-अगुरु
७६.	दाह-त्वग्दोष-स्वेदापनयनप्रलेपन	लामज्जक-उशीर
७७.	वातहर-अभ्यङ्ग-उपनाहोपयोगी	कुष्ठ
७८.	चक्षुष्य-वृष्य-केश्य-कण्ठ्य-वर्ण्य-विरजनीय-रोपणीय	मधुक
७९.	प्राणसंज्ञाप्रदानहेतु	वायु
८०.	आम-स्तम्भ-शीत-शूल-उद्वेपनप्रशमन	अग्नि
८१.	स्तम्भनीय	जल
८२.	सौमनस्यजनन	मद्य
८३.	बलकर	सर्वरसाभ्यास
८४.	दौर्बल्यकर	एकरसाभ्यास

१७. **वातावजयन**– स्नेह, स्वेद; स्नेह-उष्ण-मधुर-अम्ल-लवणयुक्त मृदु-संशोधन, सुरासव, बस्ति।[१]

१८. **पित्तावजयन**– मधुर, तिक्त, कषाय, शीत, घृतपान, विरेचन, सौम्य भाव।[२]

१९. **श्लेष्मावजयन**– रूक्ष, कटु, तिक्त, कषाय, तीक्ष्ण संशोधन, तीक्ष्ण मद्य, धूमपान आदि।[३]

२०. **वातवर्धक**– कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, लघु, शीत द्रव्य।[४]

२१. **पित्तवर्धक**– कटु, अम्ल, लवण, क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण द्रव्य।[५]

२२. **कफवर्धक**– स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्र, पिच्छिल द्रव्य।[६]

२३. **मूत्रजनन**– इक्षुरस, वारुणी, मण्ड, द्रव, मधुर, अम्ल, लवण, उपक्लेदी द्रव्य।[७]

२४. **पुरीषजनन**– कुल्माष, माष, कुक्कुटाण्ड, अजमध्य, शाक, धान्याम्ल।[८]

---

१. तस्यावजयनं–स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहनोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहनावपीडनावित्रासन-विस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहर-विरेचनीयोपहितास्तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थाः, बस्तयः, बस्तिनियमः, सुखशीलता चेति। (च० वि० ६.१६)

२. तस्यावजयनं-सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानां चोपसेवा, मुक्तामणि-हारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणेऽग्र्यचन्दनप्रियङ्गु-कालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुदकोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतैश्च वारिभिरभि-प्रोक्षणं...सेवनं च पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां, सौम्यानां च सर्वभावानामिति। (च० वि० ६.१७)

३. तस्यावजयनं-विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि, ...विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोगः, सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, तथोष्णं वासः, सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेव। (च० वि० ६.१८)

४. वातक्षये कटुकतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्। (च० शा० ६.११)

५. पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानाम्। (च० शा० ६.११)

६. श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। (च० शा० ६.११)

७. मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम्। (च० शा० ६.११)

८. पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुक्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्। (च० शा० ६.११)

२५. **गर्भोपघातकर**– तीक्ष्ण, उष्ण, लवण, अम्ल, गोधामांस, वराहमांस, मत्स्यमांस आदि।[१]

२६. **गर्भस्थापन**– यष्टीमधु, घृत, क्षीरीवृक्ष, कषायवृक्ष, पद्म-उत्पल- कुमुद किञ्जल्क, शृङ्गाटक, पुष्करबीज, कशेरुक, गन्धप्रियङ्गु, पद्ममूल, बला, अतिबला, शालि, षष्टिक, इक्षुमूल, काकोली, रक्तशालि, लाव, कपिञ्जल, कुरङ्ग, हरिण का मांसरस आदि।[२]

२७. **गर्भवृद्धिकर**– भूतघ्न, जीवनीय, बृंहणीय, मधुर, वातहर द्रव्य, घृत, दुग्ध, आमगर्भ।[३]

२८. **गर्भप्रसुप्तिनिवारक (गर्भस्पन्दक)**– श्येन, मत्स्य, गवय, तित्तिर, ताम्रचूड, मयूर का मांसरस, घृत, माष, मूलकयूष, मृदु, मधुर, शीतद्रव्य।[४]

२९. **गर्भानुलोमन**– कुष्ठ, एला, लाङ्गली, वचा, चित्रक, चिरबिल्व, भूर्ज, शिंशपा।[५]

३०. **अपरापातन**– भूर्जपत्र, काचमणि, सर्पनिर्मोक, कुष्ठ, तालीश, कुलत्थ, मण्डूकपर्णी, पिप्पली, सूक्ष्मैला, देवदारु, शुण्ठी, विडङ्ग, कालागुरु, चव्य, चित्रक, उपकुञ्चिका, वृषभ या खर का कर्ण, आस्थापन आदि।[६]

---

१. तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्या...गर्भो म्रियतेऽन्तः कुक्षेः... मद्यनित्या पिपासालुमल्प-स्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्राया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिणं वा, वराहमांसप्राया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमेषं स्तब्धाक्षं वा...यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति।
(च० शा० ८.२१)

२. ....तस्या गर्भस्थापनविधिमुपदेक्ष्यामः- पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्...तथाऽस्या गर्भस्तिष्ठति।
(च० शा० ८.२४)

३. ....भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषां पयसामामगर्भाणां चोपयोगो गर्भवृद्धिकरः; तथा संभोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुभिक्षायाः। (च० शा० ८.२७)

४. यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तां श्येनमत्स्यगवयशिखिताम्रचूडतित्तिरीणामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूषेण वा प्रभूतसर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदुमधुरशीतलं भोजयेत्। (च० शा० ८.२८)

५. ...अथास्यै दद्यात् कुष्ठैलालाङ्गलिकीवचाचित्रकचिरबिल्वचव्यचूर्णमुपघ्रातुं, सा तन्मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेत्, तथा भूर्जपत्रधूमं शिंशपासारधूमं वा। ...अनेन कर्मणा गर्भोऽवाक् प्रतिपद्यते। (च० शा० ८.३८)

६. ...तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा....वायोरनुलोमगमनात्। (च० शा० ८.४१)

३१. **नाभिपाकहर**– लोध्र, मधुक, प्रियङ्गु, दारुहरिद्रा।[१]

३२. **रक्षाकर (रक्षोघ्न)**– खदिर, कर्कन्धु, पीलु, परूषक, सर्षप, अतसी, बकुल, वचा, कुष्ठ, क्षौमिक, हिंगु, लशुन, तिन्दुक, यव, चोरपुष्पी, वयःस्था, जटामांसी, कुटकी, सर्पनिर्मोक आदि।[२]

३३. **शकुन**– दधि, अक्षत, रत्न, मोदक, श्वेतपुष्प, चन्दन, मनोज्ञ अन्नपान, प्रियङ्गु, घृत, सिद्धार्थ, रोचना, सुगन्ध, शुक्लवर्ण, मधुररस आदि।[३]

*

---

१. ...तस्य चेन्नाभिः पच्येत, तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुसुरदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्। (च० शा० ८.४४)

२. अथास्य रक्षां विदध्यात्- आदानीखदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृहं समन्ततः परिवारयेत्। सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेयुः ...रक्षाविधानमुक्तम्। (च० शा० ८.४७)

३. दध्यक्षतद्विजातीनां वृषभाणां नृपस्य च। रत्नानां पूर्णकुम्भानां सितस्य तुरगस्य च।।.....विद्यादारोग्यलक्षणम्। (च० इ० १२.७१-७९)

षष्ठ अध्याय

सुश्रुतोक्त गण

सुश्रुत ने संक्षेपत: द्रव्यों के ३७ वर्ग बनाये हैं।[१] ये वर्ग यद्यपि कर्मानुसार निर्धारित हैं, तथापि उनका नामकरण मुख्य द्रव्य के आधार पर किया गया है यथा–

१. **विदारिगन्धादि**– शालपर्णी, विदारी, नागबला, अतिबला, गोक्षुर, पृश्निपर्णी, शतावरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, बृहतीद्वय, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपदी, वृश्चिकाली, कपिकच्छू।[२]

२. **आरग्वधादि**– आरग्वध, मदनफल, गोपघोण्टा, कुटज, पाठा, विकंकत, पाटला, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, निम्ब, पीत सैरेयक, नील सैरयेक, गुडूची, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा, करञ्ज, पूतीक, पटोल, चिरायता, करैला।[३]

३. **सालसारादि**– सालसार, सर्ज, खदिर, श्वेतखदिर, तिन्दुकभेद, क्रमुक, भूर्ज, मेषशृङ्ग, तिनिश, चन्दन, रक्तचन्दन, शिंशपा, शिरीष, असन, धव, अर्जुन, ताल, शाक, नक्तमाल, पूतिकरंज, अश्वकर्ण, अगुरु, पीतचन्दन।[४]

४. **वरुणादि**– वरुण, आर्तगल, शोभाञ्जन, मधुशिग्रु, तर्कारी, मेषशृङ्गी, पूतीक, नक्तमाल, मोरट, अग्निमन्थ, नील और पीत सैरेयक, बिम्बी, वसुक, अपामार्ग, चित्रक, शतावरी, बिल्व, अजशृङ्गी, दर्भ, बृहतीद्वय।[५]

५. **वीरतर्वादि**– वीरतरु, नील और पीत सैरेयक, दर्भ, वन्दाक, गुन्द्रा, नल, कुश, काश, पाषाणभेद, अग्निमन्थ, मोरट, वसुक, अपामार्ग, श्योनाक, शितिवार, शितिवारभेद, सुवर्चला, गोक्षुर।[६]

---

१. समासेन सप्तत्रिंशद् द्रव्यगणा भवन्ति। (सु० सू० ३८.३)

२. विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति। (सु० सू० ३८.४)

३. आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासी-कुरुण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गे(ङ्गे)ष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति। (सु० सू० ३८.६)

४. सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गतिनिशचन्दनकुचन्दनशिंश-पाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतीकाश्वकर्णागुरूणि कालीयकं चेति। (सु० सू० ३८.८)

५. वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बी-वसुकवसिरचित्रकशतावरीबिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयं चेति। (सु० सू० ३८.१०)

६. वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटवसुकवसिर-भल्लूककुरण्टिकेन्दीवरकपोतवङ्काः श्वदंष्ट्रा चेति। (सु० सू० ३८.१२)

६. **रोध्रादि**– रोध्र, सावर लोध्र, पलाश, श्योनाक, अशोक, फञ्जी, कट्फल, एलवालुक, शल्लकी, जिंगिणी, कदम्ब, शाल, कदली।[१]

७. **अर्कादि**– अर्क, अलर्क, करञ्ज, पूतीक, नागदन्ती, अपामार्ग, भार्ङ्गी, रास्ना, कलिहारी, श्वेता, महाश्वेता, वृश्चिकाली, ज्योतिष्मती, इङ्गुदी।[२]

८. **सुरसादि**– सुरसा (कृष्ण तुलसी), श्वेत तुलसी, फणिज्झक, अर्जक, भूस्तृण, गन्धतृण, राजिका, वर्वरी, कासमर्द, छिक्किका, खरपुष्प, विडङ्ग, कट्फल, सुरसी, निर्गुण्डी, मुण्डी, मूषाकर्णी, फञ्जी, काकजङ्घा, काकमाची, विषमुष्टि।[३]

९. **मुष्ककादि**– मुष्कक, पलाश, धव, चित्रक, मदन, कुटज, शिंशपा, स्नुही, त्रिफला।[४]

१०. **पिप्पल्यादि**– पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, मरिच, गजपिप्पली, हरेणुका, एला, अजमोदा, इन्द्रयव, पाठा, जीरा, सर्षप, महानिम्बफल, हिंगु, भार्ङ्गी, मधुरसा, अतिविषा, वचा, विडङ्ग, कुटकी।[५]

११. **एलादि**– एला, तगर, कुष्ठ, मांसी, रोहिष, त्वक्पत्र, नागपुष्प, प्रियङ्गु, हरेणुका, नखी (छोटी और बड़ी), चोरपुष्पी, थुनेर, श्रीवेष्टक, त्वक्, चोरक, एलवालुक, गुग्गुलु, सर्जरस, शिलारस, कुन्दुरु, अगुरु, स्पृक्का, उशीर, देवदारु, केशर, पुन्नागकेशर।[६]

१२. **वचादि**– वचा, मुस्ता, अतिविषा, हरीतकी, देवदारु, नागकेशर।[७]

१३. **हरिद्रादि**– हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पृश्निपर्णी, इन्द्रयव, मुलेठी।[८]

---

१. रोध्रसावरलोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफञ्जीकट्फलैलवालुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बशालाः कदली चेति। (सु० सू० ३८.१४)

२. अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणा-स्तापसवृक्षश्चेति। (सु० सू० ३८.१६)

३. सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकुठेरककासमर्दक्षवकखर-पुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुकर्णिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टि-कश्चेति। (सु० सू० ३८.१८)

४. मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृक्षकशिंशपावज्रवृक्षास्त्रिफला चेति। (सु० सू० ३८.२०)

५. पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरक-सर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति। (सु० सू० ३८.२२)

६. एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयक-श्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति। (सु० सू० ३८.२४)

७. वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति। (सु० सू० ३८.२६)

८. हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति। (सु० सू० ३८.२७)

१४. **श्यामादि**– श्यामा, महाश्यामा (विधारा), त्रिवृत्, दन्ती, शङ्खिनी, तिल्वक, कम्पिल्लक, महानिम्ब, क्रमुक, द्रवन्ती, इन्द्रायण, आरग्वध, करञ्ज, पूतीकरञ्ज, गुडूची, सप्तला, वृद्धदारुकभेद, स्नुही, स्वर्णक्षीरी।[१]

१५. **बृहत्यादि**– बृहती, कंटकारी, इन्द्रयव, पाठा, मुलेठी।[२]

१६. **पटोलादि**– पटोल, चन्दन, रक्तचन्दन, मूर्वा, गुडूची, पाठा, कुटकी।[३]

१७. **काकोल्यादि**– काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची, कर्कटशृङ्गी, वंशलोचन, पद्मक, प्रपौण्डरीक, ऋद्धि, वृद्धि, मृद्वीका, जीवन्ती, मुलेठी।[४]

१८. **ऊषकादि**– ऊषक (क्षारविशेष), सैन्धव, शिलाजतु, कासीसद्वय, हिंगु, तुत्थ।[५]

१९. **सारिवादि**– सारिवा, मुलेठी, चन्दन, रक्तचन्दन, पद्मक, गम्भारीफल, मधूकपुष्प, उशीर।[६]

२०. **अञ्जनादि**– सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, नागकेशर, प्रियङ्गु, नीलोत्पल, मांसी, पद्मकेशर, मुलेठी।[७]

२१. **परूषकादि**– परूषक, द्राक्षा, कट्फल, दाडिम, राजादन, निर्मलीफल, शाकफल, त्रिफला।[८]

२२. **प्रियंग्वादि**– प्रियङ्गु, लज्जालु, धातकी, पुन्नाग, नागकेशर, चन्दन, रक्तचन्दन, मोचरस, रसाञ्जन, कुम्भीक, स्रोतोञ्जन, पद्मकेशर, मञ्जिष्ठा, धन्वयास।[९]

---

१. श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लकरम्यकक्रमुकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः स्वर्णक्षीरी चेति। (सु० सू० ३८.२९)

२. बृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठा मधुकं चेति। (सु० सू० ३८.३१)

३. पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी चेति। (सु० सू० ३८.३३)

४. काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकं चेति। (सु० सू० ३८.३५)

५. ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गूनि तुत्थकं चेति। (सु० सू० ३८.३७)

६. सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूकपुष्पाण्युशीरं चेति। (सु० सू० ३८.३९)

७. अञ्जनरसाञ्जननागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पलनलदनलिनकेशराणि मधुकं चेति। (सु० सू० ३८.४१)

८. परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफलानि त्रिफला चेति। (सु० सू० ३८.४३)

९. प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोजपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति। (सु० सू० ३८.४५)

२३. **अम्बष्ठादि**– अम्बष्ठा, धातकीपुष्प, लज्जालु, अरलु, मुलेठी, बिल्व, सावररोध्र, पलाश, नन्दीवृक्ष, पद्मकेशर।[१]

२४. **न्यग्रोधादि**– न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, मधूक, आम्रातक, अर्जुन, आम्र, कोशाम्र, चोरकपत्र (लाक्षावृक्ष), जम्बूद्वय, प्रियाल, मधूक, कट्फल, वेतस, कदम्ब, बदरी, तिन्दुक, शल्लकी, रोध्र, शाबररोध्र, भल्लातक, पलाश, नन्दीवृक्ष।[२]

२५. **गुडूच्यादि**– गुडूची, निम्ब, धान्यक, चन्दन, पद्मक।[३]

२६. **उत्पलादि**– नीलोत्पल, रक्तोत्पल, श्वेतोत्पल, सौगन्धिक, कुवलय, पुण्डरीक, मधुक।[४]

२७. **मुस्तादि**– मुस्ता, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, हरीतकी, आमलक, बिभीतक, कुष्ठ, श्वेत वचा, वचा, पाठा, कुटकी, शार्ङ्गेष्टा, अतिविषा, एला, भल्लातक, चित्रक।[५]

२८. **त्रिफला**– हरीतकी, आमलक, बिभीतक।[६]

२९. **त्रिकटु**– पिप्पली, मरिच, शुण्ठी।[७]

३०. **आमलक्यादि**– आमलकी, हरीतकी, पिप्पली, चित्रक।[८]

३१. **त्रप्वादि**– वङ्ग, नाग, ताम्र, रजत, सुवर्ण, लोह, मण्डूर।[९]

३२. **लाक्षादि**– लाक्षा, आरग्वध, कुटज, करवीर, कट्फल, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, निम्ब, सप्तपर्ण, जाती, त्रायमाणा।[१०]

---

१. अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्गमधुकबिल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति। (सु० सू० ३८.४६)

२. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधुककपीतनककुभाम्रकोशाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयप्रियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीशल्लकीरोध्रसाववरोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति। (सु० सू० ३८.४८)

३. गुडूचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पद्मकं चेति। (सु० सू० ३८.५०)

४. उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति। (सु० सू० ३८.५२)

५. मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकबिभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति। (सु० सू० ३८.५४)

६. हरीतक्यामलकबिभीतकानीति त्रिफला। (सु० सू० ३८.५६)

७. पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणीति त्रिकटुकम्। (सु० सू० ३८.५८)

८. आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्रकश्चेति। (सु० सू० ३८.६०)

९. त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलश्चेति। (सु० सू० ३८.६२)

१०. लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकट्फलहरिद्राद्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति। (सु० सू० ३८.६४)

३३. **लघुपञ्चमूल**– गोक्षुर, बृहती, कंटकारी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी।[१]

३४. **बृहत् पञ्चमूल**– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी।[२]

३५. **वल्लीपञ्चमूल**– विदारी, सारिवा, मंजिष्ठा, गुडूची, मेषशृङ्गी।[३]

३६. **कण्टकपञ्चमूल**– करमर्द, गोक्षुर, सैरेयक, शतावरी, हिंस्रा।[४]

३७. **तृणपञ्चमूल**– कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षु।[५]

उपर्युक्त कुछ गणों में रचना का भी आधार लिया गया है, इनका विस्तृत विवेचन गणों के प्रकरण में किया जायगा।

सुश्रुतोक्त ३७ गणों के कर्म और प्रयोग

सं०	गण	कर्म	प्रयोग
१.	विदारिगन्धादि	पित्तवातहर, बृंहण, अङ्गमर्द-प्रशमन, श्वासहर, कासहर	शोष, गुल्म, अङ्गमर्द, ऊर्ध्वश्वास, कास
२.	आरग्वधादि	कफघ्न, विषघ्न, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, कण्डूघ्न, छर्दि-निग्रहण, व्रणशोधन	प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, छर्दि, कण्डू, व्रण, विष
३.	सालसारादि	कफघ्न, मेदोहर, कुष्ठघ्न	कुष्ठ, प्रमेह, पाण्डु, मेदोरोग
४.	वरुणादि	कफघ्न, मेदोहर	शिरःशूल, गुल्म, आभ्यन्तर विद्रधि
५.	वीरतर्वादि	वातहर, मूत्रजनन, अश्मरी-भेदन	वातव्याधि, अश्मरी-शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात
६.	रोध्रादि	कफघ्न, मेदोहर, वर्ण्य, विषघ्न, स्तम्भन	योनिविकार, विष, मेदोरोग

क्रमशः..

१. त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीयः। (सु० सू० ३८.६६)

२. बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मरी चेति महत्। (सु० सू० ३८.६८)

३. विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः। (सु० सू० ३८.७२)
(यहाँ 'रजनी' शब्द से कुछ लोग हरिद्रा लेते हैं किन्तु वह वल्ली नहीं है। अतः मंजिष्ठा उपयुक्त है, यह रञ्जनकर्म में प्रयुक्त भी होती है।)

४. करमर्दीत्रिकण्टकसैरेयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः। (सु० सू० ३८.७३)

५. कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञकः। (सु० सू० ३८.७५)

सं०	गण	कर्म	प्रयोग
७.	अर्कादि	कफघ्न, मेदोहर, विषघ्न, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न, कृमिघ्न	कृमि, कुष्ठ, व्रण, मेदोरोग, विष
८.	सुरसादि	कफघ्न, कृमिघ्न, श्वासहर, कासहर, व्रणशोधन	क्रिमि, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास, कास, व्रण
९.	मुष्ककादि	मेदोहर, शुक्रशोधन, अश्मरीभेदन	मेदोरोग, शुक्रविकार, अश्मरी, प्रमेह, अर्श, पाण्डु
१०.	पिप्पल्यादि	कफघ्न, वातहर, दीपन, शूलप्रशमन, आमपाचन	प्रतिश्याय, अरुचि, गुल्म, शूल, आमदोष, वातकफरोग
११.	एलादि	वातश्लेष्महर, विषघ्न, वर्ण्य, कण्डूघ्न	कण्डू, पिडका, कोठ, विष
१२.	वचादि	स्तन्यशोधन, दोषपाचन	स्तन्यविकार, आमातिसार
१३.	हरिद्रादि		
१४.	श्यामादि	भेदन, अनुलोमन, विषघ्न	गुल्म, आनाह, उदर, उदावर्त, विष
१५.	बृहत्यादि	त्रिदोषहर, पाचन, मूत्रजनन	अरुचि, हल्लास, मूत्रकृच्छ्र
१६.	पटोलादि	कफपित्तशमन, ज्वरहर, व्रण्य	अरुचि, ज्वर, व्रण, छर्दि, कण्डू, विष
१७.	काकोल्यादि	वातपित्तहर, रक्तशामक, जीवनीय, बृंहण, वृष्य, स्तन्यजनन, कफकारक	दौर्बल्य, काश्र्य, स्तन्यविकार, रक्तपित्त
१८.	ऊषकादि	कफमेदोहर, मूत्रजनन	मेदोरोग, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म
१९.	सारिवादि	रक्तपित्तशमन, तृष्णाहर, दाहशमन, ज्वरघ्न	रक्तपित्त, तृष्णा, दाह, पित्तज्वर
२०.	अञ्जनादि	रक्तपित्तहर, विषघ्न, दाहप्रशमन	रक्तपित्त, विष, दाह
२१.	परूषकादि	वातहर, हृद्य, तृष्णाहर, रोचन, मूत्रजनन	मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग, तृष्णा, अरुचि
२२.	प्रियङ्ग्वादि	पित्तहर, स्तम्भन, संधानीय, व्रणरोपण	पक्वातीसार, व्रण, रक्तपित्त
२३.	अम्बष्ठादि		
२४.	न्यग्रोधादि	संग्राही, सन्धानीय, व्रण्य, रक्तपित्तशमन, दाहप्रशमन, मेदोहर	व्रण, अस्थिभग्न, रक्तपित्त, दाह, प्रमेह, योनिविकार

क्रमशः....

सं०	गण	कर्म	प्रयोग
२५.	गुडूच्यादि	ज्वरहर, दीपन, तृष्णाहर, दाहशमन	हल्लास, अरुचि, छर्दि, तृष्णा, दाह
२६.	उत्पलादि	दाहप्रशमन, रक्तपित्तहर, तृष्णाहर, विषघ्न, हृद्य	दाह, रक्तपित्त, तृष्णा, विष, छर्दि, हृद्रोग, मूर्च्छा
२७.	मुस्तादि	कफहर, स्तन्यशोधन, पाचन	योनिविकार, स्तन्यदोष, आमदोष
२८.	त्रिफला	कफपित्तहर, कुष्ठघ्न, दीपन, चक्षुष्य, विषमज्वरहर	प्रमेह, कुष्ठ, नेत्ररोग, अग्निमान्द्य, विषमज्वर
२९.	त्रिकटु	कफहर, मेदोहर, कुष्ठघ्न, दीपन	प्रमेह, कुष्ठ, त्वग्रोग, गुल्म, पीनस, मन्दाग्नि
३०.	आमलक्यादि	कफघ्न, रोचन, ज्वरहर, दीपन, वृष्य, चक्षुष्य	ज्वर, नेत्ररोग, अरुचि, उदरविकार
३१.	व्रप्वादि	क्रिमिघ्न, विषघ्न, हृद्य	गरदोष, क्रिमि, तृष्णा, विष, हृद्रोग, पाण्डु, प्रमेह
३२.	लाक्षादि	कषाय-तिक्त-मधुर, कफ-पित्तहर, कुष्ठघ्न, क्रिमिघ्न, व्रणशोधन	कुष्ठ, क्रिमि, दुष्टव्रण
३३.	लघुपञ्चमूल	कषाय-तिक्त-मधुर, वात-पित्तहर, बृंहण, बल्य	श्वास, त्रिदोषविकार, आमदोष, ज्वर
३४.	बृहत्पञ्चमूल	तिक्त-मधुर-कटु, कफ-वातहर, दीपन	
३५.	वल्लीपञ्चमूल	कफघ्न, रक्तपित्तशमन, शोथहर, शुक्रशोधन	रक्तपित्त, शोथ, प्रमेह, शुक्रदोष
३६.	कण्टकपञ्चमूल		
३७.	तृणपञ्चमूल	रक्तपित्तशमन, मूत्रजनन	रक्तपित्त, मूत्रकृच्छ्र[१]

१. विदारिगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः।।
आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः। मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः।।
सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः। मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः।।
वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारणः। विनिहन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तरविद्रधीन्।।
वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत्। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहः।।
एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदःकफहरो गणः। योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः।।

क्रमशः ...

अर्कादिको गणो ह्येष कफमेदोविषापहः। कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः।।
सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः। प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः।।
मुष्ककादिर्गणो ह्येष मेदोघ्नः शुक्रदोषहृत्। मेहार्शःपाण्डुरोगाश्मशर्करानाशनः परः।।
पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः। निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः।।
एलादिको वातकफौ निहन्याद्विषमेव च। वर्णप्रसादनः कण्डूपिडकाकोठनाशनः।।
एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ। आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ।।
उक्तः श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविषापहः। आनाहोदरविड्भेदी तथोदावर्तनाशनः।।
पाचनीयो बृहत्यादिर्गणः पित्तानिलापहः। कफारोचकहल्लासमूत्रकृच्छ्ररुजापहः।।
पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः। ज्वरोपशमनो व्रण्यश्छर्दिकण्डूविषापहः।।
काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः। जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा।।
ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः।।
सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः। पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः।।
अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः। विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं भृशम्।।
परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः। मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रुचिप्रदः।।
गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ। सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ।।
न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः। रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत्।।
एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः। हल्लासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः।।
उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः। पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः।।
एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः। योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा।।
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी। चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी।।
त्र्यूषणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान्। निहन्याद्दीपनं गुल्मपीनसाग्न्यल्पतामपि।।
आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः। चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः।।
गणस्त्रप्वादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः। पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा।।
(लाक्षादिः) कषायतिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः। कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः।।
कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम्। वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम्।।
सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम्। मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम्।।
अनयोर्दशमूलमुच्यते-
गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः। आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः।।
वल्लीकण्टकपञ्चमूलगणौ-
रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ। सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ।।
तृणपञ्चमूलम्-
मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च।.अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत्।।
एषां वातहरावाद्यावन्त्यः पित्तविनाशनः। पञ्चकौ श्लेष्मशमनावितरौ परिकीर्तितौ।।
(सु० सू० ३८.५,७,९,११,१३,१५,१७,१९,२१,२३,२५,२८,३०,३२,३४,३६,३८, ४०,४२, ४४,४७,४९,५१,५३,५५,५७,५९,६१,६३,६५,६७,६९,७०-७१,७४,७६-७७)

इसके अतिरिक्त, संशोधन और संशमन की दृष्टि से निम्नाङ्कित वर्ग किये गये हैं–

१. ऊर्ध्वभागहर[१]

द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग
मदन	फल	कुटज	फल	देवदाली	फल
कटुतुम्बी	,,	धामार्गव	,,	कृतवेधन	,,
सर्षप	,,	विडङ्ग	,,	पिप्पली	,,
करञ्ज	,,	चक्रमर्द	,,	कोविदार	मूल
कर्बुदार	मूल	निम्ब	मूल	अश्वगन्धा	,,
वेतस	,,	बन्धुजीवक	,,	श्वेतवचा	,,
शणपुष्पी	,,	बिम्बी	,,	वचा	,,
इन्द्रायण	,,	चित्रा (इन्द्रायणभेद)	,,		

२. अधोभागहर[२]

द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग
त्रिवृत्	मूल	श्यामा	मूल	दन्ती	मूल
द्रवन्ती	,,	सप्तला	,,	शङ्खिनी	,,
मेषशृङ्गी	,,	इन्द्रायण	,,	विधारा भेद	,,
स्नुही	,,	स्वर्णक्षीरी	,,	चित्रक	,,
किणिही	,,	कुश	,,	काश	,,
तिल्वक	त्वक्	महानिम्ब	त्वक्	पाटला	त्वक्
कम्पिल्लक	फलरज	पूग	फल	हरीतकी	फल
आमलक	फल	बिभीतक	,,	नीलिनी	,,
आरग्वध	फल, पत्र	एरण्ड	,,	पूतिकरंज	पत्र
स्नुही	क्षीर	सप्तपर्ण	क्षीर	अर्क	क्षीर
ज्योतिष्मती	,,				

१. मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपविडङ्गपिप्पलीकरञ्जप्रपुन्नाडकोविदार-कर्बुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीबिम्बीवचामृगेर्वारवश्चित्रा चेत्यूर्ध्वभाग-हराणि। तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि कोविदारादीनां मूलानि। (सु० सू० ३९.३)

२. त्रिवृताश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीविषाणिकागवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नुक्सुवर्णक्षीरीचित्र-ककिणिहीकुशकाशतिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकबिभीतकनीलिनी-चतुरङ्गलैरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योतिष्मती चेत्यधोभागहराणि। तत्र तिल्वक-पूर्वाणां मूलानि, तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः, कम्पिल्लकफलरजः, पूगादीना-मेरण्डान्तानां फलानि, पूतीकारग्वधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराणीति। (सु० सू० ३९.४)

३. उभयतोभागहर[१]

द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग
कोशातकी	स्वरस	सप्तला	स्वरस	शङ्खिनी	स्वरस
देवदाली	,,	कारवेल्लिका	,,		

४. शिरोविरेचन[२]

द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग	द्रव्य	प्रयोज्य अङ्ग
पिप्पली	फल	विडङ्ग	फल	अपामार्ग	फल
शिग्रु	,,	सिद्धार्थक	,,	शिरीष	,,
मरिच	,,	करवीर	मूल	बिम्बी	मूल
अपराजिता	मूल	किणिही	,,	वचा	,,
ज्योतिष्मती	,,	करञ्ज	,,	अर्क	,,
अलर्क	,,	लशुन	कन्द	अतिविषा	कन्द
शृङ्गवेर	कन्द	तालीश	पत्र	तमाल	पत्र
तुलसी	पत्र	अर्जक	,,	इङ्गुदी	त्वक्
मेषशृङ्गी	त्वक्	मातुलुङ्गी	पुष्प	शिग्रु	पुष्प
पीलु	पुष्प	जाती	,,	शाल	सार
ताल	सार	मधूक	सार	लाक्षा	निर्यास
हिंगु	निर्यास	लवण		मद्य	
गोशकृद्रस		गोमूत्र			

१. कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतोभागहराणि। एषां स्वरसा इति।। (सु० सू० ३९.५)

२. पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकरवीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवचा-ज्योतिष्मतीकरञ्जार्कालर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसार्जकेङ्गुदीमेषशृङ्गीमातु-लुङ्गीमुरङ्गीपीलुजातीशालतालमधूकलाक्षाहिङ्गुलवणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेच-नानि। तत्र करवीरपूर्वाणां फलानि, करवीरादीनामलर्कान्तानां मूलानि, तालीशपूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, इङ्गुदीमेषशृङ्ग्योस्त्वचः, मातुलुङ्गीमुरङ्गीपीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः, हिङ्गुलाक्षे निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः, मद्यान्यासुतसंयोगाः, गोमूत्रशकृद्रसौ मलाविति। (सु० सू० ३९.६)

५. **वातसंशमन**– देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण, मेषशृङ्गी, बला, अतिबला, आर्तगल, कच्छुरा, शल्लकी, कुबेराक्षी, वीरतरु, सैरेयक, अग्निमन्थ, गुडूची, एरण्ड, पाषाणभेद, अर्क, अलर्क, शतावरी, पुनर्नवा, वसुक, वशिर, धत्तूर, भार्ङ्गी, कार्पासी, वृश्चिकाली, पत्तूर, बदर, यव, कोल, कुलत्थ आदि, विदारिगन्धादिगण, दशमूल।[१]

६. **पित्तसंशमन**– चन्दन, रक्तचन्दन, ह्रीबेर, उशीर, मञ्जिष्ठा, क्षीरकाकोली, विदारी, शतावरी, गुन्द्रा, शैवाल, रक्तोत्पल, कुमुद, नीलोत्पल, कदली, कन्दली, दूर्वा, मूर्वा आदि, काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि, उत्पलादि, न्यग्रोधादि तथा तृणपञ्चमूल गण।[२]

७. **श्लेष्मसंशमन**– पीतचन्दन, अगुरु, हुरहुर, कुष्ठ, हरिद्रा, कर्पूर, शतपुष्पा, त्रिवृत्, रास्ना, करञ्जद्वय, इङ्गुदी, जाती, काकादनी, लाङ्गली, हस्तिकर्णपलाश, मुञ्जातक, लामज्जक आदि, वल्लीपञ्चमूल, कण्टकपञ्चमूल, पिप्पल्यादि, बृहत्यादि, मुष्ककादि, वचादि, सुरसादि तथा आरग्वधादि गण।[३]

इनके अतिरिक्त सुश्रुतसंहिता के विभिन्न स्थलों में निम्नाङ्कित वर्गों का सङ्केत मिलता है–

१. **रक्षोघ्न**– गुग्गुलु, अगुरु, राल, वचा, सिद्धार्थ, लवण, निम्बपत्र, घृत, छत्रा, अतिच्छत्रा, कपिकच्छू, मांसी, मुण्डी, दूर्वा, लशुन, हिंगु, पुराणघृत, कुक्कुटी, सर्पगन्धा, कर्कटशृङ्गी, अर्कमूल, त्रिकटु, प्रियङ्गु, स्रोतोऽञ्जन, मनःशिला, हरिताल आदि।[४]

---

१. तत्र भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलातिबलार्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालकार्कशतावरीपुनर्नवावासुकवशिरकाञ्जनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वातसंशमनो वर्गः। (सु० सू० ३९.७)

२. चन्दनकुचन्दनह्रीबेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द(द)लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः। (सु० सू० ३९.८)

३. कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनाकाकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिबृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः।
(सु० सू० ३९.९)

४. ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रव्यामिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्।
(सु० सू० ५.१८)

पुराणसर्पिर्लशुनं हिङ्गु सिद्धार्थकं वचा। गोलोमी चाजलोमी च भूतकेशी जटा तथा।।
कुक्कुटा सर्पगन्धा च तथा काणविकाणिके। ऋष्यप्रोक्ता वयःस्था च शृङ्गी मोहनवल्लिका।।
अर्कमूलं त्रिकटुकं लता स्रोतोजमञ्जनम्। नैपाली हरितालं च रक्षोघ्ना ये च कीर्तिताः।।
(सु० उ० ६०.४६-४८-)

छत्रातिच्छत्रे लाङ्गू(ङ्ग)लीं जटिलां ब्रह्मचारिणीं लक्ष्मीं गुहामतिगुहां वचामतिविषां शतवीर्यां सहस्रवीर्यां सिद्धार्थकांश्च शिरसा धारयेत्। (सु० सू० १९.२९)

२. **रक्तस्रावक**– एला, कर्पूर, कुष्ठ, तगर, पाठा, देवदारु, विडङ्ग, चित्रक, त्रिकटु, आगारधूम, हरिद्रा, अर्काङ्कुर, नक्तमालफल।[१]

३. **रक्तरोधक**– रोध्र, मधुक, प्रियङ्गु, पत्तङ्ग, गैरिक, राल, रसाञ्जन, शाल्मलीपुष्प, शङ्ख, शुक्ति, माष, यव, गोधूम।[२]

४. **लेखन**– शिलाजतु, गुग्गुलु, गोमूत्र, त्रिफला, लौहभस्म, रसाञ्जन, मधु, यव, मुद्ग, कोरदूषक, श्यामाक, उद्दालक आदि।[३]

५. **बृंहण**– पयस्या, अश्वगन्धा, शालपर्णी, शतावरी, बला, अतिबला, नागबला, अन्य मधुर द्रव्य, क्षीर, दधि, घृत, मांस, शालि, षष्टिक, यव, गोधूम आदि।[४]

६. **पूयवर्धन**– नवधान्य, माष, तिल, कलाय, कुलत्थ, निष्पाव, हरितक, शाक, अम्ल, लवण, कटु; गुडविकार, पिष्टविकार, वल्लूर, शुष्कशाक, आज-आविक-आनूप-औदक मांस; वसा, शीतोदक, कृशरा, पायस, दुग्ध, दधि, तक्र आदि।[५]

७. **पथ्यतम (आहार) वर्ग**–

वर्ग	द्रव्य
शूकधान्य	रक्तशालि, षष्टिक, कङ्गुक, मुकुन्दक, पाण्डुक, पीतक, प्रमोदक, कालक, असनपुष्पक, कर्दमक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कलम, नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक, गोधूम, वेणुयव आदि। क्रमशः...

---

१. अथ खल्वप्रवर्तमाने रक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालफलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेत्, एवं सम्यक् प्रवर्तते। (सु० सू० १४.३५)

२. अथातिप्रवृत्ते रोध्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशङ्खशुक्तिमाषयवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्य अङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत्। (सु० सू० १४.३६)

३. ...उत्पन्ने तु शिलाजतुगुग्गुलुगोमूत्रत्रिफलालोहरजोरसाञ्जनमधुयवमुद्गकोरदूषकश्यामाकोद्दालकादीनां विरूक्षणच्छेदनीयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगो व्यायामो लेखनबस्त्युपयोगश्चेति।
(सु० सू० १५.३२)

४. ...उत्पन्ने तु पयस्याऽश्वगन्धाविदारिगन्धाशतावरीबलातिबलानागबलानां मधुराणामन्यासाञ्जौषधीनामुपयोगः, क्षीरदधिघृतमांसशालिषष्टिकयवगोधूमानाञ्च, दिवास्वप्नब्रह्मचर्याव्यायामबृंहणबस्त्युपयोगश्चेति। (सु० सू० १५.३३)

५. नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशाकाजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्रभृतीनि परिहरेत्। तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः। दोषसञ्जननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः।।
(सु० सू० १९.१६-१७)

वर्ग	द्रव्य
शमीधान्य	मुद्ग, वनमुद्ग, मकुष्ठ, कलाय, मसूर, मङ्गल्य, चणक, हरेणु, आढकी, सतीन।
शाक	चिल्ली, वास्तुक, सुनिषण्णक, जीवन्ती, तण्डुलीयक, मण्डूकपर्णी।
मांस	एण, हरिण, कुरङ्ग, मृगमातृका, श्वदंष्ट्रा, कराल, क्रकर, कपोत, लाव, तित्तिरि, कपिञ्जल, वर्तीर, वर्तिका।
घृत	गव्य
लवण	सैन्धव
अम्ल	दाडिम, आमलक।[१]

८. **वातप्रकोपण**– कटु, कषाय, तिक्त; रूक्ष, लघु, शीतवीर्य; शुष्कशाक, वल्लूरक, वरक, उद्दालक, कोरदूष, श्यामाक, नीवार, मुद्ग, मसूर, आढकी, हरेणु, कलाय, निष्पाव आदि।[२]

९. **पित्तप्रकोपण**– कटु, अम्ल, लवण; तीक्ष्ण, उष्ण, लघु; विदाही; तिलतैल, पिण्याक, कुलत्थ, सर्षप, अतसी, हरितक, शाक, गोधा, मत्स्य, आज-आविक-मांस, दधि, तक्र, कूर्चिका, मस्तु, सौवीरक, सुराविकार, अम्लफल, कट्वर आदि।[३]

१०. **कफप्रकोपण**– मधुर, अम्ल, लवण; शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल; अभिष्यन्दी; हायनक, यवक, नैषध, इत्कट, माष, महामाष, गोधूम, तिल-पिष्टविकार, दधि, दुग्ध, कृशरा, पायस, इक्षुविकार, आनूप एवं औदक मांस, वसा, बिस, मृणाल, कशेरुक, शृङ्गाटक, मधुरफल, वल्लीफल आदि।[४]

१. तद्यथा–रक्तशालिषष्टिककङ्कुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पककर्दमक-शकुनाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्रवोद्दालकश्यामाकगोधूमयववैणववैणहरिणकुरङ्गमृग-मातृकाश्वदंष्ट्राकरालक्रकरकपोतलावतित्तिरिकपिञ्जलवर्त्तीरवर्त्तिकामुद्गवनमुद्गमकुष्ठकलायमसूर-मङ्गल्यचणकहरेण्वाढकीसतीनाश्चिल्लिवास्तुकसुनिषण्णकजीवन्तीतण्डुलीयकमण्डूक-पर्ण्यः, गव्यं घृतं, सैन्धवं, दाडिमामलकमित्येष वर्गः सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः।
(सु० सू० २०.५)

२. ..कटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवारमुद्ग-मसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावा.....दिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते। (सु० सू० २१.१९)

३. ...कट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाक-गोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते। (सु० सू० २१.२१)

४. ...मधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेत्कटमाषमहामाष-गोधूमतिलपिष्टविकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरुक-शृङ्गाटकमधुरवल्लीफलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। (सु० सू० २१.२३)

११. **शोफहर**– मातुलुङ्ग, अग्निमन्थ, देवदारु, शुण्ठी, अहिंस्रा, रास्ना, दूर्वा, नलमूल, यष्टीमधु, चन्दन, अन्य शीतलद्रव्य, अजगन्धा, अश्वगन्धा, त्रिवृत् (श्वेत और श्याम), कर्कटशृङ्गी, लोध्र, हरीतकी, मदन, धन्वयास आदि।[१]

१२. **पाचन**– शण, मूलक, शिग्रु, तिल तथा सर्षप के फल, सक्तु, किण्व, अतसी आदि उष्ण द्रव्य।[२]

१३. **दारण**– चिरबिल्व, कलिहारी, दन्ती, चित्रक, करवीर, कपोत, कङ्क और गृध्र का पुरीष, क्षारद्रव्य आदि।[३]

१४. **प्रपीडन**– पिच्छिल द्रव्यों यथा शाल्मली आदि की त्वचा और मूल तथा यव, गोधूम और माष आदि का चूर्ण।[४]

१५. **शोधन**– शङ्खिनी, अङ्कोठ, जाती, करवीर, सुर्वचला, आरग्वधादिवर्ग, अजगन्धा, अजशृङ्गी, इन्द्रायण, लाङ्गली, पूतीक, चित्रक, पाठा, विडङ्ग, एला, हरेणु, त्रिकटु, यवक्षार, लवण, मनःशिला, कासीस, त्रिवृत्, दन्ती, हरिताल, मुलतानी मिट्टी, अर्कमूल, त्रिफला, स्नुहीक्षीर, हरिद्राद्वय, कुटकी, अपामार्ग, निम्ब, कोशातकी, तिल, बृहती, कण्टकारी, किण्व, वचा, पटोल, सालसारादिवर्ग।[५]

१६. **व्रणधूपन**– सालसारादिसार, राल, गन्धाबिरोजा, सरल, देवदारु।[६]

१. मातुलुङ्ग्यग्निमन्थौ च भद्रदारु महौषधम्। अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफजित्।।
दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा। शीतलाश्च गणाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत्।।
अजगन्धाऽश्वगन्धा च काला सरलया सह। एकैषिकाऽजशृङ्गी च प्रलेपः श्लेष्मशोफहृत्।।
एते वर्गास्त्रयो लोध्रं पथ्या पिण्डीतकानि च। अनन्ता चेति लेपोऽयं सान्निपातिकशोफहृत्।।
(सु० सू० ३७.३-४, ६-७)

२. शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः। सक्तवः किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम्।
(सु० सू० ३७.९)

३. चिरबिल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः। कपोतकङ्कगृध्राणां पुरीषणाणि च दारणम्।।
क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम्। (सु० सू० ३७.१०)

४. द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्। यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः।।
(सु० सू० ३७.११)

५. शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुर्वचलाः। शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः।।
अजगन्धाऽजशृङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाह्वया। पूतीकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः।।
कटुत्रिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला। कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा।।
....रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च। (सु० सू० ३७.१२-१४, २०)

६. श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि। सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम्।।
(सु० सू० ३७.२१)

१७. **रोपण**– शीतकषाय वृक्षों यथा न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष आदि की त्वचा, सोम, गुडूची, अश्वगन्धा, काकोल्यादिवर्ग, क्षीरीवृक्ष, लज्जालु, सरल, सोमवल्क, चन्दन, पृश्निपर्णी, कपिकच्छू, हरिद्राद्वय, मालती, श्वेतदूर्वा, तगर, अगर, देवदारु, प्रियङ्गु, रोध्र, कङ्गु, त्रिफला, कासीस, मुण्डितिका, धव, अश्वकर्ण, राल, पुष्पकासीस।[१]

१८. **उत्सादन**– अपामार्ग, अश्वगन्धा, मुशली, सूर्यावर्त तथा काकोल्यादिगण।[२]

१९. **अवसादन**– कासीस, सैन्धव, किण्व, पद्मराग, मन:शिला, कुकुटाण्डत्वक्, चमेली की कली, शिरीष तथा करञ्ज के फल, धातुओं के चूर्ण।[३]

२०. **निद्राजनन**– शालि, गोधूम, पिष्टान्न, इक्षुविकार, क्षीर, मांसरस, विशेषत: विलेशय और विष्किरों के मांसरस, द्राक्षा तथा मधुर-स्निग्ध भोजन, शिरस्तैल, अभ्यङ्ग आदि।[४]

२१. **निद्राहर**– वमन, विरेचन, लङ्घन, रक्तमोक्षण आदि।[५]

२२. **अपरापातन**– कुटुतुम्बी, कृतवेधन, सर्षप, सर्पनिर्मोक, लाङ्गली, स्नुही, कुष्ठ, शाल, पिप्पल्यादि वर्ग।[६]

२३. **स्तन्यजनन**– यव, गोधूम, शालि, षष्टिक, मांसरस, सुरा, सौवीरक,

१. कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणां त्वक्षु साधितम्। शृतं शीतकषायो वा रोपणार्थं प्रशस्यते।।
प्रियङ्गुका सर्जरस: पुष्पकासीसमेव च। त्वक्चूर्णं धवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते।।
(सु० सू० ३७.२२, २८)

२. अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला। उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गण:।।
(सु० सू० ३७.३०)

३. कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मन:शिला। कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च।।
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च। व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने।।
(सु० सू० ३७.३१-३२)

४. निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्। गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च।।
शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतै:। भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभि:।।
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च। द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि।।
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च। निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान्।।
(सु० शा० ४.४३-४६)

५. वमेन्निद्रातियोगे तु कुर्यात् संशोधनानि च। लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च।।
(सु० शा० ४.४७)

६. ...कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकै:....उत्तरबस्तिं दद्यात्। (सु० शा० १०.२१)

पिण्याक, लशुन, मत्स्य, कशेरुक, शृङ्गाटक, बिस, विदारीकन्द, यष्टीमधु, शतावरी, नलिका, अलाबू, कालशाक आदि।[१]

२४. **गर्भस्थापन**– जीवनीय, शीतवीर्य, उत्पलादि, तृणपञ्चमूल, सन्धानीय, न्यग्रोधादि, कशेरु, शृङ्गाटक, शालूक, यष्टीमधु, देवदारु, विदारी, रसाञ्जन, धातकीपुष्प, शाकबीज, क्षीरविदारी, अश्मन्तक, तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी, वन्दाक, प्रियङ्गु, सारिवा, रास्ना, भार्ङ्गी, बृहतीद्वय, गम्भारी, क्षीरीवृक्ष, पृश्निपर्णी, बला, शिग्रु, गोक्षुर, कपित्थ, बिल्व, पटोल, इक्षु।[२]

२५. **कुमाररसायन**– सुवर्ण, कुष्ठ, वचा, ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी, दूर्वा, मत्स्याक्षी, घृत, मधु।[३]

२६. **अर्श:शातन**– स्नुहीक्षीर, हरिद्रा, कुक्कुटपुरीष, गुञ्जा, पिप्पली, गोमूत्र, गोपित्त, दन्ती, चित्रक, सुवर्चिका, लाङ्गली, सैन्धव, कुष्ठ, शिरीषफल, अर्कक्षीर, कासीस, हरताल, सैन्धव, करवीर, विडङ्ग, पूतीक, कृतवेधन, जम्बू, उत्तमारणी।[४]

२७. **प्रेमहघ्न**–

(क) **सामान्य**– आमलक, हरिद्रा, त्रिफला, इन्द्रवारुणी, देवदारु, मुस्त,

१. अथास्या: क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याक-लशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिसविदारिकन्दमधुकशतावरीनालिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात्। (सु० शा० १०.३०)

२. तत्र पूर्वोक्तै: कारणै: पतिष्यति गर्भे....गर्भश्चाप्यायते। (सु० शा० १०.५७)
मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।।.....। एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति।।
(सु० शा० १०.५९-६५)

३. क्षीराहाराय सर्पि: पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्याऽपामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मी-पिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धं; तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति। (सु० शा० १०.४५)
सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा। मत्स्याक्षक: शङ्खपुष्पी मधु सर्पि: सकाञ्चनम्।।
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा। हेमचूर्णानि कैडर्य: श्वेता दूर्वा घृतं मधु।।
चत्वारोऽभिहिता: प्राशा: श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि। कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धना:।।
(सु० शा० १०.६८-७०)

४. स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेप: प्रथम:, कुक्कुटपुरीषगुञ्जाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्र-पित्तपिष्टो द्वितीय:, दन्तीचित्रकसुवर्चिकालाङ्गलीकल्को वा गोपित्तपिष्टस्तृतीय:, पिप्पली-सैन्धवकुष्ठशिरीषफलकल्क: स्नुहीक्षीरपिष्टोऽर्कक्षीरपिष्टो वा चतुर्थ:, कासीसहरिताल-सैन्धवाश्वमारकविडङ्गपूतीककृतवेधनजम्ब्वर्कोत्तमारणीदन्तीचित्रकालर्कस्नुहीपय:सु तैलं विपक्वमभ्यञ्जनेनार्श: शातयति। (सु० चि० ६.१२)

शाल, कम्पिल्लक, मुष्कक, कुटज, कपित्थ, रोहितक, बिभीतक, सप्तपर्ण, निम्ब, आरग्वध, मूर्वा, सोम, पलाश, प्रियङ्गु, अनन्तमूल, यूथिका, भार्ङ्गी, त्रायमाण, मञ्जिष्ठा, अम्बष्ठा, दाडिमत्वक्, शालपर्णी, पद्म, नागकेसर, पुन्नाग, धातकी, बकुल, शाल्मली, श्रीवेष्टक, मोचरस, शृङ्गाटक, गिलोड्य, बिस, मृणाल, काश, कशेरुक, मधुक, आम्र, जम्बू, असन, तिनिश, ककुभ, श्योनाक, रोध्र, भल्लातक, पलाश, चर्मिवृक्ष, अपराजिता, कर्पूर, जलवेतस, अजकर्ण, कुटज, राजादन, बदरी, विकंकत।[१]

(ख) **विशिष्ट**–

१. उदकमेह– पारिजात
२. इक्षुमेह– वैजयन्ती (तर्कारी)
३. सुरामेह– निम्ब
४. सिकतामेह– चित्रक
५. शनैर्मेह– खदिर
६. लवणमेह– पाठा, अगुरु, हरिद्रा
७. पिष्टमेह– हरिद्रा, दारुहरिद्रा
८. सान्द्रमेह– सप्तपर्ण
९. शुक्रमेह– दूर्वा, शैवाल, जलकुम्भी, करञ्ज, कशेरु, अर्जुन, चन्दन
१०. फेनमेह– त्रिफला, आरग्वध, द्राक्षा
११. नीलमेह– शालसारादि, अश्वत्थ
१२. हरिद्रामेह– आरग्वध
१३. अम्लमेह– न्यग्रोधादि
१४. क्षारमेह– त्रिफला
१५. मञ्जिष्ठामेह– मञ्जिष्ठा, चन्दन
१६. रक्तमेह– गुडूची, तिन्दुक, काश्मर्य, खर्जूर

१. ततः शुद्धदेहमामलकरसेन हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत्, त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्तकषायं वा, शालकम्पिल्लकमुष्ककककल्कमक्षमात्रं वा मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतं, कुटज-कपित्थरोहीतकबिभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा निम्बारग्वध.....अपहन्तारो व्याख्याताः।
(सु० चि० ११.८)
ततः प्रियङ्ग्वनन्तायूथिकापद्मात्रायन्तिकालोहितिकाऽम्बष्ठादाडिमत्वक्शालपर्णीपद्मतुङ्ग-केशरधातकीबकुलशाल्मलीश्रीवेष्टकमोचरसेष्वरिष्टानयस्कृतीर्लेहानासवांश्च कुर्वीत; शृङ्गाटकगिलोड्यबिसमृणालकाशकसेरुकमधुकाम्रजम्ब्वसननतिनिशककुभकट्वङ्गरोध्र-भल्लातकपलाशचर्मवृक्षगिरिकर्णिकाशीतशिवनिचुलदाडिमाजकर्णहरिवृक्षराजादनगोपघोण्टा-विकङ्कतेषु वा। (सु० चि० ११.१०)

१७. **सर्पिर्मेह**– कुष्ठ, कुटज, पाठा, हिंगु, कुटकी, गुडूची, चित्रक
१८. **वसामेह**– अग्निमन्थ, शिंशपा
१९. **मधुमेह**– श्वेतखदिर, पूगफल
२०. **हस्तिमेह**– तिन्दुक, कपित्थ, शिरीष, पलाश, पाठा, मूर्वा, दुरालभा आदि।[१]

२८. **दन्तशोधन**– नीम, खदिर, मधूक, करञ्ज, त्रिकटु, त्रिजात, सैन्धव, तैल, तेजोवती।[२]

२९. **मुखशोधन**– कर्पूर, जाती, कंकोल, लवङ्ग, कटुक, पूग, ताम्बूल।[३]

३०. **केशरञ्जन**– नीलिनी (पत्र), भृङ्गराज (पञ्चाङ्ग), अर्जुनत्वक्, मदनफल (कृष्ण), लौहचूर्ण, विजयसार (पुष्प), सैरेयक (पुष्प), त्रिफला, जम्बूपुष्प, अर्जुनपुष्प, गम्भारीपुष्प, तिल, आम्रास्थि, पुनर्नवाद्वय, कर्दम, कण्टकारी, कासीस, स्रोतोञ्जन, यष्टीमधु, नीलोत्पल, सारिवा, मल्लिका।[४]

३१. **वक्त्राभ्यङ्ग**– लाक्षा, लोध्र, हरिद्राद्वय, मनःशिला, हरताल, कुष्ठ, नाग, गैरिक, मञ्जिष्ठा, मुलतानी मिट्टी, पतङ्ग, रोचन, रसाञ्जन, तज, वटपत्र, कालीयक,

१. तत्रोदकमेहिनं पारिजातकषायं पाययेत्, इक्षुमेहिनं वैजयन्तीकषायं, सुरामेहिनं निम्बकषायं, सिकतामेहिनं चित्रककषायं, शनैर्मेहिनं खदिरकषायं, लवणमेहिनं पाठाऽगुरुहरिद्राकषायं, पिष्टमेहिनं हरिद्रादारुहरिद्राकषायं, सान्द्रमेहिनं सप्तपर्णकषायं, शुक्रमेहिनं दूर्वाशैवलप्लवहठकरञ्जकसेरुककषायं ककुभचन्दनकषायं वा, फेनमेहिनं त्रिफलारग्वध-मृद्वीकाकषायं कफजेषु मधुमधुरमिति; पैत्तिकेषु नीलमेहिनं शालसारादिकषायमश्वत्थकषायं वा पाययेत्, हरिद्रामेहिनं राजवृक्षकषायम्, अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं, क्षारमेहिनं त्रिफलाकषायं, मञ्जिष्ठामेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषायं, शोणितमेहिनं गुडूचीतिन्दु-कास्थिकाश्मर्यखर्जूरकषायं मधुमिश्रं; ....सर्पिर्मेहिनं कुष्ठकुटजपाठाहिङ्गुकटुरोहिणीकल्कं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेत्, वसामेहिनमग्निमन्थकषायं शिंशपाकषायं वा, क्षौद्रमेहिनं कदरक्रमुककषायं, हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वादुःस्पर्शाकषायं मधुमिश्रं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति। (सु० चि० ११.९)

२. निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा। मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा।।
क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैन्धवेन च। चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत्।।
(सु० चि० २४.६-७-)

३. कर्पूरजातिकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः। सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बूलजं शुभम्।।
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम्। हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम्।।
(सु० चि० २४.२१-२२)

४. नीलीदलं भृंगरजोऽर्जुनत्वक् पिण्डीतकं कृष्णमयोरजश्च।.....
मासोपरिष्टाद्घनकुञ्चिताग्राः केशा भवन्ति भ्रमराञ्जनाभाः।
केशास्तथाऽन्ये खलतौ भवेयुर्जरा न चैनं सहसाऽभ्युपैति।। (सु० चि० २५.२८,३६)

पद्मक, पद्मकेशर, चन्दनद्वय, पारद, काकोल्यादि, क्षीर, मेद, मज्जा, मोम, गोघृत, क्षीरीवृक्ष।[१]

३२. **अङ्गराग**– हरीतकीचूर्ण, निम्बपत्र, आम्रत्वक्, दाडिमपुष्पवृन्त, मदयन्तिकापत्र।[२]

३३. **वाजीकरण**– तिल, माष, विदारी, शालि, इक्षु, सैन्धव, वराहमेद, घृत, बस्ताण्ड, क्षीर, शिशुमारवसा, पिप्पली, यव, गोधूम, आमलक, कुलीर, कूर्म, नक्र के अण्ड; महिष, ऋषभ और बस्त का शुक्र; अश्वत्थ, उदुम्बर, कपिकच्छू, मूषिक, मण्डूक और चटक के अण्ड; इक्षुरक, उच्चटा, शतावरी, गोक्षुर, दुग्धवर्ग, मांसवर्ग, काकोल्यादि वर्ग।[३]

३४. **रसायन**–

(क) **बल्य**– विडङ्ग, काश्मर्य, बला, अतिबला, नागबला, विदारी, शतावरी, वाराहीकन्द, विजयसार, अग्निमन्थ, शणफल आदि।[४]

(ख) **मेध्य**– श्वेतवाकुची, चित्रकमूल, मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, हैमवती वचा, बिल्व, बिस, नीलोत्पल, सुवर्ण, वासा, प्रियङ्गु, पुत्रजीवक, यष्टीमधुक।[५]

(ग) **सौम्य (दिव्य)**– सोम,[६] श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही,

१. लाक्षा रोध्रं द्वे हरिद्रे शिलाले कुष्ठं नागं गैरिका वर्णकाश्च।
मञ्जिष्ठोग्रा स्यात् सुराष्ट्रोद्भवा च पत्तंगं वै रोचना चाञ्जनं च।।
हेमाङ्गत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम्।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदश्च काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः।।
मेदो मज्जा सिक्थकं गोघृतं च दुग्धं क्वाथः क्षीरिणाञ्च द्रुमाणाम्।
एतत् सर्वं पक्वमैकध्यतस्तु वक्त्राभ्यङ्गे सर्पिरुक्तं प्रधानम्।। (सु० चि० २५.३८-४०)

२. हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम्।
पत्रञ्च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः।। (सु० चि० २५.४३)

३. तिलमाषविदारीणां शालीनां चूर्णमेव वा। पौण्ड्रकेक्षुरसैरार्द्रं मर्दितं सैन्धवान्वितम्।।
वराहमेदसा युक्तां घृतेनोत्कारिकां पचेत्। तां भक्षयित्वा पुरुषो गच्छेत्तु प्रमदाशतम्।।
बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान्। शिशुमारवसापक्वाः शष्कुल्यस्तैस्तिलः कृताः।।
यः खादेत् स पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत्। पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे क्षीरसर्पिषा।।
साधिते भक्षयेद् यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम्। क्षीरमांसगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पूजितः।
वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत्।। (सु० चि० २६.१६-२०,३८)

४. (सु० चि० २७)

५. (सु० चि० २८)

६. ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः। दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्।।
(सु० चि० २९.१४)

कन्या, छत्रा, अतिछत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती।[१]

३५. **विष**–

(क) **स्थावर**–

अधिष्ठान	द्रव्य
१. मूल	क्लीतक, अश्वमार, गुञ्जा, सुगन्ध, गर्गरक, करघाट, विद्युच्छिखा, विजय
२. पत्र	विषपत्रिका, लम्बा, वरदारु, करम्भ, महाकरम्भ
३. फल	कुमुद्वती, वेणुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगन्धा, सर्पघाती, नन्दन, सरपाक
४. पुष्प	वेत्र, कादम्ब, वल्लीज, करम्भ, महाकरम्भ
५. त्वक् ६. सार ७. निर्यास	अन्त्रपाचक, कर्तरीय, सौरीयक, करघाट, करम्भ, नन्दन, नाराचक
८. क्षीर	कुमुदघ्नी, स्नुही, जालक्षीरी
९. धातु	फेनाश्म, हरताल
१०. कन्द	कालकूट, वत्सनाभ, सर्षप, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्तक, शृङ्गीविष, प्रपुण्डरीक, मूलक, हालाहल, महाविष, कर्कटक।[२]

१. अजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणुः, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती, चेत्यष्टादश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः। (सु० चि० ३०.५)

२. तत्र, क्लीतकाश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि; विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भ-महाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि; वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि; अन्त्रपाचककर्तरीय-सौरीयककरघाटकरम्भनन्दननाराचकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि; कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि; फेणाश्म(भस्म) हरितालं च द्वे धातुविषे; कालकूटवत्सनाभसर्षपपालक-कर्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गीविषप्रपुण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि; इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति। (सु० क० २.५)

(ख) **जाङ्गम–**

अधिष्ठान	जन्तु
१. दृष्टि, २. नि:श्वास	दिव्य सर्प
३. दंष्ट्रा	भौम सर्प, मार्जार, कुक्कुर, वानर, मकर, मण्डूक, पाकमत्स्य, गोधा, शम्बूक, प्रचलाक, गृहगोधिका, चतुष्पाद, कीट आदि।
४. नख	भौमसर्प के अतिरिक्त सभी दंष्ट्राविष
५. मूत्र, ६. पुरीष	चिपिट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्च:कीट, कौडिन्यक, लूता, चित्रशिर, सरावकुर्दि, शतदारुक, अरिमेदक, शारिकामुख
७. शुक्र	मूषिक, लूता
८. लाला	लूता
९. आर्तव	लूता
१०. मुखसन्दंश	लूता, मक्षिका, कणभ, जलायु, चित्रशिर, सरावकुर्दि, शतदारुक, अरिमेदक, शारिकामुख
११. विशार्धित	लूता आदि चार के अतिरिक्त उपर्युक्त चित्रशिर आदि
१२. तुण्ड	सूक्ष्मतुण्ड, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी, शूकवलभिका, शृङ्गी, भ्रमर
१३. अस्थि	विषहत, सर्पकण्टक, वरटी, मत्स्यास्थि
१४. पित्त	शकुली, मत्स्य, रक्तराजि, वरटी मत्स्यास्थि
१५. शूक	उपर्युक्त तुण्डविष तथा वृश्चिक, विश्वम्भर, राजीव, मत्स्य, समुद्रवृश्चिक
१६. शव	मृत कीट और सर्प।[१]

१. तत्र, दृष्टिनि:श्वासविषा दिव्याः सर्पाः, भौमास्तु दंष्ट्राविषाः, मार्जारश्वानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः, चिपिटपिच्चिटककषायवासिकसर्षपकतोटकवर्च:कीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः, लूता लालामूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्तवविषाः, वृश्चिकविश्वम्भरवरटीराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गाः समुद्रवृश्चिकाश्चाल(र)विषाः, चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसन्दंशविशार्धितमूत्रपुरीषविषाः, मक्षिकाकणभजलायुका मुखसन्दंशविषाः, विषहतास्थि सर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि, शकुलीमत्स्यरक्तराजिवरकी(टी)मत्स्याश्च पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटीशतपदीशूकवलभिकाशृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः, कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः; शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः। (सु० क० ३.५)

३६. **एकसर (विषघ्न)**– सोमराजी फल और पुष्प, कटभी, सिन्धुवार, चोरपुष्पी, वरुण, कुष्ठ, सर्पगन्धा, सप्तला, पुनर्नवा, शिरीषपुष्प, आरग्वध और अर्कपुष्प, श्यामालता, पाठा, आम्र, विडङ्ग, अश्मन्तक, काली मिट्टी, कुरवक।[१]

३७. **चक्षुष्य**– पुराणघृत, त्रिफला, शतावरी, पटोल, आमलक, मुद्ग, यव, घृत, जीवन्ती, सुनिषण्णक, तण्डुलीय, वास्तूक, चिल्ली, मूलकपोतिका, शाकुन और जाङ्गल मांसरस, पटोल, कर्कोटक, कारवेल्ल, वार्ताक, अरणी, करीर के शाक, शिग्रु और आर्तगल।[२]

३८. **अग्र्यवर्ग**–

वर्ग	द्रव्य
शूकधान्य	यव, गोधूम, रक्तशालि, षष्टिक
वैदल	मुद्ग, आढकी, मसूर
मांस	लाव, तित्तिर, कुरङ्ग, सारङ्ग, एण, कपिञ्जल, मयूर, वर्मि, कूर्म।
फल	दाडिम, आमलक, द्राक्षा, खर्जूर, परूषक, राजादन, मातुलुङ्ग।
शाक	जीवन्ती, सतीन, वास्तुक, चुञ्चु, चिल्ली, मूलकपोतिका, मण्डूकपर्णी।

वर्ग	द्रव्य	वर्ग	द्रव्य
क्षीर	गव्य	घृत	गव्य
लवण	सैन्धव	अम्ल	धात्री, दाडिम
कटु	पिप्पली, शुण्ठी	तिक्त	पटोल, वार्ताक
मधुर	घृत	कषाय	मधु, पूग, परूषक
इक्षुविकार	शर्करा	पान	मधु, आसव[३]

१. सोमराजीफलं पुष्पं कटभी सिन्धुवारकः। चोरको वरुणः कुष्ठं सर्पगन्धा ससप्तला।।
पुनर्नवा शिरीषस्य पुष्पमारग्वधार्कजम्। श्यामाऽम्बष्ठाविडङ्गानि तथाऽऽम्राश्मन्तकानि च।।
भूमी कुरबकश्चैव गण एकसरः स्मृतः। (सु० क० ५.८४-८५-)

२. घृत पुराणं त्रिफलां शतावरीं पटोलमुद्गामलकं यवानपि।
निषेवमाणस्य नरस्य यत्नतो भयं सुघोरात्तिमिरान्न विद्यते।।
जीवन्तिशाकं सुनिषण्णकं च सतण्डुलीयं वरवास्तुकं च।
चिल्ली तथा मूलकपोतिका च दृष्टेर्हितं शाकुनजाङ्गलं च।।
पटोलकर्कोटककारवेल्लवार्ताकुतर्कारिकरीरजानि।
शाकानि शिग्र्वार्तगलानि चैव हितानि दृष्टेर्घृतसाधितानि।। (सु० उ० १७.४८,५०-५१)

३. षष्टिका यवगोधूमा लोहिता ये च शालयः। मुद्गाढकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः।।
लावतित्तिरिसारङ्गकुरङ्गैणकपिञ्जलाः। मयूरवर्मिकूर्माश्च श्रेष्ठा मांसगणेष्विह।। क्रमशः...

चरक और सुश्रुत का कर्मात्मक वर्गीकरण- एक तुलनात्मक समीक्षा

कर्मात्मक वर्गीकरण में चरक और सुश्रुत की शैली का तुलनात्मक अध्ययन करने से दो बातें स्पष्टत: लक्षित होती हैं। एक तो यह कि चरक ने द्रव्यों का वर्गीकरण सामान्य पद्धति (Inductive method) से किया है और सुश्रुत ने इसके लिए विशेषपद्धति (Deductive method) का आश्रय लिया है। वैज्ञानिक अध्ययन का वास्तविक क्रम भी यही है। पहले विशिष्ट द्रव्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्त बनते हैं और पुन: इन सिद्धान्तों का प्रयोग विशिष्ट द्रव्यों पर होता है। चरक ने सामान्य पद्धति से विभिन्न द्रव्यों के कर्मों का अध्ययन कर उनके सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त निरूपित किये और उन्हीं के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण किया। वर्गों का नामकरण भी इसीलिए सामान्य कर्मों के अनुसार ही हुआ है यथा जीवनीय, बृंहणीय आदि। सुश्रुत के काल तक चरक के सामान्य सिद्धान्त तथा तदाश्रित वर्ग पर्याप्त प्रचलन पा चुके थे, अत: सुश्रुत की दृष्टि सिद्धान्तों के विशिष्ट प्रयोग (Deduction) की ओर अधिक रही। उन्होंने उन सामान्य वर्गों में आने वाले विशिष्ट द्रव्यों के सम्बन्ध में अधिक चिन्तन किया फलत: सुश्रुत के वर्गीकरण में वर्गों का नामकरण द्रव्यों के आधार पर मिलता है यथा पिप्पल्यादि, बृहत्यादि प्रभृति। औषध द्रव्यों की संख्या भी सुश्रुतोक्त वर्गों में इसीलिए अधिक आई है जबकि चरक ने प्रत्येक वर्ग में केवल सङ्केत के लिए दस-दस द्रव्यों के नाम गिना दिये हैं।

दूसरा अन्तर यह प्रतीत होता है कि सम्प्रदायभेद से चरक और सुश्रुत ने अपने-अपने सम्प्रदाय के लिए उपयोगी द्रव्यों तथा वर्गों का विवेचन अधिक किया है; उदाहरणार्थ- चरक में पञ्चकर्म के उपयोगी (वमन, विरेचन आदि) तथा सहायक (वमनोपग, विरेचनोपग आदि) द्रव्यों तथा वर्गों का विस्तृत विचार किया गया है। आस्थापन वर्ग का तो रसभेद से ६ स्कन्धों में बड़े विस्तार से चरकसंहिता विमानस्थान के ८वें अध्याय में किया गया है। इन वर्गों का इतना विशद विवेचन सुश्रुत में नहीं मिलता किन्तु इनके बदले हम देखते हैं कि शल्यतन्त्र तथा शालाक्यतन्त्र में उपयोगी द्रव्यों और वर्गों का वहाँ सुविस्तृत विवेचन किया गया है यथा विस्लापन, पाचन, दारण, रोपण आदि। पञ्चमूलों में शल्योपयोगी वल्लीपञ्चमूल तथा कण्टकपञ्चमूल का वर्णन है। इसका कारण यह है कि चरक

दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूषकम्। राजादनं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते।।
सतीनो वास्तुकश्चुच्चूचिल्लीमूलकपोतिका:। मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गे प्रशस्यते।।
गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठं, सैन्धवं लवणेषु च। धात्रीदाडिममम्लेषु, पिप्पली नागरं कटौ।।
तिक्ते पटोलवार्ताकं, मधुरे घृतमुच्यते। क्षौद्रं, पूगफलं श्रेष्ठं कषाये सपरूषकम्।।
शर्करेक्षुविकारेषु, पाने मध्वासवौ तथा। (सु० सू० ४६.३३२-३३७-)

कायचिकित्सा-सम्प्रदाय तथा सुश्रुत शल्य-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इसके अतिरिक्त, चरकोक्त महाकषायों में एक-दो पार्थिक द्रव्य (मृत्कपाल और गैरिक) का ही समावेश है किन्तु सुश्रुत ने धातुओं के लिए एक विशिष्ट गण त्रप्वादि तथा पार्थिव द्रव्यों के लिए ऊषकादि निर्धारित किया है। अत: आयुर्वेदीय द्रव्यों का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए दोनों संहिताओं का अवलोकन आवश्यक है।

चरक और सुश्रुत के वर्गों में कितनी समानता है यह निम्नाङ्कित तालिका से स्पष्ट होगा। दोनों ही के वर्गीकरण कर्मानुसार हैं।[१]

चरकोक्त वर्ग	सुश्रुतोक्त गण	चरकोक्त वर्ग	सुश्रुतोक्त गण
१. जीवनीय	काकोल्यादि	१५. कृमिघ्न	सुरसादि, लाक्षादि
२. बृंहणीय	विदारिगन्धादि		
३. लेखनीय	मुस्तादि	१६. विषघ्न	रोध्रादि, आरग्वधादि, अर्कादि, अञ्जनादि
४. भेदनीय	श्यामादि		
५. सन्धानीय	अम्बष्ठादि, प्रियंग्वादि		
६. दीपनीय	पिप्पल्यादि	१७. स्तन्यजनन	काकोल्यादि
७. बल्य	लघुपञ्चमूल	१८. स्तन्यशोधन	मुस्तादि, वचादि, हरिद्रादि
८. वर्ण्य	एलादि		
९. कण्ठ्य			
१०. हृद्य	परूषकादि	१९. शुक्रजनन	काकोल्यादि
११. तृप्तिघ्न	पटोलादि	२०. शुक्रशोधन	वल्लीपञ्चमूल, कण्टकपञ्चमूल
१२. अर्शोघ्न	मुष्ककादि		
१३. कुष्ठघ्न	आरग्वधादि, सालसारादि, अर्कादि, लाक्षादि	२१. स्नेहोपग	
		२२. स्वेदोपग	
		२३. वमनोपग	
		२४. विरेचनोपग	परूषकादि
१४. कण्डूघ्न	एलादि, आरग्वधादि	२५. आस्थापनोपग	
		२६. अनुवासनोपग	

क्रमश:..

१. अत्र वर्गशब्देन प्रकरणात् समानक्रियाणां समूह उच्यते....समानकार्या वर्गा:।
(सु० सू० ३६.३३-चक्र०)
व्याधिप्रशमनादौ कार्ये येषां भेषजानां क्षमत्वं तानि वर्गीकृत्याभिधातुं द्रव्यसंग्रहणीय उच्यते।
(सु० सू० ३८.१-२-चक्र०)

चरकोक्त वर्ग	सुश्रुतोक्त गण	चरकोक्त वर्ग	सुश्रुतोक्त गण
२७. शिरोविरेचनोपग		४०. श्रमहर	परूषकादि
२८. छर्दिनिग्रहण	न्यग्रोधादि	४१. दाहप्रशमन	सारिवादि, अञ्जनादि, उत्पलादि
२९. तृष्णानिग्रहण	गुडूच्यादि, उत्पलादि, सारिवादि, परूषकादि	४२. शीतप्रशमन	पिप्पल्यादि, सुरसादि
३०. हिक्कानिग्रहण	बृहत्यादि, विदारिगन्धादि	४३. उदर्दप्रशमन	सालसारादि
३१. पुरीषसङ्ग्रहणीय	रोध्रादि, प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि	४४. अङ्गमर्दप्रशमन	विदारिगन्धादि
३२. पुरीषविरजनीय	न्यग्रोधादि	४५. शूलप्रशमन	पिप्पल्यादि
३३. मूत्रसङ्ग्रहणीय	न्यग्रोधादि, सालसारादि	४६. शोणितस्थापन	प्रियंग्वादि, अञ्जनादि
३४. मूत्रविरेचनीय	तृणपञ्चमूल, वीरतर्वादि	४७. वेदनास्थापन	रोध्रादि
३५. मूत्रविरजनीय	उत्पलादि	४८. संज्ञास्थापन	प्रियंग्वादि
३६. कासहर	विदारिगन्धादि	४९. प्रजास्थापन	विदारिगन्धादि, काकोल्यादि
३७. श्वासहर	पिप्पल्यादि, सुरसादि	५०. वयःस्थापन	काकोल्यादि, विदारिगन्धादि
३८. शोथहर	दशमूल	५१. वमन	ऊर्ध्वभागहर
३९. ज्वरहर	सारिवादि, पटोलादि, आमलक्यादि	५२. विरेचन	अधोभागहर
		५३. शोधन	उभयतोभागहर

वैज्ञानिक दृष्टिकोण– जिस प्रकार चरक ने वर्गों के सम्बन्ध में यह कहा कि इससे द्रव्यों या वर्गों की इयत्ता नहीं समझनी चाहिए और बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि इस आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से अनुक्त द्रव्यों तथा वर्गों का भी विवेचन और व्यवहार करें।[१] उसी प्रकार सुश्रुत ने भी गणोक्त (वर्गोक्त) द्रव्यों के सम्बन्ध में कहा है कि

१. ....एतावन्तो ह्यालमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलाना-मनुक्तार्थज्ञानाय। (च० सू० ४.२०)

आवश्यकतानुसार समस्त, पृथक् या भिन्न गण का प्रयोग करना चाहिए।[१]

इसके अतिरिक्त, आचार्यों का यह भी उपदेश है कि गण का यदि कोई द्रव्य स्थान विशेष में अनुपयोगी हो तो उसे हटा दें और अन्य उपयोगी द्रव्यों को उसमें मिला दें।[२] यह प्राचीन आचार्यों की वैज्ञानिकता और उदारता का द्योतक है।

*

१. समीक्ष्य दोषभेदांश्च भिन्नान् मिश्रान् प्रयोजयेत्।
पृथङ्मिश्रान् समस्तान् वा गणं वा व्यस्तसंहतम्।। (सु० सू० ३८.८२)
समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथापि वा।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु।। (सु० सू० ३७.३३)

२. गणोक्तमपि यद् द्रव्यं भवेद् व्याधावयौगिकम्।
तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदप्यकीर्तितम्। (सु० चि० १.१३७)
त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः।
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम्।। (अ० ह्० सू० १५.४६)
भिषग् बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद्द्रव्यमयौगिकं मन्येत, तत्तदपकर्षयेत्; यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं मन्येत, तत्तद्विदध्यात्; वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य।।
(च० वि० ८.१४९)

सप्तम अध्याय

वाग्भटोक्त वर्गीकरण

अष्टाङ्गहृदय

वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय (सू० १५) में द्रव्यों के ३३ वर्ग निर्धारित किये हैं।[१] इनमें चार संशोधन (वमन, विरेचन, निरूहण और शिरोविरेचन) तथा तीन संशमन (वात संशमन, पित्त संशमन और कफ संशमन) के वर्ग हैं। प्रथम वर्ग मदनादि होने से यह पूरा वर्गीकरण 'मदनादि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस पर चन्द्रनन्दन ने 'मदनादि निघण्टु' की रचना की। शेष २६ वर्गों में प्रथम वर्ग जीवनीय चरक का है और द्वितीय से अन्तिम श्यामादि वर्ग पर्यन्त सुश्रुत के।

ये ३३ वर्ग निम्नाङ्कित रूप में निर्धारित हैं–

१. **वमन**– मदन, मधुक, कटुतुम्बी, निम्ब, बिम्बी, विशाला, त्रपुस, कुटज, मूर्वा, देवदाली, कृमिघ्न, विदुल, चित्रक, चित्रा, कोशातकी, राजकोशातकी, करञ्ज, पिप्पली, लवण, वचा, एला और सर्षप।[२]

२. **विरेचन**– दन्ती, त्रिवृत्, त्रिफला, इन्द्रायण, स्नुही, शङ्खिनी, नीलिनी, तिल्वक, आरग्वध, कम्पिल्लक, स्वर्णक्षीरी, दुग्ध और मूत्र।[३]

३. **निरूहण**– मदन, कुटज, कुष्ठ, देवदाली, मधुक, वचा, दशमूल, देवदारु, रास्ना, यव, शतपुष्पा, कोशातकी, कुलत्थ, मधु, लवण और त्रिवृत्।[४]

४. **शिरोविरेचन**– विडङ्ग, अपामार्ग, त्रिकटु, दारुहरिद्रा, सर्जरस; शिरीष, बृहती और शिग्रु के बीज; मधूकसार, सैन्धव, रसाञ्जन, एला, बृहदेला, पृथ्वीका।[५]

---

१. त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ताः वर्गाः.....। (अ० हृ० सू० १५.४६)

२. मदनमधुकलम्बानिम्बबिम्बीविशालात्रपुसकुटजमूर्वादेवदालीकृमिघ्नम्।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करञ्जः कणलवणवचैलासर्षपाश्च्छर्दनानि।।
(अ० हृ० सू० १५.१)

३. निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षीस्नुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि।
शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचानि। (अ० हृ० सू० १५.२)

४. मदनकुटजकुष्ठदेवदालीमधुकवचादशमूलदारुरास्नाः।
यवमिशिकृतवेधनं कुलत्था मधु लवणं त्रिवृता निरूहणानि।। (अ० हृ० सू० १५.३)

५. वेल्लापामार्गव्योषदार्वीसुराला बीजं शैरीषं बार्हतं शैग्रवं च।
सारो मधूकः सैन्धवं तार्क्ष्यशैलं त्रुट्यौ पृथ्वीका शोधयन्त्युत्तमाङ्गम्।। (अ० हृ० सू० १५.४)

५. **वातसंशमन**– देवदारु, तगर, कुष्ठ, दशमूल, बला, अतिबला, वीरतरादिगण, विदार्यादिगण।[१]

६. **पित्तसंशमन**– दूर्वा, अनन्ता, निम्ब, वासा, कपिकच्छू, गुन्द्रा, शतावरी, शीतपाकी, प्रियङ्गु, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कमल, वन्य, न्यग्रोधादिगण, पद्मकादिगण, सारिवादिगण।[२]

७. **कफसंशमन**– आरग्वधादिगण, अर्कादिगण, मुष्ककादिगण, असनादिगण, सुरसादिगण, मुस्तादिगण, वत्सकादिगण।[३]

८. **जीवनीय**– जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, ऋषभक, जीवक, मधुक।[४]

९. **विदार्यादि**– विदारी, एरण्ड, वृश्चिकाली, पुनर्नवा, सहदेवा, विश्वदेवा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, कपिकच्छू, जीवनपञ्चमूल, ह्रस्वपञ्चमूल, सारिवा, हंसपादी।[५]

१०. **सारिवादि**– सारिवा, उशीर, गम्भारी, मधूक, शिशिरद्वय (श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन), मधुयष्टी, परूषक।[६]

११. **पद्मकादि**– पद्मक, पुण्ड्रक, वृद्धि, तुगाक्षीरी, ऋद्धि, कर्कटशृङ्गी, गुडूची, दश जीवनीय वर्ग के द्रव्य।[७]

१२. **परूषकादि**– परूषक, त्रिफला, द्राक्षा, कट्फल, कतकफल, राजाह्व, दाडिम, शाक।[८]

---

१. भद्रदारु नतं कुष्ठं दशमूलं बलाद्वयम्। वायुं वीरतरादिश्च विदार्यादिश्च नाशयेत्।।
(अ० हृ० सू० १५.५)

२. दूर्वाऽनन्ता निम्बवासाऽऽत्मगुप्ता गुन्द्राऽभीरुः शीतपाकी प्रियङ्गुः।
न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरे द्वे पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम्।। (अ० हृ० सू० १५.६)

३. आरग्वधादिरर्कादिमुष्ककाद्योऽसनादिकः। सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्बलासजित्।।
(अ० हृ० सू० १५.७)

४. जीवन्ती काकोल्यौ मेदे द्वे मुद्गमाषपर्ण्यौ च। ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः।।
(अ० हृ० सू० १५.८)

५. विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकालीवृश्चीवदेवाद्वयशूर्पपर्ण्यः।
कण्डूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे द्वे पञ्चके गोपसुता त्रिपादी।। (अ० हृ० सू० १५.९)

६. सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम्। यष्टी परूषकं....।। (अ० हृ० सू० १५.११)

७. पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगर्द्धर्यः शृङ्ग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः।। (अ० हृ० सू० १५.१२)

८. परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात् फलम्। राजाह्वं दाडिमं शाकं...।।
(अ० हृ० सू० १५.१३)

१३. **अञ्जनादि**– अञ्जन, प्रियङ्गु, जटामांसी, पद्म, उत्पल, रसाञ्जन, एला, मधुक, नागकेशर।[१]

१४. **पटोलादि**– पटोल, कटुका, चन्दन, मधुस्रवा, गुडूची, पाठा।[२]

१५. **गुडूच्यादि**– गुडूची, पद्मक, निम्ब, धान्यक, रक्तचन्दन।[३]

१६. **आरग्वधादि**– आरग्वध, इन्द्रयव, पाटला, काकतिक्ता, निम्ब, गुडूची, मधुरसा, विकङ्कत, पाठा, भूनिम्ब, सैर्यक, पटोल, करञ्जयुग्म (करञ्ज, चिरबिल्व), सप्तपर्ण, चित्रक, सुषवी, फल (मदनफल), बाण (नील सैर्यक), घोण्टा (बदरभेद)।[४]

१७. **असनादि**– असन (विजयसार), तिनिश, भूर्ज, अर्जुन, चिरबिल्व, खदिर, कदर, भण्डी, शिंशपा, मेषशृङ्गी, त्रिहिम (श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, कालीयक), ताल, पलाश, अगुरु, शाक, शाल, क्रमुक, धव, कलिङ्ग, छागकर्ण, अश्वकर्ण।[५]

१८. **वरुणादि**– वरुण, सैर्यकयुग्म (सैर्यक, नीलपुष्प सैर्यक), शतावरी, चित्रक, मोरट, बिल्व, अजशृङ्गी, बृहतीद्वय (बृहती, कण्टकारी), करञ्जद्वय (करञ्ज, चिरबिल्व), जयाद्वय (अग्निमन्थ, तर्कारी), बहलपल्लव (शिग्रु), दर्भ, रुजाकर (आर्तगल)।[६]

१९. **ऊषकादि**– ऊषक (क्षारविशेष), तुत्थक, हिङ्गु, कासीसद्वय, सैन्धव, शिलाजतु।[७]

२०. **वीरतरादि**– वेल्लन्तर, अग्निमन्थ, बूक (ईश्वरमल्लिका), वृष, पाषाणभेद, गोकण्टक (गोक्षुर), इत्कट, सैर्यक, बाण (नीलपुष्प सैर्यक), काश, वन्दाक, नल, कुशद्वय (कुश, दर्भ), गुण्ठ, गुन्द्रा, श्योनाक, मोरट, कुरण्ट (सितिवारक), करम्भ, पार्था (सुवर्चला-अ० द०)।[८]

---

१. अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसाञ्जनम्। सैलामधुकनागाह्वं...। (अ० ह० सू० १५.१४)

२. पटोलकटुरोहिणीचन्दनं मधुस्रवागुडूचिपाठान्वितम्। (अ० ह० सू० १५.१५)

३. गुडूचीपद्मकारिष्टधान्यकारक्तचन्दनम्। (अ० ह० सू० १५.१६)

४. आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्तानिम्बामृतामधुरासास्रुववृक्षपाठाः।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्मसप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः।।
(अ० ह० सू० १५.१७)

५. असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः खदिरकदरभण्डीशिंशपामेषशृङ्ग्यः।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ क्रमुकधवकलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः।।
(अ० ह० सू० १५.१९)

६. वरुणसैर्यकयुग्मशतावरीदहनमोरटबिल्वविषाणिकाः।
द्विबृहतीद्विकरञ्जजयाद्वयं बहलपल्लवदर्भरुजाकराः।। (अ० ह० सू० १५.२१)

७. ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम्। सशिलाजतु.... (अ० ह० सू० १५.२३)

८. वेल्लन्तरारणिकबूकवृषाश्मभेदगोकण्टकेत्कटसहचरबाणकाशाः।
वृक्षादनीनलकुशद्वयगुण्ठगुन्द्राभल्लूकमोरटकुरण्टकरम्भपार्थाः।। (अ० ह० सू० १५.२४)

२१. **रोध्रादि**– रोध्र, शाबररोध्र, पलाश, जिङ्गिणी, सरल, कट्फल, युक्ता (रास्ना), कदम्ब, कदली, अशोक, एलवालुक, परिपेलव, मोचा (शल्लकी)।[१]

२२. **अर्कादि**– अर्क, अलर्क, नागदन्ती, विशल्या (कलिहारी), भार्ङ्गी, रास्ना, वृश्चिकाली, प्रकीर्य (चिरबिल्व), अपामार्ग, पीततैला (ज्योतिष्मती), उदकीर्य (करञ्ज), श्वेतायुग्म (श्वेता, महाश्वेता), इङ्गुदी।[२]

२३. **सुरसादि**– सुरसयुग (कृष्ण तुलसी, श्वेत तुलसी), फणिज्झक, कालमाला, विडङ्ग, खरबुस, मूषाकर्णी, कट्फल, कासमर्द, क्षवक (छिक्किका), सरसी (कपित्थपर्णी), भार्ङ्गी, कार्मुका, काकमाची, कुलहल (मुण्डी), विषमुष्टी, भूस्तृण, भूतकोशी।[३]

२४. **मुष्ककादि**– मुष्कक, स्नुही, त्रिफला, चित्रक, पलाश, धव, शिंशपा।[४]

२५. **वत्सकादि**– कुटज, मूर्वा, भार्ङ्गी, कटुका, मरिच, अतिविषा, गण्डीर, एला, पाठा, अजाजी (कृष्णाजीरक), कट्वङ्गफल, अजमोद, सर्षप, वचा, जीरक, हिङ्गु विडङ्ग, अजगन्धा, पञ्चकोल।[५]

२६. **वचादि**– वचा, मुस्तक, देवाह्व (देवदारु), शुण्ठी, अतिविषा, हरीतकी।[६]

२७. **हरिद्रादि**– हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मधुयष्टी, पृश्निपर्णी, इन्द्रयव।[७]

२८. **प्रियङ्ग्वादि**– प्रियङ्गुपुष्प, अञ्जनयुग्म (रसाञ्जन, स्रोतोञ्जन), पद्मा, पद्मकेशर, मञ्जिष्ठा, अनन्ता, मानद्रुम, मोचरस, समङ्गा (लज्जालु), पुन्नाग, चन्दन, धातकी।[८]

---

१. रोध्रशाबरकरोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ताः।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः सैलवालुपरिपेलवमोचाः।। (अ० ह० सू० १५.२६)

२. अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः।। (अ० ह० सू० १५.२८)

३. सुरसयुगफणिज्जं कालमाला विडङ्गं खरबुसवृषकर्णीकट्फलं कासमर्दः।
क्षवकसरसिभार्ङ्गीकार्मुकाः काकमाची कुलहलविषमुष्टीभूस्तृणो भूतकेशी।।
(अ० ह० सू० १५.३०)

४. मुष्ककस्नुग्वराट्टीपिपलाशधवशिंशपाः। (अ० ह० सू० १५.३२)

५. वत्सकमूर्वाभार्ङ्गीकटुका मरीचं घुणप्रिया च गण्डीरम्।
एला पाठाऽजाजी कट्वङ्गफलाजमोदसिद्धार्थवचाः।।
जीरकहिङ्गुविडङ्गं पशुगन्धा पञ्चकोलं...। (अ० ह० सू० १५.३३-)

६. वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाभयाः। (अ० ह० सू० १५.३५)

७. हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः। (अ० ह० सू० १५.३५)

८. प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्माः पद्माद्रजो योजनवल्ल्यनन्ता।
मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः।। (अ० ह० सू० १५.३७)

२९. **अम्बष्ठादि**– अम्बष्ठा, मधुक, लज्जालु, नन्दीवृक्ष, पलाश, कच्छुरा, रोध्र, धातकी, बिल्वमज्जा, कट्वङ्ग, कमलकेशर।[१]

३०. **मुस्तादि**– मुस्ता, वचा, चित्रक, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, द्वितिक्ता (कटुका, काकतिक्ता), भल्लातक, पाठा, त्रिफला, अतिविषा, कुष्ठ, एला, हैमवती (श्वेत वचा)।[२]

३१. **न्यग्रोधादि**– न्यग्रोध, अश्वत्थ, सदाफल (उदुम्बर), रोध्र, शाबररोध्र, जम्बूद्वय (जम्बू, काकजम्बू), अर्जुन, कपीतन, सोमवल्क, प्लक्ष, आम्र, वेतस, प्रियाल, पलाश, नन्दी (वृक्ष), बदरी, कदम्ब, विरला (तिन्दुकी), मधुयष्टी, मधूक।[३]

३२. **एलादि**– एलायुग्म (सूक्ष्मैला, स्थूलैला), तुरुष्क, कुष्ठ, फलिनी, जटामांसी, जल (सुगन्धबाला), ध्यामक (रोहिष), स्पृक्का, चोरक, चोच, पत्र, तगर, स्थौणेयक, जातीरस, शुक्ति (नख), व्याघ्रनख, देवदारु, अगुरु, श्रीवासक, केशर, चण्डा, गुग्गुलु, सर्जरस, खपुर (कुन्दुरु), पुन्नागकेशर, नागकेशर।[४]

३३. **श्यामादि**– श्यामा, दन्ती, द्रवन्ती, क्रमुक, कुटरणा (श्वेत त्रिवृत्), शङ्खिनी, सप्तला, स्वर्णक्षीरी, गवाक्षी, शिखरी, रजनक (कम्पिल्लक), गुडूची, करञ्ज, बस्तान्त्री, आरग्वध, बहल (शिग्रु), बहुरस, तीक्ष्णवृक्ष (पीलु) का फल।[५]

वाग्भटोक्त ३३ वर्गों के कर्म एवं प्रयोग

सं०	वर्ग	कर्म एवं प्रयोग
१.	**वमन**	वमन
२.	**विरेचन**	विरेचन

१. अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः।
रोध्रं धातकिबिल्वपेशिके कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः।। (अ० ह० सू० १५.३८)

२. मुस्तावचाग्निद्विनिशाद्वितिक्ताभल्लातपाठात्रिफलाविषाख्याः।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च... (अ० ह० सू० १५.४०)

३. न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्मं जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दीकोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम्।।
(अ० ह० सू० १५.४१)

४. एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामकं
स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरुः श्रीवासकः कुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयम्।। (अ० ह० सू० १५.४३)

५. श्यामादन्तीद्रवन्तीक्रमुककुटरणाशङ्खिनीचर्मसाह्वा-
स्वर्णक्षीरीगवाक्षीशिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरञ्जाः।
बस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात् फलानि।। (अ० ह० सू० १५.४५)

सं०	वर्ग	कर्म एवं प्रयोग
३.	**निरूहण**	वातशोधन
४.	**शिरोविरेचन**	शिरःशोधन
५.	**वातशमन**	वातशमन
६.	**पित्तशमन**	पित्तशमन
७.	**कफशमन**	कफशमन
८.	**जीवनीय**	जीवनीय
९.	**विदार्यादि**	वातपित्तशामक, हृद्य, बृंहण; शोष, गुल्म, अङ्गमर्द, श्वास, कास हर।[१]
१०.	**सारिवादि**	दाहप्रशमन, रक्तपित्त, तृष्णा, ज्वरहर।[२]
११.	**पद्मकादि**	वातपित्तशामक, स्तन्यजनन, प्रीणन, जीवन, बृंहण, वृष्य।[३]
१२.	**परूषकादि**	वातशामक, तृष्णा, मूत्रविकार नाशक।[४]
१३.	**अञ्जनादि**	पित्तशमक, विषघ्न, अन्तर्दाहहर।[५]
१४.	**पटोलादि**	कफपित्तहर, कुष्ठ, ज्वर, विष, वमन, अरुचि, कामला नाशक।[६]
१५.	**गुडूच्यादि**	कफपित्तहर, ज्वरघ्न, छर्दि, दाह, तृष्णा नाशक एवं अग्निवर्धक।[७]
१६.	**आरग्वधादि**	कफशामक, छर्दि, कुष्ठ, विष, ज्वर, कण्डू, प्रमेह नाशक एवं दुष्टव्रण शोधन।[८]
१७.	**असनादि**	कफशामक, श्वित्र, कुष्ठ, क्रिमि, पाण्डुरोग, प्रमेह, मदोदोष नाशक।[९]

१. विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः।।
(अ० ह० सू० १५.१०)

२. .... हन्ति दाहपित्तास्रतृड्ज्वरान्। (अ० ह० सू० १५.११)

३. स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं प्रीडनजीवनबृंहणवृष्याः।। (अ० ह० सू० १५.१२)

४. ... तृण्मूत्रामयवातजित्।। (अ० ह० सू० १५.१३)

५. ... विषान्तर्दाहपित्तनुत्।। (अ० ह० सू० १५.१४)

६. निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान् विषं वमिमरोचकं कामलाम्।। (अ० ह० सू० १५.१५)

७. पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत्।। (अ० ह० सू० १५.१६)

८. आरग्वधादिर्जयति छर्दिकुष्ठविषज्वरान्। कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः।।
(अ० ह० सू० १५.१८)

९. असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन्। पाण्डुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिर्बहणः।।
(अ० ह० सू० १५.२०)

१८.	**वरुणादि**	कफशामक, मेदोदोष, मन्दाग्नि, आढ्यवात, शिरःशूल, गुल्म, अन्तःविद्रधि नाशक।[१]
१९.	**ऊषकादि**	कफशामक, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, गुल्म, मेदोदोष हर।[२]
२०.	**वीरतरादि**	वातजन्य रोगनाशक, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात जन्य पीडाहर।[३]
२१.	**रोध्रादि**	कफशामक, मेदोदोष एवं योनिदोष हर, स्तम्भन, वर्ण्य, विषनाशक।[४]
२२.	**अर्कादि**	कफशामक, मेदोदोष, विष, कृमि, कुष्ठ नाशक, विशेषरूप से व्रणशोधन।[५]
२३.	**सुरसादि**	कफशामक, मेदोदोष, कृमि, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास, कासहर एवं व्रणशोधन।[६]
२४.	**मुष्ककादि**	कफशामक, गुल्म, प्रमेह, अश्मरी, पाण्डुरोग, मेदोदोष, अर्श, शुक्रदोष नाशक।[७]
२५.	**वत्सकादि**	वातकफशामक, मेदोदोष, पीनस, गुल्म, ज्वर, शूल, अर्श नाशक।[८]
२६.	**वचादि**	कफशामक, आमातीसार, मेदोदोष, आढ्यवात, स्तन्यदोष हर।[९]
२७.	**हरिद्रादि**	

१. वरुणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति। आढ्यवातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तः सविद्रधिम्।।
(अ० हृ० सू० १५.२२)

२. ... कृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम्।। (अ० हृ० सू० १५.२३)

३. वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान्। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः।।
(अ० हृ० सू० १५.२५)

४. एष रोध्रादिको नाम मेदःकफहरो गणः। योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः।।
(अ० हृ० सू० १५.२७)

५. अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः। कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद्व्रणशोधनः।।
(अ० हृ० सू० १५.२९)

६. सुरसादिर्गणः श्लेष्ममेदःकृमिनिषूदनः। प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः।।
(अ० हृ० सू० १५.३१)

७. गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोर्शःकफशुक्रजित्। (अ० हृ० सू० १५.३२)

८. ... हन्ति। चलकफमेदःपीनसगुल्मज्वरशूलदुर्नाम्नः।। (अ० हृ० सू० १५.३४)

९. वचाहरिद्रादिगणावामातीसारनाशनौ। मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ।।
(अ० हृ० सू० १५.३६)

२८.	**प्रियङ्ग्वादि**	पक्वातीसारहर, संधानीय, पित्तशामक, व्रणरोपण।[१]
२९.	**अम्बष्ठादि**	
३०.	**मुस्तादि**	योनिरोग तथा स्तन्यरोग नाशक एवं मलपाचन।[२]
३१.	**न्यग्रोधादि**	व्रण्य, संग्राही, भग्नसंधानकर, मेदोरोग, रक्तपित्त, तृषा, दाह, योनिरोग नाशक।[३]
३२.	**एलादि**	वातकफशामक, वर्णप्रसादन, विष, कण्डू, पिटिका, कोठ नाशक।[४]
३३.	**श्यामादि**	कफशामक, गुल्म, विष, अरुचि, हृद्रोग, मूत्रकृच्छ्र नाशक।[५]

अष्टाङ्गसङ्ग्रह

वाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह में द्विविधौषधविज्ञानीय अध्याय (सू० १२) में सुवर्णादि वर्ग निर्धारित किया। चरकोक्त महाकषायों से ४५ तथा सुश्रुतोक्त वर्गों से २५ को पृथक्-पृथक् अध्यायों में वर्णित किया है। चरक एवं सुश्रुत में वर्णित पञ्चपञ्चमूल को एकत्रकर सप्त पञ्चमूल की गणना की है। चरक ने पञ्चपञ्चमूलशब्द प्रयुक्त किया किन्तु बृहत्, लघु आदि ऐसा कोई उल्लेख नहीं है सुश्रुत ने प्रथम बृहत् या लघु आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया। चरक एवं सुश्रुत दोनों के तीन पञ्चमूल (बृहत्, लघु, तृण) तो समान ही हैं किन्तु सुश्रुत ने वल्लीपञ्चमूल एवं कण्टकपञ्चमूल स्वीकार किया। चरक के जो दो पञ्चमूल हैं उनका नाम अष्टांगसंग्रह में जीवनपञ्चमूल एवं मध्यमपञ्चमूल दिया है।

वर्गीकरण के सम्बन्ध में वर्गों की विशेषता–

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर वाग्भटोक्त वर्गीकरण में वर्ग की निम्नाङ्कित विशेषतायें उपलब्ध होती हैं–

१. सुश्रुतोक्त अनेक वर्गों को छोड़ दिया, यथा उत्पलादि, लाक्षादि।

१. गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ। संधानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ।।
(अ० हृ० सू० १५.३९)

२. ... योनिस्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च।। (अ० हृ० सू० १५.४०)

३. न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः सङ्ग्राही भग्नसाधनः। मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिर्बहणम्।।
(अ० हृ० सू० १५.४२)

४. एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति। वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः।।
(अ० हृ० सू० १५.४४)

५. श्यामाद्यो हन्ति गुल्मं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम्। (अ० हृ० सू० १५.४५)

२. सुश्रुतोक्त धातुओं का वर्ग त्रप्वादि भी नहीं दिया, यद्यपि इनका अन्यत्र रसों के प्रसङ्ग में उल्लेख है यथा– मधुर वर्ग में सुवर्ण; अम्लवर्ग में रजत; लवण में शीष (त्रपुसीस-अ०सं०); तिक्त में कांस्य, लोह; कटु में मनःशिला, हरताल, (अ०सं०); कषाय में मुक्ता, प्रवाल, अंजन, गैरिक, शंखनाभि। यह वर्ग की नवीनता है।

३. कुछ गणों के नाम परिवर्तित कर दिये गये, यथा– विदारिगन्धादि विदार्यादि हो गया और सालसारादि असनादि। काकोल्यादि यहाँ पद्मकादि नाम से है।

४. वर्गों के अन्तर्गत द्रव्यों में परिवर्तन किया गया है, यथा– विदार्यादिगण में कृष्णसारिवा को छोड़ दिया गया है तथा वीरा एवं जीवन्ती अधिक रक्खा गया है। सारिवादि में पद्मक के स्थान पर परूषक है। पद्मकादि से द्राक्षा और आरग्वधादि से कुटज एवं मूर्वा निकाल दिया गया तथा मधुरसा का आरग्वधादि में समावेश किया गया है। सालसारादिवर्ग के कालस्कन्ध एवं नक्तमाल नहीं हैं उनके स्थान पर पलाश एवं कलिंग हैं।

५. नये वर्ग की कल्पना भी की गई, यथा– वत्सकादि। यह चरक एवं सुश्रुत में नहीं है।

६. अष्टाङ्गहृदय में आहार द्रव्यों का विवरण सुश्रुत के समान दो वर्गों-द्रवद्रव्य एवं अन्नस्वरूप के रूप में दो सम्बद्ध अध्यायों (सू० ५-६) में किया गया है इसमें वर्ग की विशेषता यह है कि अन्नस्वरूप विज्ञानीय अध्याय में अन्नद्रव्यों का वर्णन समाप्त होने पर एक औषधवर्ग का वर्णन किया गया है जिसमें वर्ग के अतिरिक्त त्रिफला, त्रिजात, चतुर्जात, त्रिकटु, पञ्चकोल और पञ्चपञ्चमूलों का (चरकानुसार) विभाग है। इससे परवर्ती निघण्टुकारों के विषयवस्तु व्यवस्थित करने में मार्ग दर्शन मिला।

अष्टाङ्गहृदय एवं अष्टाङ्गसङ्ग्रह में वीरतर्वादिगण किञ्चित् भिन्न है यथा– वीरतर्वादिगण के प्रसङ्ग में अष्टाङ्गहृदय में वेल्लन्तर शब्द से गण का प्रारम्भ होता है जब कि अष्टाङ्गसङ्ग्रह में वीरतर है यद्यपि गण का नाम वीरतर ही है। अष्टाङ्गहृदय में वृष है इसके स्थान पर अष्टाङ्गसङ्ग्रह में वशिर है।

*

अष्टम अध्याय

रसशास्त्र में प्रयुक्त द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण

१. **शोधनत्रितय**– काँच, सुहागा, सौवीराञ्जन। इसमें कई लोग सौवीराञ्जन के स्थान में रसकर्पूर डालते हैं।[१] ये धातुओं का शोधन करते हैं।

२. **द्रावक गण**– गुञ्जा, मधु, गुड, सर्पि, सुहागा और गुग्गुलु।[२]

३. **मित्रपञ्चक**– घृत, गुञ्जा, सुहागा, मधु और गुग्गुलु।[३] यह भी द्रावक है।

४. **कूष्माण्डादि गण**– कूष्माण्ड, तुलसी, लाक्षा, खाँड, शतपुष्पा, लवङ्ग, वत्सनाभ, तण्डुलीयकमूल।[४] यह गण अमूर्च्छित पारद से उत्पन्न विकारों को शान्त करता है।

५. **नियामक गण**– महाबला, नागबला, गोरखइमली, पुनर्नवा, मूषाकर्णी, सैरेयक, वासा, काकमाची, गोक्षुर, शरपुङ्खा, विष्णुक्रान्ता, तण्डुलीयक, मण्डूकपर्णी, तुलसी, बला, अपराजिता, शतावरी, शङ्खपुष्पी, श्वेत अर्क, धत्तूर, चक्रमर्द, करञ्ज, ब्रह्मदण्डी, शिखण्डिनी (मयूरशिखा), गुडूची, सैन्धव, पाठा, मृगाक्षी (इन्द्रवारुणी), सोमवल्ली। ये द्रव्य पारद का नियामन करते हैं।[५]

---

१. काचटङ्कणसौवीरं शोधनत्रितयं प्रिये। (रसार्णव ५)

२. गुञ्जा मधु गुडः सर्पिः सौभाग्यं गुग्गुलुस्तथा। पूर्वाचार्यैः कीर्त्तितोऽयं धातूनां द्रावको गणः।।
(र० त० २.३५)

३. आज्यं गुञ्जाऽथ सौभाग्यं क्षौद्रं च पुरसंज्ञकम्। एतत्तु मिलितं विज्ञैर्मित्रपञ्चकमुच्यते।।
(र० त० २.३७)

४. कूष्माण्डस्तुलसी लाक्षा खण्डश्च शतपुष्पिका। लवङ्गं वत्सनाभश्च तण्डुलीयस्य मूलकम्।।
कूष्माण्डादिगणो ह्येष पूर्वाचार्यैर्निरूपितः। अमूर्च्छितामृतरसविकारकुलकण्डनः।।
(र० त० ७.१०६-१०७)

५. महाबला नागबला यवचिञ्चा पुनर्नवा। आखुपर्णी सहचरा वासिका काकमाचिका।।
गोक्षुरः शरपुङ्खा च विष्णुक्रान्ता घनध्वनिः। मण्डूकपर्णी तुलसी बला च गिरिकर्णिका।।
शतावरी शङ्खपुष्पी श्वेतार्कः कनकाह्वयः। चक्रमर्दः करञ्जश्च ब्रह्मदण्डी शिखण्डिनी।।
गुडूची सैन्धवं पाठा मृगाक्षी सोमवल्लिका। नियामकगणो ह्येष प्रोक्तो रसविशारदैः।।
(र० त० ५.९१-९४)

६. **मारक गण**– विष्णुक्रान्ता, देवदाली, सर्पाक्षी, सहदेवी, लाक्षा, पुनर्नवा, अर्क, हुरहुर, लाङ्गली, चाण्डालिनीकन्द, काकमाची, विदारी, बला, स्नुही, जयन्ती, हस्तिशुण्डी, कदली, कोशातकी, शुण्ठी, वाकुची, हरिद्राद्वय, काकजङ्घा, काकनासा, तुलसी, शतावरी, मूषाकर्णी, ब्रह्मदण्डी, दूर्वा, शरपुङ्खा, चक्रमर्द, कदम्ब, पिप्पली, पुनर्नवा रक्त, कटुतुम्बी, इन्द्रायण, हंसपदी, शङ्खपुष्पी, चमेली, मूर्वा, लज्जालु, सर्षप, तिलपर्णी, श्वेतापराजिता, बन्ध्याकर्कोटकी, धत्तूर, गुडूची, प्रसारणी, भृङ्गराज, हिंगु, मत्स्याक्षी, शोभाञ्जन, पलाश, गोरखइमली, मण्डूकपर्णी, चित्रक, शेफाली, मुशली, वचा।[१]

७. **लौहमारक गण**– त्रिफला, शतावरी, सिंहिका (बृहती), तालमूली, नीलोत्पल, ह्रीबेर, दशमूल, पुनर्नवा, वृद्धदारुकमूल, भृङ्गराज, शुण्ठी, विडङ्ग, करञ्ज, शोभाञ्जन, निर्गुण्डी, तुलसी, एरण्डमूल, हस्तिकर्णपलाश, पर्पट, चन्दन।[२]

८. **वातहर गण**– एरण्डमूल, रास्ना, दशमूल, प्रसारणी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शतावरी, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, गुडूची, जटामांसी, बला, नागबला।[३]

९. **पित्तनाशक गण**– उशीर, ह्रीबेर, बृहती, चिरायता, शतावरी, पटोल, चन्दन, गुडूची, कमल, तालमूली, पर्पट, शाल्मलीमूल, शर्करा, लाक्षा।[४]

१०. **कफनाशक गण**– रास्ना, मरिच, चव्य, ताम्बूल, शुण्ठी, एरण्ड, पिप्पलीमूल, तुलसी, आर्द्रक, भार्ङ्गी, रक्तार्क पुष्प, मूर्वा, शोभाञ्जन, बिभीतक।[५]

---

१. विष्णुक्रान्ता देवदाली सर्पाक्षी सहदेविका। (र० त० ७.९)

२. त्रिफला शतमूली च सिंहिका तालमूलिका। नीलोत्पलं च ह्रीबेरं दशमूलं पुनर्नवा।।
वृद्धदारुकमूलञ्च भृङ्गं विश्वं विडङ्गकम्। करञ्जशिग्रुनिर्गुण्डीसुरसैरण्डमूलकम्।।
हस्तिकर्णपलाशश्च पर्पटश्चन्दनं तथा। समाख्यातो गणोऽयं तु लौहमारकसंज्ञकः।।
(र० त० २०.४२-४४)

३. एरण्डमूलं रास्नाऽथ दशमूलं प्रसारणी। मुद्गपर्णी माषपर्णी शतमूली पुनर्नवा।।
अश्वगन्धाऽमृता मांसी बला नागबला तथा। गणो वातहरोऽयन्तु वातामयहरः परम्।।
(र० त० २०.४५-४६)

४. उशीरनीरसिंहिकाकिरातभुरिपुत्रिकाः। पटोलचन्दनामृतासरोजतालमूलिकाः।।
सुतिक्तशाल्मलीशिफासितामहीरुहामयाः। गणस्तु पित्तनाशको ह्ययं तु पित्तरोगहृत्।।
(र० त० २०.४७-४८)

५. रास्ना मरिचं चविका नागिनी विश्वभेषजम्। एरण्डः पिप्पलीमूलं तुलसी शृङ्गवेरकम्।।
भार्ङ्गी रक्तार्ककुसुमं मूर्वा शिग्रु बिभीतकम्। परं बलासगदजिद् गणोऽयं कफनाशकः।।
(र० त० २०.४९-५०)

नवम अध्याय

सांस्थानिक कर्मात्मक वर्गीकरण

(Systemic pharmacological classification)

नाडी-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **मेध्य**– ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी, यष्टीमधु, गुडूची, स्वर्ण, रजत, घृत, केशर, ज्योतिष्मती, कूष्माण्ड, मण्डूकपर्णी, उस्तखुद्दूस, कस्तूरी।

२. **मदकारी** (Narcotics)– मद्य, अहिफेन, विजया, धतूर।

३. **संज्ञास्थापन**– वचा, जटामांसी, कट्फल, अरिमेद, ब्राह्मी, गुग्गुल, कटुका, हिङ्गु, नख।

४. **निद्राजनन** (Hypnotics)– मद्य, अहिफेन, विजया, सूची, सर्गपन्धा, अलाबू, वाताद, उपोदिका, अकरकरा।

५. **निद्राहर**– लंघन और रूक्षण द्रव्य, यथा– यव आदि।

६. **वेदनास्थापन** (Analgesics)– शाल, कट्फल, कदम्ब, पद्मक, तुम्ब, मोचरस, शिरीष, वञ्जुल, एलवालुक, अशोक, अहिफेन, धतूर, सूची, पारसीक यवानी, गुग्गुलु, यवानी, अजमोदा, कर्पूर, एरण्ड, अङ्कोल, कार्पास, प्रसारणी, तगर, निर्गुण्डी, पलाण्डु, रसोन, वत्सनाभ, पृश्निपर्णी, करवीर, पीलु, देवदारु, मधूक, सुरञ्जान, चन्द्रशूर, बीजक, मेदासक, मुचकुन्द।

७. **आक्षेपजनन**– कुपीलु।

८. **आक्षेपशमन**– ऊदसलीब, अम्बर, कस्तूरी, जुन्दवेदस्तर, भूर्ज।

इन्द्रियाधिष्ठानों पर कर्म करने वाले द्रव्य

(क) **नेत्र**–

१. **चक्षुष्य**– रसाञ्जन, स्फटिका, अहिफेन, कर्पूर, लोध्र, तुत्थ, शङ्ख, त्रिफला, मधुयुष्टी, गोघृत, ममीरा, पियाराँगा, चक्षुष्या, कतक।

२. **दृष्टिकाविकासक** (Mydriatics)– धतूर।

३. **दृष्टिकासंकोचक** (Myotics)– अहिफेन।

(ख) **कर्ण**–

कर्ण्य– तैल, सुरा, रसाञ्जन, बिल्व, धतूर, निम्ब, अहिफेन, तरुणी, सुदर्शन, पारिभद्र, अपामार्ग, समुद्रफेन।

(ग) **नासा**–

शिरोविरेचन– ज्योतिष्मती, क्षवक, मरिच, पिप्पली, विडङ्ग, शिग्रु, सर्षप, अपामार्ग, अपराजिता, तुम्बुरु, अजमोदा, जीरक, एला, तुलसी, लशुन, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, शुण्ठी, पीलु।

(घ) **रसना**– आकारकरभ।

(च) **त्वचा**–

१. **स्वेदजनन** (Diaphoretics)– कर्पूर, तम्बाकू, मद्य, अहिफेन, मरिच, तुलसी, वत्सनाभ, हिंगुल, टङ्कण, मुस्तक, सहदेवी।

२. **स्वेदोपग**– शोभाञ्जन, एरण्ड, अर्क, वृश्चीर, पुनर्नवा, यव, तिल, कुलत्थ, माष, बदर।

३. **स्वेदाप्नयन**– पारसीक यवानी, धत्तूर, यशद, उशीर, कुपीलु, कषायद्रव्य।

४. **रोमसञ्जनन**– लङ्का, कुनयन, तैलमक्षिका, हस्तिदन्त, रसाञ्जन।

५. **रोमशातन**– क्षर, शङ्खभस्म, हरताल, कुसुम्भ तैल।

६. **केश्य**–

(क) **केशवर्धन**– नारिकेल, तिल, बिभीतक, गुञ्जा, त्रिफला, तैलमक्षिका।

(ख) **केशरञ्जन**– भृङ्गराज, केशराज, बिभीतकमज्जा, आम्रास्थि, त्रिफला, नीलिनी, मदयन्तिका, जपा, लौह, मण्डूर, सैरेयक।

७. **प्रतिक्षोभक** (Counter-irritants)–

(क) **रक्तोत्क्लेशक** (Rubefacient)– तैलमक्षिका, राजिका, अजगन्धा, मरिच, लंका, उड़नशील तैल।

(ख) **अरुष्कर** (Vasicant)– भल्लातक।

(ग) **क्षारण** (Caustics)– क्षार।

८. **व्रणहर**–

(क) **पाचन**– तिल, सर्षप, अतसी।

(ख) **दारण**– चित्रक, क्षार, कपोतविट्।

(ग) **प्रपीडन**– शाल्मली, यव, गोधूम, माष।

(घ) **शोधन**– निम्ब, पटोल, तिल, सारिवा।

(च) **रोपण**– पञ्चवल्कल, मधुक, धातकी।

९. **स्नेहन**– घृत, तैल, वसा, मज्जा।

१०. **स्नेहोपग**– मृद्वीका, गुडूची, मधुयष्टी, विदारी, मेदा, काकोली, जीवन्ती, जीवक, शालपर्णी, श्लेष्मातक।

११. **रूक्षण**– यव, भृष्टान्न आदि।

१२. **वर्ण्य**– केशर, चन्दन, तुङ्ग, पद्मक, उशीर, मधुयष्टी, मञ्जिष्ठा, विदारी, केतकी, सारिवा, दूर्वा, लोध्रादिगण, एलादिगण।

१३. **कण्डूघ्न**– चन्दन, नलद, कृतमाल, नक्तमाल, निम्ब, कुटज, सर्षप, मधुक, दारुहरिद्रा, मुस्तक, जयन्ती, मुण्डी, भृङ्गराज, अरण्यजीरक, मण्डूकपर्णी, जलनिम्ब, गन्धक, आरग्वधादि, एलादि, पटोलादि गण।

१४. **कुष्ठघ्न**– खदिर, अभया, आमलक, हरिद्रा, भल्लातक, आरग्वध, करवीर, विडङ्ग, जातीप्रवाल, तुवरक, सप्तपर्ण, तिनिश, सैरेयक, चक्रमर्द, यूथिकपर्णी, वाकुची, काकोदुम्बर, मदयन्तिका।

१५. **उदर्दप्रशमन**– तिन्दुक, प्रियाल, बदर, खदिर, कदर, सप्तपर्ण, अश्वकर्ण, अर्जुन, असन, अरिमेद, एलादिगण।

रक्तवह-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **हृद्य** (Cardiac tonics)– अर्जुन, हत्पत्री, कुटकी, आमलकी, करवीरमूल गोजिह्वा, वेतस, कपूर, वनपलाण्डु, शैलेय, ताम्बूल, स्वर्ण, मुक्ता कोश।

२. **हृदयोत्तेजक** (Cardiac stimulants)– तम्बाकू, सूची, सोम, पारसीक यवानी, कॉफी, वत्सनाभ (शोधित), कस्तूरी।

३. **हृदयावसादक** (Cardiac depressants)– वत्सनाभ (अशुद्ध), हत्पत्री, अहिफेन।

४. **रक्तभारवर्धक**– कुपीलु, हृत्पत्री, कर्पूर, मद्य, कॉफी, विदाही द्रव्य, सोम, अन्नामय।

५. **रक्तभारशामक**– मादकद्रव्य, ज्वरघ्न द्रव्य, सर्पगन्धा, स्वेदन द्रव्य, शंखपुष्पी, भृङ्गराज।

रसवह-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **शोथहर**– पाटला, अग्निमन्थ, श्योनाक, बिल्व, काश्मर्य, बृहती, कण्टकारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोक्षुर, वनहरिद्रा, मानकन्द, व्याघ्रनखी, अधःपुष्पी, निर्गुण्डी।

२. **शोथजनन**– अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, उष्ण, तीक्ष्ण और रूक्ष द्रव्य।

३. **गण्डमालानाशक**– काञ्चनार, मुण्डी, गुडूची, सारिवा, गुग्गुल, लौह, भल्लातक।

श्वसन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **श्वसनोत्तेजक**– कुपीलु, कॉफी, सूची, सोम, कपूर आदि।

२. **श्वसनावसादक**– अहिफेन, वत्सनाभ, संज्ञाहर द्रव्य।

३. **कफनि:सारक** (Expectorants)– वामकद्रव्य, गन्धद्रव्य, श्रीवेष्टक, हिङ्गु, ऊषक, शिलारस, त्वक्, लोबान, लवङ्ग, पलाण्डु, वासा, धन्वयास, खूबकलाँ, तोदरी, बनफ्शा, खत्मी, जूफा, बोल, कुन्दरू, रूमी मस्तगी, श्लेष्मातक, गोजिह्वा, यष्टीमधु, एला, तालीश, बिभीतक, सितोपला।

४. **कासहर** (Bronchial sedatives or anti-tussive)– द्राक्षा, अभया, आमलक, पिप्पली, दुरालभा, शृङ्गी, कण्टकारी, पुनर्नवा, भूम्यामलकी, हपुषा, अगस्त्य, कासमर्द, वंशलोचन, विदारिगन्धादि और सुरसादि गण, सूची, अहिफेन, प्रवाल, शृङ्ग, मुक्ता।

५. **श्लेष्मपूतिहर**– ज्योतिष्मती, तैलपर्णी, सरल, गन्धद्रव्य, हिंगु, रसोन।

६. **श्वासहर** (Bronchial antispasmodics)– शटी, पुष्करमूल, अम्लवेतस, एला, हिङ्गु, अगुरु, सुरसा, जीवन्ती, भूम्यामलकी, चोरपुष्पी, भार्ङ्गी, दुग्धिका, अर्क, सूची, पारसीक यवानी, धतूर, सोम, अद्रिनिलीन, अहिफेनफलसत्त्व, मादकद्रव्य, अहिफेनसत्त्व, दशमूल, विदारिगन्धादि तथा सुरसादि गण।

७. **हिक्कानिग्रहण**– शटी, पुष्करमूल, बदरबीज, कण्टकारी, बृहती, वन्दाक, अभया, पिप्पली, दुरालभा, कर्कटशृङ्गी, मयूरपुच्छ, हरिद्रा, यव, एरण्डमूल, मन:शिला, कुश, उशीर।

८. **कण्ठ्य**– सारिवा, इक्षुमूल, मधुयष्टी, पिप्पली, द्राक्षा, विदारी, कट्फल, हंसपदी, बृहती, कण्टकारी, मलयवचा, सैन्धव, नौसादर।

पाचन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

(क) मुख–

१. **लालाप्रसेकजनन** (Sialagogue)– अम्ल, तिक्त, कटु, गन्धद्रव्य, मद्य, वामकद्रव्य, तुम्बुरु, आकारकरभ, राजिका, तम्बाकू, लंका।

२. **लाजाप्रसेकशमन** (Anti-sialagogue)– कषायस्कन्ध, टङ्कण, सूची, अहिफेन, पारसीक यवानी, धत्तूर।

३. **तृष्णानिग्रहण**– नागर, धन्वयास, मुस्त, पर्पट, चन्दन, किरात, गुडूची, ह्रीबेर, धान्यक, पटोल, आलूबुखारा, द्राक्षा, एला, आमलकी, बिही, मिष्टनिम्बू, परूषकादि, सारिवादि, उत्पलादि तथा त्रप्वादि गण।

४. **दुर्गन्धहर**– गन्धद्रव्य, जातीफल, लताकस्तूरी, पूग, लवङ्ग, कङ्कोल, ताम्बूल, सूक्ष्मैला, कर्पूर।

५. **वैशद्यकर**– कटु, तिक्त, कषाय, ताम्बूल, पूग, जंबीरतृण, गंधतृण।

६. **दन्त्य**–

(क) **दन्तशोधन**– करञ्ज, करवीर, अर्क, मालती, ककुभ, असन, निम्ब, तुम्बुरु, अकरकरा, मरिच।

(ख) **दन्तदार्ढ्यकर**– त्रिफला, बकुल, बब्बूल, खदिर, मायाफल, गैरिक, खटिक।

(ख) आमाशय–

१. **तृप्तिघ्न**– नागर, चव्य, चित्रक, विडङ्ग, मूर्वा, गुडूची, वचा, मुस्तक, पिप्पली, पटोल, धान्यक, अजमोदा, बृहत्यादि, गुडूच्यादि तथा आमलक्यादि गण।

२. **रोचन**– अम्लस्कन्ध, हृद्य गण, परूषकादि गण (आम्र, आम्रातक, लकुच, करमर्द, वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, कुवल, बदर, दाडिम, मातुलुङ्ग, भव्य, अम्लिका, चाङ्गेरी, बीजपूर, जंबीर, कर्मरङ्ग, निम्बुक, नारङ्ग, तिन्तिडीक, चुक्र आदि।)

३. **दीपन**– कटु, तिक्त, गन्धद्रव्य, मद्य, लवण, अतिविषा, कलम्बा, चित्रक, किरततिक्त, हिङ्गु, मरिच, त्रिफला, मिश्रेया, शतपुष्पा, जीरक, कृष्णजीरक, यवानी, आर्द्रक, शुण्ठी, आम्रगन्धिहरिद्रा, शैलेय, तक्र, पिप्पल्यादि, बिल्वादि, गुडूच्यादि, आमलक्यादि गण।

४. **पाचन**– अम्ल, धान्यक, मुस्तक, पिप्पलीमूल, मरिच, शुण्ठी, लवङ्ग, शैलेय, मूलक, एरण्डकर्कटी, नागकेसर, मुस्तादि गण।

५. **अग्निसादक**– कषाय द्रव्य, अहिफेन, धातु, क्षार, तैल, वसा, मज्जा, सूची, अतिशीत, अपामार्गबीज।

६. **विदाही**– उष्ण, तीक्ष्ण, सर्षप, राजिका, लंका।

७. **विदाहशामक** (अम्लतानाशक)– मधुर-तिक्त द्रव्य, पटोलादि गण, क्षार, आमलकी, नारिकेल।

८. **वमन**– क्षोभक, उष्णवीर्य द्रव्य, मदनफल, जीमूत, कुटज, अरिष्टक, कोशातकी, धामार्गव, इक्ष्वाकु, काकतुण्डी, सर्षप, तुत्थ।

९. **वमनोपग**– मधु, मधुक, कोविदार, कर्बुदार, नीप, विदुल, बिम्बी, शणपुष्पी, सदापुष्पी, अपामार्ग, सैन्धव।

१०. **छर्दिनिग्रहण**– जम्बू, आम्रपल्लव, मातुलुङ्ग, अम्लबदर, दाडिम, यव, षष्टिक, उशीर, मृत्, लाजा, आरग्वधादि, पटोलादि तथा गुडूच्यादि गण।

(ग) **अन्त्र**–

१. **अनुलोमन**– कटु, गन्धद्रव्य, कपूर, मद्य, पिपरमिण्ट, हिङ्गु, नाडीहिङ्गु, तेजपत्र, मिश्रेया, शतपुष्पा, यवानी, मरुवक, पूतिहा।

२. **विष्टम्भी**– लोणिका, कदम्ब, पनस, लकुच।

३. **भेदनीय (गुल्मभेदन)**– चित्रक।

४. **पुरीषजनन**– माष, यव, पत्रशाक।

५. **विरेचन**–

(क) **मृदुविरेचन** (मलानुलोमन)– यासशर्करा, गन्धक, अञ्जीर, आलूबुखारा, हरीतकी, अमलतास, एरण्डतैल, इसबगोल, वास्तूक, जैतून तैल।

(ख) **सुखविरेचन**– त्रिवृत्, कुटकी, स्वर्णक्षीरी, अर्कक्षीर, कम्पिल्लक।

(ग) **तीक्ष्णविरेचन**– जयपाल, दन्ती, स्नुही, कड्कुष्ठ।

(घ) **पित्तविरेचन**– पारद, गिरिपर्पट, अम्लपर्णी, एलुआ, कुटकी।

५. **विरेचनोपग**– द्राक्षा, काश्मर्यफल, परूषक, अभया, आमलक, बिभीतक, कुवल, बदर, कर्कन्धु, पीलु।

६. **उभयतोभागहर**– देवदाली।

७. **पुरीषसंग्रहणीय**–

(क) **ग्राही**– उष्णवीर्य, अनुलोमन और गन्धद्रव्य– शुण्ठी, जीरक, पिप्पली, जातीफल, बिल्व, कृष्णजीरक।

(ख) **स्तम्भन**– शीतवीर्य, कषायद्रव्य; अहिफेन, कुटज, श्योनाक, अरलु, मोचरस, धातकी, लोध्र, खदिर, उदुम्बर, बब्बूल, मरोड़फली, कदली, माजूफल, स्फटिका।

८. **पुरीषविरजनीय**– जम्बू, शल्लकीत्वक्, यष्टीमधु, शाल्मली, श्रीवेष्टक, भृष्टमृत्, पयस्या, उत्पल, तिलकण।

९. **भेदनीय (पुरीषभेदनीय)**– कटुका।

१०. **शूलप्रशमन**– पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, मरिच, अजमोदा, यवानी, अजगन्धा, अजाजी, चन्द्रशूर, यष्टीमधु, नारिकेल, सूची, अहिफेन।

११. **आस्थापन**– रसों के अनुसार छः स्कन्धों में विभक्त हैं (देखिये पृष्ठ २९)।

१२. **आस्थापनोपग**– त्रिवृत्, बिल्व, पिप्पली, कुष्ठ, सर्षप, वचा, इन्द्रयव, शतपुष्पा, यष्टीमधु, मदनफल।

१३. **अनुवासन**—आस्थापन के समान।

१४. **अनुवासनोपग**– रास्ना, देवदारु, बिल्व, मदनफल, शतपुष्पा, पुनर्नवा, गोक्षुर, अग्निमन्थ, श्योनाक।

१५. (क) **अन्तः कृमिघ्न** (Anthelmintics, vermicides or vermifuges)

१. **विशिष्ट**–

गण्डूपदकृमि के लिए– चौहार, पलाशबीज, विडङ्ग, पारिभद्र, इन्द्रयव।

स्फीतकृमि के लिए– कम्पिल्लक, पूग, दाडिमत्वक्।

तन्तुकृमि के लिए– एलुआ, चिरायता, नीम आदि तिक्तद्रव्य।

अङ्कुशकृमि के लिए– यवानीसत्त्व, भल्लातक तैल।

श्लीपदकृमि के लिए– शाखोटक।

स्नायुककृमि के लिए– निर्गुण्डी, शिग्रु।

२. **सामान्य**– अरण्यजीरक, इङ्गुदी, यवानी, अफसन्तीन, बर्बरी।

(ख) **बाह्यकृमिघ्न** (Insecticide)– कट्फल, निम्ब, वचा, पारद, धत्तूर।

१६. **अर्शोघ्न**–

(क) **रक्तार्शोघ्न**– कुटज, इन्द्रयव, मूलक, दारुहरिद्रा, कृष्णतिल, नागकेशर, पद्मकाष्ठ, बला, यवासा, अश्वत्थ, वट, लोणिका, चाङ्गेरी, सर्पकञ्चुक।

(ख) **वातार्शोघ्न**– सूरण, अपामार्ग, त्रिवत्, भल्लातक, हरीतकी, शतपुष्पा, चित्रक, चव्य,अतिविषा, वचा, बिल्व, शुण्ठी, करीर, महानिम्ब, वृन्ताक।

यकृत्प्लीहा पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **यकृदुत्तेजक या पित्तस्रावक** (Choleretics)– पित्तलवण, गोरोचन, लवणाम्ल, मांसाहर, गिरिपर्पट, काकतुण्डी, सुरञ्जान, अम्लपर्णी, कालमेघ, कुटकी, सप्तचक्रा, दारुहरिद्रा, पारिजात, दमनक, काकमाची, अपामार्ग, दुग्धफेनी, भृङ्गराज, कासनी, रसकर्पूर, नरसार।

२. **पित्तसारक** (Cholagogues)–

प्रत्यक्ष (Direct)– एरण्डतैल, स्नेहद्रव्य, इक्षुरक।

परोक्ष (Indirect)– मैगसल्फ का अतिशक्तिक विलयन।

३. **पित्तस्रावरोधक** (Anticholagogues)– सूची, पारसीक यवानी, अहिफेन।

४. **पित्ताश्मरी भेदन**– इक्षुरक आदि।

५. **यकृत्प्लीहवृद्धिहर**– रोहीतक, कुमारी, किराततिक्त, इन्द्रायण, अर्क, शरपुङ्खा, हपुषा, झावुक।

प्रजनन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

(क) स्त्री-प्रजनन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **प्रजास्थापन**– ब्राह्मी, दूर्वा, लक्ष्मणा, हरीतकी, बला, अण्डा, यष्टीमधुक, गोघृत, उत्पलकेशर, शृङ्गाटक, पुष्करबीज, प्रियङ्गु, कशेरु, पद्मक, अतिबला, शालि, षष्टिक, इक्षुमूल, काकोली, न्यग्रोधादिगण, कषायस्कन्ध, स्वर्ण, रजत।

२. **गर्भरोधक**– गुञ्जा, पाठा, कम्पिल्लक, पिप्पली, विडङ्ग।

३. **गर्भाशय-सङ्कोचक** (Ecbolics)–

(क) **प्रत्यक्ष**– केबुक, चित्रक, अपामार्ग, वंश, लाङ्गली, कार्पास, हरमल, सुद्दाव, अन्नामय, पीयूषीन।

(ख) **परोक्ष**– तीक्ष्ण तथा भेदन द्रव्य– तैलमक्षिका, अर्क, स्नुही, अरिष्ट, ज्योतिष्मति, हरीतकी, एलुआ।

४. **गर्भाशय-शामक** (Uterine sedatives)– सूची, खाखससत्त्व, शतावरी, ईश्वरमूल।

५. **आर्त्तवजनन** (Emmenagogue)– उष्ण तथा विदाही द्रव्य यथा सर्षप, मद्य, एलुआ, गर्भाशयसङ्कोचक द्रव्य अल्प मात्रा में, उलटकम्बल, वंश, शण, कुमारी, लौह, कुनयन, स्नेह आदि सामान्य जीवनीय द्रव्य।

६. **आर्त्तवरोधक** (Anti-emmenagogue)– नागकेशर, पूग, वट, लोध्र, अशोक, शाल्मलीपुष्प, जपा, काञ्चनार, मोचरस, कदली।

७. **स्तन्यजनन** (Galactagogue)– वीरण, शालि, षष्टिक, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, काश, गुन्द्र, उत्कट, रोहिष, कत्तृण, विदारी, शतावरी, कार्पासबीज, माष, अश्वगंधा, सुरा, काकोल्यादि गण।

८. **स्तन्यरोधक**– मल्लिका।

९. **स्तन्यशोधन**– पाठा, शुण्ठी, मुस्तक, देवदारु, मूर्वा, गुडूची, इन्द्रयव, किरात-तिक्त, कुटकी, सारिवा, निम्ब, रसाञ्जन, वचादि, हरिद्रादि तथा मुस्तादि गण।

(ख) पुं-प्रजनन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **वाजीकरण** (Aphrodisiac)–

(क) **शुक्रजनन**– जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, बन्दाक, कुलिङ्ग, अश्वगंधा, शतावरी, मुशली, मिश्री, कोकिलाक्ष, विदारी, मुञ्जातक, कपिकच्छू, वृषण, घृत, बलाबीज, शाल्मलीमूल, मखान्न, तालमूली।

(ख) **शुक्ररेचन**– कुपीलु, कस्तूरी, कर्पूर, मद्य, भङ्गा, धत्तूर, सोमल, जातीफल, इन्द्रगोप, रेगमाही, फादजहर हैबानी, तैलमक्षिका।

(ग) **शुक्रस्तम्भन**– जातीफल, अहिफेन, आकारकरभ।

(घ) **शुक्रजनन-रेचन** (वाजीकर)– दुग्ध, माष, भल्लातक, अण्डा।

२. **कामसादक** (पुंस्त्वहर या षाण्ढ्यकर)–

(क) **शुक्रनाशन**– क्षार।

(ख) **वेगशामक**– सूची, कर्पूर, तम्बाकू आदि।

३. **शुक्रशोधन**– कुष्ठ, एलवालुक, कट्फल, समुद्रफेन, कदम्बनिर्यास, इक्षु, काण्डेक्षु, तालमखाना, विदार्यादि, कण्टकपञ्चमूल तथा मुष्ककादि गण।

४. **शुक्रशोषण**–

मूत्रवह-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **मूत्रविरेचनीय** (Diuretics)– कङ्कोल, मरिच, अनन्तमूल, हपुषा, श्रीवेष्टक, तैलमक्षिका, मद्य, बन्दाक, रोहिष, गोक्षुर, पाषाणभेद, दर्भ, कुश, काश, भूम्यामलकी, त्रपुष, विदारी, इक्षु, शर्करा, एला, धन्वयास, कूष्माण्ड, आमलकी, नारिकेल, जम्बीरतृण, चञ्चु, कर्कटी, शिलाजतु, परूषकादिगण, नल, मूत्र, अन्ननास, वनपलाण्डु, कॉफी, हत्पत्री, पुनर्नवा, लवण, नरसार, शोरक, स्फटिक, अम्ल, क्षार, रसपुष्प, चन्दन, दुग्ध, अवटु।

२. **मूत्रविरजनीय**– पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, यष्टीमधु, प्रियङ्गु, धातकी।

३. **अश्मरीभेदन**– पाषाणभेद, वरुण, कुलत्थ।

४. **मूत्रसङ्ग्रहणीय**– जम्बू, आम्र, प्लक्ष, वट, कपीतन, उदुम्बर, अश्वत्थ, भल्लातक, अश्मन्तक, सोमवल्क, अहिफेन, यशदभस्म, बिम्बी, तिनिश, धव, असन।

५. **मूत्रविशोधन**– टङ्कण, टङ्कणाम्ल, चन्दन, कङ्कोल।

सार्वदैहिक कर्म करने वाले द्रव्य

१. **ज्वरघ्न**–

(क) **सन्तापहर** (Antipyretic)– सहदेवी, मद्य, वत्सनाभ, अञ्जन, सोमल, कुनयन, वेतस, सारिवा, शर्करा, पाठा, मञ्जिष्ठा, द्राक्षा, पीलु, परूषक,

अभया, आमलक, बिभीतक, पर्पट, जलनिम्ब, स्वेदजनन द्रव्य, पटोलादि तथा सारिवादि गण।

(ख) **आमपाचन**– तिक्तस्कन्ध, शुण्ठी, चिरायता, त्रायमाण, पटोल, चन्दन, मूर्वा, गुडूची, कुटकी, पारिजात, कारवेल्लक, पिप्पल्यादि, दशमूल, हरिद्रादि तथा वचादि गण।

(ग) **विषमज्वरघ्न** (Antiperiodic)– कुनयन, करञ्ज, सप्तपर्ण, करवीर, तुलसी, द्रोणपुष्पी।

२. **दाहप्रशमन**– कमल, उत्पल, चन्दन, उशीर, सारिवा, गंभारीफल, मधुक, प्रियङ्गु, तूद, एला, शैवाल, लाजा।

३. **शीतप्रशमन**– अगुरु, कस्तूरी, दरियाई नारियल, फादजहर हैवानी।

४. **मधुरकजनन**– आनूपमांसरस, दधि, नवीन धान्य, इक्षुविकार आदि।

५. **मधुरकशमन**– बीजक, कारवेल्लक, बिम्बी, गुडूची, पाठा, शिलाजतु आदि।

सार्वधातुक कर्म करने वाले द्रव्य

१. **जीवनीय**– मधुरस्कन्ध, अष्टवर्ग, जीवन्ती, मधुक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मुञ्जातक, विदारी, दुग्ध, घृत, लौह, स्फुरक,काकोल्यादि गण।

२. **आयुष्य**– आमलक, दुग्ध आदि।

३. **सन्धानीय**– मधुक, मधुपर्णी, पृश्निपर्णी, पाठा, लज्जालु, मोचरस, धातकी, लोध्र, प्रियङ्गु, कट्फल, कर्कटक, प्रियङ्ग्वादि, अम्बष्ठादि तथा न्यग्रोधादि गण।

४. **बल्य** (Tonic)–

(क) **सामान्य** (General)– शतावरी, अश्वगंधा, लघुपञ्चमूल, विदारी, वाताद, मुकूलक, अक्षोट, निकोचक, कूर्ममांस, बला, अतिबला, नागबला, मुशली, मखान्न, वाराही।

(ख) **विशिष्ट**–

आमाशय– तिक्त, दीपन। हृद्य– अर्जुन।

सुषुम्ना– कुपीलु। नाडीसंस्थान– तगर।

५. **ओजोवर्धक**– दुग्ध।

६. **ओजोह्रासक** (विकाशी)– मद्य, विष, पूग, कोद्रव।

७. **रसायन**– हरीतकी, आमलकी, पिप्पली, विडङ्ग, भल्लातक, गुडूची, नागबला, गुग्गुलु, वृद्धदारु, अश्वगंधा।

८. **विष**– वत्सनाभ, शृङ्गी।

९. **विषघ्न**– शिरीष, अपराजिता, निर्विषा, श्लेष्मातक, निर्गुण्डी, छिलहिण्ट, तण्डुलीयक।

१०. **अङ्गमर्दप्रशमन**– काकोली, लघुपञ्चमूल आदि।

धातुओं पर कर्म करने वाले द्रव्य

(क) रसधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **रसवर्धन**– दुग्ध आदि स्निग्ध और आप्य द्रव्य।

२. **रसक्षपण**– यव आदि रूक्ष तथा वायव्य और आकाशीय द्रव्य।

(ख) रक्तधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

शोणितस्थापन–

१. **रक्तवर्धक**–

(क) **रक्तकणवर्धक**– यकृत्सत्व, आमाशयपिष्ट, लौह।

(ख) **रक्तरङ्गवर्धक**– लौह, ताम्र, स्वर्णमाक्षिक, अभ्रक।

(ग) **अम्लवर्धक**– सोमल, स्फुरक, सुधा।

(घ) **क्षारवर्धक**– क्षाराधिक्य, अपामार्ग आदि।

२. **रक्तस्तम्भन** (Haemostatic or coagulants)– नागकेशर, जपा, शाल्मली, लज्जालु, कच्छपपृष्ठ, प्रियङ्गु, पर्णबीज, कूष्माण्ड, आयापान, झण्डु, केशर, दूर्वा, रक्तनिर्यास, कर्कटक, कुकुन्दर, तिन्दुक, कुंभिका, प्रवाल, मुक्ता, शुक्ति, अकीक, तृणकान्त, गैरिक, लोध्र आदि।

३. **रक्तप्रतिस्कन्दन** (Anticoagulants)– रसोन, कुष्ठ, हरिद्रा, चित्रक आदि।

४. **रक्तक्षपण**– सोमल, स्फुरक, गंधक, सरलतैल, वातादाम्ल, मद्य, कुनयन, संज्ञाहर द्रव्य।

५. **रक्तदूषण**– शाक, लवण, क्षार।

६. **रक्तप्रसादन**—अनन्तमूल, उशवा, चोपचीनी, मुण्डी, मञ्जिष्ठा, गुडूची, चिरायता, नीम।

(ग) मांसधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **बृंहण**– राजादन, अश्वगंधा, काकोली, क्षीरकाकोली, बला, कार्पासी, महाबला, विदारी, कपिकच्छू, मुञ्जातक, मृद्वीका, खर्जूर, वाताद, अक्षोट, अभिषुक, मुकूलक, निकोचक, मांस, काकोल्यादि गण।

२. **लङ्घन** (लेखन या कर्शन)– मुस्त, कुष्ठ, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, वचा, अतिविषा, कुटकी, चित्रक, चिरबिल्व, हेमवती, यव।

३. **श्रमहर**– द्राक्षा, खर्जूर, प्रियाल, बदर, दाडिम, फल्गु, परूषक, यव, षष्टिक, इक्षु।

४. **उत्सादन**– अपामार्ग, अश्वगंधा, सुवर्चला, काकोल्यादि गण।

५. **अवसादन**– मनःशिला, सैन्धव, काशीश, तुल्थ।

(घ) मेदोधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **मेदोवर्धन**– वसा, मेद, घृत।

२. **मेदःक्षपण**– यव, मधु, चणक, गुग्गुलु।

(च) अस्थिधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **अस्थिवर्धन**– कच्छपपृष्ठ, प्रवाल, मुक्ता, शुक्ति।

२. **अस्थिक्षपण**– सुधारहित द्रव्य।

३. **अस्थिसन्धानीय**– अस्थिशृङ्खला।

(छ) मज्जाधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **मज्जावर्धन**– मज्जा।

२. **मज्जाक्षपण**– रूक्ष द्रव्य।

(ज) शुक्रधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **शुक्रवर्धन**– मधुर और स्निग्ध द्रव्य यथा क्षीर घृत, मुशली, कपिकच्छू, माष आदि।

२. **शुक्रक्षपण**– कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल तथा लवण रस और रूक्ष द्रव्य– यथा यव, चणक आदि।

स्रोतों पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **अभिष्यन्दी**– दधि आदि।

२. **प्रमाथी**– मरिच, मद्य आदि।

दोषों पर कर्म करने वाले द्रव्य

(क) वातदोष पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **वातवर्धन**– शुष्कशाक, श्यामाक, यव, जम्बू आदि। कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष और शीत द्रव्य।

२. **वातशमन**– रास्ना, देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण, मेषशृङ्गी, बला, अतिबला आदि।

(ख) पित्तदोष पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **पित्तवर्धन**– तिलतैल, पिण्याक, शुक्त, कुलत्थ, सर्षप, अतसी आदि। कटु, अम्ल, लवण, उष्ण और तीक्ष्ण द्रव्य।

२. **पित्तशमन**– चन्दन, ह्रीबेर, उशीर, मञ्जिष्ठा, विदारी, क्षीरकाकोली आदि।

(ग) कफदोष पर कर्म करने वाले द्रव्य

१. **कफवर्धन**– माष, गोधूम, कशेरुक, शृङ्गाटक, वल्लीफल आदि। मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध और शीत द्रव्य।

२. **कफशमन**– अगुरु, कुष्ठ, हरिद्रा, कर्पूर, कटु आदि।

*

दशम अध्याय

मिश्रक वर्गीकरण (Mixed Classification)

सुश्रुत ने सूत्रस्थान ३७वें अध्याय का नाम मिश्रक अध्याय रक्खा है। राजनिघण्टु में भी एक वर्ग का नाम 'मिश्रकादि वर्ग' है। अनेक समकार्य द्रव्यों को एकत्र मिश्रित कर उनका गणरूप में कथन 'मिश्रक' कहलाता है।[१] आजकल इसे 'पारिभाषिक गण' भी कहते हैं। वर्गीकरण के सिद्धान्तों पर यदि ध्यान दिया जाय तब भी 'मिश्रक' संज्ञा सार्थक प्रतीत होती है। मेरे विचार से, इस वर्ग में ऐसे गणों को रक्खा गया है जिनमें रचना और कर्म दोनों का सादृश्य हो, अत एव रचनात्मक और कर्मात्मक वर्गीकरण का एकत्र मिश्रण होने से इसे 'मिश्रक वर्गीकरण' कहना शास्त्रीय भी है और उचित भी। रचनानुसार कुलमूलक वर्गों को 'कुल', कर्मानुसार वर्गों को 'वर्ग' तथा मिश्रक वर्गों को 'गण' कहना उत्तम है। सामान्यत: गण शब्द 'समूह' का वाचक है।[२]

इस गणीकरण की शास्त्रीय परम्परा सुश्रुत से प्रारम्भ होती है जहाँ उन्होंने कर्मात्मक वर्गों को 'गण' संज्ञा दी है[३] और उन वर्गों में 'दशमूल' 'त्रिफला' आदि पारिभाषिक गणों को भी समाविष्ट किया है। चरक में यद्यपि 'शोथहर वर्ग' में दशमूल में निविष्ट सभी द्रव्यों का उल्लेख है किन्तु 'दशमूल' शब्द वहाँ नहीं आया है। पहले बतलाया जा चुका है कि इस वर्गीकरण में आभ्यन्तर साधर्म्य तो कर्ममूलक होता ही है, बाह्य साधर्म्य के भी विभिन्न आधारों का ग्रहण किया जाता है। इन गणों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उन्हें क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित करना आवश्यक है। निम्नाङ्कित वर्गीकरण से प्राचीन गणीकरण का आधार स्पष्ट हो जायगा। इसमें औद्भिद, जाङ्गम और पार्थिव द्रव्यों के गण पृथक्-पृथक् व्यवस्थित किये गये हैं।

औद्भिद गण

(क) **आकृतिगत साधर्म्य** (Morphological Similarity)–

१. **मूल**– इन गणों के द्रव्यों का मूल प्रयुक्त होता है यथा दशमूल, तृणपञ्चमूल आदि।

१. अत्रौषधानां मिश्रीकृत्य गणरूपतयाऽभिधानादस्य मिश्रकसंज्ञा। (सु० सू० ३६.१-२-चक्र०)
२. गण्यन्त इति गणा: समूहा:। (सु० सू० ३८.३-ड०)
३. समासेन सप्तत्रिंशद् द्रव्यगणा भवन्ति। (सु० सू० ३८.३)

बृहत्पञ्चमूल– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला और गम्भारी ये पाँच द्रव्य इस गण में हैं।[१] इन द्रव्यों के मूल औषधार्थ प्रयुक्त होते हैं और इन सभी के वृक्ष बड़े होते हैं इसलिए इसकी संज्ञा 'बृहत्पञ्चमूल' है।

गुणकर्म– यह गण लघु, रस में तिक्त, कषाय और किंचित् मधुर, कटु विपाक, उष्णवीर्य, कफवातशमन एवं दीपन है।[२]

लघुपञ्चमूल– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी और गोक्षुर ये पाँच द्रव्य इस गण में है।[३] इन सभी द्रव्यों के छोटे क्षुप होते हैं अत: इसे 'लघु' पञ्चमूल कहते हैं। राजनिघण्टु ने इसे 'पञ्चगण' लिखा है।

गुणकर्म– यह कषाय, तिक्त और मधुर, लघु, अनुष्ण, बृंहण, बल्य, ग्राही, ज्वरहर, श्वासहर, अश्मरीभेदन, वातपित्तशमन है।[४]

दशमूल– इन दोनों उपर्युक्त गणों को मिला देने से उसकी संज्ञा दशमूल हो जाती है।[५]

गुणकर्म– दशमूल त्रिदोषघ्न एवं आमपाचन है तथा श्वास, कास, शिर:शूल, तन्द्रा, शोथ, ज्वर, आनाह, पार्श्वशूल तथा अरुचि को दूर करता है।[६]

१. बिल्वाग्निमन्थटुण्टुकपाटला: काश्मरी चेति महत्। (सु० सू० ३८.६८)
श्रीफल: सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका। श्योनाक: पञ्चभिश्चैतै: पञ्चमूलं महन्मतम्।।
(भा० प्र० नि० गु० २९)
२. सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम्। मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम्।।
(सु० सू० ३८.६९)
पञ्चमूलं महत् तिक्तं कषायं कफवातनुत्। मधुरं श्वासकासघ्नमुष्णं लघ्वग्निदीपनम्।
(भा० प्र० नि० गु० ३०)
३. त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीय:। (सु० सू० ३८.६६)
शालपर्णी पृश्निपर्णी वार्ताकी कण्टकारिका। गोक्षुर: पञ्चभिश्चैतै: कनिष्ठं पञ्चमूलकम्।।
(भा० प्र० नि० गु० ४७)
४. कषायतिक्तमधुरं कनीय: पञ्चमूलकम्। वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम्।
(सु० सू० ३८.६७)
पञ्चमूलं लघु स्वादु बल्यं पित्तानिलापहम्। नात्युष्णं बृंहणं ग्राहि ज्वरश्वासाश्मरीप्रणुत्।।
(भा० प्र० नि० गु० ४८)
५. उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम्। (भा० प्र० नि० गु० ४९)
६. गण: श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापह:। आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशन:।।
(सु० सू० ३८.७१)
दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुज:। तन्द्राशोथज्वरानाहपार्श्वपीडाऽरुचीहरेत्।।
(भा० प्र० नि० गु० ४९)
एषां वातहरावाद्यौ– (सु० सू० ३८.७७)

कण्टकपञ्चमूल– करमर्द, गोक्षुर, सैरेयक, शतावरी, हिंस्रा ये पाँच द्रव्य इस गण में हैं।[१] ये सभी द्रव्य कण्टकयुक्त हैं इसलिए इस गण का नाम कण्टकपञ्चमूल है।

वल्लीपञ्चमूल– विदारी, सारिवा, मंजिष्ठा, गुडूची तथा मेषशृङ्गी ये पाँच द्रव्य इस गण में हैं।[२] ये सभी लतायें हैं, अत: इसका नाम वल्लीपञ्चमूल है।

कुछ लोग यहाँ 'रजनी' से हरिद्रा का ग्रहण करते हैं किन्तु वह वल्ली न होने के कारण वल्लीपञ्चमूल में कैसे आ सकता है। रञ्जन कर्म में प्रयुक्त होने से मञ्जिष्ठा के लिए 'रजनी' पर्याय उपयुक्त है।

गुणकर्म– ये दोनों गण कफशमन, रक्तपित्तहर, शोथहर, प्रमेहघ्न तथा शुक्रदोषनाशन है।[३]

तृणपञ्चमूल– कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षु ये द्रव्य तृणपञ्चमूल में हैं।[४] यह सभी तृणजातीय हैं अत: इसका तृणपञ्चमूल नाम है। कुछ आचार्य कुश, काश, शर, दर्भ और इक्षु इन पाँच द्रव्यों को तृणपञ्चमूल में लेते हैं।[५]

गुणकर्म– तृणपञ्चमूल मूत्रजनन एवं पित्तशामक है, अत: मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।[६]

सुश्रुत ने इन्हीं 'पञ्च पञ्चमूलों' का वर्णन किया है, किन्तु चरक के पञ्च पञ्चमूलों में वल्ली और कण्टक पञ्चमूलों के स्थान पर मध्यम और जीवन पञ्चमूल हैं जो निम्नलिखित हैं–

मध्यमपञ्चमूल– इसमें बला, पुनर्नवा, एरण्ड, मुद्गपर्णी और माषपर्णी हैं। यह कफवातहर, किंचिदुष्ण तथा सर होता है।[७]

१. करमर्दीत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञ:। (सु० सू० ३८.७३)
२. विदारीसारिवाराजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञ:। (सु० सू० ३८.७२)
३. रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ। सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ। (सु०सू० ३८.७४)
पञ्चकौ श्लेष्मशमनाविति परिकीर्तितौ। (सु० सू० ३८.७७)
४. कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञक:। (सु० सू० ३८.७५)
५. कुश: काश: शरो दर्भ इक्षुश्चेति तृणोद्भवम्। पञ्चतृणमिदं ख्यातं तृणजं पञ्चमूलकम्।।
(प० प्र० ३.१५७)
६. मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च। अन्त्य: प्रयुक्त: क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत्।।
(सु० सू० ३८.७६)
७. बलापुनर्नवैरण्डशूर्पपर्णीद्वयेन तु। मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं सरम्।।
(अ० ह० सू० ६.१६९-)

जीवनपञ्चमूल– अभीरु, वीरा, जीवन्ती, जीवक तथा ऋषभक को जीवनपञ्चमूल कहते हैं। यह वृष्य, चक्षुष्य तथा वातपित्तशमन है।[१]

वृद्धवाग्भट ने चरक के पाँच तथा सुश्रुत के वल्ली और कण्टक पञ्चमूलों को मिला कर सात पञ्चमूलों का वर्णन किया है।

मूलिनी– हस्तिदन्ती, हैमवती, श्यामा और अरुण त्रिवृत्, अधोगुडा, सप्तला, श्वेतापराजिता, दन्ती, इन्द्रायण, ज्योतिष्मती, बिम्बी, शणपुष्पी, विषाणिका, अजगन्धा, द्रवन्ती, क्षीरिणी ये १६ मूलिनीगण के द्रव्य हैं।

गुणकर्म– ये सभी शोधन द्रव्य हैं। इनमें हैमवती, बिम्बी तथा शणपुष्पी ये तीन वमन में, श्वेतापराजिता और ज्योतिष्मती ये दो शिरोविरेचन में तथा शेष ११ विरेचन में प्रयुक्त होते हैं।[२]

२. **कन्द**– इस गण के ओषधों का कन्द व्यवहृत होता है–

पञ्चशूरण– अत्यम्लपर्णी, काण्डीर, मालाकन्द, ग्राम्य और वन्य शूरण ये मिलकर पञ्चशूरण कहलाते हैं।[३] इसका प्रयोग यकृद्विकारों तथा अर्श में होता है।

३. **वल्ली**– इन गणों के द्रव्यों की लता होती है–

वल्लीपञ्चमूल– इसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

वल्लीफल– कूष्माण्ड, अलाबू आदि लता में लगने वाले फलों को वल्लीफल कहते हैं। इनमें कूष्माण्ड सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[४]

४. **कण्टक**– कण्टकयुक्त द्रव्य निम्नाङ्कित गण में आते हैं–

कण्टकपञ्चमूल– इसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

त्रिकण्टक– बृहती, कण्टकारी और धन्यवास को त्रिकण्टक कहते हैं।[५]

१. अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकै: स्मृतम्। जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम्।।
(अ० ह० सू० ६.१७०-)
२. हस्तिदन्ती हैमवती श्यामा त्रिवृदधोगुडा। सप्तला श्वेतनामा च प्रत्यक्श्रेणी गवाक्ष्यपि।।
ज्योतिष्मती च बिम्बी च शणपुष्पी विषाणिका। अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र षोडशी।।
शणपुष्पी च बिम्बी च च्छर्दने हैमवत्यपि। श्वेता ज्योतिष्मती चैव योज्या शीर्षविरेचने।।
एकादशावशिष्टा या: प्रयोज्यास्ता विरेचने। इत्युक्ता नामकर्मभ्यां मूलिन्य:।।
(च० सू० १.७७-७९-)
३. अत्यम्लपर्णीकाण्डीरमालाकन्दद्विशूरणै:। प्रोक्तो भवति योगोऽयं पञ्चशूरणसंज्ञक:।।
(रा० नि० मि० ४१)
४. कूष्माण्डं प्रवरं वदन्ति भिषजो वल्लीफलानां पुन:। (रा० नि० मि० १६१)
५. बृहती चाग्निदमनी दु:स्पर्शा चेति तु त्रयम्। कण्टकारीत्रयं प्रोक्तं त्रिकण्टं कण्टकत्रयम्।।
(रा० नि० मि० १५)

५. **त्वक्**– निम्नाङ्कित गणों की छाल प्रयुक्त होती है–

पञ्चवल्कल– वट, उदुम्बर, अश्वत्थ, पारीष, प्लक्ष इनकी छाल को पञ्चवल्कल कहते हैं।[१] यह कषाय और स्तम्भन होता है। राजनिघण्टु ने पारीष के स्थान पर वेतस पढ़ा है।[२]

त्रिवल्कल– पूतीक, कृष्णगन्धा और तिल्वक इनकी त्वचा त्रिवल्कल कहलाती है। यह विरेचन है।[३]

६. **क्षीर**– क्षीर के साधर्म्य से निम्नाङ्कित गण बनाये गये हैं–

क्षीरीवृक्ष– उपर्युक्त पञ्चवल्कल गण के वृक्षों को क्षीरीवृक्ष कहते हैं। इनके गुणकर्म भी पूर्वोक्त हैं।

क्षीरत्रय– अश्मन्तक, स्नुही तथा अर्क के क्षीर को क्षीरत्रय कहते हैं।[४] क्षीरत्रय तथा त्रिवल्कल इन दोनों गणों को मिलाकर चरक ने 'षड् शोधनवृक्ष' कहा है।[५]

क्षीरत्रय– अर्क, वट तथा स्नुही इनके क्षीर को भी क्षीरत्रय कहते हैं। यह मारण आदि के लिए रसतन्त्र में प्रयुक्त होता है।[६]

७. **पल्लव**–

पञ्चपल्लव– आम, जामुन, कपित्थ, बीजपूर और बिल्व इनके पत्र पञ्चपल्लव कहलाते हैं। इनका उपयोग गन्धकर्म में होता है।[७]

८. **पुष्प**–

आद्यपुष्प– चन्दन, केशर और ह्रीबेर आद्यपुष्प कहलाते हैं।[८]

१. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक् पञ्चवल्कलम्।।
(भा० प्र० नि० व० १६)

२. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः। सर्वैरेकत्र मिलितैः पञ्चवेतसमुच्यते।।
(रा० नि० मि० २५)

३. इमांस्त्रीनपरान् वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः। पूतीकः कृष्णगन्धा च तिल्वकश्च तथा तरुः।।
विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतीकस्तिल्वकस्तथा। कृष्णगन्धा परीसर्पे शोथेष्वर्शःसु चोच्यते।।
दद्रुविद्रधिगण्डेषु कुष्ठेष्वप्यलजीषु च। (च० सू० १.११६-११७-)

४. वमनेऽश्मन्तकं विद्यात्स्नुहीक्षीरं विरेचने। क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने।।
(च० सू० १.११५)

५. षड्वृक्षाञ्छोधनानेतानपि विद्याद्विचक्षणः। (च० सू० १.११८)

६. रविक्षीरं वटक्षीरं स्नुहीक्षीरं तथैव च। क्षीरत्रयमिति ख्यातं मारणादौ प्रशस्यते।।
(र० त० २.२३)

७. आम्रजम्बूकपित्थानां बीजपूरकबिल्वयोः। गन्धकर्मणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम्।।
(प० प्र० २.१५२)

८. चन्दनं कुङ्कुमं वारि त्रयमेतद्वरार्धकम्। त्रिभागकुङ्कुमोपेतं तदुक्तं चाद्यपुष्पकम्।।
(रा० नि० मि० ६)

९. **फल**–

फलिनी– शङ्खिनी, विडङ्ग, त्रपुष, मदन, धामार्गव, इक्ष्वाकु, जीमूत, कृतवेधन, क्लीतक (आनूप और स्थलज), प्रकीर्या, उदकीर्या, अपामार्ग, हरीतकी, हस्तिपर्णी, अन्तःकोटरपुष्पी, कम्पिल्लक, आरग्वध, कुटज ये फलिनी गण के द्रव्य हैं।[१] इनमें धामार्गव, इक्ष्वाकु, जीमूत, कृतवेधन, मदन, कुटज, त्रपुष, हस्तिपर्णिनी ये ८ वमन और आस्थापन में, प्रत्यक्पुष्पी एक शिरोविरेचन और वमन में तथा शेष १० विरेचन में प्रयुक्त होते हैं।[२]

त्रिफला– हरीतकी, बिभीतक, आमलक ये त्रिफला के द्रव्य हैं।[३] इन तीनों का सम परिमाण में योग होने के कारण त्रिफला कहलाती है।[४] कहीं-कहीं संख्या के आधार पर इनका योग करना लिखा है यथा एक हरीतकी, दो बिभीतक और चार आँवले इन सब को एकत्र मिलाने से त्रिफला बनती है।[५] किन्तु परिमाण की दृष्टि से यह भी सम ही होती है क्योंकि एक हरीतकी परिमाण में दो बिभीतक तथा चार आँवले के बराबर होती है क्योंकि एक हरीतकी का मान दो कर्ष, एक बिभीतक का मान एक कर्ष तथा एक आमलकी का मान आधा कर्ष माना गया है। यहाँ शुष्क द्रव्य ही अभिप्रेत हैं आर्द्र नहीं। इसमें कषाय रस की प्रधानता होने से इसे 'कषाय त्रिफला' कह सकते हैं।

गुणकर्म– त्रिफला में कषाय प्रधान रस तथा अन्य अनुरस होते हैं। इसका विपाक मधुर तथा वीर्य अनुष्ण होता है। यह त्रिदोषहर है क्योंकि इसके यौगिक द्रव्यों में विशेषतः हरीतकी वातघ्न, बिभीतक कफघ्न तथा आमलक पित्तघ्न है और कषायरस होने के कारण यह विशेषतः कफपित्तशमन है। यह सर तथा अग्निदीपन

१. शङ्खिन्यथ विडङ्गानि त्रपुषं मदनानि च। धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।।
आनूपं स्थलजं चैव क्लीतकं द्विविधं स्मृतम्। प्रकीर्या चोदकीर्या च प्रत्युक्पुष्पी तथाऽभया।।
अन्तःकोटरपुष्पी च हस्तिपर्ण्याश्च शारदम्। कम्पिल्लकारग्वधयोः फलं यत् कुटजस्य च।।
(च० सू० १.८१-८२-)

२. धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्। मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी।।
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च। नस्तः प्रच्छर्दने चैव प्रत्यक्पुष्पा विधीयते।।
दश यान्यवशिष्टानि तान्युक्तानि विरेचने। नामकर्मभिरुक्तानि फलान्येकोनविंशतिः।।
(च० सू० १.८३-८५-)

३. हरीतक्यामलकबिभीतकानीति त्रिफला। (सु० सू० ३८.५६)

४. पथ्याबिभीतधात्रीणां फलैः स्यात्त्रिफला समैः। फलत्रिकं च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता।।
(भा० प्र० नि० ह० ४३)

५. एका हरीतकी योज्या द्वौ योज्यौ च बिभीतकौ। चत्वार्यामलकान्येवं त्रिफलैषां प्रकीर्तिता।।
(शा० म० ६.९-)

है। कषाय रस एवं अनुष्ण वीर्य होने के कारण अनेक नेत्ररोगों में हितकर है। कफशमन होने से प्रमेह तथा पित्तशमन होने से रक्तविकार, कुष्ठ आदि को दूर करती है। विषमज्वर त्रिदोषज होता है, अतः यह त्रिदोषहर एवं सर होने के कारण विषमज्वर में भी लाभकर है। कफशमन एवं सर होने से अरुचि को भी दूर करती है।[१] इस प्रकार यह संशोधन और संशमन दोनों कर्मों के सम्पादन के कारण अतीव प्रशस्त योग है। इसे महती त्रिफला भी कहते हैं।

स्वल्प त्रिफला– गम्भारी, खर्जूर और परूषक के फलों को मिलाकर स्वल्प त्रिफला कहते हैं।[२] यह पित्तशमन है।

मधुर त्रिफला– उपर्युक्त योग में परूषक के स्थान पर द्राक्षा रखकर इसका नाम राजनिघण्टु ने मधुर त्रिफला दिया है।[३] यह पित्तशमन है।

सुगंधि त्रिफला– जातीफल, लवङ्ग तथा पूगफल ये तीनों 'सुगंधित्रिफला' कहलाते हैं।[४] इसका प्रयोग मुखदौर्गन्ध्यनाशन के लिए करते हैं।

१०. **बीज**–

चतुर्बीज– मेथी, चन्द्रशूर, मङ्गरैल तथा यवानी के बीजों को चतुर्बीज कहते हैं।[५]

गुणकर्म– यह उष्णवीर्य होने के कारण वातशमन है और इसका चूर्ण वातव्याधि, पार्श्वशूल, कटिशूल, अजीर्ण, शूल, आध्मान आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।[६]

(ख) **गुण साधर्म्य** (Qualitative similarity)–

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों के सादृश्य से भी गणों का निर्माण हुआ है।

१. त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठहरा सरा। चक्षुष्या दीपनी रुच्या विषमज्वरनाशिनी।।
(भा० प्र० नि० ह० ४३)

२. स्वल्पा काश्मर्यखर्जूरपरूषकफलैर्भवेत्। (प० प्र० ३.१४९)

३. द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरीफलानि मिलितानि तु। मधुरत्रिफला ज्ञेया मधुरादिफलत्रयम्।।
(रा० नि० मि० ४)

४. जातीफलं पूगफलं लवङ्गकलिकाफलम्। सुगंधित्रिफला प्रोक्ता सुरभित्रिफला च सा।।
(रा० नि० मि० ५)

५. मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाऽजाजी यवानिका। एतच्चतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम्।।
(भा० प्र० नि० ह० ९८)

६. तच्चूर्णं भक्षितं नित्यं निहन्ति पवनामयम्। अजीर्णशूलमाध्मानं पार्श्वशूलं कटिव्यथाम्।।
(भा० प्र० नि० ह० ९९)

१. **शब्द**– संज्ञागत शब्द के सादृश्य से अनेक द्रव्य एक गण में रक्खे गये हैं और प्रायः ये द्रव्य '**यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति**' इस न्याय से कर्म में भी समान होते हैं यथा–

ककारादि गण– कूष्माण्ड, कच्छप, कलिङ्गफल, कोल, कुलत्थ, कर्कोटी, कतक, कपित्थ, काञ्चनारपुष्प, कङ्गु, काञ्जिक, करैला, कर्कोटक, कर्कटी, कुसुम्भ, कपोत यह ककारादि गण है। रससेवन-काल में इनका प्रयोग निषिद्ध है।[१]

ककाराष्टक– कलिङ्ग, कारवेल्ल, कदली, काकमाची, कुसुम्भ, कर्कोटी, कूष्माण्ड तथा कर्कटी यह ककाराष्टक कहलाता है। इसका सेवन रससेवन-काल में नहीं करना चाहिए।[२]

२. **स्पर्श**–

महास्नेह– घृत, तैल, वसा और मज्जा इनको महास्नेह कहते हैं।

गुणकर्म– यह त्रिदोषहर, स्नेहन, जीवन, वर्ण्य, बल्य एवं बृंहण है। इसका प्रयोग पान, अभ्यङ्ग, बस्ति एवं नस्य के रूप में होता है।[३]

यमक-त्रिवृत्– उपर्युक्त स्नेहों में से कोई दो मिले हों तो उन्हें यमक और कोई तीन मिले हों तो त्रिवृत् कहते हैं।[४]

३. **रूप**– रूप के सादृश्य से निम्नाङ्कित गण किये गये हैं–

शुक्लवर्ग– चूना, कच्छपपृष्ठ, शंख, शुक्ति और वराटिका इनको शुक्लवर्ग

१. कूष्माण्डं कमठः कलिङ्गकफलं कोलं कुलत्थास्तथा
कर्कोटी कतकं कपित्थकफलं वै काञ्चनीयं सुमम्।
कङ्गुं काञ्जिककारवेल्लकफलं कर्कोटकः कर्कटी
कौसुम्भश्च कपोतकः खलु गणः प्रोक्तः ककारादिकः।।
ककारादिगणोक्तानि भेषजानि कदाचन। रसायनफलाकाङ्क्षी रससेवी न भक्षयेत्।।
(र० त० ७.९३-९४)

२. कलिङ्गं कारवेल्लं च कदली काकमाचिका। कुसुम्भिका च कर्कोटी कूष्माण्डं कर्कटी तथा।
ककाराष्टकमेतद्धि प्रोक्तं रसविशारदैः। वर्जयेद्रससेवी च नित्यमेतत्प्रयत्नतः।।
(र० त० ७.९९-१००)

३. सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः। पानाभ्यञ्जनबस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः।।
स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः। स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः।।
(च० सू० १.८६-८७-)

४. सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम्। द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान्।।
(अ० ह० सू० १६.२,४)

कहते हैं।[१] राजनिघण्टु ने इसमें कच्छपपृष्ठ के स्थान पर खड़िया का ग्रहण किया है।[२] पारद के शुक्लकर्म में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवर्ग– मञ्जिष्ठा, कुंकुम, लाक्षा, खदिर, असन यह रक्तवर्ग है।[३] राजनिघण्टुकार ने रक्तवर्ग में दाडिम, पलाश, लाक्षा, बन्धूक, हरिद्रा, कुसुम्भ तथा मञ्जिष्ठा इन द्रव्यों का ग्रहण किया है।[४]

पीतवर्ग– कुसुम्भ, किंशुक, हरिद्रा, पतङ्ग और मदयन्तिका यह पीतवर्ग है।[५]

इन दोनों गणों का पारद के रञ्जनकर्म में प्रयोग होता है।

कृष्णवर्ग– केला, करैला, त्रिफला, नीलिका, नल, पङ्क, कासीस, कच्चा आम ये कृष्णवर्ग के द्रव्य हैं।[६] यह भी पारद के रञ्जनकर्म में प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त चारों वर्ग पारद के मारण कर्म में उपयुक्त होते हैं।[७]

४. रस– रस के आधार पर निम्नाङ्कित गण हैं–

मधुरत्रय– शर्करा, मधु और घृत इन्हें मधुरत्रय कहते हैं।[८] रसतरंगिणी ने शर्करा के स्थान पर गुड़ पढ़ा है।[९]

पञ्चमधुर– जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती और शतावरी– ये द्रव्य पञ्चमधुर कहलाते हैं।[१०] ये सभी द्रव्य मधुरस्कन्ध में पठित हैं। यह गण चरकोक्त ब्राह्मरसायन में जीवकादि (जीवन) पञ्चमूल के नाम से निर्दिष्ट है (च० चि० १.१.४१)।

---

१. शुक्लवर्गः सुधाकूर्मशङ्खशुक्तिवराटिकाः। (र० ५.४०)

२. खटिनीश्वेतसंयुक्ताः शङ्खशुक्तिवराटिकाः। भृष्टाश्मशर्करा चेति शुक्लवर्ग उदाहृतः।।
(रा० नि० मि० ६७)

३. मञ्जिष्ठा कुङ्कुमं लाक्षा खदिरश्चासनस्तथा। रक्तवर्गास्तु देवेशि! (र० ५.३९)

४. दाडिमं किंशुकं लाक्षा बन्धूकं च निशाह्वयम्।
कुसुम्भपुष्पं मञ्जिष्ठा इत्येतै रक्तवर्गकः।। (रा० नि० मि० ६६)

५. पीतवर्गमतः शृणु। कुसुम्भं किंशुकं रात्री पतङ्गो मदयन्तिका। (र० ५.३९)

६. कदली कारवेल्ली च त्रिफला नीलिका नलः। पङ्कः कासीसबालाम्रं कृष्णवर्ग उदाहृतः।।
(र० चू० ९.२६)

७. रक्तवर्गादिवर्गैश्च द्रव्यं यज्जारणात्मकम्। भावनीयं प्रयत्नेन तादृग्रागाप्तये खलु।। (र० चू० ९.२७)

८. सितामाक्षिकसर्पींषि मिलितानि यदा तदा। मधुरत्रयमाख्यातं त्रिमधु स्यान्मधुत्रयम्।
(रा० नि० मि० १०)

९. आज्यं गुडो माक्षिकं च विज्ञेयं मधुरत्रयम्। (र० त० २.२०)

१०. जीवकर्षभकौ मेदा जीवन्ती च शतावरी।
एतानि पञ्च द्रव्याणि विद्यान्मधुरपञ्चकम्।। (स्व०)

मधुरवर्ग– अष्टवर्ग, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलेठी को मधुरवर्ग या जीवकादिवर्ग कहते हैं।[१] भावप्रकाश ने इसे जीवनीय गण कहा है। यह गुरु, गर्भप्रद, स्तन्यकर, शीत, बृंहण, शुक्रल, श्लेष्मल, तृष्णा, शोष, ज्वर तथा दाह नाशक रक्तपित्तशमन है।[२]

त्रिकटु– शुण्ठी, पिप्पली और मरिच इसे त्रिकटु कहते हैं।[३] यह कटुरस, कटुविपाक तथा उष्णवीर्य है इसलिए कफ-वात दोषों को शान्त करता है। अतः यह श्वास, कास, गुल्म, प्रमेह, स्थौल्य, मेदोरोग, श्लीपद और पीनस में लाभ करता है। यह स्वेदजनन होने के कारण त्वचा को उत्तेजित करता है अतः चर्मरोगों में हितकर है।[४]

कटुचातुर्जातक– इलायची, दालचीनी, तेजपत्र तथा मरिच इन्हें कटुचतुर्जात कहते हैं।[५]

चतुरूषण– त्रिकटु में पिप्पलीमूल मिला देने से चतुरूषण हो जाता है। इसके गुणकर्म त्रिकटु के समान ही किन्तु कुछ विशिष्ट हैं।

पञ्चकोल– पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और शुण्ठी ये पञ्चकोल के द्रव्य हैं।[६] 'कोला' पिप्पली का पर्याय है अतः पिप्पली-प्रधान पाँच कटु द्रव्यों के योग के कारण इसे 'पंचकोल' कहते हैं। सब द्रव्य कोल (१/२ कर्ष) परिमाण में लिये जाते हैं, इसलिए भी पञ्चकोल कहते हैं। कटु द्रव्य होने के कारण कुछ लोग इसे 'पञ्चोषण' भी कहते हैं।

---

१. स्याज्जीवकर्षभकयुग्मयुगद्विमेदा- काकोलिकाद्वययुतद्विकशूर्पपर्ण्यौ।
जीव्या मधूकयुतया मधुराह्वयोऽयं योगो महानिह विराजति जीवकादिः।।
(रा० नि० मि० ५९)

२. अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका। माषपर्णी गणोऽयं तु जीवनीय इति स्मृतः।।
जीवनो मधुरश्चापि नाम्ना स परिकीर्तितः। जीवनीयगणः प्रोक्तः शुक्रकृद् बृंहणो हिमः।।
गुरुर्गर्भप्रदः स्तन्यकफकृत् पित्तरक्तहृत्। तृष्णां शोषं ज्वरं दाहं रक्तपित्तं व्यपोहति।।
(भा० प्र० नि० गु० ५७-५९)

३. विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते। कटुत्रिकं तु त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषमुच्यते।।
(भा० प्र० नि० ह० ६२)

४. त्र्यूषणं दीपनं हन्ति श्वासकासत्वगामयान्। गुल्ममेहकफस्थौल्यमेदःश्लीपदपीनसान्।।
(भा० प्र० नि० ह० ६३)

५. एलात्वक्पत्रकैस्तुल्यैर्मरिचेन समन्वितैः। कटुपूर्वमिदं चान्यच्चातुर्जातकमुच्यते।।
(रा० नि० मि० १९)

६. पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरैः। पञ्चभिः कोलमात्रं यत् पञ्चकोलं तदुच्यते।।
(भा० प्र० नि० ह० ७२)

गुणकर्म– यह तीक्ष्णगुण, कटुरस, कटुविपाक तथा उष्णवीर्य है, इस कारण कफवातशमन, पित्तप्रकोपण, दीपन तथा पाचन है। गुल्म, प्लीहा, उदर, आनाह और शूल रोगों में लाभकर है।[१]

षड्‌षण– पञ्चकोल में मरिच मिला देने से षड्‌षण कहते हैं। पञ्चकोल स्निग्ध है क्योंकि पिप्पली तथा शुण्ठी स्निग्ध और मधुरविपाक होने के कारण समस्त योग को प्रभावित करती हैं किन्तु मरिच मिला देने से स्निग्धता दब जाती है, अत: षड्‌षण रूक्ष होता है। इसमें उष्णता भी विशिष्ट होती है। प्रभाव के कारण यह विषघ्न भी है।[२]

पञ्चतिक्त– गुडूची, निम्ब, वासा, कण्टकारी और पटोल ये पञ्च-तिक्त हैं।[३]

अम्लपञ्चक– अम्लवेतस, जम्बीर, मातुलुङ्ग, नारङ्ग, निम्बुक ये फलपञ्चाम्ल या अम्लपञ्चक कहलाते हैं।[४] राजनिघण्टु ने दो प्रकार के अम्लपञ्चक और लिखे हैं– (क) कोल, दाडिम, वृक्षाम्ल, चुल्लकी, अम्लवेतस[५], (ख) जम्बीर, नारङ्ग, अम्लवेतस, तिन्तिडीक और बीजपूर।[६]

अम्लवर्ग– जम्बीर, निम्बुक, अम्लवेतस, इमली, नारङ्ग, दाडिम, वृक्षाम्ल, बीजपूर, चाङ्गेरी, चणकाम्ल, कर्कन्धु, करमर्द, चुक्रिका यह अम्लवर्ग है।[७] राजनिघण्टुकार ने इसमें चाङ्गेरी, लकुच, अम्लवेतस, जम्बीर, बीजपूर, नारङ्ग, दाडिम, कपित्थ,

१. पञ्चकोलं रसे पाके कटुकं रुचिकृन्मतम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं श्रेष्ठं दीपनं कफवातनुत्।।
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम्। (भा० प्र० नि० ह० ७३)

२. पञ्चकोलं समरिचं षड्‌षणमुदाहृतम्। पञ्चकोलगुणं तत्तु रूक्षमुष्णं विषापहम्।।
(भा० प्र० नि० ह० ७४)

३. गुडूची निम्बमूलत्वक् भिषङ्माता निदिग्धिका। पटोलपत्रमित्येतत् पञ्चतिक्तं प्रकीर्तितम्।।
(र० त० २.१८)

४. अम्लवेतसजम्बीरलुङ्गनारङ्गनिम्बुकै:। फलं पञ्चाम्लकं ख्यातं कीर्तितञ्चाम्लपञ्चकम्।।
(र० त० २.१५)

५. कोलदाडिमवृक्षाम्लं चुल्लकी साम्लवेतसा। फलं पञ्चाम्लमुद्दिष्टमम्लपञ्चफलं स्मृतम्।।
(रा० नि० मि० ३४)

६. जम्बीरनारङ्गसहाम्लवेतसै: सतिन्तिडीकैश्च सबीजपूरकै:।
समांशभागेन तु मेलितैरिदं द्वितीयमुक्तं च फलाम्लपञ्चकम्।। (रा० नि० मि० ३५)

७. जम्बीरं निम्बुकं चैव त्वम्लवेतसमम्लिका। नारङ्गं दाडिमं चैव वृक्षाम्लं बीजपूरकम्।।
चाङ्गेरी चणकाम्लं च कर्कन्धु: करमर्दक:। चुक्रिका चेति सामान्यादम्लवर्ग: प्रकीर्तित:।।
(र० त० २.१३-१४)

वृक्षाम्ल, आम्रातक, करमर्द, निम्बुक तथा दोनों पञ्चाम्ल का ग्रहण किया है।[१] अम्लवर्ग में निम्बूक सर्वश्रेष्ठ है, कुछ लोग अम्लवेतस और इमली को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।[२]

एक-द्वि-त्रि-चतु:-पञ्चलवण– केवल लवण से सैन्धव, द्विलवण से सैन्धव और सौवर्चल, त्रिलवण से सैन्धव, सौवर्चल और विड (आचार्य यादवजी ने विडलवण को नौसादर कहा है इसलिए कि यह मल-मूत्र से बनता है); चतुर्लवण से सैन्धव, सौवर्चल, विड और सामुद्र तथा पञ्चलवण से ये चारों तथा साम्भर नमक का ग्रहण होता है।[३]

पञ्चकषाय– तिन्दुक, हरीतकी, लोध्र, लज्जालु और आमलक– यह गण पञ्चकषाय कहलाता है।[४]

५. **गन्ध**–

त्रिजातक– दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपत्र मिलकर त्रिजातक कहलाता है।[५] 'जात' शब्द यहाँ सुगन्धि का वाचक है।

चतुर्जातक– त्रिजातक में नागकेसर मिला देने पर चतुर्जातक हो जाता है।[६]

गुणकर्म– ये दोनों गण रूक्ष, तीक्ष्ण, लघु तथा उष्णवीर्य हैं अत: कफवातशमन तथा पित्तकारक, दीपन, रोचन, वर्ण्य और विषघ्न हैं। सुगन्धि होने के कारण मुखदौर्गन्ध्यनाशन हैं और मुखशोधन में प्रयुक्त होते हैं।[७]

१. चाङ्गेरी लिकुचाम्लवेतसयुतं जम्बीरकं पूरकं
नारङ्गं फलषाडवस्त्विति तु पिण्डाम्लञ्च बीजाम्लकम्।।
अम्बष्ठासहितं द्विरेतदुदितं पञ्चाम्लकं तद्द्वयं,
विज्ञेयं करमर्दनिम्बुकयुतं स्यादम्लवर्गाह्वयम्।। (रा० नि० मि० ३६)

२. सर्वेषामम्लजातीनां निम्बूकं गुणवत्तमम्। अम्लवेतसकं वापि त्वम्लिका वा गुणाधिका।
(र० त० २.१७)

३. सिन्धु सौवर्चलं चैव बिडं सामुद्रिकं गडम्। एकद्वित्रिचतु:पञ्चलवणानि क्रमाद् विदु:।
(शा० म० ६.२१)

४. तिन्दुकान्यभया रोध्रं समङ्गामलकं मधु।
पूरणञ्चात्र पथ्यं स्यात्-
क्वाथं पञ्चकषायं तु- (सु० उ० २१.४२,४६)

५. त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्। (भा० प्र० नि० क० ७२)

६. नागकेशरसंयुक्तं चतुर्जातकमुच्यते।। (वही)

७. तद्द्वयं रोचनं रूक्षं तीक्ष्णोष्णं मुखगन्धहृत्। लघुपित्ताग्निकृद्वर्ण्यं कफवातविषापहम्।।
(भा० प्र० नि० क० ७३)

पञ्चसुगन्धिक– कर्पूर, कङ्कोल, लवङ्ग, पूग, जातीफल ये पञ्चसुगन्धिक कहलाते हैं।[१]

सर्वौषधिगण– कुष्ट, मांसी, हरिद्रा, वचा, शैलेय, चन्दन, मुरा, कर्चूर, मुस्ता ये सर्वौषधिगण के द्रव्य हैं।[२]

सुगन्धामलक– उपर्युक्त सर्वौषधिगण से युक्त आमलकीत्वक् को सुगन्धामलक कहते हैं।[३]

सर्वगन्ध– चातुर्जातक, कर्पूर, कङ्कोल, अगुरु, शिलारस और लवङ्ग इनको सर्वगन्ध कहते हैं।[४]

देवकर्दम– चन्दन, अगुरु, कर्पूर, केशर इनको मिलाने से देवकर्दम कहते हैं।[५]

यक्षकर्दम– कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी, कङ्कोल, यक्षधूप इन्हें यक्षकर्दम कहते हैं।[६] कुछ लोग इसमें, केशर, अगुरु, कस्तूरी, कर्पूर, चन्दन का ग्रहण करते हैं।[७]

६. **संख्या**– द्रव्यों की संख्या के आधार पर भी गणों का नामकरण किया गया है यथा–

अष्टवर्ग– जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि और वृद्धि ये आठ द्रव्य मिलकर अष्टवर्ग कहलाते हैं।[८]

---

१. कर्पूरकङ्कोललवङ्गपुष्पगुवाकजातीफलपञ्चकेन।
समांशभागेन च योजितेन मनोहरं पञ्चसुगन्धिकं स्यात्।। (रा० नि० मि० २३)

२. कुष्ठमांसीहरिद्राभिर्वचाशैलेयचन्दनैः। मुराकर्चूरमुस्ताभिः सर्वौषधमुदाहृतम्।।
(रा० नि० मि० ६१)

३. सर्वौषधिसमायुक्ताः शुष्काश्चामलकत्वचः। यदा तदाऽयं योगः स्यात् सुगन्धामलकाभिधः।।
(रा० नि० मि० ६३)

४. चातुर्जातककर्पूरकङ्कोलागुरुसिह्लकम्। लवङ्गसहितं चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत्।।
(प० प्र० ३.१४८)

५. श्रीखण्डागुरुकर्पूरकाश्मीरैस्तु समांशकैः। मृगाङ्कमुकुटार्होऽयं मिलितैर्देवकर्दमः।।
(रा० नि० मि० २०)

६. कर्पूरागुरुकस्तूरीकङ्कोलैर्यक्षधूपकः। एकीकृतमिदं सर्वं यक्षकर्दम इष्यते।।
(रा० नि० मि० २१)

७. कुङ्कुमागुरुकुरङ्गनाभिकाचन्द्रचन्दनसमांशसम्भृतम्।
त्र्यक्षपूजनपरैकगोचरं यक्षकर्दममिमं प्रचक्षते।। (रा० नि० मि० २२)

८. जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके। अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः।।
(भा० प्र० नि० ह० १२०-१२१)

गुणकर्म– अष्टवर्ग रस और विपाक में मधुर, शीतवीर्य और गुरु होता है अतः शुक्रल, बृंहण, भग्नसन्धानकारक, बल्य, वाजीकर, कफकर, रक्तपित्तहर, तृष्णाशमन, दाहप्रशमन, ज्वरघ्न, प्रमेहघ्न, क्षयघ्न एवं वातपित्तशामक है।[१]

७. **परिमाण**– परिमाण के आधार पर निम्नांकित गण बनाये गये हैं–

पञ्चकोल– इसका वर्णन ऊपर दिया जा चुका है।

समत्रितय– हरीतकी, शुण्ठी और गुड़ समभाग परिमाण में मिलाने पर समत्रितय कहलाते हैं।[२]

त्रिकर्षिक– शुण्ठी, अतिविषा और मुस्ता १-१ कर्ष के परिमाण में मिलाने पर त्रिकर्षिक कहलाते हैं।[३]

चातुर्भद्र– त्रिकर्षिक में गुडूची मिला देने पर उसकी चातुर्भद्र संज्ञा हो जाती है।[४]

त्रिमद– विडङ्ग, मुस्त और चित्रक को त्रिमद कहते हैं।[५]

क्षारद्वय– सज्जीखार और यवक्षार को क्षारद्वय कहते हैं।[६]

क्षारत्रय– क्षारद्वय में टङ्कण मिला देने पर क्षारत्रय हो जाता है।[७]

क्षारपञ्चक– यव, मुष्कक, सर्ज, पलाश एवं तिल के क्षार को क्षारपञ्चक कहते हैं।[८]

क्षारषट्क– धव, अपामार्ग, कुटज, लाङ्गली, तिल, मुष्कक इनके क्षारों को मिलाने पर क्षारषट्क होता है।[९]

---

१. अष्टवर्गो हिमः स्वादुर्बृंहणः शुक्रलो गुरुः। भग्नसन्धानकृत् कामबलासबलवर्धनः।।
वातपित्तास्रतृड्दाहज्वरमेहक्षयापहः। (भा० प्र० नि० ह० १२२)

२. हरीतकी नागरं च गुडश्चेति त्रयं समम्। समत्रितयमित्युक्तं त्रिसमं च समत्रयम्।
(रा० नि० मि० ९)

३. नागरातिविषामुस्तात्रयमेतत् त्रिकर्षिकम्। (रा० नि० मि० १६)

४. गुडूच्या मिलितं तच्च चातुर्भद्रकमुच्यते। (रा० नि० मि० १७)

५. विडङ्गमुस्तचित्रैश्च त्रिमदः समुदाहृतः। (प० प्र० ३.१५०)

६. स्वर्जिका यावशूकश्च क्षारद्वयमुदाहृतम्। (भा० प्र० नि० ह० २५७)

७. टङ्कणेन युतं तत्तु क्षारत्रयमुदीरितम्। (भा० प्र० नि० ह० २५७)

८. यवमुष्ककसर्जानां पलाशतिलयोस्तथा। क्षारैस्तु पञ्चभिः प्रोक्तः पञ्चक्षाराभिधो गणः।।
(रा० नि० मि० ४८)

९. धवापामार्गकुटजलाङ्गलीतिलमुष्कजैः। क्षारैरेतैस्तु मिलितैः क्षारषट्कमुदाहृतम्।।
(रा० नि० मि० ५१)

क्षाराष्टक– पलाश, वज्री, शिखरी, चिञ्चा, अर्क, तिलनाल के क्षार तथा यवक्षार और सज्जीखार को क्षाराष्टक कहते हैं।[१]

क्षारदशक– शिग्रु, मूलक, पलाश, चुक्रिका, चित्रक, आर्द्रक, निम्ब, इक्षु, अपामार्ग तथा कदली के क्षार को क्षारदश कहते हैं।[२] ये सभी क्षार गण गुल्म और शूल के नाशक हैं।[३]

(ग) **कर्म-साधर्म्य** (Pharmacological Similarity)– कर्म के साधर्म्य से अनेक गणों का निर्माण हुआ है–

महापञ्चविष– शृङ्गिक, कालकूट, मुस्तक, वत्सनाभ और सक्तुक ये महापञ्चविष हैं।[४]

उपविष– अर्कक्षीर, स्नुहीक्षीर, लाङ्गली, करवीर, गुञ्जा, अहिफेन, धत्तूर ये उपविष कहलाते हैं।[५]

(घ) **जाति-साधर्म्य**– एक जाति के द्रव्यों को मिलाकर भी एक गण बनाया जाता है यथा–

त्रिशर्करा– गुड़, मधु और हिम इन तीनों से उत्पन्न शर्करा को शर्करात्रितय या त्रिशर्करा कहते हैं।[६]

(च) **योनि-साधर्म्य**– जिन द्रव्यों के कार्यों में योनिगत समानता हो उन्हें एक-एक गण में रक्खा जाता है यथा क्षारयोनि, स्नेहयोनि आदि।

क्षारयोनि– मुष्कक, कुटज, पलाश, अश्वकर्ण, पारिभद्र, बिभीतक, आरग्वध, तिल्वक, अर्क, स्नुही, अपामार्ग, पाटला, नक्तमाल, वृष, कदली, चित्रक, पूतिक, इन्द्रवृक्ष, आस्फोता, करवीर, सप्तपर्ण, अग्निमंथ, गुञ्जा, कोशातकी, गण्डीर, बिल्व, गणिकारिका, शोभाञ्जन, नीप, निम्ब, निर्दहनी, बृहतीद्वय,

१. पलाशवज्रिशिखरिचिञ्चाऽर्कतिलनालजाः। यवजः स्वर्जिका चेति क्षाराष्टकमुदाहृतम्।
(भा० प्र० नि० ह० २५८-)

२. शिग्रमूलकपलाशचुक्रिकाचित्रकार्द्रकसनिम्बसम्भवैः।
इक्षुशैखरिकमोचकोद्भवैः क्षारपूर्वदशकं प्रकीर्तितम्।। (रा० नि० मि० ५७)

३. क्षारा एतेऽग्निना तुल्या गुल्मशूलहरा भृशम्। (भा० प्र० नि० ह० २५९)

४. शृङ्गिकः कालकूटश्च मुस्तको वत्सनाभकः। सक्तुकश्चेति योगोऽयं महापञ्चविषाभिधः।
(रा० नि० मि० ४२)

५. अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गलीकरवीरकौ। गुञ्जाऽहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः।।
(भा० प्र० नि० घा० २०६)

६. गुडोत्पन्ना हिमोत्पन्ना मधुजातेति मिश्रितम्। त्रिशर्करा च त्रिसिता सितात्रयसितात्रिके।।
(रा० नि० मि० ११)

भल्लातक, इङ्गुदी, वैजयन्ती, वर्षाभू, ह्रीबेर, इक्षुरक, इन्द्रवारुणी, श्वेतमोक्षक, अशोक आदि।[१] इन वृक्षों के क्षार बनाये जाते हैं, जो शल्य और कायचिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।

आसवयोनि– आश्रयभेद से इसके ९ उपभेद होते हैं[२]–

(क) **धान्य**– सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, धान्याम्ल।

(ख) **फल**– मृद्वीका, खर्जूर, काश्मर्य, धन्वन, राजादन, तृणशून्य, परूषक, अभया, आमलक, मृगलिंडिका, जाम्बव, कपित्थ, कुवल, बदर, कर्कन्धु, पीलु, प्रियाल, पनस, न्यग्रोध, अश्वत्थ, प्लक्ष, कपीतन, उदुम्बर, अजमोद, शृङ्गाटक, शंखिनी।

(ग) **मूल**– विदारिगन्धा, अश्वगन्धा, कृष्णगन्धा, शतावरी, श्यामा, त्रिवृत्, दन्ती, द्रवन्ती, बिल्व, एरण्ड, चित्रक।

(घ) **सार**– शाल, प्रियक, अश्वकर्ण, चन्दन, स्यन्दन, खदिर, कदर, सप्तपर्ण, अर्जुन, असन, अरिमेद, तिन्दुक, अपामार्ग, शमी, शुक्तिपत्र, शिंशपा, शिरीष, वञ्जुल, धन्वन, मधूक।

(च) **पुष्प**– पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, मधूक, प्रियङ्गु, धातकी।

(छ) **काण्ड**– इक्षु, काण्डेक्षु, इक्षुवालिका, पुण्ड्रक।

(ज) **पत्र**– पटोल, ताड़क।

(झ) **त्वक्**– लोध्र, तिल्वक, एलवालुक, क्रमुक।

(ट) **शर्करा**–

इस प्रकार कुल मिलाकर इस गण में ८० द्रव्य होते हैं।

स्नेहयोनि– जिन द्रव्य से स्नेह निकलता है। उनका समावेश इस गण में किया गया है। मुख्यतः यह दो प्रकार के होते हैं स्थावर और जाङ्गम।[३] जाङ्गम

१. महान्तमसितमुष्ककमधिवास्या....अनेनैव विधानेन कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रकबिभीतकारग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतिकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाश्वतस्रश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा दहेत्। (सु० सू० ११.११)
गण्डीरपलाशकुटजबिल्वार्कस्नुह्यपामार्गपाटलापारिभद्रकनादेयीकृष्णगन्धानीपनिम्बनिर्दहन्याटरूषकनक्तमालकपूतिकबृहतीकण्टकारिकाभल्लातकेङ्गुदीवैजयन्तीकदलीवर्षाभूह्रीबेरेक्षुरकेन्द्रवारुणीश्वेतमोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखम्....विपचेत्।
(सु० चि० ४.३२)

२. (च० सू० २५.४९)

३. स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा। (च० सू० १३.९)

में दधि, क्षीर, घृत, मांस, वसा और मज्जा का अन्तर्भाव होता है तथा स्थावर स्नेहयोनि में निम्नाङ्कित द्रव्य आते हैं–

तिल, प्रियाल, अभिषुक, बिभीतक, चित्रा, अभया, एरण्ड, मधूक, सर्षप, कुसुम्भ, बिल्व, आरुक, मूलक, अलसी, निकोचक, अक्षोट, करञ्ज, शिग्रुक।[१] सुश्रुत ने कर्म और प्रयोग के भेद से स्नेहों का विस्तार से वर्णन किया है–

विरेचन– तिल्वक, एरण्ड, कोशाम्र, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला, शंखिनी, पलाश, विषाणिका, इन्द्रायण, कम्पिल्लक, शम्पाक, नीलिनी।[२]

वमन– जीमूतक, कुटज, कृतवेधन, इक्ष्वाकु, धामार्गव, मदन।[३]

शिरोविरेचन– विडङ्ग, अपामार्ग, मधुशिग्रु, सूर्यवल्ली, पीलु, सिद्धार्थक, ज्योतिष्मती।[४]

दुष्टव्रणशोधन– करञ्ज, पूतिक, कृतमाल, मातुलुङ्ग, इङ्गुदी, किरात।[५]

कुष्ठघ्न– तुवरक, कपित्थ, कम्पिल्लक, भल्लातक, पटोल।[६]

मूत्रजनन– त्रपुष, एर्वारुक, कर्कारुक, तुम्बी, कूष्माण्ड।[७]

अश्मरीघ्न– कपोतवङ्का, बाकुची, हरीतकी।[८]

प्रमेहघ्न– कुसुम्भ, सर्षप, अतसी, पिचुमर्द, अतिमुक्तक, भाण्डी, कटुतुम्बी, कटभी।[९]

वातपित्तघ्न– ताल, नारिकेल, पनस, मोच, प्रियाल, बिल्व, मधूक, श्लेष्मातक, आम्रातक के फल।[१०]

---

१. तिलः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः।। (च० सू० १३.१०)

२. तिल्वकैरण्डकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीपलाशविषाणिकागवाक्षीकम्पिल्लकशम्पाक-नीलिनीस्नेहा विरेचयन्ति। (सु० चि० ३१.५)

३. जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयन्ति। (वही)

४. विडङ्गखरमञ्जरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलुसिद्धार्थकज्योतिष्मतीस्नेहाः शिरोविरेचयन्ति। (वही)

५. करञ्जपूतिककृतमालमातुलुङ्गेङ्गुदीकिराततिक्तकस्नेहा दुष्टव्रणेषूपयुज्यन्ते। (वही)

६. तुवरककपित्थकम्पिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहा महाव्याधिघ्नाः। (वही)

७. त्रपुषैर्वारुककर्कारुकतुम्बीकूष्माण्डस्नेहा मूत्रसङ्गेषु। (वही)

८. कपोतवङ्कावल्गुजहरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीघ्नाः। (वही)

९. कुसुम्भसर्षपातसीपिचुमर्दातिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभीस्नेहाः प्रमेहघ्नाः। (वही)

१०. तालनारिकेलपनसमोचप्रियालबिल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ। (वही)

कृष्णीकरण– बिभीतक, भल्लातक, पिण्डीतक।[१]

पाण्डूकरण– श्रवण, कङ्गुक, टुण्टुक।[२]

क्षुद्रकुष्ठघ्न– सरल, पीतदारु, शिंशपा, अगुरुसार।[३]

ये सभी स्नेह वातशामक होते हैं।[४] स्थावर स्नेह में तिलतैल[५] तथा जाङ्गम में गव्य घृत सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[६]

(छ) **प्रसिद्धि-साधर्म्य**– प्रशस्तिवाचक शब्दों के आधार पर भी गण बनाये गये हैं यथा–

पञ्चसार– उबला दूध, शर्करा, पिप्पली, मधु और घृत ये पाँचों द्रव्य एकत्र पञ्चसार कहलाते हैं। इसका प्रयोग विषमज्वर, क्षतक्षीण, क्षय, श्वास और हृद्रोग में किया जाता है।[७]

पञ्चामृत– गुडूची, गोक्षुर, मुशली, मुण्डी, शतावरी ये पञ्चामृत हैं।[८]

पञ्चसिद्धौषधिक– तैलकन्द, सुधाकन्द, क्रोडकन्द, रुदन्ती, सर्पनेत्र यह पञ्चसिद्धौषधिक कहलाता है।[९]

जाङ्गम गण

(क) **द्रव्य-साधर्म्य**– द्रव्य-साधर्म्य के आधार पर निम्नाङ्कित गण बनाये गये हैं–

क्षीराष्टक– गाय, भैंस, भेंड़, बकरी, ऊँटनी, घोड़ी, हथनी और नारी के

---

१. बिभीतकभल्लातकपिण्डीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे। (सु० चि० ३१.५)

२. श्रवणकङ्गुकटुण्टुकस्नेहाः पाण्डूकरणे। (वही)

३. सरलपीतदारुशिंशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठकिटिभेषु। (वही)

४. सर्व एव स्नेहा वातमुपघ्नन्ति। (वही)

५. सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते। (च० सू० १३.१२)
स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति। (सु० चि० ३१.४)

६. जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानम्। (वही)

७. शृतं पयः शर्करा च पिप्पल्यो मधुसर्पिषी। पञ्चसारमिदं पेयं मथितं विषमज्वरे।।
क्षतक्षीणे क्षये श्वासे हृद्रोगे चैतदिष्यते।। (सु० उ० ३९.२५५)

८. गुडूची गोक्षुरश्चैव मुशली मुण्डिका तथा। शतावरीति पञ्चानां योगः पञ्चामृताभिधः।।
(रा० नि० मि० ३०)

९. तैलकन्दः सुधाकन्दः क्रोडकन्दो रुदन्तिका। सर्पनेत्रयुताः पञ्च सिद्धौषधिकसंज्ञकाः।।
(रा० नि० मि० ३७)

दूध को क्षीराष्टक कहते हैं। सामान्यत: क्षीराष्टक मधुर, स्निग्ध, शीत, बल्य एवं जीवनीय है।[१]

मूत्रपञ्चक– गाय, बकरी, भेंड, भैंस तथा गदही के मूत्र को मूत्रपञ्चक कहते हैं।[२]

मूत्राष्टक– गाय, बकरी, भेंड, भैंस, तथा हाथी, ऊँट, घोड़ा और गदहा इनके मूत्र को मूत्राष्टक कहते हैं।[३] प्रथम चार के मादा का तथा अन्तिम चार के नर का मूत्र चिकित्सा के लिये लिया जाता है।[४]

मूत्रदशक– मूत्राष्टक में मनुष्य स्त्री और पुरुष दोनों का मूत्र मिला देने से मूत्र दशक हो जाता है।[५]

मूत्रवर्ग सामान्यत: उष्ण, तीक्ष्ण, अरूक्ष, कटु और लवण तथा दीपन, क्रिमिघ्न, विषघ्न, मूत्रजनन तथा रक्तवर्धक होता है। इसका प्रयोग पाण्डु और उदर रोग में विशेष करते हैं।[६] इस वर्ग में सर्वोत्तम गोमूत्र माना जाता है।

पित्तपञ्चक– मछली, गाय, घोड़ा, मनुष्य और मयूर के पित्त को पित्तपञ्चक कहते हैं।[७]

---

१. गव्यं माहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम्। ऐभमैकशफं चेति क्षीराष्टकमिहोच्यते।।
(यो० र० पू० दु० ४)
अविक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषं च यत्। उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवाया: स्त्रियास्तथा।।
प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयो मतम्। प्रीणनं बृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम्।
(च० सू० १.१०६-१०७)

२. गवामजानां मेषीणां महिषीणां च मिश्रितम्। मूत्रेण गर्दभीनां यत्तन् मूत्रं मूत्रपञ्चकम्।।
(रा० नि० मि० ४४)

३. सैरिभाजाविकरभगोखरद्विपवाजिनाम्। मूत्राणीति भिषग्वर्यैर्भूत्राष्टकमुदाहृतम्।।
(र० त० २.९)

४. खरेभोष्ट्रतुरङ्गाणां पुंसां मूत्रं प्रशस्यते। गोजाविमहिषीणां च मूत्रं स्त्रीणां हितं मतम्।।
(र० त० २.१०)
अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं च यत्। हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च।।
(च० सू० १.९३-)

५. मूत्राणि हस्ति- महिषोष्ट्र-गवाजकानां मेषाश्व-रासभक-मानुष-मानुषीणाम्।
यत्नेन यत्र मिलितानि दशेति तानि शास्त्रेषु मूत्रदशकाह्वयभाञ्जि भान्ति।। (रा० नि० मि० ५८)

६. उष्णं तीक्ष्णमथोऽरूक्षं कटुकं लवणान्वितम्। दीपनीयं विषघ्नं च क्रिमिघ्नं चोपदिश्यते।।
पाण्डुरोगोपसृष्टानामुत्तमं शर्म चोच्यते। (च० सू० १.९४, ९७-)

७. पित्तं पञ्चविधं मत्स्यगवाश्वनरबर्हिजम्। (र० ५.३६)

पित्तगण– भैंसा, वराह, छाग, मयूर, कृष्णसर्प, रोहितमत्स्य तथा मार्जार के पित्त पित्तगण में आते हैं।[१]

विड्वर्ग– पारावत, नीलकण्ठ, कबूतर, मयूर, गीध और मुर्गा इनकी विष्ठा को विड्वर्ग कहते हैं। यह लोहों की शुद्धि में प्रयुक्त होता है।[२]

(ख) **गुण-साधर्म्य के अनुसार**–

महास्नेह– इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(ग) **योनि-साधर्म्य के अनुसार**–

पञ्चगव्य– गाय का दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर इन सब को एकत्र करने पर पञ्चगव्य कहते हैं।[३]

पञ्चाज– यही पाँचों द्रव्य यदि बकरी के हों तो पञ्चाज कहलाता है।

पञ्चमाहिष– इसी प्रकार भैंस के इन पाँचों विकारों को एकत्र करने से पञ्चमाहिष कहलाता है।[४]

(घ) **प्रसिद्ध-साधर्म्य के अनुसार**–

पञ्चामृत– गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत, मधु और शर्करा इनको एकत्र करने को पञ्चामृत कहते हैं।[५] इसका उपयोग रसकर्म में होता है।

भौम गण

त्रिलोह– सुवर्ण, रजत और ताम्र इनको त्रिलोह कहते हैं।[६]

पञ्चलोहक– त्रिलोह में वङ्ग और नाग मिला देने से पञ्चलोहक कहते हैं।[७]

ग्रहाङ्गपञ्चलोहक– सुवर्ण, रजत, ताम्र, वङ्ग और कृष्णायस ये पाँच ग्रहाङ्ग-पञ्चलोहक कहलाते हैं।[८]

---

१. महिषक्रोडमत्स्यानां छागस्य च शिखण्डिन:। कृष्णाहिरोहितानां च मार्जारस्य च मायुभि:।।
प्रोक्त: पित्तगण:। (र० चू० ९.१९)

२. पारावतस्य चाषस्य कपोतस्य कलापिन:। गृध्रस्य कुक्कुटस्यापि विनिर्दिष्टो हि विड्गण:।।
शोधन: सर्वलोहानां पुटनाल्लेपनात् खलु। (र० चू० ९.२१-)

३. गव्यं क्षीरं दधि घृतं गोमूत्रं गोमयं तथा। एकत्र योजितं तुल्यं पञ्चगव्यमिहोच्यते।।
(र० त० २.२२)

४. एवमेव विजानीयात् पञ्चाजं पञ्चमाहिषम्।

५. गव्यं क्षीरं दधि घृतं माक्षिकं चाथ शर्करा। पञ्चामृतं समाख्यातं रसकर्मप्रसाधकम्।।
(र० त० २.२१)

६. सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रयमेतत् त्रिलोहकम्। (रा० नि० मि० ४५)

७. वङ्गनागसमायुक्तं तत्प्राहु: पञ्चलोहकम्।। (रा० नि० मि० ४६)

८. सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रपु कृष्णायसं समम्। ग्राहङ्गमिति बोद्धव्यं द्वितीयं पञ्चलोहकम्।
(रा० नि० मि० ४७)

षड्लोहक– पञ्चलोहक में लोहा मिलाने से षड्लोह कहते हैं।[१]

अष्टलोह– पञ्चलोहक में कान्त, मुण्ड और तीक्ष्ण ये तीनों प्रकार के लौह मिलाने से अष्टलौह होता है।[२]

सप्तधातु– स्वर्ण, रजत, ताम्र, वङ्ग, नाग, यशद और लौह ये सात सप्तधातु कहलाते हैं।[३] इन्हें लोहसप्तक भी कहते हैं।

उपधातु– स्वर्णमाक्षिक, रजतमाक्षिक, तुत्थ, कांस्य, रीति (पित्तल), सिन्दूर और शिलाजतु ये सात उपधातु हैं। इन उपधातुओं में क्रमशः उन धातुओं के गुण अल्प मात्रा में मिलते हैं अतः ये उनके अभाव में प्रतिनिधिरूप में व्यवहृत होते हैं।[४]

महारस– माक्षिक, विमल, शिलाजतु, चपल, रसक (खर्पर), सस्यक (तुत्थ), हिङ्गुल और स्रोतोञ्जन ये आठ द्रव्य महारस कहलाते हैं।[५] कुछ लोगों ने दूसरे प्रकार से भी माना है।

उपरस– गन्धक, हरताल, मनःशिला, फिटकरी, कसीस, गैरिक, राजावर्त और कंकुष्ठ ये आठ उपरस हैं।[६] कुछ आचार्यों ने राजावर्त के स्थान पर स्रोतोञ्जन का ग्रहण किया है।

साधारणरस– कम्पिल्ल, चपल, शंखिया, नौसादर, वराटक, अम्बर, गिरिसिन्दूर, हिङ्गुल और मुर्दासिङ्ग ये नवसाधारण रस कहलाते हैं।[७]

अञ्जनत्रितय– कालाञ्जन, पुष्पाञ्जन और रसाञ्जन इन तीनों को अञ्जनत्रितय कहते हैं।[८]

---

१. सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रपु सीसकमायसम्। षडेतानि च लोहानि।। (र० र० १०.६६)

२. पञ्चलोहसमायुक्तैः कान्तमुण्डकतीक्ष्णकैः। कल्पितः कथितो धीरैरष्टलोहाभिधो गणः।।
(रा० नि० मि० ५६)

३. स्वर्णं रूप्यं च ताम्रं च वङ्गं यशदमेव च। सीसं लोहं च सप्तैते धातवो गिरिसम्भवाः।।
(भा० प्र० नि० धात्व० १)

४. सप्तोपधातवः स्वर्णमाक्षिकं तारमाक्षिकम्। तुत्थं कांस्यं च रीतिश्च सिन्दूरं च शिलाजतुः।।
(भा० प्र० नि० धात्व० ५३)

५. माक्षिको विमलः शैलश्चपलो रसकस्तथा। सस्यको दरदश्चैव स्रोतोञ्जनमथाष्टमम्।
अष्टौ महारसाः– (र० ७.२)

६. गन्धकस्तालकः शिला सौराष्ट्री खगगैरिकम्। राजावर्तश्च कङ्कुष्ठमष्टावुपरसाः स्मृताः।।
(र० ७.५६)

७. कम्पिल्लश्चपलो गौरीपाषाणो नवसारकः। कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दूरहिङ्गुलौ।।
बोहारशृङ्गमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः।। (र० चू० ११.९०-)

८. कालाञ्जनसमायुक्ते पुष्पाञ्जनरसाञ्जने। अञ्जनत्रितयं प्राहुस्त्र्यञ्जनं चाञ्जनत्रयम्।।
(रा० नि० मि० १२)

पञ्चमृत्तिका– ईंट का चूर्ण, भस्म, वल्मीकमृत्तिका, गैरिक और लवण ये पाँच पञ्च मृत्तिका कहलाते हैं।[१]

लवणवर्ग– इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

क्षारवर्ग– इसका भी वर्णन हो चुका है।

रत्न– रमणीय होने के कारण इसे रत्न कहते हैं।[२] इसमें ९ द्रव्य हैं– हीरा, पन्ना, लहसुनिया, गोमेद, माणिक, नीलम, पुखराज, मोती और प्रवाल।[३]

उपरत्न– वैक्रान्त, स्फटिक, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, राजावर्त, पिरोज, रक्ताश्म (अकीक), तृणकान्त (कहरबा), नागाश्म (जहरमोहरा), हरिताश्म (यशद) ये दश उपरत्न हैं। इन्हें क्षुद्ररत्न भी कहते हैं।[४] कई लोगों ने काँच को भी उपरत्न में लिखा है।

मिश्रगण

यहाँ मिश्रगण उसे कहा गया है जिसमें जाङ्गम, औद्भिद तथा पार्थिव गणों के द्रव्यों का परस्पर मिश्रण हो। ऐसे अनेक गणों का पीछे प्रसङ्गतः वर्णन किया जा चुका है यथा– महास्नेह, रत्न, मित्रपञ्चक आदि।

क्षीरवर्ग– हथनी, घोड़ी, गाय, भेंड़, बकरी, ऊँटनी, भैंस, गदही, नारी इन जङ्गम प्राणियों के दूध तथा काकोदुम्बर, स्नुही, दुग्धिका, उदुम्बर, अर्क, न्यग्रोध, अश्वत्थ और तिल्वक इन औद्भिद वर्ग के द्रव्यों का दूध एकत्र मिलाने पर क्षीरवर्ग या दुग्धवर्ग कहलाता है।[५]

*

---

१. इष्टिकाचूर्णकं भस्म तथा वल्मीकमृत्तिका। गैरिकं लवणं चेति कीर्तिताः पञ्चमृत्तिकाः।।
(र० त० २.१९)

२. रमणीयतरं यस्माद्रमन्तेऽस्मिन्नतीव वा। तस्माद्रत्नमिदं ख्यातं शब्दशास्त्रविशारदैः।।
(र० त० २३.१)

३. रत्नं गारुत्मतं पुष्परागो माणिक्यमेव च। इन्द्रनीलश्च गोमेदं तथा वैदूर्यमित्यपि।।
मौक्तिकं विद्रुमश्चेति रत्नान्युक्तानि वै नव।। (भा० प्र० नि० धात्व० १६७)

४. वैक्रान्तः स्फटिकाह्वश्च रविकान्तेन्दुकान्तकौ।
नृपावर्तः पेरोजको रक्ताश्मा तृणकान्तकः।
दशेमान्युपरत्नानि सनागहरिताश्मकौ।। (स्व०)

५. करिणी घोटिका धेनुस्त्वविका छागिकोष्ट्रिका। महिषी गर्दभी नारी काकोदुम्बरिका सुधा।।
दुग्धिकोदुम्बरश्चार्को न्यग्रोधोऽश्वत्थतिल्वकौ। एषां दुग्धैः समाख्यातो दुग्धवर्गः समासतः।।
(र० त० २.२४-२५)

एकादश अध्याय

द्रव्यों के वर्गीकरण का विकास : ऐतिहासिक समीक्षा

१. वैदिक युग

अति प्राचीन काल में जिस प्रकार सृष्टि के सारे पदार्थों के प्रति मानव के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसकी पूर्ति तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार की गई उसी प्रकार वनस्पति-जगत् भी मानव के लिए एक कुतूहल का विषय रहा। आदिम मानव वनों में रहने के कारण प्रकृति के निकट सम्पर्क में था और पेड़-पौधे उसके सखा-सहचर थे। इसीलिए दर्शनों और काव्यों में समान रूप से वनस्पति जगत् का उपयोग किया गया है। मनुष्य केवल रमणीयता के कारण वनस्पतियों की ओर आकृष्ट न था और न उसे केवल इनका साहित्यिक वर्णन करने से ही सन्तोष हुआ। वह तो उनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक था और इस उद्देश्य से उनका वैज्ञानिक अध्ययन भी करना उसने प्रारम्भ किया। अनेक वनौषधियों के नामों का उल्लेख वेदों में मिलता है। इनकी संख्या पहले तो कम रही किन्तु शनैः शनैः इनके अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता गया और क्रमशः इनकी संख्या बढ़ती गई। इस क्रम में प्राचीन महर्षियों ने वनस्पतियों के वर्गीकरण का भी निर्देश किया है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सृष्टि के समस्त पदार्थों को साशन और अनशन इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है।[१] साशन चेतन और अनशन अचेतन सृष्टि का वाचक है। आगे चलकर वनस्पतियों को फलिनी-पुष्पिणी (सपुष्प) तथा अपुष्प-अफल इन दो वर्गों में विभक्त किया है।[२] इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का ओषधिसूक्त अवलोकनीय है।

कर्मों के अनुसार भी वनौषधियों के विभाग का सङ्केत वैदिक वाङ्मय में मिलता है। ज्वर, यक्ष्मा, अश्मरी आदि अनेक रोगों में कार्य करने वाली ओषधियों का नाम वेदों में आता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वनस्पतियों के रचनात्मक तथा कर्मात्मक दोनों प्रकार के वर्गीकरणों के सङ्केत वैदिक युग की रचनाओं में सन्निहित हैं जिनकी आधारशिला पर आगामी युग के द्रव्यगुण की विशाल अट्टालिका खड़ी की गई है।

१. ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि। (पुरुषसूक्त, मन्त्र ४)

२. याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। (ऋ० १०.९७.१५)

२. संहिता-काल

(१) चरकसंहिता

वैदिक काल में प्रयुक्त ओषधियों की संख्या कम होने से उनका वर्गीकरण विशद रूप में नहीं हो सका।[१] उनका शरीर के विभिन्न अङ्गों पर जो कर्म होता है उसके अनुसार भी उनका विभाजन उस समय सम्भव नहीं था। यह कार्य संहिताकाल में पूरा हुआ। संहिताओं की रचना का युग बौद्धिक और भौतिक समृद्धि का युग था। तब तक अनेक दिव्य एवं भौम ओषधियों का लोक में प्रचलन हो चुका था और उनके गुणकर्मों की जानकारी भी लोगों को पर्याप्त हो चुकी थी। हिमालय-प्रदेश के प्रशस्त क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली ओषधियों का पर्याप्त अनुसन्धान हो चुका था और यह सब लोग मानने लगे थे कि हिमवान् ओषधियों के उद्भव स्थानों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः इस काल में औषधिद्रव्यों के रचनात्मक एवं कर्मात्मक वर्गीकरण का एक स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है।

चरकसंहिता में द्रव्यों का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है और उसका वर्गीकरण भी अनेक दृष्टिकोणों से उपलब्ध होता है। सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में योनिभेद से द्रव्य तीन प्रकार के बतलाये गये हैं- जाङ्गम, औद्भिद और पार्थिव। जाङ्गम पुनः चार प्रकार के तथा औद्भिद भी चार प्रकार के बतलाये गये हैं। औद्भिद द्रव्यों का विभाग रचना की दृष्टि से वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् और ओषधि इन चार वर्गों में किया गया है। इसके अतिरिक्त, पांचभौतिक निष्पत्ति तथा रस, विपाक आदि के अनुसार द्रव्यों के विभाग किये गये हैं। औषध एवं आहार द्रव्यों का भेद भी स्पष्ट किया गया है। इनमें आहार द्रव्यों का वर्गीकरण रचनानुसार तथा औषधद्रव्यों का वर्गीकरण कर्मानुसार किया गया है।

आहारद्रव्यों का वर्णन सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में विस्तार से किया गया है।[२] वहाँ आहार द्रव्यों के कुल बारह वर्ग बनाये गये हैं[३]–

१. शूकधान्यवर्ग, २. शमीधान्यवर्ग, ३. मांसवर्ग, ४. शाकवर्ग, ५. फल-वर्ग, ६. हरितवर्ग, ७. मद्यवर्ग, ८. अम्बुवर्ग, ९. गोरसवर्ग, १०. इक्षुवर्ग ११. कृतान्नवर्ग, १२. आहारयोगिवर्ग।

१. पृश्निपर्णी, सहदेवी, अपामार्ग, कुष्ठ, गुग्गुलु, पिप्पली, मृगशृङ्ग, अश्वत्थ, सोम, यष्टीमधु आदि अनेक ओषधियों का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है।

२. परमतो वर्गसङ्ग्रहेणाहारद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः। (च० सू० २७.५)

३. शूकधान्यशमीधान्यमांसशाकफलाश्रयान्। वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारिकान्।।
दश द्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम्। (च० सू० २७.६-७)

औषधद्रव्यों का वर्गीकरण कर्मानुसार उपलब्ध होता है। सूत्रस्थान प्रथम अध्याय में दोषप्रभाव की दृष्टि से द्रव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है– दोषप्रशमन, धातुप्रदूषण और स्वस्थहित। इसका विवरण मुख्यत: सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में किया गया है। शरीर के विभिन्न संस्थानों पर द्रव्यों के जो कर्म होते हैं उनके अनुसार औषधद्रव्यों के पचास वर्ग बनाये गये हैं।[१]– इन विविध कर्मों को आधुनिक दृष्टि से निम्नाङ्कित रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है–

१. **पाचनसंस्थान पर कर्म करने वाले**– दीपन, पाचन, वमन, विरेचन, ग्राही आदि।
२. **रक्तवहसंस्थान पर कर्म करने वाले**– हृद्य, शोणितस्थापन आदि।
३. **श्वसनसंस्थान पर कर्म करने वाले**– कासहर, श्वासहर, छेदन आदि।
४. **प्रजननसंस्थान पर कर्म करने वाले**– वृष्य, वाजीकरण, प्रजास्थापन, गर्भ-स्थापन आदि।
५. **मूत्रवहसंस्थान पर कर्म करने वाले**– मूत्रसङ्ग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, मूत्रविरेचनीय आदि।
६. **त्वचा पर कर्म करने वाले**– स्वेदोपग, स्वेदापनयन, रोमशातन, रोमसञ्जनन, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न, वर्ण्य आदि।
७. **तापक्रम पर कर्म करने वाले**– ज्वरहर।
८. **नाडीसंस्थान पर कर्म करने वाले**– मेध्य, संज्ञास्थापन, मादक आदि।
९. **सार्वधातुक कर्म करने वाले**– रसायन, बल्य, बृंहण, जीवनीय आदि।

इनके अतिरिक्त, यथास्थान मुखशोधन, दन्तशोधन, रक्षोघ्न, अपरापातन आदि वर्गों का सङ्केत किया गया है।

औषधद्रव्यों के रचनात्मक वर्गीकरण का भी विकास इस काल में हुआ। प्रयोज्य अङ्गों के अनुसार ओषधियों को फलिनी, मूलिनी, क्षीरिणी आदि वर्गों में विभाजित किया गया।

(२) सुश्रुतसंहिता

सुश्रुतसंहिता में द्रव्यों का वर्गीकरण चरक की अपेक्षा अधिक विकसित रूप में मिलता है। रचनात्मक दृष्टि से आहारद्रव्यों को पहले द्रव और अन्न दो महावर्गों में विभाजित कर उनका दो स्वतन्त्र अध्यायों (द्रवद्रव्यविधि और अन्नपानविधि सू० ४५-४६ अ०) में पृथक्-पृथक् विस्तार से वर्णन किया गया है। द्रव्यद्रव्यों

१. इति पञ्चकषायशतान्यभिसमस्य पञ्चाशन्महाकषाया महतां च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति। (च० सू० ४.१९)

के पुन: १० वर्ग बनाये गये हैं तथा अन्नद्रव्यों को १३ वर्गों में विभाजित किया गया है–

द्रवद्रव्य		अन्नद्रव्य	
१. जलवर्ग	२. क्षीरवर्ग	१. शालिवर्ग	२. कुधान्यवर्ग
३. दधिवर्ग	४. तक्रवर्ग	३. वैदलवर्ग	४. मांसवर्ग
५. घृतवर्ग	६. तैलवर्ग	५. फलवर्ग	६. शाकवर्ग
७. मधुवर्ग	८. इक्षुवर्ग	७. पुष्पवर्ग	८. कन्दवर्ग
९. मद्यवर्ग	१०. मूत्रवर्ग	९. लवणवर्ग	१०. क्षारवर्ग
		११. धातुवर्ग	१२. रत्नवर्ग
		१३. कृतान्नवर्ग	

इस प्रकार चरक की अपेक्षा इसमें निम्नाङ्कित विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं–

१. चरक के गोरसवर्ग में ही दुग्ध, दधि आदि सभी क्षीर-विकारों का वर्णन किया गया है किन्तु सुश्रुत ने उनका क्षीरवर्ग, दधिवर्ग, तक्रवर्ग और घृतवर्ग इन चार वर्गों में पृथक्-पृथक् वर्णन कर उन्हें अधिक विस्तृत किया है।
२. द्रव्यद्रव्यों में तैलवर्ग, मधुवर्ग तथा मूत्रवर्ग ये सुश्रुत के नवीन हैं।
३. अन्नद्रव्यों में चरक ने शूकधान्य में सभी शूकधान्यों का समावेश किया है किन्तु सुश्रुत ने उनके लिये शालिवर्ग तथा कुधान्यवर्ग दो वर्ग बनाये हैं।
४. चरक ने केवल शाकवर्ग का उल्लेक किया है किन्तु सुश्रुत ने पुष्पवर्ग और कन्दवर्ग का भी उसके अतिरिक्त वर्णन किया है।
५. लवणवर्ग और क्षारवर्ग सुश्रुत के मौलिक हैं।
६. सुश्रुत के काल में धातुओं और रत्नों का भी प्रयोग अधिक होने लगा था अत: इस प्रसङ्ग में धातुवर्ग और रत्नवर्ग ये दो नवीन वर्ग सुश्रुत ने दिये हैं।

कर्मानुसार वर्गीकरण में, सुश्रुत ने सूत्रस्थान ३८वें और ३९वें अध्याय में औषध द्रव्यों के ४४ वर्ग बनाये हैं। विदारिगन्धादि, आरग्वधादि आदि ३७ वर्ग तथा ४ संशोधन और ३ संशमन वर्ग– इस प्रकार कुल मिलाकर ४४ वर्ग होते हैं। इनके अतिरिक्त, शल्य-शालाक्य में उपयोगी अनेक वर्गों यथा– विम्लापन, पाचन, रोपण, चक्षुष्य आदि का वर्णन है। रसायन ओषधियों को भी दिव्य, सौम्य आदि वर्गों में विभक्त कर विस्तार से वर्णन किया गया है।

त्रिफला, त्रिकटु, पञ्चमूल, दशमूल आदि मिश्रक गणों का भी स्पष्ट उल्लेख सुश्रुत में ही मिलता है, यद्यपि मूलिनी, फलिनी आदि शब्दों का सङ्केत चरक में भी उपलब्ध है।

(३) अष्टाङ्गहृदय

अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट ने द्रवद्रव्यों के पाँच ही वर्ग बनाये हैं– जलवर्ग, क्षीरवर्ग, इक्षुवर्ग, तैलवर्ग और मद्यवर्ग।[१] मूत्रवर्ग का उल्लेख उन्होंने नहीं किया केवल मूत्रों का वर्णन मद्यवर्ग के अन्त में कर दिया। अन्नद्रव्यों के निम्नाङ्कित वर्ग निर्धारित किये गये हैं– शूकधान्यवर्ग, शिम्बीधान्यवर्ग, कृतान्नवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, औषधवर्ग।[२] औषधवर्ग में लवण-क्षार तथा हरीतकी आदि ओषधियों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त, इसी में मिश्रक गणों (त्रिफला आदि) का भी वर्णन है। इस प्रकार औषधवर्ग वाग्भट की मौलिक देन है, जिसका पल्लवन परवर्ती आचार्यों ने किया।

कर्मानुसार वर्गीकरण में वाग्भट ने सुश्रुत का अनुसरण किया है। शोधनादिगणसङ्ग्रह अध्याय (सूत्रस्थान १५ अ०) में तेंतीस गणों का उल्लेख है जिनमें केवल जीवनीय गण चरक का है और सब सुश्रुत के हैं।

(४) अष्टाङ्गसङ्ग्रह

वृद्धवाग्भट ने चरक और सुश्रुत दोनों की शैलियों को स्वीकार किया है और स्वतन्त्र रूप में उनका उपयोग किया है। यही कारण है कि उपर्युक्त दोनों संहिताओं ने जहाँ इसमें दो ही अध्याय मुख्यत: लगाये हैं, वृद्धवाग्भट को प्राय: सात अध्याय लगाने पड़े। आहारद्रव्यों को सर्वप्रथम इन्होंने सुश्रुत के समान दो महावर्गों– अन्न और द्रव में विभाजित किया और उनका द्रवद्रव्यविज्ञानीय (सूत्रस्थान षष्ठ अध्याय) एवं अन्नस्वरूपविज्ञानीय (सूत्रस्थान सप्तम अध्याय) इन दो अध्यायों में स्वतंत्र रूप से वर्णन किया। यह विभाजन तो सुश्रुत के अनुसार है किन्तु आगे का वर्गीकरण अष्टाङ्गसङ्ग्रह का स्वतंत्र एवं मौलिक है जिसमें उन्होंने दोनों प्रमुख संहिताओं का उपयोग किया है। यह वर्गीकरण निम्नाङ्कित है–

द्रवद्रव्य		अन्नद्रव्य	
१. जलवर्ग	२. क्षीरवर्ग	१. शूकधान्यवर्ग	२. शिम्बीधान्यवर्ग
३. इक्षुवर्ग	४. तैलवर्ग	३. कृतान्नवर्ग	४. मांसवर्ग
५. मद्यवर्ग	६. मूत्रवर्ग	५. शाकवर्ग	६. फलवर्ग

द्रव और अन्न– ये दोनों मिलाकर बारह वर्ग होते हैं जो चरक के अनुकूल है किन्तु उनकी व्यवस्था में सुश्रुत के मत का उपयोग किया है यथा द्रवद्रव्यों में तैलवर्ग और मूत्रवर्ग का उल्लेख सुश्रुत के अनुसार है। इस प्रकार दोनों मतों का

१. तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्। इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृत:।।
(अ० ह० सू० ५.८४)

२. शूकशिम्बीजपक्वान्नमांसशाकफलौषधै:। वर्गितैरन्नलेशोऽयमुक्तो नित्योपयोगिक:।।
(अ० ह० सू० ६.१७२)

समन्वय यहाँ पर किया गया है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह ने चरक के आहारयोगि और हरित वर्गों तथा सुश्रुत के दधि, तक्र, घृत तथा मधुवर्गों को स्वीकार नहीं किया है। अन्नद्रव्यों में उपर्युक्त दो वर्गों को छोड़कर चरक का ही अनुसरण किया गया है। लवण, क्षार, धातु और रत्न वर्गों का पृथक्-पृथक् वर्णन न कर बारहवें अध्याय (विविधौषधविज्ञानीय) में इन सबका एक साथ वर्णन किया गया है।

औषधद्रव्यों का कर्मानुसार वर्गीकरण भी बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। सर्वप्रथम औषध का निम्नाङ्कित प्रकार से वर्गीकरण किया गया—

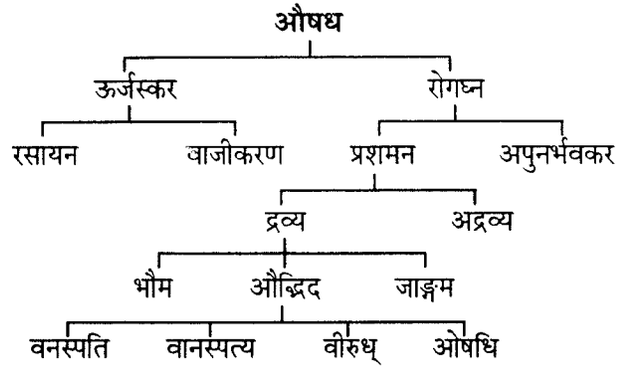

चरक के पचास महाकषायों में ४५ वर्ग महाकषायसङ्ग्रह (सूत्रस्थान १५वें) अध्याय में वर्णित हैं और शेष ५ शोधनादिगणसङ्ग्रह (सूत्रस्थान १४वें) अध्याय में वर्णित हैं। वत्सकादि गण अष्टाङ्गसङ्ग्रह में विशिष्ट है। सुश्रुत के वर्गों में पचीस वर्ग विविधगणसङ्ग्रह अध्याय (सूत्रस्थान १६ अ०) में दिये गये हैं। दोषशमन द्रव्यों का उल्लेख १४वें अध्याय में किया है। धूमोपयोगी द्रव्यों के तीन वर्ग इसके मौलिक हैं।

मिश्रक गणों में त्रिफला, त्रिकटु तथा पञ्च पञ्चमूलों के अतिरिक्त त्रिजातक, चतुर्जातक, पञ्चकोल, मध्यम पञ्चमूल, जीवनीय पञ्चमूल– इन गणों का उल्लेख मौलिक है। त्रिफला और त्रिकटु आदि वर्गों को अन्य वर्गों से पृथक् कर तथा अन्य नवीन गणों का निर्धारण कर वृद्धवाग्भट ने मिश्रक गणों की नवीन शृङ्खला प्रस्तुत की जिसमें आगे चलकर अनेक गणों की वृद्धि होती गई।

अग्र्य प्रकरण में चरक ने १५२ द्रव्यों का निर्देश किया है किन्तु अष्टाङ्गसङ्ग्रह ने १५५ का उल्लेख किया है।[१] इसके अतिरिक्त इस प्रकरण में वासा, कण्टकारी,

१. अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं यद्द्विपञ्चाशदुत्तरम्। अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते।
(च० सू० २५.४१)

अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं पञ्च पञ्चाशदुत्तरम्। अलमेतद्विजानीयाद्धिताहितविनिश्चये।।
(अ० सं० सू० १३.५)

नागबला, लाक्षा, चित्रकमूल, हरिद्रा, एरण्ड तैल, लौहभस्म, गुग्गुलु का मौखिक उल्लेख वाग्भट ने किया है। गुग्गुलु के वातहर कार्य के अतिरिक्त मेदोहर कर्म की ओर सर्वप्रथम वाग्भट ने ही स्पष्ट रूप से वैद्यसमाज का ध्यान आकृष्ट किया।[१]

इसके अतिरिक्त हरीतकी, पिप्पली आदि द्रव्यों का स्फुट रूप से बारहवें अध्याय में वर्णन किया है। इसी के आधार पर आगे चलकर परवर्ती आचार्यों ने हरीतक्यादि वर्ग आदि का निर्धारण किया है।

३. निघण्टु-वाङ्मय

संहिता-काल के बाद निघण्टुओं का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें पर्यायों के द्वारा द्रव्य के विभिन्न पक्षों पर जानकारी दी जाती है।[२] बाद में इनमें गुणकर्म भी जोड़ दिये गये। संहिताओं में गणों के रूप में ही द्रव्यों के गुणकर्म और प्रयोग दिये गये हैं, पृथक्-पृथक् द्रव्यों का नहीं किन्तु निघण्टुओं ने पृथक्-पृथक् द्रव्यों का वर्णन प्रारम्भ किया। वर्गीकरण का आधार भी इनका भिन्न है।

(१) धन्वन्तरिनिघण्टु

इस निघण्टु में औषधवर्ग को अनेक विभागों में विभक्त कर अत्यन्त विस्तृत बना दिया गया है और पूर्वकाल में जहाँ वर्गों में आहारद्रव्यों की प्रधानता थी वहाँ अब औषधद्रव्यों की हो गई। धन्वन्तरि निघण्टु में द्रव्यों के सात वर्ग निर्धारित हैं– गुडूच्यादि, शतपुष्पादि, चन्दनादि, करवीरादि, आम्रादि, सुवर्णादि और मिश्रकादि-वर्ग।[३] मिश्रकादिवर्ग में अवशिष्ट सभी वर्गों तथा द्रव्यों का समावेश है।

औषधद्रव्यों की संख्या इस समय तक बहुत अधिक हो जाने के कारण यह आवश्यक हो गया था कि उनका व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए विभिन्न वर्गों में विभाजन हो। इस दृष्टिकोण से धन्वन्तरिनिघण्टु का यह अभिनव प्रयास है। समानकर्म वाले अनेक द्रव्यों को एकत्र कर एक वर्ग बना दिया और उसका नाम मुख्य द्रव्य के अनुसार रख दिया गया। यथा–

१. **गुडूच्यादिवर्ग**– इसमें ऊर्ध्वाध:संशोधन एवं रसायन ओषधियों का समावेश किया गया है यथा गुडूची, मदनफल, दन्ती आदि।[४]

१. विशेष सूचना के लिए लेखक की पुस्तक 'वाग्भट-विवेचन' देखें।

२. निघण्टवो नाम निगन्तवो ये निगूढमर्थं परिबोधयन्ति।
पर्यायशब्दैर्विविधार्थजातमुद्घाटयन्तो गुणधर्ममूलम्।। (स्व०)

३. द्रव्याण्युक्तानि गणशो मिश्रीकृत्य समासत:। गुडूच्यादि: शताह्वादिस्तथाऽन्यश्चन्दनादिक:।।
करवीरादिराम्रादि: सुवर्णादिर्विमिश्रक:। (ध० नि० मि० ७–)

४. गुडूच्यादिरयं वर्ग: प्रथम: परिकीर्तित:। ऊर्ध्वाधोदोषहरण: सर्वामयविनाशन:।।
(ध० नि० गु० १)

२. **शतपुष्पादिवर्ग**– इसमें दीपन, बल्य एवं मुखशोधन द्रव्यों का समावेश किया गया है यथा शतपुष्पा वचा, एला आदि।[१]

३. **चन्दनादिवर्ग**– इसमें चन्दन, कुंकुम, उशीर आदि गन्ध द्रव्य हैं।[२]

४. **करवीरादिवर्ग**– इसमें अनेक प्रकार के द्रव्य आते हैं यथा करवीर, तुलसी, नाकुली आदि।[३]

५. **आम्रादिवर्ग**– इसमें फलवर्ग, पुष्पवर्ग तथा वल्कलयुक्त वृक्षों का समावेश होता है यथा आम्र, मल्लिका, अर्जुन आदि।[४]

६. **सुवर्णादिवर्ग**– इसमें धातुवर्ग, शूकधान्यवर्ग, शमीधान्यवर्ग, तैल, क्षीर, मद्य आदि द्रव द्रवद्रव्य तथा मांसवर्ग के द्रव्यों का समावेश किया गया है।[५]

७. **मिश्रकादिवर्ग**– अवशिष्ट द्रव्यों तथा त्रिफला आदि गणों का इसमें उल्लेख है।[६]

(२) निघण्टुशेष

यह आचार्य हेमचन्द्र की रचना है। इसमें वानस्पतिक द्रव्यों का वर्गीकरण आकृति के आधार पर निम्नांकित ६ वर्गों में किया गया है–

१. वृक्षकाण्ड, २. गुल्मकाण्ड, ३. लताकाण्ड, ४. शाककाण्ड, ५. तृणकाण्ड, ६. धान्यकाण्ड।

(३) सिद्धमन्त्र

यह वोपदेव के पिता आचार्य केशव द्वारा विरचित है। इसमें द्रव्यों का वर्गीकरण दोषप्रभाव की दृष्टि से आठ वर्गों में किया गया है–

१. वातघ्न वर्ग, २. पित्तघ्न वर्ग, ३. कफघ्न वर्ग, ४. वातपित्तघ्न वर्ग, ५. कफवातघ्न वर्ग, ६. कफपित्तघ्न वर्ग, ७. दोषघ्न वर्ग, ८. दोषल वर्ग।

१. शतपुष्पादिको वर्गो द्वितीय: परिकीर्तित:। कामाग्निदीपनो बल्यो वक्त्रसौगन्ध्यतीक्ष्णकृत्।।
(ध० नि० श० २)

२. चन्दनादिरयं वर्गस्तृतीय: परिकीर्तित:। श्रीमतां योगिनामर्ह: प्रायो गन्धगुणाश्रय:।।
(ध० नि० च० ३)

३. करवीरादिको वर्गश्चतुर्थ: समुदाहृत:। नानाव्याधिप्रशमनो नानाद्रव्यसमाश्रय:।।
(ध० नि० क० ४)

४. आम्रादिरयमुद्दिष्टो वर्गश्रेष्ठस्तु पञ्चम:। हर्षणो गन्धसौरभ्यफलत्वक्पुष्पसंश्रय:।।
(ध० नि० आ० ५)

५. सुवर्णादिरयं वर्ग: षष्ठ उक्तो यथाक्रमम्। धातुद्रव्यद्रवद्रव्यमांसद्रव्यसमाश्रय:।।
(ध० नि० सु० ६)

६. वर्गोऽयं मिश्रको नाम सप्तम: परिकीर्तित:। द्रव्याण्युक्तानि गणशो मिश्रीकृत्य समासत:।।
(ध० नि० मि० ७)

(४) मदनविनोद या मदनपालनिघण्टु

यह निघण्टु १३७५ ई० में लिखा गया। इसमें द्रव्यों के निम्नाङ्कित वर्ग बनाये गये हैं—

१. अभयादि वर्ग, २. शुण्ठ्यादि वर्ग, ३. कर्पूरादि वर्ग, ४. सुवर्णादि वर्ग, ५. वटादि वर्ग, ६. फलादि वर्ग, ७. शाक वर्ग, ८. पानीयादि वर्ग, ९. इक्षुकादि वर्ग, १०. धान्यगुण वर्ग, ११. धान्यकृतान्नादि वर्ग, १२. मांस वर्ग, १३. मिश्रक वर्ग।

मिश्रक वर्ग में कुछ सामान्य बातों की चर्चा है, उसमें किसी द्रव्य का वर्णन नहीं है। इस प्रकार मदनपाल निघण्टु में द्रव्यों के बारह वर्ग मिलते हैं। इसमें भङ्गा, अहिफेन, पारसीक यवानी आदि अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया है।

(५) राजनिघण्टु

राजनिघण्टु में यों तो अनेक वर्ग हैं किन्तु औषधियों के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित वर्ग निर्धारित किये गये हैं–

गुडूच्यादि, शताह्वादि, पर्पटादि, पिप्पल्यादि, मूलकादि, शाल्मल्यादि, प्रभद्रादि, करवीरादि, आम्रादि, चन्दनादि, सुवर्णादि, पानीयादि, क्षीरादि, शाल्यादि, मांसादि और मिश्रकादि।

धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु ने द्रव्यों के वर्गीकरण की जो शैली प्रचलित की उससे इस क्षेत्र में अव्यवस्था का सूत्रपात हुआ। यद्यपि कुछ वर्गों में कर्म या गुण साधर्म्य का आधार लिया गया है किन्तु प्रायः अनेक वर्गों में ऐसा कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं रहा यथा सुवर्णादि वर्ग में स्वर्ण आदि धातुओं के साथ ही तैल, घृत और मांस आदि का भी वर्णन कर दिया गया। दूसरी बात यह हुई कि प्राचीन आचार्यों के कर्मात्मक वर्गीकरण का आधार बिल्कुल छोड़ दिया गया। प्राचीन आधार तो छोड़ ही दिया गया और कोई नया आधार भी नहीं बनाया गया। अतः यहाँ से आगे चलकर वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं रहा। परवर्त्ती निघण्टुकारों का आदर्श चरक, सुश्रुत न रहकर धन्वन्तरि और राजनिघण्टु ही रहा।

(६) कैयदेवनिघण्टु

वस्तुतः कैयदेवकृत इस ग्रन्थ का नाम 'पथ्यापथ्यविबोधक' है। इसमें द्रव्यों के ९ वर्ग हैं यथा ओषधिवर्ग, धातुवर्ग, धान्यवर्ग, द्रववर्ग, पक्वान्नवर्ग, मांसवर्ग, विहारवर्ग, मिश्रकवर्ग और नानार्थवर्ग।[१]

१. इहौषधीधातुधान्यद्रवपक्वान्नमांसगाः। सविहारो मिश्रकश्च नानार्थो नवमः स्मृतः।। (कै० नि० उप० ६)

इसमें वाग्भट के अनुसार समस्त औषधद्रव्यों को ओषधिवर्ग में रक्खा गया, उनका पुनः विभाजन नहीं किया गया। आहार के अतिरिक्त विहार के लिए एक नया विहारवर्ग तथा पर्यायों के अध्ययन के लिए नानार्थवर्ग की कल्पना की गई। ओषधिवर्ग में ओषधिद्रव्यों की संख्या बहुत बढ़ गई है। पथ्यापथ्य-परक ग्रन्थ होने के कारण आहार-विहार का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

(७) भावप्रकाशनिघण्टु

इसमें द्रव्यों के २२ वर्ग निर्धारित हैं—

१. हरीतक्यादिवर्ग, २. कर्पूरादिवर्ग, ३. गुडूच्यादिवर्ग, ४. पुष्पवर्ग, ५. वटादिवर्ग, ६. आम्रादिफलवर्ग, ७. धातुवर्ग, ८. धान्यवर्ग, ९. शाकवर्ग, १०. मांसवर्ग, ११. कृतान्नवर्ग, १२. वारिवर्ग, १३. दुग्धवर्ग, १४. दधिवर्ग, १५. तक्रवर्ग, १६. नवनीतवर्ग, १७. घृतवर्ग, १८. मूत्रवर्ग, १९. तैलवर्ग, २०. सन्धानवर्ग, २१. मधुवर्ग, २२. इक्षुवर्ग।

भावप्रकाश में आहार-द्रव्यों का वर्गीकरण तो व्यवस्थित है किन्तु औषध-द्रव्यों के वर्गीकरण में कुछ त्रुटि रह गई है यद्यपि भावमिश्र ने पूर्ववर्ती वर्गीकरण की अधिकांश त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया है। हरीतक्यादि वर्ग में उन द्रव्यों का समावेश किया गया जिनका फल या कन्द औषध में प्रयुक्त होता है। कर्पूरादि वर्ग में गन्धद्रव्यों का वर्णन है। गुडूच्यादि वर्ग में उन द्रव्यों का वर्णन है जिनका पञ्चाङ्ग या मूल लिया जाता है। वटादि वर्ग में बड़े-बड़े वृक्ष हैं जिनका वल्कल प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भावप्रकाश का वर्गीकरण आधुनिक वर्गीकरणों में सर्वश्रेष्ठ है। यह सब होने पर भी सैन्धव आदि को हरीतक्यादि वर्ग में प्रविष्ट करना एकरूपता में बाधक सिद्ध हुआ।[१]

(८) प्रियनिघण्टु (१९८३)

यह लेखक द्वारा प्रणीत बीसवीं शती का अन्तिम निघण्टु-ग्रन्थ है। इसमें द्रव्यों के १३ वर्ग किये गये हैं–

१. हरीतक्यादिवर्ग, २. पिप्पल्यादिवर्ग, ३. शतपुष्पादिवर्ग, ४. शरादिवर्ग, ५. कस्तूर्यादिवर्ग, ६. सुवर्णादिवर्ग, ७. शाकवर्ग, ८. फलवर्ग, ९. मांसवर्ग, १०. धान्यवर्ग, ११. कृतान्नवर्ग, १२. द्रववर्ग, १३. द्रव्यादिवर्ग।

प्रथम चार वर्गों में औद्भिद द्रव्यों का क्रमशः वृक्ष, लता क्षुप और तृण-गुल्म आदि का समावेश किया गया है। कस्तूर्यादि वर्ग जाङ्गम द्रव्यों का तथा

१. इन ग्रन्थों के काल आदि के विवरण के लिए देखें– द्रव्यगुणविज्ञान चतुर्थ भाग तथा आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास।

सुवर्णादि वर्ग भौम द्रव्यों का है। द्रव्यादि वर्ग नवीन है जिसमें द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का विवरण किया गया है। इस प्रकार वर्गीकरण से अधिकाधिक युक्तिसङ्गत बनाने का प्रयास किया गया है।

सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण में द्रव्यों के वर्गीकरण से विकास-पथ की रेखा स्पष्ट देखी जा सकती है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार ऋग्वेदीय ओषधि-सूक्त का बीज संहिताओं और निघण्टुओं में उत्तरोत्तर पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ है।

*

द्वितीय खण्ड

गुण

PROPERTY

प्रथम अध्याय

गुण

१. निरुक्ति

'गुण आमन्त्रणे' धातु से 'गुण' शब्द निष्पन्न होता है। 'गुण्यते आमन्त्र्यते लोक अनेन इति गुणः'– अर्थात् जिसके कारण लोग द्रव्य की ओर आकृष्ट होते हैं उसे गुण कहते हैं। विविध कर्मों के सम्पादन में द्रव्य का प्रयोग करण रूप में होता है, किन्तु द्रव्य इन कर्मों में तभी समर्थ होता है जब उसमें उचित गुणाधान होता है। द्रव्यों के कर्म तदाश्रित गुणों के कारण होते हैं इस प्रकार जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, गुण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[१]

२. लक्षण

जो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रित हो, कर्मरहित हो तथा कार्य के प्रति असमवायी कारण हो उसे गुण कहते हैं।[२] द्रव्य और गुण में अन्तर यह है कि द्रव्य गुण-कर्माश्रय होता है किन्तु गुण गुणकर्मानाश्रय है।[३] गुण द्रव्याश्रित, निर्गुण एवं संयोग-विभाग में अकारण तथा अनपेक्ष होता है।[४] चरक के टीकाकार गङ्गाधर कविराज गुण को समवायी कारण मानते हैं।[५]

रसवैशेषिककार ने लिखा है– 'जिन पदार्थों में अनेकविध लक्षण मिलते हों उन्हें गुण कहते हैं।'[६] इसका कारण यह है कि जिस प्रकार पञ्चाश्रयलक्षण द्रव्य, परिणामलक्षण विपाक, कर्मलक्षण वीर्य आदि द्रव्य, विपाक, वीर्य आदि के इन लक्षणों

---

१. आकृष्यन्ते जना यस्माद् द्रव्यं प्रति बलादिव।
गुर्वादयस्ततः ख्याताः गुणाख्याः रज्जवो यथा।। (स्व०)

२. समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः। (च० सू० १.५१)

३. द्रव्यं गुणकर्माश्रयः, गुणस्तु गुणकर्मानाश्रयः इति द्रव्यतो भेदः। (च० सू० १.५१-यो०)
अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः। (कारिकावली-८६)
रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रित्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम्।
(प्र० पा० भा० गु० सा०)

४. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। (वै० द० १.१.१६)
संयोगवियोगयोरनपेक्षं कारणं यत्तदन्यत्वे सति गुणवद् भिन्नत्वे सति द्रव्याश्रयित्वं गुण-लक्षणं पर्यवसितम्। (उपस्कार- टिप्पणी)

५. इनके मत की विस्तृत समीक्षा के लिए लेखक का 'दोषकारणत्वमीमांसा' नामक ग्रन्थ देखें।

६. विश्वलक्षणा गुणाः। (र० वै० १.१६८)

से उनके समस्त भेद-प्रभेदों का ग्रहण हो जाता है उस प्रकार का कोई ऐसा एक लक्षण गुण का नहीं मिलता जिसमें समस्त गुणों का समावेश हो जाय क्योंकि इनके स्वरूप परस्पर नितान्त भिन्न हैं यथा शीत, उष्ण आदि स्पर्शेन्द्रियग्राह्य है तो स्निग्ध, रूक्ष आदि चक्षुरिन्द्रियग्राह्य। इसलिए जिस प्रकार अनेक चिह्नित वस्त्रों के बीच एक अचिह्नित वस्त्र का अचिह्नितत्व ही लक्षण हो जाता है उसी प्रकार इन विविध लक्षणवाले गुणों का अलक्षितत्व या विविध-लक्षितत्व ही लक्षण किया गया है।[१]

सामान्यत: लोक में द्रव्य को गुरु और उसके गुण को गुरुत्व कहते हैं। यह द्रव्यापेक्षया है। गुण के प्रसङ्ग में प्रधानता के कारण वह गुरु कहलाता है। अथवा आश्रय और आश्रयी में तादात्म्य होने के कारण द्रव्य और गुण दोनों ही गुरु कहे जाते हैं।[२]

३. वर्गीकरण

चक्रपाणिदत्त ने गुणों को तीन वर्गों में विभाजित किया है– वैशेषिक, सामान्य और आत्मगुण।[३] सामान्य गुण भी दो वर्गों में विभाजित हैं– गुर्वादि और परादि। गुर्वादि गुणों को शारीर धातुओं एवं द्रव्यों से विशेष सम्बन्ध होने के कारण कविराज गङ्गाधर ने 'शारीर गुण' भी कहा है। गुर्वादि एवं परादि गुणों को पृथिव्यादि भूतों में सामान्यत: होने के कारण सामान्य गुण[४] एवं शब्दादि विषयों को इन भूतों का विशिष्ट गुण होने के कारण वैशेषिक या विशिष्ट गुण कहते हैं।[५]

वैशेषिक (विशिष्ट) और सामान्य गुणों को भौतिक जगत् से सम्बन्ध रहने के कारण आधिभौतिक[६] तथा आत्मगुणों को आत्मिक जगत् से सम्बन्ध होने के कारण आध्यात्मिक भी कह सकते हैं। गुणों का वर्गीकरण निम्नाङ्कित तालिका में व्यक्त किया गया है–

१. गुणानामेवमेकलक्षणावरोधो नास्ति। तस्मात्तदेवैतेषामतुल्यम्। विकीर्णलक्षणत्वमेव लक्षण-मिति।....लक्षणलक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वाल्लक्षणप्रसिद्धिरिति। (र० वै० १.१६८-भा०)

२. द्रव्यापेक्षा गुरुत्वेति गौणत्वाद्धि निगद्यते।
गुणप्रसङ्गे प्राधान्याद् गुरुरित्यभिधीयते।।
आश्रयाश्रयिणोरैक्यादथवा व्यवहारत:।
उभौ द्रव्यगुणावुक्तौ शास्त्रेऽस्मिन् गुरुसंज्ञया।। (स्व०)

३. अनेन त्रिविधा अपि वैशेषिका: सामान्या: आत्मगुणाश्चद्दिष्टा:। (च० सू० १.४९- चक्र०)

४. एते च सामान्यगुणा:, पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। (च० सू० १.४९- चक्र०)

५. एते च वैशेषिका:; यत आकाशस्यैव शब्द: प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्श: प्राधान्येन, एवमग्न्यादिषु रूपादय:। (च० सू० १.४९-चक्र०)

६. तस्य गुणा: शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ता:। (च० सू० २६.१०)

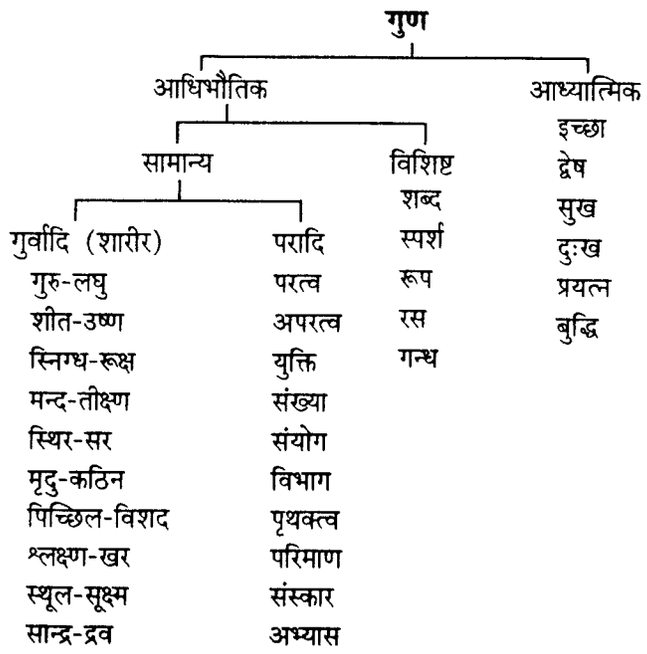

संख्या– उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार गुणों का संख्यान निम्नाङ्कित प्रकार से होता है–

आध्यात्मिक गुण	–	६
गुर्वादि गुण	–	२०
परादि गुण	–	१०
विशिष्ट गुण	–	५
		४१

योगीन्द्रनाथसेनजी आध्यात्मिक गुणों में 'मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसङ्ग्रह:' (च० सू० ८.१३) इस चरकवाक्य के अनुसार मन के विषयों (चिन्त्यादि) का भी समावेश करते हैं और इस प्रकार ६ के बदले ७ आध्यात्मिक गुण मानते हैं और अन्तत: उनके मत में गुणों की कुल संख्या ४१ के बदले ४२ हो जाती है। इस सम्बन्ध में चरक का निम्नाङ्कित श्लोक ध्यान देने योग्य है–

'सार्था गुर्वादयो बुद्धि: प्रयत्नान्ता: परादय:। गुणा: प्रोक्ता:'

(च० सू० १.४९)

यहाँ पर बुद्धि तथा इच्छा से प्रयत्न तक ये ६ गुण आत्मा से सम्बन्ध

रखने वाले हैं।[१] और उन्हीं का ग्रहण यहाँ पर अभिप्रेत है; मन का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। अत: योगीन्द्रनाथसेनजी का मत उचित नहीं जान पड़ता।

आध्यात्मिक गुण– इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न और बुद्धि इन्हें आत्मगुण या आध्यात्मिक गुण कहते हैं। स्मृति, चेतना, धृति, अहङ्कार आदि बुद्धिविशेष होने से उनका बुद्धि में ही अन्तर्भाव किया गया है।[२]

गुर्वादि गुण– इन्हें शारीर गुण भी कहते हैं। ये संख्या में बीस हैं; यथा गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव।[३] इस प्रकार इनके दस युग्म होते हैं और प्रत्येक युग्म में दोनों एक-दूसरे के विपरीत होते हैं।[४] नागार्जुन ने शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, विशद-पिच्छिल, गुरु-लघु, मृदु-तीक्ष्ण इन दस गुणों को 'कर्मण्य' (विशिष्ट-सामर्थ्य सम्पन्न) माना है।[५] इनमें विशद और पिच्छिल को छोड़ कर बाकी आठ को आचार्यों ने वीर्य में समाविष्ट किया है। चरक, अष्टाङ्गसङ्ग्रह और अष्टाङ्गहृदय में इन गुणों की गणना समान है किन्तु सुश्रुत और भावप्रकाश के वर्णन में कुछ विशेषता दृष्टिगोचर होती है। सुश्रुत के वर्णन में दो बातें लक्षित होती हैं। एक तो यह कि उन्होंने समस्त गुणों को दस-दस के दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। उनमें प्रथम वर्ग में शीत-उष्ण आदि वे ही दस गुण हैं जिन्हें नागार्जुन ने कर्मण्य गुण की संज्ञा दी है तथा दूसरे वर्ग में अवशिष्ट गुण हैं।[६] दूसरी विशेषता यह है कि कुछ प्राचीन गुणों के स्थान पर उन्होंने नवीन गुणों

१. इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं प्रयत्नश्चेतना धृति:। बुद्धि: स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मन:।।
(च० शा० १.७२)

२. बुद्धि: ज्ञानम्; अनेन च स्मृतिचेतनाधृत्यहङ्कारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्।
(च० सू० १.४९-चक्र०)
इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणम्। (च० सू० १.४९-चक्र०)
प्रयत्नोऽन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ता:; एतेन चेच्छाद्वेषसुखदु:खप्रयत्नानां ग्रहणम्।
(च० सू० १.४९-चक्र०)

३. गुर्वादयस्तु गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्ण-खरस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवा विंशति:। (च० सू० १.४९-चक्र०)

४. गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिरा:। गुणा: ससूक्ष्मविशदा विंशति: सविपर्यया:।।
(अ० हृ० सू० १.१८)

५. शीतोष्णस्निग्धरूक्षविशदपिच्छिलगुरुलघुमृदुतीक्ष्णा गुणा: कर्मण्या:। (र० वै० ३.१११)

६. दशाद्या: कर्मत: प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणै:। दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे।।
(सु० सू० ४६.५१९-)
तदिदानीं पूर्वाचार्यप्रसिद्धेन क्रमेण द्वेधा विभज्य कर्मत: शीतादीन् गुणानुपदिदिक्षति।
तेषां व्याचिख्यासितानां गुणानां मध्ये आद्या: पूर्वाचार्यैरादावुपदिष्टा:....।
(सु० सू० ४६.५१४-५१९-हा०)

का उल्लेख किया है; यथा आद्य दस गुणों में मन्द-तीक्ष्ण के स्थान पर मृदु-तीक्ष्ण लिखा है जिसका अनुसरण नार्गाजुन ने किया है। अन्य दस गुणों में द्रव-सान्द्र, श्लक्ष्ण-कर्कश, सुगन्ध-दुर्गन्ध, सर-मन्द, आशुकारी-सूक्ष्म ये मिलते हैं। इनके अतिरिक्त व्यवायी और विकासी ये दो गुण अधिक मिलते हैं। किन्हीं के मत में यहाँ पर कहीं-कहीं स्थूल का भी पाठ मिलता है। इस प्रकार संख्या बीस से अधिक बढ़ जाती है और गुणों की स्थिति में भी अन्तर आ जाता है। कुछ चरकोक्त गुण लुप्त हो जाते हैं और कुछ नये गुण देखने को मिलते हैं यथा सुश्रुत में कठिन और स्थूल ये दो चरकोक्त गुण उपलब्ध नहीं होते और सुगन्ध-दुर्गन्ध, व्यवायी-विकासी एवं आशुकारी ये नये गुण वर्णित मिलते हैं जिनका चरक में उल्लेख नहीं है। गुणों के युग्मों के क्रम में भी अन्तर लक्षित होता है। सुश्रुत में मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर तथा श्लक्ष्ण-खर के स्थान पर मृदु-तीक्ष्ण, मन्द-सर और श्लक्ष्ण-कर्कश ये युग्म मिलते हैं। भावप्रकाश ने व्यवस्था कुछ और बदल दी है। उन्होंने युग्मों का क्रम इस प्रकार रक्खा है– गुरु-लघु, स्निग्ध-रूक्ष, तीक्ष्ण-श्लक्ष्ण, स्थिर-सर, पिच्छिल-विशद, शीत-उष्ण, मृदु-कर्कश, स्थूल-सूक्ष्म, द्रव-शुष्क और आशु-मन्द। यद्यपि भावमिश्र ने सुश्रुत के अनुसार ही गुणों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है।[१] तथापि कहीं-कहीं दोनों के पाठ में अन्तर मिलता है तथा सुश्रुतोक्त मृदु-तीक्ष्ण के स्थान पर तीक्ष्ण-श्लक्ष्ण तथा चरकोक्त मृदु-कठिन, सान्द्र-द्रव और मन्द-तीक्ष्ण इन युग्मों के स्थान पर क्रमश: मृदु-कर्कश, शुष्क-द्रव और मन्द-आशु ये युग्म लिखे गये हैं। सुश्रुत के व्यवायी-विकासी एवं सुगन्ध-दुर्गन्ध ये दो युग्म भावप्रकाश में नहीं मिलते तथा शुष्क गुण अधिक मिलता है और अन्य गुणों की व्यवस्था में भी अन्तर है।

गुणों के संख्यान के सम्बन्ध में आचार्यों के मतभेद का समाधान करते हुए दो प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं उनमें एक को नियत-संख्यावाद तथा दूसरे को अनियत-संख्यावाद कह सकते हैं। नियतसंख्यावादी गुर्वादि गुणों की संख्या बीस से अधिक मानने को प्रस्तुत नहीं अत: उससे अधिक मिलने वाले गुणों को या तो प्रक्षिप्त मानते हैं।[२] या उनका अन्तर्भाव उन्हीं बीस में कर लिया जाता है।[३] सुगन्ध-दुर्गन्ध, व्यवायी-विकासी ये चार गुण भावप्रकाश में नहीं मिलते अत: सम्भव है यह पाठ प्रक्षिप्त हो। अन्तर्भाववादी नये गुणों का अन्तर्भाव निम्नाङ्कित समीकरण से करते हैं–

१. सुश्रुते तु गुणा एते विंशतिस्तान् ब्रुवे शृणु। (भा० प्र० मि० ६.२०४)

२. केचिदत्र संख्याभङ्गभयाद् व्यवायिविकास्याशुकारिणामपाठमेव मन्यन्ते।
(सु० सू० ४६.५१४-५२४-ड०)

३. य एतेऽतिरिक्ता गुणा दर्शिता:, ते विंशतावेवान्तर्भूता:। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

व्यवायी	= सर (हेमचन्द्र के मत में द्रव)		
विकासी	= तीक्ष्ण (हेमचन्द्र के मत में खर)		
सुगन्ध	= मन्द	शुचि, विमल	= विशद
दुर्गन्ध	= तीक्ष्ण		
आशुकारी	= चल	विस्र	= तीक्ष्ण
प्रसन्न	= स्थूल		

अनियतसंख्यावादी 'बीस' संख्या को उपलक्षणमात्र मानते हैं। उनका कथन है कि गुण असंख्य हैं, अत: अत्यन्त प्रसिद्ध गुणों का ही गुर्वादि गुणों में उल्लेख किया गया है किन्तु इससे गुणों की इयत्ता नहीं समझना चाहिए। अनेक ऐसे गुण जो इसमें नहीं मिलते किन्तु अपने शास्त्र या दूसरे शास्त्रों में प्रचलित हैं या देशकाल विशेष में प्रचलित हों उनका ग्रहण अवश्य किया जाना चाहिए।[१]

परादि गुण– सामान्य गुणों के दूसरे वर्ग में परादि गुण हैं। ये संख्या में दस हैं- पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास।[२] चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिए इनका ज्ञान परमावश्यक है अत: चक्रपाणि ने जो यह कहा है कि ये अत्युपयोगी नहीं है।[३] यह कथन उचित नहीं जान पड़ता। तथ्य यह है कि इनके बिना चिकित्सा ठीक-ठीक हो ही नहीं सकती।[४]

---

१. गुर्वादय एते आविष्कृततमा एव यज्ज:पुरुषीये उक्ता:, तेन गुणानामसंख्येयत्वादन्येऽपि ज्ञेया इति भाव:। अत एव प्रमेहे श्लेष्मगुणेषु अच्छत्वादयो गुणा: पठ्यन्ते।

(च० सू० १.४९-शि०)

एते विकासित्वादयो गुणा यद्यपि विंशतिगुणगणनायां न पठिता:, तथाप्यसंख्येयतया गुणानामेषामपि गुणत्वं सिद्धम्; ये तु तत्र पठितास्ते तावदाविष्कृततमा ज्ञेया:। (चक्र०)

अधिकायामपि गुणविंशतावुक्तायां गुणा विंशक्तिरुक्ता:, न चात्र नियमो विंशतिरेवेति; व्यवायिविकास्याशुकारिणां तु स्वतन्त्रे च परतन्त्रे च दर्शनात् पाठो न्याय्य एव।

(सु० सू० ४६.५१४-५२४-ड०)

२. परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च।।
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेया: परादय:। सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे।।

(च० सू० २६.२९-३०)

३. एते च सामान्यगुणा अपि नात्युपयुक्तत्वात्तथा बुद्धिप्राधान्याच्चान्ते प्रोक्ता:।

(च० सू० १.४९-चक्र०)

४. इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणा: सर्वे परादय:। चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते।।

(च० सू० २६.३५)

विशिष्ट गुण– भूतों के विशिष्ट गुणों तथा इन्द्रियों के विशिष्ट विषयों को विशिष्ट गुण या शब्दादि गुण कहते हैं।[१] ये संख्या में पाँच हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। ये क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी इन भूतों के विशिष्ट गुण तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन इन्द्रियों के विशिष्ट विषय हैं। इन पाँचों में रस द्रव्यगुण का विशिष्ट प्रतिपाद्य विषय है तथा शेष चार द्रव्य-परिचय में उपयोगी हैं।

इन चारों प्रकार के गुणों में आध्यात्मिक गुण पदार्थ विज्ञान के विषय हैं, अत: द्रव्य-गुणशास्त्र में मुख्यत: गुर्वादिगुण और परादि गुण वर्णित हैं। विशिष्ट गुणों में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, मुख्यत: रस का वर्णन किया गया है।

४. स्वरूप

कुछ विद्वानों ने गुणों को भौतिक गुण (Physical properties) माना है और कुछ लोगों ने इसका खण्डन कर औषध-कर्म (Pharmacological actions) के रूप में गुणों को स्वीकार किया है।[२] मेरे विचार से ये दोनों मत अतिवादी हैं। आयुर्वेदोक्त गुण केवल भौतिक गुण नहीं क्योंकि भौतिक गुण प्रत्यक्ष होता है किन्तु द्रव्यों के गुण कर्मानुमेय होते हैं।[३] गुणों को ओषधों के वैद्यकीय कर्म मानने से गुण और कर्म में भेद ही क्या रहता है? अत: दोनों मतों का समन्वय करने से आयुर्वेद की विचारधारा स्पष्ट हो सकती है। आयुर्वेदोक्त गुण न तो केवल भौतिक गुण हैं और न वैद्यकीय कर्म हैं बल्कि वे स्वत: भौतिक गुण हैं और शरीर में प्रयुक्त होने पर वहाँ अपने समान गुणों की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इस प्रकार ये स्वरूपत: भौतिक और कार्मुक गुण (Physical & Pharmacological properties) दोनों हैं। कर्म तो ये किसी प्रकार नहीं हो सकते हैं। अत: डॉ० घाणेकर का यह कथन कि ओषधिविज्ञान की परिभाषा में गुण मुख्यतया शरीरगत क्रियाओं के द्योतक होते हैं (पृ० २१९) समुचित नहीं है। फिर भी मुख्यत: इनसे तत्तत् कर्मकारित्व का ही बोध होता है यथा 'अमुक द्रव्य उष्ण है' इसका अर्थ यह है कि वह द्रव्य शरीर में जाने पर उष्णता उत्पन्न करेगा। 'उष्णोदक' में यह कर्मकारित्व के साथ-साथ भौतिक गुण का भी बोध करायेगा और ऐसे स्थलों में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों

---

१. अर्था: शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणा:। (च० शा० १.३१)

२. कुछ आधुनिक विद्वान् गुण से भौतिक गुण (Physical properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। ....गुण ओषधियों के वैद्यकीय कार्य के द्योतक गुण होते हैं। गुणों को 'फार्मोकोलोजिकल ऐक्शन्स' कह सकते हैं। (सु० पृ० ३०९-घाणेकर)

३. कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणा:। (सु० सू० ४६.५१४)

के द्वारा उसका ग्रहण होगा। जहाँ पर भौतिक गुण की स्थिति न होने से प्रत्यक्ष का आधार न हो वहाँ केवल तज्जन्य कर्मों से अनुमान के द्वारा गुण का बोध होगा उदाहरणार्थ, आरग्वध और एरण्डतैल-एरण्ड तैल का भौतिक गुण तथा कार्मुक गुण दोनों 'सर' है अत: यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है किन्तु आरग्वध स्वरूपत: (प्रत्यक्षत:) सर नहीं है किन्तु कर्मत: सर है अत: इसके 'सर' गुण का अनुमान से बोध होता है, प्रत्यक्ष से नहीं।

द्रव्य और गुण में समानता यह है कि दोनों सजातीय कार्य के आरम्भक होते हैं अर्थात् द्रव्य दूसरे सजातीय द्रव्य को तथा गुण दूसरे सजातीय गुण को उत्पन्न करता है।[१]

ऐसी मान्यता है कि द्रव्य आद्य क्षण में निर्गुण होता है, उसके बाद उसमें गुण का अधिष्ठान होता है। चूँकि व्यावहारिक दृष्टि से द्रव्य, गुण का आश्रय होने से कार्य के प्रति द्रव्य की कारणता स्पष्ट है, किन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, गुण भी कारण के रूप में विद्यमान रहता है। इसलिए लौकिक व्यवहार में या दर्शन-शास्त्र में कोई समस्या गुण की कारणता के सम्बन्ध में खड़ी नहीं होती, किन्तु द्रव्यगुणशास्त्र में जहाँ कि गुणों का विशेष महत्त्व है और कर्मों के प्रति उनकी कारणता भी शास्त्र में प्रतिपादित है, यह विचार का विषय हो जाता है। किसी द्रव्य का शरीर पर जो कर्म लक्षित होता है वह द्रव्य के कारण होता है या गुण के कारण? यदि गुण द्रव्याश्रित है और सर्वत्र द्रव्य का ही प्रयोग होता है तो गुण के कर्म का प्रतिपादन निरर्थक हो जाता है।

गुण में गुण और कर्म नहीं रहते अत: जहाँ पर गुण के गुणकर्म का निर्देश हो वहाँ तदाश्रयभूत द्रव्य का ही गुण-कर्म समझना चाहिए[२] ऐसा प्राचीन संहिताकारों का मत है। किन्तु यह एक प्रकार से दार्शनिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोणों के सामञ्जस्य का प्रयत्न है।

इनका अभिप्राय यह है कि यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से गुण, गुण और कर्म का आश्रय नहीं हो सकता तथापि विशिष्ट गुणों की उपस्थिति के कारण द्रव्य में विशिष्ट शक्ति अधिष्ठित होती है। इस प्रकार गुण, द्रव्य के स्वरूप एवं तदाश्रित शक्ति के प्रतीक हैं। इस दृष्टि से गुण दो प्रकार के बतलाये हैं–

१. द्रव्यगुणयो: सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्। (वै० सू० १.१.८)
द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणश्च गुणान्तरम्। (वै० सू० १.१.१०)

२. गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद् रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्राया: पृथग्विधा:।। (च० सू० २६.३६)

१. एक प्रकार के गुण वे हैं, जो द्रव्य में निरन्तर व्याप्त होते हैं। यथा अग्नि में उष्णता, वायु में चलत्व, तैल में स्नेहत्व,[१] इत्यादि ऐसे गुणों को यावद्द्रव्यभावी गुण कहा गया है।

२. दूसरे प्रकार के गुण वे हैं, जो आवस्थिक होते हैं। यथा धान्य की नवीनावस्था में जो गुरुत्व गुण होता है वह पुराणावस्था में हीन जो जाता है।[२] ऐसी मान्यता है कि प्रथम प्रकार के यावद्द्रव्यभावी विशिष्ट गुणों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, किन्तु दूसरे प्रकार के जो आवस्थिक गुण हैं वे नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर नए गुणों का प्रादुर्भाव होता है जिसे गुणान्तराधान कहते हैं।[३] कहा जाता है कि गुण द्रव्यविनाश के कारण या गुणान्तराधान के कारण नष्ट होता है। प्रथम पक्ष यावद्द्रव्यभावी गुणों के लिए तथा द्वितीय पक्ष आवस्थिक गुणों के लिए अभिप्रेत है। इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए यह कहा गया कि यावद्द्रव्यभावी गुणों में अन्यथाकारण सम्भव नहीं किन्तु आवस्थिक गुणों में गुणान्तराधान के द्वारा परिवर्तन हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में चक्रपाणि की पूर्ण रुचि नहीं थी। अत: अन्त में उन्होंने यह लिखा कि जहाँ संस्कार के द्वारा द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होती है वहाँ गुणान्तर का प्रादुर्भाव समीचीन ही है यथा व्रीहि से लाजा बनाने पर द्रव्यान्तर होने के कारण गुणान्तर स्पष्ट है।[४] इससे स्पष्ट होता है कि चक्रपाणि द्रव्यान्तर में परिवर्तन के द्वारा ही गुणात्मक परिवर्तन मानने के पक्ष में थे, क्योंकि गुण द्रव्याश्रित है और बिना द्रव्य में परिवर्तन हुए तदाश्रित गुणों में परिवर्तन सम्भव नहीं।

शङ्कराचार्य ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है– 'संयोगिमल-वियोगाद्विशुद्धिर्भवति यथा आदर्शप्रभृतीनां न तु स्वाभाविकेन धर्मेण कस्यचिद् वियोगो दृष्ट:, न ह्यग्ने: स्वाभाविकेन प्रकाशेन औष्ण्येन वा वियोगो दृष्ट:।'

(बृ० आ० उ० ४.३-शां० भा०)

१. वह्नेरौष्ण्यं, वायोश्चलत्वं, तैलस्य स्नेह इत्यादि। एते हि यावद्द्रव्यभाविन एव गुणा:।
(च० वि० १.२२(२)-चक्र०)

प्रशस्तपाद ने निम्नाङ्कित गुणों को यावद्द्रव्यभावी माना है–
अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणकत्वैकपृथक्त्वसांसिद्धिकद्रवत्वगुरुत्वस्नेहानां यावद्-द्रव्यभावित्वम्। शेषाणामयावद्द्रव्यभावित्वं चेति। (प्र० पा० भा० गुण० २)

२. गौरवादयस्तु पुराणधान्यादिष्वप्यपगमदर्शनान्न यावद्द्रव्यभाविन:।
(च० वि० १.२२(२)-चक्र०)

३. संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। (च० वि० १.२२ (२)

४. यत्र तु संस्कारेण व्रीहेर्लाजलक्षणं द्रव्यान्तरमेव जन्यते, तत्र गुणान्तरोत्पाद: सुष्ठ्वेव।
(च० वि० १.२२(२)-चक्र०)

'नह्यविकृत्य संयोगि द्रव्यं गुणः कश्चिदुपयन् अपयन् वा दृष्टः क्वचित्।'
(बृं० आ० उ० १.४-शां० भा०)

इसी कारण से वेदान्त में अद्वैतवादी गुण की पृथक् सत्ता न मानकर उसे द्रव्यात्मक ही मानते हैं–

'द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति। ..तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य।' (ब्रह्मसूत्र २.११७-शां० भा०)

महर्षि चरक ने स्वभावोपरमवाद[१] के प्रसङ्ग में इस विषय का विवेचन किया है। उनका कथन है कि द्रव्य के विनाश में कोई कारण अपेक्षित नहीं है और न उनका अन्यथाकारण ही सम्भव है।[२] शरीरस्थ द्रव्य जिस रूप में हैं उसी रूप में अपने-आप विनष्ट हो जाते हैं। प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि, विषम शरीर धातुओं को साम्यावस्था में किस प्रकार लाया जा सकता है? इसके दो प्रकार हो सकते हैं– एक तो यह कि धातुओं में जो विकृत गुण उत्पन्न हो गए हैं, उनकी विकृति दूर कर उन्हें प्राकृत स्थिति में लाया जाय और दूसरे यह कि भेषज एवं पथ्य के द्वारा ऐसी अवस्था उत्पन्न की जाय कि जो नये धातु उत्पन्न हों वे प्राकृत स्थिति में हों। प्रथम पक्ष गुणात्मक परिवर्तन का और द्वितीय पक्ष द्रव्यात्मक परिवर्तन का है। चरक की मान्यता है कि, गुणात्मक परिवर्तन सम्भव नहीं। धातु जिस रूप में हैं उसी रूप में नष्ट हो जाते हैं।[३] चिकित्सक इतना ही कर सकता है कि औषध तथा आहार-विहार के नियमन से जो नवीन शारीरधातु उत्पन्न हों वे समस्थिति में हों।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि द्रव्यनिरपेक्ष गुणों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। द्रव्य में परिवर्तन के द्वारा ही गुणों में परिवर्तन सम्भव है। गुण वस्तुतः द्रव्य के प्रतीक मात्र हैं।

रस-शास्त्र में भी जो शोधन-मारण आदि संस्कार किये जाते हैं उनके द्वारा द्रव्यात्मक परिवर्तन होकर ही गुणात्मक परिवर्तन होता है।

५. कार्मुकता

आयुर्वेदीय द्रव्यगुणशास्त्र में गुणों के कुछ कर्म बतलाए गये हैं।[४] वे केवल द्रव्यस्वरूप के परिचायक भौतिक गुणमात्र नहीं, बल्कि उनके द्वारा तत् तत् गुण

१. (च० सू० १६.२७)
२. निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया। (च० सू० १६.३३)
३. यथाभूतस्तथा भावो विपद्यते। (च० सू० १६.३३)
४. (सु० सू० ४६.५१४-५२४)

का आरम्भ शरीर में होता है यथा– जब यह कहा जाता है कि अमुक द्रव्य गुरु है, तो उसमें यह सङ्केत निहित है कि वह द्रव्य शरीर में गुरुत्व उत्पन्न करेगा। इसी आधार पर सुश्रुत ने यह कहा कि द्रव्याश्रित गुणों का अनुमान उनके कर्मों से होता है।[१] किन्तु पारिभाषिक दृष्टि से गुण में कर्म की स्थिति नहीं मानी गई है। अतः जब यह कहा जाता है कि अमुक गुण का यह कर्म है, तो वस्तुतः वह द्रव्य का ही कर्म होता है, क्योंकि गुण और कर्म दोनों का आश्रय द्रव्य ही है। गुण वस्तुतः द्रव्य की प्रकृति के प्रतीक हैं, जिनसे द्रव्य के पाञ्चभौतिक सङ्गठन एवं स्वरूप का पता चलता है। शरीर पञ्चमहाभूतों से बना हुआ है और द्रव्य भी पाञ्चभौतिक है, इसलिए शरीर के धातुओं में जो गुण हैं वही द्रव्यों में भी हैं, इसी आधार पर शारीर-धातुओं में परिवर्तन लाने के लिए द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।[२]

आधुनिक दृष्टि से भी द्रव्य के रासायनिक स्वरूप के आधार पर ही उसका कर्म निर्धारित माना जाता है। द्रव्य अपने विशिष्ट रासायनिक सङ्गठन के कारण शरीरपरमाणुओं में गुणसादृश्य (Affinity) के आधार पर विभिन्न परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। किन्तु वहाँ भी वे द्रव्य को प्रभावित करते हुए कार्य करते हैं।[३]

आयुर्वेदीय आचार्यों ने द्रव्यसामान्य, गुणसामान्य तथा कर्मसामान्य के रूप में विविध कोटियों में सामान्य को विभाजित किया है, किन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो ये मूलतः द्रव्यात्मक परिवर्तन के ही विभिन्न माध्यम हैं। कुछ गुणों की उपस्थिति में द्रव्य अधिक कार्मुक होते हैं और उनके द्वारा जन्य परिवर्तन स्पष्टतः लक्षित होते हैं। बीस गुर्वादि गुणों में आठ गुण अत्युत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न माने गए हैं। ऐसे गुणों की ही संज्ञा वीर्य हो जाती है।[४] ये गुण हैं शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-तीक्ष्ण, गुरु-लघु।[५] सुश्रुत गुरु-लघु के स्थान पर विशद-पिच्छिल मानते हैं। इसका और संक्षेप करके अग्नीषोमीय सिद्धान्त के अनुसार शीत और उष्ण इन्हीं दो में सभी का समावेश कर लिया गया है।[६] चरक ने कहा है कि कुछ द्रव्य

१. कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः। (सु० सू० ४६.५१४)
२. गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा। स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः।।
(सु० सू० ४१.१२)
३. Drugs capable of combining with receptor and initiating drug action are said to possess both affinity and efficacy (or intrinsic activity) and are termed agonists. Goodman Gillman- The Pharmacological Basis of Therapeutics- P.18.
४. गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः। (अ० सं० सू० १७.४४)
५. (च० सू० २६.६४)
६. वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। (सु० सू० ४०.५)

द्रव्यप्रभाव से कुछ गुणप्रभाव से और कुछ द्रव्यगुणप्रभाव से कार्य करते हैं।[१] यहाँ पर आचार्य ने वीर्य की कार्मुकता का निर्देश करते हुए वीर्य और प्रभाव में अन्तर दिखलाया है। वस्तुत: गुण-प्रभाव से जो कर्म होते हैं वे वीर्यजन्य माने गये हैं और जो द्रव्यप्रभाव से होते हैं वे प्रभावजन्य कहलाते हैं।

गुण और वीर्य में अन्तर बतलाते हुए डल्हण ने लिखा है– 'ननु गुणाद् वीर्याणां को भेद:? उच्यते– य एव गुणा आमलक्यां त एव हरीतक्याम्, अस्ति च वीर्ये विशेष:; तथाहि– उष्णावीर्या हरीतकी, शीतवीर्यमामलकमिति; एतेनैतदुक्तं भवति- द्रव्यरसगुणविपाकैर्यत् कर्म कर्तुं न शक्यते तत् कर्म कुर्वन् प्रभावो वीर्यमुच्यते, तथाहि– "वीर्यं शक्तिरुत्पत्तिविशेष: सामर्थ्यं प्रभाव इत्यनर्थान्तरम्।" (सु० सू० ४०.२)

अर्थात् कार्मुकता ही गुण और वीर्य में भेद करती है। संयोग वृद्धि में कारण तथा विभाग क्षय का कारण होता है। शारीरधातुओं में साम्यस्थापन के लिए इन्हीं दो गुणों का मुख्यत: आश्रय लेना पड़ता है।[२] जो क्षीण हैं उनको बढ़ाने के लिए संयोग तथा बढ़े हुए धातुओं को घटाने के लिए विभाग का उपयोग करते हैं। संयोग और विभाग को कर्मज गुण माना गया है। संयोग और विभाग औषधकर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[३] चरक ने शरीर-परमाणुओं के संयोग और विभाग में कारण वायु को माना है, इसलिए कि वायु राजस एवं कर्मसम्पन्न है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आधुनिक दृष्टि से औषधद्रव्य गुणसाधर्म्य के आधार पर अधिकरण (Locus of action) में पहुँच कर शरीर-परमाणुओं के ग्राह्य (Receptor) अवयवों के सम्पर्क में आते हैं और शरीर-परमाणुओं में अनुकूल परिवर्तन करके विभिन्न कर्म उत्पन्न करते हैं। यद्यपि शरीर-परमाणुओं के रासायनिक सङ्गठन एवं क्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं होने के कारण अधिकांश औषधद्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया को पूर्णत: स्पष्ट नहीं किया जा सकता,[४] फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि द्रव्यों और शारीरधातुओं में गुणसादृश्य या साधर्म्य का औषधकर्म की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने भी कहा है।

१. द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च.... कुर्वन्ति। (च० सू० २६.१३)

२. संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते। (च० सू० १.५२)

३. संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजा:। (कारिकावली–९६)

४. The most fundamental aspect of pharmacodynamics is that which deals with the mechanisms of drug action. It is also the most difficult and frustrating, since too little is known of cellular biochemistry and physiology to permit other than an incomplete or superficial explanation of the mechanism of action of most drugs: Goodman Gilman–The Pharmacological Basis of Therapeutics, P.17.

गुणों का सम्बन्ध न केवल वीर्य और प्रभाव से, बल्कि रस और विपाक से भी है। रस तो साक्षात् गुण ही है, विपाक की निष्पत्ति भी गुणों के आधार पर ही होती है। गुरु-गुण के आविर्भाव से गुरुविपाक तथा लघु-गुण के आधिक्य से लघुविपाक कहा गया है।[१]

कहीं-कहीं पर गुण की दृष्टि से द्रव्यों का प्रयोग किया गया है। यथा पाचन के लिए उष्णोदक। स्वेदन के विविध प्रकार भी उष्णगुण के ही विभिन्न माध्यम हैं। इस प्रकार गुणाधान भी दोष-दूष्य के माध्यम से शरीर में परिवर्तन करते हैं।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषधरूप उपशय की व्याख्या करते हुए विजयरक्षित ने लिखा है कि उष्ण अग्निप्लुष्ट में उष्ण लेप का प्रयोग करने से अधिष्ठान से विलीन रक्त हट जाता है और इस प्रकार लाभ होता है। पित्तज ग्रहणी के प्रसङ्ग में "जलं तप्तमिवानलम्" के द्वारा गुण को महत्त्व न देकर द्रव्यात्मक आश्रय को ही महत्त्व दिया गया है। पित्त उष्ण होने पर भी अग्नि का दीपन नहीं करता, बल्कि अग्नि को मन्द कर ग्रहणी रोग उत्पन्न करता है यथा गरम पानी आग में डालने से आग बुझ जाती है। यहाँ पर उष्ण गुण कार्यकर नहीं होता तदाश्रयभूत जल ही कार्यकर होता है।

*

१. द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणा:। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते।।
तेजोऽनिलाकाशगुणा: पच्यमानेषु येषु तु। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाक: कटुक उच्यते।। (सु० सू० ४०.११-१२)

द्वितीय अध्याय

गुर्वादि गुण

गुर्वादि गुण द्रव्य-गुण-शास्त्र की दृष्टि से गुणों में सर्वोपरि स्थान रखते हैं और इस शास्त्र में केवल 'गुण' शब्द गुर्वादि गुणों का ही वाचक होता है। अत: उनके स्वरूप का पृथक्-पृथक् विस्तृत निरूपण आवश्यक है। गुणों के कर्मों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गुण स्वत: निर्गुण और निष्क्रिय है अत: कर्म की स्थिति उनमें सम्भव नहीं। इसलिए किसी गुण का कर्म तदाश्रयभूत द्रव्य का ही कर्म होता है। यह बात अवश्य है कि वह कर्म की उत्पत्ति में कारणभूत होता है। जिस प्रकार गुण गुण में नहीं रह सकते अत: रसादि गुणों के गुण को वस्तुत: तदाश्रय द्रव्य का गुण समझना चाहिए,[१] उसी प्रकार कर्म भी गुण में नहीं रह सकते और ऐसे स्थलों में उन्हें द्रव्य का ही समझना चाहिए इसीलिए शास्त्र में 'गौरव' 'लाघव' आदि गुणवाचक संज्ञाओं का प्रयोग न कर 'गुरु' 'लघु' आदि विशेषण शब्दों का ही व्यवहार किया गया है जो तद्गुण विशिष्ट द्रव्य का बोध कराते हैं। गुणों से कर्म की उत्पत्ति का तात्पर्य भी इतना ही समझना चाहिए कि वे शारीर धातुओं में जाकर वहाँ स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति करते हैं और इस क्रम में कर्म को प्रेरित करते हैं क्योंकि बिना कर्म के संयोग विभाग हो नहीं सकता।

१. गुरु (Heavy)

कार्मुक स्वरूप– जो गुरुपाक हो शरीर में गौरव उत्पन्न करे वह गुरु कहलाता है।

कर्म

दोष– यह वातहर तथा कफवर्धक होता है।

धातु– यह धातुओं को बढ़ाता (बृंहण) है[२] तथा शरीर के लिए पौष्टिक और भारबर्धक है।

मल– यह मलों की वृद्धि तथा स्रोतों में उपलेप उत्पन्न करता है। विरेचन द्रव्य गुरु होने के कारण नीचे की ओर जाते हैं और मलों को बाहर निकालते हैं।

१. गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान्। (च० सू० २६.३६)

२. यस्य द्रव्यस्य बृंहणे कर्मणि शक्ति: स गुरु:। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

संस्थानिक– यह चिरपाकी तथा तृप्तिजनन है। अग्नि को भी मन्द करता है।

मानस– इससे शरीर में ग्लानि और शैथिल्य (अवसाद) उत्पन्न होता है।

भौतिक आधार– गुरुगुण पृथिवी भूत का विशिष्ट गुण है।[१] सुश्रुत और नागार्जुन ने जलतत्त्व में भी गुरुत्व माना है।[२] वैशेषिक ने भी दृश्य जल में गुरुत्व स्वीकार किया है।[३] मधुररस, मधुरविपाक तथा शीतवीर्य गुरु माने गये हैं।

उदाहरण– माष, मुशली आदि।[४]

२. लघु (Light)

कार्मुक स्वरूप– जो लघुपाक हो तथा जिससे शरीर में लघुता उत्पन्न हो वह लघु कहलाता है।

कर्म

दोष– यह कफघ्न तथा वातवर्धक है।

धातु– यह धातुओं को घटाता (लङ्घन)[५] है और शरीर को कृश और दुर्बल बनाता है। व्रणरोपण भी है।

मल– यह मलों का क्षय करता है तथा स्रोत: शोधक है। ऊर्ध्वभागहर द्रव्य लघु होने के कारण ऊर्ध्वगतिशील होते हैं अत: ऊर्ध्वभाग से दोषों को बाहर निकालते हैं।

संस्थानिक– यह पाक में लघु तथा तृप्तिघ्न है। अग्नि की दीप्त करता है।

मानस– इससे शरीर में उत्साह और स्फूर्ति आती है।

भौतिक आधार– लघु गुण आकाश का आत्मगुण माना गया है। वायु और अग्नि में भी लघुत्व होता है। अत: लघु गुण का आधार वायु, अग्नि और आकाश है।[६]

उदाहरण– मुद्ग, लाजा आदि।[७]

१. लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात्। नभोभूवारिवातानां वह्नेरेते गुणा: स्मृता:।। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०१)

२. शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं.....माप्यम्। (सु० सू० ४१.३(२)
गौरवं पार्थिवमाप्यञ्च। (र० वै० ३.११६)

३. गुरुत्वं जलभूम्यो: पतनकर्मकारणम्। (प्र० पा० भा० ३६)

४. सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहण:। (सु० सू० ४६.५१८)
गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०३)

५. लङ्घने लघु:। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

६. लाघवमन्यदीयम्। (र० वै० ३.११७)

७. लघुस्तद्विपरीत: स्याल्लेखनो रोपणस्तथा। (सु० सू० ४६.५१९)
लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०२)

व्यावहारिक दृष्टि से जैसे सारे उपक्रम बृंहण और लङ्घन में अन्तर्भूत हो जाते हैं उसी प्रकार सभी गुण गुरु और लघु इन दो गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं। इसी कारण इन्हें प्रथम स्थान दिया गया है।

३. शीत (Cold)

कार्मुक स्वरूप– जिससे शरीर में शैत्य उत्पन्न हो वह शीत गुण है।

कर्म

दोष– यह पित्तघ्न तथा वातश्लेष्मकर है।

धातु– इससे धातुओं की वृद्धि होती है। रक्तस्तम्भक भी है।

मल– यह मूत्रल और पुरीष तथा स्वेद का स्तम्भन है।[१]

संस्थानिक– इससे मूर्च्छा, तृष्णा एवं दाह तथा अन्य पैत्तिक लक्षणों की शान्ति होती है।

मानस– मन को आह्लादित करने वाला है।

भौतिक आधार– इसका आधार जल महाभूत है। वायु का गुण भी शीत कहा गया है। मृदु, शीत और उष्ण ये गुण स्पर्श ग्राह्य हैं। (सु० सू० ४१.११)

उदाहरण– चन्दन, दूर्वा आदि।[२]

रसों में सौम्य रस (मधुर-तिक्त-कषाय) शीत हैं। अम्लरस केवल स्पर्श में शीत है किन्तु वीर्यत: उष्ण है। उष्णवीर्यो हिमस्पर्श:– (अ० हृ० सू० १०.१०)। मधुर विपाक शीत होता है।

४. उष्ण (Hot)

कार्मुक स्वरूप– जिससे शरीर की उष्णता बढ़े वह उष्ण गुण है।

कर्म

दोष– यह पित्तवर्धक तथा वातश्लेष्महर है।

धातु– यह धातुओं को घटाता है और रक्तस्राव का प्रवर्त्तक है।

मल– यह पुरीष और स्वेद का प्रवर्त्तक है।[३]

संस्थानिक– यह दीपन-पाचन है। इसके अतियोग से मूर्च्छा, तृष्णा एवं दाह उत्पन्न होता है।

१. स्तम्भने हिम:। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
२. ह्लादन: स्तम्भन: शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्। (सु० सू० ४६.५१५)
शीतस्तु ह्लादन: स्तम्भी मूर्च्छातृट्स्वेददाहनुत्। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०८)
३. स्वेदने उष्ण:। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

मानस– इससे विकलता उत्पन्न होती है।

भौतिक आधार– इसका आधार अग्नि है।[१]

उदाहरण– चित्रक, हिङ्गु आदि।[२]

५. स्निग्ध (Unctuous)

कार्मुक स्वरूप– जिससे शरीर में स्निग्धता और मृदुता उत्पन्न हो वह स्निग्ध कहलाता है।

कर्म

दोष– यह वातहर तथा श्लेष्मवर्धक है।

धातु– यह धातुओं को तथा बल एवं वर्ण को बढ़ाता है।[३]

मल– यह मलों का प्रवर्तक है।

संस्थानिक– यह रसायन और वाजीकर है।

भौतिक आधार– यह जल का विशिष्ट गुण है।[४]

उदाहरण– वाताद, तिल आदि।

रसों में मधुर-अम्ल-लवण स्निग्ध हैं, मधुर विपाक भी स्निग्ध है। इसके अतियोग से कफ प्रकोप के द्वारा आलस्य, अरुचि, प्रमेह, मेदोरोग, आमदोष, श्वासकास आदि विकार होते हैं।

६. रूक्ष (Non-unctuous)

कार्मुक स्वरूप– जिससे शरीर में रूक्षता और शुष्कता उत्पन्न हो वह रूक्ष कहा जाता है।

कर्म

दोष– यह वातवर्धक एवं कफशामक है।[५]

१. तैजसमौष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च। (र० वै० ३.११३)
२. उष्णस्तद्विपरीत: स्यात् पाचनश्च विशेषत:। (सु० सू० ४६.५१५)
उष्णो भवति शीतस्य विपरीतश्च पाचन:। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०८)
३. यस्य क्लेदने शक्ति: स स्निग्ध:। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा। (सु० सू० ४६.५१६)
४. स्नेहोऽपां विशेषगुणा:। (प्र० पा० भा० ३८)
स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम्। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०३)
५. रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम्। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०३)

धातु– यह धातुओं को तथा बल, वर्ण को सुखाता है।[१]

मल– यह मलों का शोषक है। द्रवांश का शोषण कर यह स्तम्भन कर्म करता है।[२]

संस्थानिक– इससे कामोत्तेजना कम होती है।

भौतिक आधार– यह वायु का विशिष्ट गुण है। आग्नेय द्रव्य भी रूक्ष कहे गये हैं (च० सू० २६.११)। रस-वैशेषिक ने पार्थिव द्रव्यों को भी रूक्ष कहा है (रौक्षवैशद्ये पार्थिववायव्ये-र० वै० ३०.१४)।

उदाहरण– यव, गुग्गुलु आदि।

कटु तिक्त कषाय रस रूक्ष हैं, कटु विपाक भी रूक्ष है। रूक्ष गुण की दृष्टि से कषाय उत्तम, कटु मध्यम तथा तिक्त अवर माना गया है। अतियोग से यह मूर्च्छा, भ्रम, धातुशोष, वातविकार उत्पन्न करता है।

७. मन्द (Mild)

कार्मुक स्वरूप– जो शरीर में जाकर विषम दोषों का शमन करे वह मन्द कहलाता है।[३] यह सामान्य गति से शरीर का यापन करता है।[४]

कर्म

दोष– यह कफवर्धक तथा पित्तशामक है।

धातु– यह धातुओं को बढ़ाता है और शरीर को स्थूल बनाता है।

मल– मलों के नि:सरण में यह सहायक नहीं होता।

भौतिक आधार– पृथिवी और जल महाभूतों के आधिक्य से मन्द गुण होता है।

उदाहरण– कूष्माण्ड, आमलक आदि।

सौम्य रसों (मधुर-तिक्त-कषाय) में मन्द गुण होता है। शीतवीर्य तथा मधुर विपाक भी मन्दगुणभूयिष्ठ होते हैं।

८. तीक्ष्ण (Sharp)

कार्मुक स्वरूप– जो शरीर में प्रयुक्त होने पर शोधन कर्म करे वह तीक्ष्ण गुण कहलाता है।[५]

---

१. यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
२. रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद् विशेषात् स्तम्भनः खरः। (सु० सू० ४६.५१६)
३. यस्य शमने शक्तिः स मन्दः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
४. मन्दो यात्राकरः स्मृतः। (सु० सू० ४६.५२२)
५. यस्य शोधने शक्तिः स तीक्ष्णः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

कर्म

दोष– यह पित्तकर तथा कफवातहर है।

धातु– यह धातुओं को घटाता है और शरीर का लेखन करता (कृश बनाता) है।

मल– यह मलों का प्रवर्त्तक है। वमन-विरेचन द्रव्य तीक्ष्ण गुण भूयिष्ट होते हैं।

संस्थानिक– यह उद्वेजक प्रभाव करता है और दाह, पाक तथा स्राव का जनक है।

भौतिक आधार– इसका आधार अग्नि महाभूत है।

उदाहरण– भल्लातक, मरिच आदि।[१]

९. स्थिर (Stable)

कार्मुक स्वरूप– जो धातुओं में स्थिरता उत्पन्न कर शरीर का धारण करे उसे स्थिर कहते हैं।[२]

कर्म

दोष– यह कफवर्धक है।

धातु– यह धातुओं को बढ़ाता है तथा बल्य है।

मल– मल को बाँधता है।[३]

भौतिक आधार– यह पृथिवी महाभूत की अधिकता से होता है।

उदाहरण– शालपर्णी (स्थिरा) आदि रसायन द्रव्य।

१०. सर (Unstable)

कार्मुक स्वरूप– जो धातुओं को क्षीणकर शरीर की स्थिरता को नष्ट करता है, वह सर कहलाता है।[४]

कर्म

दोष– यह वातवर्धक है।

धातु– यह धातुओं का लेखन करता है।

मल– मलों का प्रवर्तक है।[५]

---

१. दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणः। (सु० सू० ४६.५१८)
तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत्। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०४)
२. यस्य धारणे शक्तिः स स्थिरः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
३. स्थिरो वातमलस्तम्भी। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०७)
४. सरः स्थैर्यहरः प्रोक्तो धातुक्षयकरस्तनोः। (स्व०)
५. सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः। (सु० सू० ४६.५२२)
सरस्तेषां प्रवर्त्तकः। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०७)

भौतिक आधार– सुश्रुत ने जल महाभूत के आधिक्य से लिखा है किन्तु कर्म (प्रेरण) के आधार पर यह वातप्रधान प्रतीत होता है। सुश्रुत का अभिप्राय सरण से है।

उदाहरण– रूक्ष अन्न आदि अपतर्पण द्रव्य।

११. मृदु (Soft)

कार्मुक स्वरूप– जो शारीरिक अङ्गों में कोमलता और शिथिलता उत्पन्न करे वह मृदु गुण है।[१]

कर्म

दोष– यह कफवर्धक एवं वात-पित्तशामक है।

धातु– धातुओं को शिथिल बनाता है तथा दाह, पाक और स्राव का नाश करता है।[२]

मल– मलों को भी ढीला करता है।

भौतिक आधार– जल और आकाश महाभूतों के आधिक्य से यह होता है।[३]

उदाहरण– द्राक्षा, घृत आदि।

१२. कठिन (Hard)

कार्मुक स्वरूप– जो शरीर में कठोरता और दृढ़ता उत्पन्न करे वह कठिन गुण है।[४]

कर्म

दोष– यह वातवर्धक है।

धातु– यह धातुओं को दृढ़ करता है।

मल– यह मलों को सुखाता है।

भौतिक आधार– इसका आधार पृथिवी महाभूत है।[५]

उदाहरण– प्रवाल, मुक्ता आदि।

१३. विशद (Non-Slimy)

कार्मुक स्वरूप– जिसमें क्षालन (पिच्छिलता को नष्ट करने) की शक्ति हो वह विशद कहलाता है।[६] यह अवयवों का विभाजक होता है।

१. यस्य श्लथने शक्तिः स मृदुः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
२. मृदुरन्यथा। (सु० सू० ४६.५१८)
३. मार्दवमान्तरिक्षमाप्यं च। (र० वै० ३.११५)
४. यस्य दृढने शक्तिः स कठिनः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
५. कठिनत्वं पार्थिवम्। (र० वै० २.५९)
६. यस्य क्षालने शक्तिः स विशदः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

कर्म

दोष– यह वातवर्धक है।

धातु– इससे धातुओं का लेखन होता है तथा यह व्रणों का रोपण है।[१]

मल– मलों का भी शोषण है।

भौतिक आधार– इसका आधार पृथिवी, वायु, तेज और आकाश महाभूत हैं।

उदाहरण– निम्ब, क्षार आदि।

१४. पिच्छिल (Slimy)

कार्मुक स्वरूप– जो शरीर में जाकर लेपन कर्म करे उसे पिच्छिल कहते हैं।[२] यह अवयवों का संयोजक होता है। इससे शरीर में गौरव उत्पन्न होता है।

कर्म

दोष– यह कफवर्धक है।

धातु– यह धातुओं को बढ़ाता है तथा अस्थि आदि भग्न धातुओं का सन्धान कारक है। यह बल्य तथा जीवनीय भी है।[३]

मल– यह स्रोतों को पिच्छिल बनाकर मलोत्सर्ग में सहायक होता है।

भौतिक आधार– इसका आधार जल महाभूत है।[४]

उदाहरण– श्लेष्मातक, कोकिलाक्ष बीज आदि।

१५. श्लक्ष्ण (Smooth)

कार्मुक स्वरूप– जिसकी रोपण में शक्ति हो वह श्लक्ष्ण कहा जाता है।[५]

कर्म

दोष– यह कफवर्धक है।

धातु– इससे धातुओं की वृद्धि होती है।

मल– मलों का प्रवर्तक है।

इसके अन्य कर्म पिच्छिल के समान हैं।[६]

१. विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः। (सु० सू० ४.५१७)
क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०८)
२. यस्य लेपने शक्तिः स पिच्छिलः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
३. पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः। (सु० सू० ४६.५१७)
पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०७)
४. पिच्छिलत्वमाप्यम्।(र० वै० ३.११२)
५. यस्य रोपणे शक्तिः स श्लक्ष्णः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
६. श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः। (सु० सू० ४६.५२१)

भौतिक आधार– यह नागार्जुन के मत में अग्निभूत के आधिक्य से होता है। सुश्रुत इसे पिच्छिल के समान मानते हैं। चरक के मत से यह आकाश भूयिष्ठ है।

उदाहरण– दुग्ध आदि श्लेष्मल द्रव्य।[१]

१६. **खर** (Rough)

कार्मुक स्वरूप– जिसकी लेखन में शक्ति हो वह खर कहलाता है।[२]

कर्म

दोष– यह वातवर्धक है।

धातु– इससे धातुओं का ह्रास होता है।[३]

मल– यह मलों का शोषण करता है।

इसके अन्य कर्म विशद के समान हैं।

भौतिक आधार– यह वायु के आधिक्य से होता है।[४] चरक के मत से यह वायव्यपार्थिव तथा सुश्रुत के मत से तैजसवायव्य है।

उदाहरण– चणक आदि वातल द्रव्य।

सुश्रुत ने 'खर' को 'कर्कश' लिखा है।

१७. **सूक्ष्म** (Fine)

कार्मुक स्वरूप– जो सूक्ष्मता के कारण शरीर के समस्त स्रोतों में प्रविष्ट हो जाय तथा उन्हें खुला रक्खे उसे सूक्ष्म कहते हैं।[५]

कर्म

दोष– यह वातवर्धक है।

धातु– इससे धातुओं का ह्रास होता है।

मल– इससे मलों का शोषण होता है तथा यह लघुपाक होता है।

भौतिक आधार– इसका आधार अग्नि, वायु और आकाश ये तीन महाभूत हैं।

उदाहरण– मद्य, विष आदि।

१. श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०६)
२. यस्य लेखने शक्तिः स खरः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
३. कर्कशो विशदो यथा। (सु० सू० ४६.५२१)
४. कर्कशत्वं वायव्यम्। (र० वै० २.६०)
५. सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः। (सु० सू० ४६.५२४)
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते। (भा० प्र० पू० मि० ६.२१०)
यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)

१८. **स्थूल** (Gross)

कार्मुक स्वरूप– जो गुरुपाक हो तथा स्थूलता के कारण स्रोतों में अवरोध (संवरण) करे वह स्थूल कहलाता है।[१]

कर्म

दोष– यह कफवर्धक है।

धातु– इससे धातुओं की वृद्धि होती है तथा शरीर में स्थूलता आती है।

मल– इससे मलोत्सर्ग में सहायता होती है।

भौतिक आधार– इसका आधार पृथिवी महाभूत है।

उदाहरण– पिष्टक, मोदक आदि।

१९. **सान्द्र** (Solid)

कार्मुक स्वरूप– जो शरीर में जाकर अवयवों का प्रसादन करे वह सान्द्र कहलाता है।[२]

कर्म

दोष– यह कफवर्धक है।

धातु– यह धातुओं का सन्धान करता है।[३]

मल– यह मलों को गाढ़ा बनाता है।

भौतिक आधार– पृथिवी महाभूत से यह गुण होता है।

उदाहरण– नवनीत, दधि आदि।

२०. **द्रव** (Liquid)

कार्मुक स्वरूप– जिसमें शरीर को आर्द्र करने, संग्रह करने (विलोडन) तथा विलीन करने की शक्ति हो उसे द्रव कहते हैं।[४]

कर्म

दोष– यह कफ-पित्तवर्धक है।

धातु– यह रसादि द्रव धातुओं को बढ़ाता है।[५]

मल– इससे मूत्र आदि द्रव मलों का प्रमाण बढ़ता है तथा उनके उत्सर्ग में सहायता मिलती है।

भौतिक आधार– इसका आधार जल महाभूत का आधिक्य है।

उदाहरण– तक्र, इक्षुरस आदि।

१. यस्य संवरणे शक्तिः स स्थूलः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत्। (भा० प्र० पू० मि० ६.२०९)
२. यस्य प्रसादने शक्तिः स सान्द्रः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
३. सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः। (सु० सू० ४६.५२०)
४. द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्। (प्र० पा० भा० ३७)
यस्य विलोडने शक्तिः स द्रवः। (अ० हृ० सू० १.१८-हे०)
५. द्रवः प्रक्लेदनः। (सु० सू० ४६.५२०); द्रवः क्लेदकरो व्यापी। (भा० प्र० पू० मि० ६.२१०)

गुर्वादि गुण

सं.	गुण	दोष-प्रभाव	मुख्यकर्म	अन्य कर्म	उदाहरण
१.	गुरु (Heavy)	कफकर, वातहर	बृंहण	गौरव, उपलेप, तृप्ति, गुरुपाक	माष, मुशली आदि
२.	लघु (Light)	वातकर, कफघ्न	लङ्घन	उत्साह, स्फूर्ति, मलक्षय, अतृप्ति, दौर्बल्य, कृशता, व्रणरोपण, लघुपाक	मुद्ग, लाजा आदि
३.	शीत (Cold)	वातश्लेष्मकर, पित्तघ्न	स्तम्भन	मूर्च्छा-तृषा-दाह-स्वेदनाशन	चन्दन, दूर्वा आदि
४.	उष्ण (Hot)	वातश्लेष्महर, पित्तकर	स्वेदन	मूर्च्छा-तृषा-दाह-स्वेदकारक, पाचन, रसरक्तादिप्रवर्त्तक	चित्रक, हिङ्गु आदि
५.	स्निग्ध (Unctuous)	वातहर, कफकर	स्नेहन	स्नेहमार्दवकर, बल्य, वर्ण्य, वाजीकर	वाताद, तिल आदि
६.	रूक्ष (Non-unctuous)	वातकर, कफहर	रूक्षण	रौक्ष्य-काठिन्यकर, बल-वर्णनाशन, अवृष्य, स्तम्भन, खर	यव, गुग्गुलु आदि
७.	मन्द (Mild)	कफकर, पित्तहर	शमन	यात्राकर, चिरकारी, शिथिल, अल्पकार्यकर	कूष्माण्ड, आमलक आदि
८.	तीक्ष्ण (Sharp)	कफहर, पित्तकर	शोधन	दाहपाकस्रावकर, लेखन	• भल्लातक, मरिच आदि

क्रमशः...

सं.	गुण	दोष-प्रभाव	मुख्यकर्म	अन्य कर्म	उदाहरण
९.	स्थिर (Stable)	कफकर	धारण	स्तम्भन, चिरस्थायी	रसायन द्रव्य
१०.	सर (Unstable)	वातकर	प्रेरण	वात-मलप्रवर्त्तक	अपतर्पण द्रव्य
११.	मृदु (Soft)	कफकर	श्लथन	दाह-पाक-स्रावनाशक	द्राक्षा, घृत आदि
१२.	कठिन (Hard)	वातकर	दृढीकरण		प्रवाल, मुक्ता आदि
१३.	विशद (Non-slimy)	वातकर	क्षालन	क्लेदशोषण, व्रणरोपण	निम्ब, क्षार आदि
१४.	पिच्छिल (Slimy)	कफकर	लेपन	जीवन, बल्य, सन्धान, तन्तुल, गुरुपाक	श्लेष्मातक, कोकि-लाक्ष बीज आदि
१५.	श्लक्ष्ण (Smooth)	कफकर	रोपण		दुग्ध आदि श्लेष्मल द्रव्य
१६.	खर (Rough)	वातकर	लेखन		चणक आदि
१७.	सूक्ष्म (Fine)	वातकर	विवरण		मद्य, विष आदि
१८.	स्थूल (Gross)	कफकर	संवरण	स्थौल्यकर, स्रोतोरोधक, गुरुपाक	पिष्टक, मोदक आदि
१९.	सान्द्र (Solid)	कफकर	प्रसादन	स्थौल्यकर	नवनीत, दधि आदि
२०.	द्रव (Liquid)	कफकर	विलोडन	क्लेदकर, प्रसारी	तक्र, इक्षुरस आदि

वैशेषिक में द्रवत्व दो प्रकार का माना गया है– (१) सांसिद्धिक (स्वाभाविक) यथा जल (२) नैमित्तिक (कृत्रिम) यथा स्वर्ण, घृत आदि।[१]

उपर्युक्त २० गुण 'गुर्वादि गुण' के नाम से संहिताओं में प्रसिद्ध हैं। सुश्रुत ने कुछ अधिक गुणों का उल्लेख किया है उनका वर्णन उन्हीं के शब्दों में नीचे किया जा रहा है–

१. **व्यवायी**– जो शरीर में प्रविष्ट होने पर पाक होने के पूर्व ही शोषित होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है और उसके बाद पक्व होता है, उसे व्यवायी कहते हैं। द्रव्यों में वायु और आकाश महाभूत की अधिकता से यह गुण होता है[२] यथा भङ्गा, अहिफेन आदि।

२. **विकासी**– सर्वशरीर में व्याप्त होकर जो ओज को क्षीण कर धातुओं में तथा सन्धियों में शैथिल्य उत्पन्न करे उसे विकासी कहते हैं। वायु के आधिक्य से यह गुण होता है[३] यथा सुपाड़ी और कोदो आदि।

आगे चलकर ग्रन्थकारों ने इन दोनों गुणों का उल्लेख कर्म की श्रेणी में किया है जो उचित प्रतीत होता है।

३. **सुगन्ध**– यह सुखद, सूक्ष्म, रुचिकर तथा मृदु होता है।[४]

४. **दुर्गन्ध**– यह सुगन्ध के विपरीत, विशेषत: हल्लास तथा अरुचि को उत्पन्न करता है।[५]

वैशेषिक ने इन्हें गन्ध का ही भेद माना है।

५. **आशुकारी**– जो जल में तैल के समान शरीर में शीघ्रता से फैल कर अपना कर्म करे वह आशुकारी है।[६] इस गुण को भावप्रकाश ने भी 'आशु' शब्द से स्वीकार किया है।[७]

१. सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यात्, नैमित्तिकमथावरम्।
सांसिद्धिकं तु सलिले द्वितीयं क्षितितेजसोः।।
नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु। (कारिकावली–१५४–१५५–)

२. व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते। (सु० सू० ४६.५२३)
पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति।
व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनञ्चाहिसमुद्भवम्।। (शा० प्र० ४.१९–)

३. विकासी विकसत्येवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्। (सु० सू० ४६.५२३)
सन्धिबन्धाँश्च शिथिलान् करोति हि विकासि तत्।
विश्लिष्यौजश्च धातुभ्यो यथा ऋमुककोद्रवौ।। (शा० प्र० ४.२०–)

४. सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः। (सु० सू० ४६.५२१)

५. दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद्धृल्लासारुचिकारकः। (सु० सू० ४६.५२२)

६. आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्। (सु० सू० ४६.५२४)

७. आशुराशुकरो देहे धावत्यम्भसि तैलवत्। (भा० प्र० पू० मि० ६.२११)

इसे कर्म की कोटि में रक्खा जा सकता है।

भावमिश्र ने द्रव के विपरीत 'शुष्क' गुण का उल्लेख किया है–

६. **शुष्क**– यह द्रव के विपरीत गुणवाला होता है।[१] तथा पृथिवी, वायु और तेज महाभूतों के आधिक्य से होता है।

इसका सान्द्र या रूक्ष में समावेश हो सकता है।

इन अतिरिक्त गुणों के प्रसङ्ग मे टिप्पणी करते हुए डल्हण ने कहा है कि ऐसे अन्य गुण भी सम्भाव्य हैं ऐसी स्थिति में गुणों की संख्या नियत करना कठिन है।[२]

गुर्वादि गुणों का प्रयोजन

शरीर के धातुओं में गुर्वादि गुण होते हैं और उसी प्रकार ये औषध तथा आहार द्रव्यों में भी रहते हैं। अत: सामान्य-विशेष के नियम से गुरु गुण वाले द्रव्यों से तद्गुण धातुओं की वृद्धि तथा विपरीत-गुण धातुओं का ह्रास होता है। इसी प्रकार अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसीलिए मांसक्षय में मांस तथा रक्तक्षय में रक्त का प्रयोग किया जाता है। इन द्रव्यों की उपलब्धि न होने पर या अन्य कारणों से यदि उनका साक्षात् प्रयोग न हो सकता हो तो उनके समानगुण अन्य द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।[३]

१. शुष्कस्तद्विपरीतकः। (भा० प्र० पू० मि० ६.२१०)

२. न चात्र नियमो विंशतिरेवेति; व्यवायिविकास्याशुकारिणां तु स्वतन्त्रे परतन्त्रे च दर्शनात् पाठो न्याय्य एव। (सु० सू० ४६.५१४–५२४–ड०)

३. तत्रेमे शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकराः; तद्यथा– गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्ण-स्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः। तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहार-विकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति; लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्तिः। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिः, विपर्ययाद्ह्रासः। तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण।
(च० शा० ६.१०)
यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसान्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां वाऽप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्, तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृती-नामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्। तद्यथा– शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीत-समाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणां, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपकॢदिनां, पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानां, वातक्षये कटुतिक्तकषाय-रूक्षलघुशीतानां, पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानां, श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुर-सान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। ....एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्यौ। (च० शा० ६.११)

तृतीय अध्याय

परादि गुण

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये १० परादि गुण हैं।[१]

१. **परत्व** (Superiority)

परत्व का अर्थ है प्रधानता।[२] एक जाति के अनेक द्रव्यों में जो प्रधान और उत्कृष्ट होता है उसे पर कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में देश और काल की अपेक्षा से जो सन्निकृष्ट (निकटवर्ती) हो वह पर माना गया है।[३] चक्रपाणिदत्त ने इस अर्थ को स्वीकार किया है[४] किन्तु योगीन्द्रनाथ सेन ने लिखा है कि आयुर्वेद में उपयोगिता की दृष्टि से इसका विचार होना चाहिए, अतः उनके मत में उपयोगिता की दृष्टि से जो समीपवर्ती (हितकर) हो वह पर कहा जाता है।[५] इसका प्रयोग चिकित्सा शास्त्र में देश, काल, वय, मान, पाक, वीर्य, रस आदि के सम्बन्ध में किया जाता है[६] यथा देशों में मरु, काल में विसर्ग, वय में तारुण्य, मान में शरीर का प्राकृत मान, पाक, वीर्य और रस में शरीर के लिए हितकर पाक, वीर्य और रस को पर कहा जाता है।[७] प्रकृति, बल आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार हितकर के लिए 'पर' शब्द का प्रयोग होता है।[८]

२. **अपरत्व** (Inferiority)

परत्व के विपरीत अपरत्व है। इसका अर्थ है अप्रधानता।[९] अपनी जाति में जो अप्रधान और निकृष्ट होता है उसे अपर कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में देश

१. परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च।।
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः। (च० सू० २६.२९-)

२. तच्च परत्वं प्रधानत्वम्। (च० सू० १२६.२९-चक्र०)

३. एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च।(वै० सू० ७.२.३०२)

४. किंवा, परत्वापरत्वे वैशेषिकोक्ते ज्ञेये। (च० सू० २६.२९-चक्र०)

५. परत्वं सन्निकृष्टत्वम् उपयोगितायामासन्नत्वम्। (च० सू० २६.३१-यो०)

६. देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु। परापरत्वे। (च० सू० २६.३१)

७. तत्र देशो मरुः परः, कालो विसर्गः परः, वयस्तरुणं परं, मानं च शरीरस्य यथावक्ष्यमाणं शारीरे परं, पाकवीर्यरसास्तु ये यस्य योगिनस्ते तं प्रति पराः। (च० सू० २६.३१-चक्र०)

८. आदिग्रहणात् प्रकृतिबलादीनां ग्रहणम्। (च० सू० २६.३१-चक्र०)

९. अपरत्वम् अप्रधानत्वम्। (च० सू० २६.२९-चक्र०)

और काल के सम्बन्ध में जो विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) हो वह अपर माना जाता है। योगीन्द्रनाथ सेन के मत में, उपयोगिता की दृष्टि से जो दूर (असात्म्य) हो वह अपर कहलाता है।[१] आयुर्वेद शास्त्र में यही अर्थ अभिप्रेत है। परत्व, अपरत्व ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं, अतः परत्व के समान इसका प्रयोग भी देश, काल, वय, मान, पाक, वीर्य, रस आदि के लिए किया जाता है। अनूप देश, आदान काल, वृद्धवय; अप्राकृत मान, असात्म्य पाक, वीर्य, रस आदि अपर कहे जाते हैं।[२]

३. **युक्ति** (Rational application)

दोष आदि का विचार कर औषध की समीचीन कल्पना (योजना) को युक्ति कहते हैं।[३] इसे और स्पष्ट करें तो युक्ति अनेक कारणों का तर्कसङ्गत एवं कार्यकर योग है अर्थात् कार्य के साधक कारणों को इस प्रकार मिलाना किससे कार्यसिद्धि हो।[४] यदि औषध की कल्पना सम्यक् नहीं हुई तो उसे युक्ति नहीं कह सकते यथा पुत्र के अयोग्य रहने पर उसे पुत्र नहीं कहते हैं।[५] यद्यपि भेषज-कल्पना में संयोग, परिमाण, संस्कार आदि का ही विचार होता है तथापि इसका महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए स्वतन्त्र वर्णन किया गया है।[६] युक्ति का महत्त्व चिकित्सा शास्त्र में सर्वोपरि है। संसार के सभी द्रव्य औषध कहे गये हैं किन्तु उनका औषधत्व तभी चरितार्थ होता है जब उनकी योजना सम्यक् रूप से हो।[७] इसीलिए द्रव्यगुणशास्त्र में भी नामरूपज्ञ की अपेक्षा युक्तिज्ञ का महत्त्व अधिक है।[८]

१. तद्विपर्ययः अपरत्वम्। (च० सू० २६.३१-यो०)

२. तत्र अनूपोऽपरः, आदानमपरः; अपरमितरत्; ततोऽन्यदपरम्; अयौगिकास्त्वपराः।
(च० सू० २६.३१-चक्र०)

३. युक्तिश्च योजना या तु युज्यते। (च० सू० २६.३१)
योजना दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना। (च० सू० २६.३१-चक्र०)

४. युक्तिर्हि बहुहेतूनां संयोगोऽर्थक्रियाकरः। (स्व०)

५. या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते, अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत्। (च० सू० २६.३१-चक्र०)

६. युक्तिश्चेयं संयोगपरिमाणसंस्काराद्यन्तर्गताऽप्यत्युपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते।
(च० सू० २६.३१-चक्र०)

७. अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।।
(सुभाषित)

८. न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः। ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति।
योगविन्नामंरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते। (च० सू० १.१२१-)
मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता। तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा।।
(च० सू० २.१६)

प्रमाणों के प्रसङ्ग में कही गई युक्ति बुद्धि का एक प्रकार है। जो त्रैकालिक सत्य का दर्शन करती है अत: वैज्ञानिक अनुसन्धानों का आधार है।[१]

इस प्रकार युक्तिशब्द योग, सङ्गति और ज्ञान साधन (प्रमाण) इन तीनों का बोधक है।

४. संख्या (Enumeration)

गणित अर्थात् गणना-व्यवहार के हेतु एक-दो-तीन आदि को संख्या कहते हैं।[२] दोष, विकार तथा द्रव्य के भेद संख्या के द्वारा ही व्यक्त किये जाते हैं यथा तीन दोष, आठ ज्वर, पचास महाकषाय, त्रिफला आदि। विकारों के विशिष्ट ज्ञान के लिए सम्प्राप्ति का एक भेद 'संख्या' माना गया है।[३] इससे द्रव्य का सम्यक् + ज्ञान = सम्यक्-ज्ञान (Accurate knowledge) होता है इसलिए इसे 'संख्या' कहा जाता है।[४] जो वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अनिवार्य है।

५. संयोग (Conjunction)

दो या अधिक द्रव्यों का परस्पर मिलन संयोग कहलाता है।[५] यह संयोग वियुक्त पदार्थों का कालविशेष में अल्पकाल के लिए होता है और पुन: विभाग के द्वारा नष्ट हो जाता है, अत: यह अनित्य है। पदार्थों का पारस्परिक मिलन दो प्रकार का होता है एक नित्य और दूसरा अनित्य। द्रव्य का अपने गुण और कर्म के साथ नित्य सम्बन्ध होता है उसे समवाय कहते हैं।[६] और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ जो सम्बन्ध होता है वह अनित्य होता है और वह संयोग कहलाता है।

कारण की दृष्टि से, संयोग तीन प्रकार का होता है– द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज तथा एककर्मज।[७]

---

१. बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्। युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया।। (च० सू० ११.२५)

२. संख्या स्याद् गणितम्। (च० सू० २६.३२)
गणितं गणनाव्यवहारहेतुः, एकद्वित्रीत्यादि संख्या। (च० सू० २६.३२-यो०)

३. संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। सा भिद्यते, यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति।। (अ० हृ० नि० १.९)

४. सम्यक् ख्यायते ज्ञायतेऽनया इति संख्या। (स्व०)

५. संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः। (च० वि० १.२२(३)
योगः सह संयोग उच्यते। द्रव्याणाम् (च० सू० २६.३२)

६. समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः। स नित्यः। (च० सू० १.५०)

७. द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च। (च० सू० २६.३२)
स च संयोगो द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजः। द्वन्द्वस्य द्वयोः, सर्वेषां बहूनाम्, एकस्य च कर्मणः, जायते, तेन त्रिविधः। (च० सू० २६.३२-यो०)

द्वन्द्वकर्मज– जब दो द्रव्य परस्पर मिलें और दोनों इस मिलन में सक्रिय भाग लें तो– यह संयोग द्वन्द्वकर्मज कहलाता है यथा द्वन्द्वज विकार।

सर्वकर्मज– जब दो से अधिक द्रव्य परस्पर मिलें और सभी इसमें सक्रिय भाग लें तब यह संयोग सर्वकर्मज कहलाता है यथा सान्निपातिक विकार।

एककर्मज– इस संयोग में क्रिया एक ही ओर होती है दूसरा पक्ष निष्क्रिय होता है यथा एकदोषज विकार।

वैशेषिक दर्शन में संयोग दूसरे प्रकार से माना गया है। वहाँ हैं तो तीन ही प्रकार किन्तु कुछ भिन्न हैं– यथा अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। इनमें प्रथम दो तो आयुर्वेदोक्त ही हैं, केवल सर्वकर्मज के स्थान पर यहाँ संयोगज माना गया है। अवयवों के संयोग से परम्परा सम्बन्ध से अवयवियों के संयोग को संयोगज संयोग कहते हैं यथा हाथ और शाखा के संयोग से शरीर और वृक्ष का संयोग होना।[१]

कार्य की दृष्टि से, नवीन विद्वान् द्रव्यों का संयोग दो प्रकार का मानते हैं– (१) भौतिक (२) रासायनिक। भौतिक संयोग (Physical mixture) में सब उपादानभूत द्रव्यों का कर्म पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होता है, मिश्रण के गुणकर्म में कोई नवीनता नहीं आती यथा लवण और जल का संयोग। रासायनिक संयोग (Chemical combination) वह है जिसमें उपादानभूत द्रव्यों के एकत्र होने पर मिश्रण में नवीन गुणकर्म उपलब्ध होता है यथा क्षार और अम्ल का संयोग। क्षार और अम्ल के मिलाने से उदासीन लवण बन जाता है जिसमें क्षारत्व और अम्लत्व के स्थान पर माधुर्यभाव उत्पन्न हो जाता है।[२] प्राचीन आचार्यों के शब्दों में प्रथम को प्रकृतिसमसमवाय तथा द्वितीय को विकृतिविषमसमवाय कहते हैं। संयोग होने पर कारण के अनुरूप जब कार्य होता है तब प्रकृतिसमसमवाय और जब कारण के अनुरूप न होकर सर्वथा नवीन कार्य होता है तब विकृतिविषमसमवाय कहते हैं यथा शुक्ल तन्तुओं के संयोग से पट भी शुक्ल होता है किन्तु हरिद्रा और चूना के मिलाने से सर्वथा नवीन लौहित्य उत्पन्न होता है।[३]

---

१. अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः, स च त्रिविधः– अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्च। (प्र० पा० भा० १०)
संयोगजः संयोगो यथा- अङ्गुलीतरुसंयोगात् शरीरतरुसंयोगः। (च० सू० २६.३२-यो०)

२. अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसे। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति।। (सु० सू० ११.२४-)
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः। (च० चि० २४.११४)

३. प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः कारणानरूपं कार्यमित्यर्थः; यथा- शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम्।
विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायः ..... विकृतिविषमसमवायः; यथा- हरिद्राचूर्णसंयोगे लौहित्यमिति। (मा० नि० २.१४-मधु०)

६. विभाग (Disjunction)

द्रव्यों के विभाजन (संयोग के नाश) को विभाग कहते हैं। किसी द्रव्य को अंशत: अलग-अलग करना (भागश: ग्रहण) भी विभाग कहलाता है। यह भी अनित्य है क्योंकि संयोग से यह नष्ट हो जाता है। संयोग के समान यह भी तीन प्रकार का होता है– द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज और एककर्मज। वैशेषिक सर्वकर्मज विभाग के स्थान पर विभागज विभाग मानता है यथा शाखा से पत्ता गिरने पर पत्ते का वृक्ष से भी विभाग हो जाता है।[१]

कुछ लोग इसे संयोग का अभावरूप मानते हैं किन्तु वस्तुत: यह भावरूप प्रतीति है क्योंकि इससे द्रव्य विभक्तरूप में प्रत्यक्ष होते हैं।[२] इसके अतिरिक्त, केवल अभावरूप मानने से गुण-कर्म में भी विभाग का व्यवहार होने लगेगा क्योंकि संयोग का अभाव उनमें भी है।[३]

विभाग के प्रकार- निरूपण में चरक के टीकाकारों ने दर्शनों का ही आधार लिया है, आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं किया है। वस्तुत: विभाग का वर्गीकरण निम्नाङ्कित होना चाहिए–

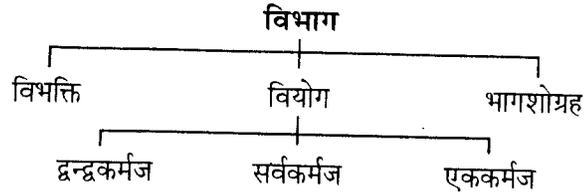

विभक्ति– एक द्रव्य को कई टुकड़ों में बाँटना यथा अमृता क्वाथ बनाने के लिए गुडूचीकाण्ड को छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त करना।

वियोग– जब दो द्रव्य परस्पर पृथक् हो जाँय यथा एकदोषज, द्वन्द्वज या सान्निपातिक विकारों में रोगमुक्ति काल में दोष-दूष्य का पृथक् भाव।

भागशो ग्रह– जब किसी द्रव या चूर्ण को कई मात्राओं में बाँट देते हैं यथा १० ग्राम लवणभास्कर को तीन मात्राओं में विभक्त कर लेना।

१. विभागस्तु विभक्ति: स्याद्वियोगो भागशो ग्रह:। (च० सू० २६.३३)
प्राप्तिपूर्विका अप्राप्ति: विभाग:। (च० सू० २६.३३-यो०)

२. विभागशो विभक्तत्वेन ग्रहणं यतो भवतीति भाव:; तेन विभक्तिरित्येषा भावरूपा प्रतीति:, न संयोगाभावमात्रं भवति, किंतर्हि भावरूपविभागगुणयुक्ता इत्यर्थ:।
(च० सू० २६.३३-चक्र०)

३. न तु संयोगाभाव एव विभाग:, तथात्वे गुणकर्मणोरपि विभागव्यवहारप्रसङ्ग: स्यात्।
(च० सू० २६.३३-यो०)

७. पृथक्त्व (Separateness)

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से भिन्न करने वाला जो गुण है वह पृथक्त्व कहलाता है। इस प्रकार द्रव्यों में परस्पर पार्थक्यबुद्धि उत्पन्न करने वाले गुण को पृथक्त्व कहते हैं।[१] यह तीन प्रकार का होता है–

१. **असंयोग**– देशकाल के स्थायी व्यवधान के कारण जिनके संयोग की सम्भावना कभी न हो उनके पार्थक्य को अंसयोग कहते हैं यथा मेरुप्रभव चन्दन से हिमवत्प्रभव सोम का पार्थक्य।

२. **वैलक्षण्य**– विशिष्टलक्षणयुक्त विजातीयों का पृथक्त्व वैलक्षण्य कहलाता है यथा हरीतकी से आमलकी का पार्थक्य।

३. **अनेकता**– एक जाति के अनेक व्यक्तियों में जो परस्पर पृथक्त्व होता है उसे अनेकता कहते हैं यथा हरीतकी के अनेक भेदों का पारस्परिक पृथक्त्व।[२]

योगेन्द्रनाथ सेन ने इन तीनों को पर्यायवाचक माना है। चक्रपाणि ने भी इस वर्गीकरण में 'किंवा' शब्द से अरुचि प्रदर्शित की है।[३]

कुछ लोगों ने यह शङ्का उठाई है कि अन्योन्याभाव में ही पृथक्त्व का समावेश हो सकता है, इसके पृथक् वर्णन की क्या आवश्यकता? इसका समाधान यह है कि 'यह घट पट नहीं है' यह अन्योन्याभाव अभावात्मक प्रतीति है किन्तु 'यह घट से पृथक् है'। यह भावात्मक प्रतीति है जिसे पृथक्त्व कहते हैं। अत: इसको पृथक् मानने की आवश्यकता है। इसीलिए पृथक्त्व के स्थलों में तद्वाचक शब्दों में पञ्चमी विभक्ति होती है किन्तु अन्योन्याभाव में नहीं।[४]

१. 'इदं द्रव्यं पटलक्षणं, घटात् पृथग्' इत्यादिका बुद्धिर्यतो भवति, तत् पृथक्त्वम्।
(च० सू० २६.३३-चक्र०)
इदमस्मात् पृथग् अर्थान्तरमिति पृथक्प्रत्ययनिमित्तं पृथक्त्वम्।(च० सू० २६.३३-यो०)

२. एकजातीयेषु हि संयुक्तेषु न वैलक्षण्यं नाप्यसंयोग:, अथ चानेकता पृथक्त्वरूपा भवतीति।
(च० सू० २६.३३-चक्र०)

३. पृथक्त्वम्, असंयोग: वैलक्षण्यम् अनेकता इत्यनर्थान्तरम्। इदमस्मात् पृथक्। इदमनेन न संयुक्तम्, इदमस्मात् विलक्षणं विशिष्टम्, इदमेतच्च नैकमिति प्रतीतीनां शब्दनिमित्तवैशिष्ट्येऽपि अर्थतोऽभिन्नत्वमेव। (च० सू० २६.३३-यो०)
किंवा, पृथक्त्वं गुणान्तरमिच्छन् लोकव्यवहारार्थमसंयोगवैलक्षण्यानेकतारूपमेव यथोदाहृतं पृथक्त्वं दर्शयति। (च० सू० २६.३३-चक्र०)

४. ननु अन्योन्याभाव एव पृथक्त्वम्... इति चेत्? न, पृथगादिशब्दानां पर्यायत्वेऽपि न अन्योन्याभावार्थत्वम्, तत्र पञ्चमीप्रयोगानुपपत्ते:। 'इदमस्मात् पृथक्' इदम् इदं न भवति, इति प्रतीत्यो: भिन्नविषयत्वाच्च। (च० सू० २६.३३-यो०)
अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते। अस्मात् पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा।।
(कारिकावली-११४)

८. परिमाण (Measurement)

माप, तौल आदि मानव्यवहार का जो कारणभूत गुण है वह परिमाण कहलाता है।[१] यह दो प्रकार का होता है- दैर्घ्यमान और गुरुत्वमान।

१. **दैर्घ्यमान** (Dimension)- यह नित्यद्रव्य (परमाणु) में नित्य और अनित्यद्रव्य (द्व्यणुक आदि) में अनित्य होता है। अनित्यमान कारणभेद से तीन प्रकार का होता है-

१. **संख्याजन्य**- यथा द्व्यणुक आदि में।
२. **परिमाणजन्य**- यथा घट आदि में।
३. **प्रचयजन्य**- यथा रूई आदि में।[२]

अङ्गुलि आदि से इसका माप किया जाता है।

स्वरूपत: यह चार प्रकार का माना गया है- अणु, दीर्घ, महद् और ह्रस्व।[३]

२. **गुरुत्वमान** (Weight)- यह भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। परमाणु में नित्य तथा अनित्य द्रव्यों में अनित्य होता है। प्रस्थ, आढक आदि के रूप में तुला के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति की जाती है।

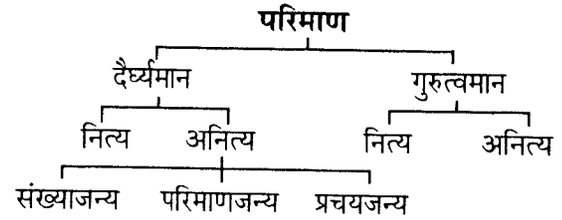

अमरकोश में तीन प्रकार का मान कहा है- यौतव, द्रुवय और पाय्य जिनका निर्धारण तुला, प्रस्थ तथा अङ्गुलि से करते हैं।[४] इनसे क्रमश: भार, आयतन और लम्बाई-चौड़ाई का ज्ञान होता है।

१. परिमाणं पुनर्मानम्। (च० सू० २६.३४)
परिमितिव्यवहारकारणं परिमाणं मानं प्रस्थाढकादि। (च० सू० २६.३४-यो०)
मानं प्रस्थाढकादितुलादिमेयम्। (च० सू० २६.३४-चक्र०)
परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम्। (कारिकावली-१०९)
२. अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्। संख्यात: परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते।।
अनित्यं, द्व्यणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम्। परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते।
प्रचय: शिथिलाख्यो य: संयोगस्तेन जन्यते।। परिमाणं तूलकादौ...।
(कारिकावली-१५३, १११-११३)
३. अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरित:। (कारिकावली-११०)
४. यौतवं द्रवयं पाय्यमिति मानार्थकं त्रयम्। मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थै:। (अ० को० २.९.८५)

९. संस्कार (Processing)

जिसके द्वारा द्रव्यों के गुण में परिवर्तन लाया जाता है उसे संस्कार कहते हैं।[१]

संस्कार से वस्तुत: तीन कार्य होते हैं-

१. दोषों का निवारण, २. स्वाभाविक गुणों में उत्कर्ष, ३. गुणान्तराधान।

यथा पारद के अनेक संस्कार जिनसे वह शुद्ध एवं प्रभूतगुणयुक्त बनता है; तण्डुल के अनेक संस्कार जिनके द्वारा वह ओदन, लाजा, चर्वण आदि में परिणत हो विभिन्न गुणकर्मों का आश्रय बनता है।

वैशेषिक दर्शन में यह तीन प्रकार का माना जाता है[२]-

१. **वेग** (Impulse)- मूर्त्त द्रव्यों में जो गति का प्रवाह उत्पन्न होता है उसे वेग कहते हैं।
२. **स्थितिस्थापक** (Elasticity)- हिन्दी में इसे 'लचीलापन' कहते हैं। इस गुण के कारण द्रव्यों के अवयव स्थानच्युत हो जाने पर पुन: अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाते हैं।
३. **भावना** (Impression)- यह आत्मा में रहता है तथा अनुभूत विषयों के स्मरण और प्रत्यभिज्ञा में कारण होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वैशेषिक का संस्कार आयुर्वेद के संस्कार से नितान्त भिन्न है।

१०. अभ्यास (Practice)

किसी पदार्थ का निरन्तर सेवन करना अभ्यास कहलाता है।[३] शीलन और सततक्रिया इसके पर्याय हैं। यह चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कितना ही गुणकारी औषध द्रव्य क्यों न हो, उसके अभ्यास से ही लाभ होता है।

१. करणं गुणान्तराधायकत्वं संस्करणमित्यर्थ:। (च० सू० २६.३४-चक्र०)
करणं पुन: स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कार:। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।
ते गुणास्तोयाग्निसंन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवशेन भावनादिभि: कालप्रकर्षभाजनादि-भिश्चाधीयन्ते। (च० वि० १.२२(२)
संस्कार: करणं मतम्। (च० सू० २६.३४)
२. संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने। (कारिकावली-१५८)
३. भावाभ्यसनमभ्यास: शीलनं सततक्रिया। (च० सू० २६.३४)
भावस्य षष्टिकादेर्व्यायामादेश्चाभ्यसनमभ्यास:। (च० सू० २६.३४-चक्र०)
भावानामभ्यसनं पुन: पुनरनुष्ठानं सातत्येन करणमभ्यास:। (च० सू० २६.३४-यो०)

इसी प्रकार व्यायाम आदि कर्मों का अभ्यास ही लाभजनक हो सकता है। एक बार कितने ही परिमाण में औषध या व्यायाम का सेवन किया जाय उससे लाभ के बदले अजीर्ण और श्रम आदि हानिकारक परिणाम ही होंगे। इसका कारण यह है कि निरन्तर कुछ दिनों तक हितकर पदार्थों का सेवन करने से विषम दोषों की परम्परा नष्ट हो जाती है और नवीन सम दोषों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है।[१] जिससे शरीर में अपूर्व स्वास्थ्य का सञ्चार होने लगता है। इसीलिए आचार्यों ने सर्वत्र द्रव्यों तथा कर्मों के अभ्यास का ही उपदेश किया है। इसी प्रकार दोषों के समान-गुण द्रव्यों का अभ्यास शरीर में विषम दोषों की परम्परा प्रचलित करता है।[२] अनेक ओषधियों के कल्प भी इसी आधार पर निर्धारित किये गये हैं।

गुण का प्राधान्य

एकीयमत से गुण के प्राधान्य का निरूपण नागार्जुन ने किया है, सुश्रुत ने नहीं। अतः नागार्जुन के अनुसार गुण के प्राधान्य में युक्तियाँ नीचे दी जाती हैं-

१. **रसाभिभव**- गुण रसों को दबा कर अपना कार्य प्रदर्शित करते हैं यथा जल स्वाभाविक मधुरता के कारण कफकारक है किन्तु गरम जल कफघ्न है। इसका कारण यह है कि गरम जल का उष्ण गुण मधुर रस को दबा कर कफघ्न कर्म करता है। इसी प्रकार पटोल तथा बृहत् पञ्चमूल तिक्त होने पर भी वातहर हैं, इसका कारण भी उनका उष्ण गुण है। जो किसी को दबा देता है वह प्रधान तथा दब जाने वाला अप्रधान माना जाता है यथा सूर्य प्रधान और तारे अप्रधान माने जाते हैं। अतः गुण प्रधान हैं।[३]

२. **रसानुग्रह**- गुण से अनुगृहीत रसों के कर्म में उत्कर्ष आ जाता है अतः उनका प्राधान्य माना जाता है यथा शीत, स्निग्ध, मृदु तथा पिच्छिल गुणों के कारण

१. त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः।। (च० सू० १६.३६)

२. समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति। (च० सू० १२.५)
नर्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति। (च० सू० २३.३१)
रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। (च० वि० १.७)
धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः। (च० शा० ६.९)

३. गुणाः प्रधाना इति केचित्। गुणाद् रसानामभिभवात्। (र० वै० १.१२१-१२२)
रसानभिभूय गुणाः स्वं कार्यं निर्वर्तयन्ति। यथा उष्णोदकं श्लेष्माणं हरति माधुर्यमभिभूय, तथा पटोलश्च महत्पञ्चमूलं, तिक्तमौष्ण्याद् वातं जयति। यद् येनाभिभूयते तत्तस्मादप्रधानं दृष्टम्। यथा भानोर्नक्षत्रमिति। (र० वै० १.१२१-१२२-भा०)

और लघुविपाक होने से घृत मधुररसवाले द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अम्लद्रव्यों में आमलकी श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका कारण उसमें रहने वाले मृदु तथा शीत गुण और लघु विपाक है। लवणों में नात्युष्ण, मृदु तथा स्निग्ध होने के कारण सैन्धव श्रेष्ठ है। मृदु तथा गुरु होने के कारण पिप्पली कटु द्रव्यों में श्रेष्ठ मानी जाती है। तिक्त द्रव्यों में वृष्य, गुरु तथा पिच्छिल होने के कारण पटोलफल श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार मधु अपने अनेक गुणों के कारण तथा वृष्य और बृंहण होने से कषाय द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है। अनुग्रह करने वाला प्रधान तथा अनुगृहीत अप्रधान होता है, अतः गुण प्रधान है।[१]

३. **विपाककारणत्व**- द्रव्यों का विपाक भी गुणों पर ही निर्भर है। शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल द्रव्यों का गुरु विपाक तथा लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और विशद द्रव्यों का लघु विपाक होता है। रसों की कर्मनिष्ठा विपाक पर निर्भर है और विपाक गुण पर निर्भर है, इस प्रकार परम्परया रस भी गुण पर निर्भर है। कारण प्रधान तथा कार्य अप्रधान होता है, यथा शरीर के दोष, धातु और मलों की क्रिया वायु के अधीन होने से वायु प्रधान माना जाता है, अतः गुण प्रधान है।[२]

४. **संख्याबाहुल्य**- गुणों की संख्या रसों की अपेक्षा बहुत अधिक है; रस छः ही हैं किन्तु गुण (गुर्वादि) बीस हैं। अल्पसंख्यक से बहुसंख्यक की प्रधानता मानी जाती है, अतः गुण प्रधान है।[३]

१. गुणानुगृहीतानां रसानां प्राधान्यात्। (र० वै० १.१२८)
गुणैः शीतादिभिरनुगृहीता ये रसास्तेषां प्राधान्यदर्शनाद् रसेभ्यो गुणाः प्रधाना इति विद्यः। कथं-
'शैत्यात् स्नेहान्मार्दवाच्च पैच्छिल्यादविभागतः। मधुराणां घृतं श्रेष्ठं विपाके लाघवेन च।।
अविदाहान्मृदुत्वाच्च कषायमधुरान्वयात्। अम्लेष्वामलकं श्रेष्ठं विपाके लाघवेन च।।
नात्युष्णत्वान्मृदुत्वाच्च स्नेहेनानुगमादपि। लवणानां स्मृतं श्रेष्ठमविदाहाच्च सैन्धवम्।।
मृदुत्वाच्च गुरुत्वाच्च वातपित्ताप्रकोपणात्। कटुकानां स्मृताः श्रेष्ठाः पिप्पल्यो गुणसम्पदा।।
वृष्यत्वाच्च गुरुत्वाच्च मारुतस्याप्रकोपणात्। तिक्तानां तु स्मृतं श्रेष्ठं पैच्छिल्येन च कूलकम्।।
वृष्यत्वाद् बृंहणत्वाच्च हिक्कायां वातनिग्रहात्। कषायाणां स्मृतं श्रेष्ठं विविधैश्च गुणैर्मधु'।।
(र० वै० १.१२८-भा०)

२. विपाककारणत्वात्। (र० वै० १.१२३)
गुणाः विपाकयोः कारणं, शीतस्निग्धगुरुपिच्छिला गुरुविपाकस्य, लघुरूक्षविशदतीक्ष्णा लघुविपाकस्येति। ...रसानां कार्यनिर्वृत्तिः पाकायत्ता। स च पाको गुणायत्त इति, यदपेक्षयाऽन्यस्य वृत्तिस्तस्मात् तस्यः प्राधान्यं दृष्टम्। यथा- वायोर्दोषधातुमलानाम्।
(र० वै० १.१२३-भा०)

३. बाहुल्यात्। (र० वै० १.१२४)
रसेभ्यो बहवो गुणा दृष्टाः रसाः षड्, गुणाः दशेति, अल्पेभ्यो बहवो विशिष्टा इति लोकप्रसिद्धमेककर्मणि। (र० वै० १.१२४-भा०)

५. **प्रयोगबाहुल्य**– शीत, उष्ण, स्निग्ध आदि गुणों का अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाह आदि अनेक रूपों में उपयोग होता है किन्तु रसों का केवल मुख से ही उपयोग होता है। जिसका उपयोग अनेक रूपों में हो सकता है वह प्रधान माना जाता है यथा कल्पवृक्ष।[१]

६. **कर्मबाहुल्य**– रसादि के साथ रह कर उनके कर्मों में सहायता प्रदान करने के कारण गुणों के अनेकविध कर्म दृष्टिगोचर होते हैं, अत: अनेक कर्म होने के कारण गुण प्रधान है।[२]

७. **विषयबाहुल्य**– गुणों के विषय (द्रव्य) अनेक होने से गुण प्रधान है। जिसके विषय अधिक होते हैं वह प्रधान होता है यथा अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन के विषय अधिक हैं, अत: मन प्रधान है।[३]

८. **उपदेश**– संहिताओं में गुणों का प्रधानरूप से निर्देश किया गया है[४] यथा 'गुरु, उष्ण और स्निग्ध वातहर होते हैं' इत्यादि। अत: आप्तोपदेश से गुण प्रधान हैं।

९. **अपदेश**– गुण से ही द्रव्यों का परिचय दिया जाता है यथा यह पुरुष तीक्ष्ण है, यह गीत मृदु है आदि।[५] गुण ही के कारण पुरुषों की पूजा होती है– 'गुणा: पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वय:'। अत: व्यवहार-कारण होने से गुण प्रधान है।

१०. **अनुमान**– कारण से कार्य का अनुमान होता है। शीत, उष्ण आदि गुणों से पित्तघ्न, वातघ्न आदि कर्मों का अनुमान होता है। इस प्रकार अनुमान व्यवहार का आधार होने के कारण गुण प्रधान है।

गुण का महत्त्व

सांख्य-दर्शन के अनुसार जगत् का आविर्भाव-तिरोभाव सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के तारतम्य से होता है। गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं[६] तथा वैषम्य से ही विकारभूत सृष्टि का क्रम प्रवर्तित होता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति

१. बहुधोपयोगात्। (र० वै० १.१२५)
बहुधाऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहरूपेण शीतादय उपयुज्यन्ते, रसास्तु मुखत एवेति गुणा: प्रधाना:, ये बहुधोपयोगं गच्छन्ति ते प्रधाना दृष्टा। यथा कल्पवृक्षा:। (र० वै० १.१२५-भा०)

२. अनेककर्मत्वात्। (र० वै० १.१२६)
रसादिसहितास्तेषां तेषां तत्तत्कर्माणि साहचर्यकरणादनेककर्माण इति। (र० वै० १.१२६-भा०)

३. महाविषयत्वात्। (र० वै० १.१२७)

४. उपदेशादपदेशादनुमानात्। (र० वै० १.१२९)
तेषां गुरूष्णस्निग्धा वातघ्ना इत्यादिरुपदेश:। (र० वै० १.१२९-भा०)

५. अपदेश:- तीक्ष्णोऽयं पुरुषो, मृदुरयं गीत इति। (र० वै० १.१२९-भा०)

६. सत्त्वजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:। (सां० द० १.६१)

के द्वारा ही सारे कार्य होते रहते हैं, पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्लेप, निष्क्रिय तथा साक्षी मात्र होता है, किन्तु केवल अहङ्कारवश अपने में कर्तृत्व का आरोप करता रहता है।[१] इससे स्पष्ट है कि वस्तुत: गुण ही प्रधान है और उन्हीं के द्वारा गुणी में कर्तृत्व का आरोप होता है। लोक में भी गुण ही पूजनीय माना गया है।[२]

गुण का आश्रयमात्र होने से द्रव्य की प्रधानता कही जाती है और गुण अप्रधान या गौण कहे जाते हैं।[३] किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि गुण और द्रव्य में व्यावहारिक दृष्टि से वैसा ही अन्योन्याश्रय भाव है जैसा कि कर्मपुरुष में पञ्चमहाभूत और आत्मा का।[४] पञ्चमहाभूत के बिना आत्मा को स्थूल अधिष्ठान नहीं मिल सकता और आत्मा के बिना पञ्चमहाभूत में चेतना का सञ्चार नहीं होने के कारण व्यवहार के अयोग्य हो जाता है अत: दोनों के परस्पर संयोग से ही पुरुष चिकित्साकर्म का अधिष्ठान बनता है।[५] इनमें किसको प्रधानता दी जाय यह कहना कठिन है। यदि स्थूल अधिष्ठान को ही प्रधानता देने का निश्चय हो तो पञ्चमहाभूत ही प्रधान हो जाता है और आत्मा गौण। किन्तु यह स्थिति स्वीकार्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार द्रव्य, गुण का आश्रय होने के कारण प्रधान है ऐसा कहना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि गुणों को हटा दिया जाय तो द्रव्य का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है।

सुश्रुत संहिता में द्रव्य और गुण का प्रतिपादन करते हुए गुण के प्रति न्याय नहीं किया गया प्रतीत होता है; यथा–

१. एक तो गुण के प्राधान्य का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया, रस के प्राधान्य-निरूपण में ही गुणों के प्राधान्य का भी समावेश कर लिया गया है।[६]

२. दूसरे यह कि गुण के प्राधान्य में जो युक्तियाँ दी गई हैं वे सशक्त नहीं हैं। केवल आगम, उपदेश तथा अनुमान के आधार पर ही इनकी प्रधानता

१. प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:। अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।।
(गी० ३.२७)

२. गुणा: पूजस्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वय:। (उ० रा० ४.११)

३. इन्दमेव गुणानां गुणत्वं यद् द्रव्यदेशत्वम्। (ब्र० सू० २.३.२९-भामती)

४. जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्। अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद् देहदेहिनो:।।
(सु० सू० ४०.१६)

५. 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय: पुरुष:' (सू० अ० १) इति; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृत:।।
(सु० शा० १.१६)

६. तस्माद्रसा: प्रधानं; रसेषु गुणसंज्ञा। (सु० सू० ४०.४)

दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।[१] जब कि द्रव्य के प्राधान्य-निरूपण में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। इनकी यदि समीक्षा की जाय तो स्थित कुछ दूसरी ही सामने आती है और अन्ततः सभी युक्तियाँ आश्रितत्व पर ही आधारित प्रतीत होती हैं। यह कथन कि द्रव्य व्यवस्थित और नित्य है जब कि गुण अनित्य और परिवर्तनशील है।[२] विचारणीय है। यह सर्वविदित है कि प्रतिक्षण द्रव्य में परिवर्तन होते रहते हैं और कुछ काल के बाद वस्तुतः वह एक नया ही द्रव्य बन जाता है। यह बात दूसरी है कि उसकी प्रत्यभिज्ञा में अन्तर नहीं पड़ता। द्रव्य में परिवर्तन के साथ-साथ तदाश्रित गुणों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। जहाँ तक आरम्भसामर्थ्य की बात है, कोई भी द्रव्य चिकित्सा में तभी प्रयुक्त होता है जब विशिष्ट गुणसम्पन्न होता है। गुणहीन या निर्वीर्य औषध का द्रव्यत्व रहने पर भी प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार ये सारी युक्तियाँ अन्ततः आश्रितत्व पर ही आ टिकती हैं और जैसा कि ऊपर बतलाया गया है इससे गुण का महत्त्व कम नहीं होता।

गुण के कारण ही द्रव्य के प्रति लोक आकर्षित होता है जो कि गुण शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है–

'गुण्यते आमन्त्र्यते लोकः अनेक इति गुणः।' यह द्रव्य के महत्त्व को गुणित कर देता है या बढ़ा देता है इसलिए भी इसे गुण कहते हैं।

नागार्जुन ने वीर्य, विपाक आदि के विशिष्ट स्वरूप या कार्य के आधार पर 'परिणामलक्षणो विपाकः', 'कर्मलक्षणं वीर्यम्' इत्यादि लक्षणों की स्थापना की, किन्तु गुण का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण तथा गुणों के स्वरूप तथा कार्य में अत्यधिक विविधता होने के कारण सटीक लक्षण निर्धारित करने में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई, इसलिए 'विश्वलक्षणा गुणाः'[३] यही लक्षण अन्ततः उन्होंने किया। इसका अर्थ यह है कि अन्य लक्षणयुक्त पदार्थों के बीच में किसी एक पदार्थ का लक्षणरहित होना भी उसका एक प्रकार से लक्षण हो जाता है, उसी प्रकार गुणों का भी कोई विशिष्ट लक्षण न होना उसके स्वरूप तथा कार्य की विविधता का द्योतक है।

---

१. आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा- रसायत्त आहार इति, तस्मिंस्तु प्राणाः; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः यथा- मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति; अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा- मधुरमिति। (सु० सू० ४०.४)

२. इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, ... नित्यं हि द्रव्यम् अनित्या गुणाः।(सु० सू० ४०.३)

३. विश्वं विकीर्णं भिन्नं वाभिन्नं लक्षणं येषां ते विश्वलक्षणा गुणाः। (र० वै० १.१६८-भा०)

उपसंहार

इस प्रकार गुण द्रव्य के स्वरूप का प्रतीक होते हुए अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। द्रव्य गुणसाधर्म्य के आधार पर ही शारीर-धातुओं पर कर्म करते हैं किन्तु द्रव्यनिरपेक्ष गुणों का कर्म सम्भव नहीं। द्रव्यात्मक परिवर्तन के साथ ही गुणात्मक परिवर्तन होते हैं। द्रव्य के स्वाभाविक या यावद्द्रव्यभावी गुणों का नाश नहीं किया जा सकता, प्रतिबन्धक कारणों से केवल उनका उपमर्द सम्भव है।[१] जब कि आवस्थिक गुण विनष्ट किये जा सकते हैं। गुर्वादि गुणों में जो गुण उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न होते हैं, वे ही वीर्य कहलाते हैं। गुणों के माध्यम से जो कर्म होता है वह वीर्यजन्य कहलाता है और द्रव्य के प्रभाव से जो विशिष्ट कर्म होते हैं वे प्रभावजन्य कहे जाते हैं। न केवल वीर्य और प्रभाव बल्कि रस और विपाक भी गुण ही हैं। इस प्रकार द्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया में गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि गुणवान् एवं वीर्यवान् द्रव्य ही कार्मुक होते हैं जो चिकित्सा के अनिवार्य साधन हैं।

*

---

१. संस्कारस्तूत्पन्नस्यैव तोयादिना गुणान्तराधानमिति दर्शयति। तच्च प्राकृतगुणोपमर्देनैव क्रियते। (च० वि० १.२२(२)-चक्र०)

चतुर्थ अध्याय

रस

१. निरुक्ति

शब्दकोशों[१] में 'रस' शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं।[२] किन्तु आयुर्वेद में मुख्यतः यह चार अर्थों में प्रयुक्त होता है–

१. **रस (धातु)**– 'रसति अहरहर्गच्छतीति रसः' इस निरुक्ति के अनुसार शरीर के आद्य धातु रस का ग्रहण होता है क्योंकि वह निरन्तर गतिशील रहता है।[३]

२. **रस (पारद)**– 'रसति भक्षयति सर्वान् लोहान् इति रसः' इस निर्वचन के अनुसार स्वर्ण आदि सब लोहों को अपने में विलीन करने के कारण पारद रस कहलाता है।[४]

३. **रस (कल्पना)**– 'रसति शरीरे आशु प्रसरति इति रसः' इस निरुक्ति के अनुसार वनस्पतियों को पीस-निचोड़ कर जो द्रव भाग निकाला जाता है उसे रस या स्वरस कहते हैं।[५] क्योंकि शरीर में प्रयुक्त होने पर वह शीघ्र फैल जाता है।

४. **रस (गुण-विशेष)**– 'रस्यते आस्वाद्यते (रसनेन) इति रसः' अर्थात् 'रसनेन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण किया जाता है उसे रस कहते हैं' इस निरुक्ति के अनुसार द्रव्य में रहने वाले मधुर, अम्ल आदि छः आस्वादों को रस कहते हैं।[६]

ये चारों अर्थ 'रस' शब्द से निरुक्त होने पर भी आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों में पारिभाषिक और रूढ़ हो गये हैं यथा शारीरशास्त्र में 'रस' शब्द आद्य-धातु का वाचक होता है, रसशास्त्र में उससे पारद का ग्रहण किया जाता है, भैषज्यकल्पना के प्रकरण में उससे स्वरस-कल्पना का बोध किया जाता है और उसी प्रकार द्रव्यगुणशास्त्र में 'रस' शब्द द्रव्यस्थित आस्वादलक्षण गुण-विशेष (मधुर, अम्ल आदि) का बोधक होता है।

१. लेखक की पुस्तक 'द्रव्यगुणकोश' देखें।

२. रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः। शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे।। (विश्व०)

३. तत्र 'रस' गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः। (सु० सू० १४.१३)

४. रसनात् सर्वधातूनां रसेन्द्र इति कीर्त्तितः। (र० र० स० १.७६)

५. यन्त्रनिष्पीडिताद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते। (च० सू० ४.७)

६. रस्यत आस्वाद्यत इति रसः। (च० सू० १.६४-चक्र०)

२. लक्षण

रसनेन्द्रिय के विषय को रस कहते हैं।[१] अर्थात् जिस गुण का रसना के द्वारा ग्रहण होता है वह रस कहलाता है। मधुर, अम्ल आदि में पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य होने पर भी आस्वाद्यत्व सब में समान रूप से रहता है अतः ये रस कहलाते हैं। इसी आधार पर नागार्जुन ने रस का लक्षण आस्वाद कहा है।[२]

३. संख्या

रस छः हैं– मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय।[३] इसको लोकभाषा में क्रमशः मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुआ, तीता और कसैला कहते हैं। इन रसों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं–

१. **मधुर–** गुड़, चीनी, घृत, द्राक्षा आदि।

२. **अम्ल–** इमली, नींबू, चाङ्गेरी आदि।

३. **लवण–** सैन्धव, सामुद्र आदि।

४. **कटु–** मरिच, लङ्का, पिप्पली आदि।

५. **तिक्त–** निम्ब, चिरायता, करैला आदि।

६. **कषाय–** हरीतकी, बबूल, धातकी आदि।[४]

रस की संख्या के विषय में प्राचीन आचार्य कठोरतावादी हैं और उसमें तनिक भी न्यूनाधिक्य नहीं करना चाहते। वे कहते हैं– 'छः ही रस हैं' न कम और न अधिक।[५] इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श के लिए चरकसंहिता के सूत्रस्थानगत

१. रसनार्थो रसः। (च० सू० १.६४)
रसनेन्द्रियग्राह्यो योऽर्थः स रसः। (द्र० गु० सं० १.१-शि०)
रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा। (कारिकावली-१०१)

२. रसलक्षणमास्वादः। (र० वै० १.१६७)

३. रसास्तावत् षट्- मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः। (च० वि० १.४)
स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च। कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां सङ्ग्रहः स्मृतः।।
(च० सू० १.६५)
रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः। षड्द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः।।
(अ० ह० सू० १.१४-)

४. तत्र स्वादुर्मधुरो घृतगुडादिः, अम्लोऽम्लिकामातुलुङ्गादिः, लवणः सैन्धवादिः, तिक्तो भूनिम्बादिः, ऊषणः कटुको मरिचादिः, कषायो हरीतक्यादिः।
(अ० ह० सू० १.१४-अ० द०)

५. षडेव रसाः नोनाधिकाः। (अ० सं० सू० १७.३९-४३-इन्दु०)

आत्रेयभद्रकाप्यीय अध्याय में ऋषियों की एक सम्भाषापरिषद् आयोजित है जिसमें अनेक मत-मतान्तरों की प्रस्तुति के बाद आचार्य आत्रेय ने सब मतों का समन्वय कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है–

एकीय मत

१. **रस एक है**– रस एक ही है जो रसनेन्द्रिय का भावरूप विषय है और जल से अभिन्न है, ऐसा भद्रकाप्य का मत है।

२. **रस दो हैं**– छेदनीय (लङ्घन) और उपशमनीय (बृंहण)– यह शाकुन्तेय ब्राह्मण का मत है।

३. **रस तीन हैं**– छेदनीय, उपशमनीय और साधारण– यह पूर्णाक्ष मौद्गल्य का कथन है।

४. **रस चार हैं**– स्वादु-हित, स्वादु-अहित, अस्वादु-हित और अस्वादु-अहित– यह हिरण्याक्ष कौशिक का मत है।

५. **रस पाँच हैं**– भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय– यह कुमारशिरा भरद्वाज का मन्तव्य है।

६. **रस छः हैं**– गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष– यह राजर्षि वार्योविद का कथन है।

७. **रस सात हैं**– मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और क्षार– ऐसा वैदेह निमि का मत है।

८. **रस आठ हैं**– मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और अव्यक्त– यह बडिश धामार्गव का कथन है।

९. **रस अपरिसंख्येय है**– आश्रय (द्रव्य), गुण, कर्म और स्वाद-विशेषों की असंख्येयता के कारण रस भी असंख्य हैं– ऐसा बाह्लीक देश के वैद्य काङ्कायन का मत है।[१]

---

१. एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः, यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति। द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः, छेदनीय उपशमनीयश्चेति। त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः, छेदनीयोपशमनीयसाधारणा इति। चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः, स्वादुर्हितश्च स्वादुरहितश्चास्वादुर्हितश्चास्वादुरहितश्चेति। पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः, भौमौदकाग्नेयवायव्यान्तरीक्षाः। षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः, गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः। सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराः। अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराव्यक्ताः। अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, आश्रयगुणकर्मसंस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात्। (च० सू० २६.८)

समीक्षा

इन सभी एकीय मतों के पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित होने के बाद आत्रेय पुनर्वसु ने पूर्वोक्त सभी मतों की आलोचना की है और युक्तिपूर्वक उनका खण्डन किया है–

१. भद्रकाप्य का मत है कि रस एक ही है और जल से अभिन्न है, किन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि जल आधार और रस आधेय है और चूँकि आधार और आधेय एक नहीं हो सकते अतः रस जल से अभिन्न है यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है।

२-३. शाकुन्तेय ब्राह्मण तथा पूर्णाक्ष मौद्गल्य का मत भी उचित नहीं है क्योंकि छेदनीय, उपशमनीय ये दोनों रस के कर्म होते हैं और साधारण भी दोनों के मिश्रण से बना कर्म ही है। कारण (रस) और कर्म भिन्न होते हैं अतः इस मत से रस का द्वित्व और त्रित्व सिद्ध नहीं होता।

४. हिरण्याक्ष कौशिक ने जो चार रस बतलाये हैं, उनमें दो तो भक्ति (रुचि) के विशेष रूप हैं और दो रसों के प्रभाव हैं। अतः स्वादु-अस्वादु, हित-अहित ये रस नहीं हो सकते।

५. कुमारशिरा भरद्वाज पञ्चमहाभूतों के अनुसार पाँच रस बतलाते हैं– पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय किन्तु यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उपर्युक्त पाँच भेद द्रव्यों के होते हैं, रसों के नहीं। रस तो द्रव्यों के आश्रित हैं। आश्रय और आश्रित भिन्न-भिन्न होते हैं अतः यह संख्या द्रव्यों की है, रसों की नहीं। दूसरी बात यह है कि ये पाञ्चभौतिक-विकाररूप द्रव्य स्वयं प्रकृति, विकृति (संस्कार), विचार (द्रव्यान्तर-संयोग), देश और काल के अधीन रहते हैं किन्तु रस की क्रिया नितान्त भिन्न होती हैं यथा प्रकृति के कारण मुद्ग कषाय और मधुर होते हुए भी लघु है यद्यपि रस के विचार से गुरु होना चाहिए। विकृति के कारण धान्य की अपेक्षा लाजा में लघुत्व होता है यद्यपि रस में कोई अन्तर नहीं होता तथा माधुर्य के कारण गुरुत्व ही होना चाहिए। मधु और घृत मिलाने पर संयोग के प्रभाव से विषाक्त हो जाता है, रस के कारण नहीं। हिमालय में उत्पन्न होने वाली ओषधियाँ गुणवान् होती हैं। देश प्रभाव से ही, रस से नहीं। उसी प्रकार कालवश से बालमूलक दोषहर होता है किन्तु वही वृद्ध होने पर त्रिदोषकर हो जाता है यद्यपि रस में कोई अन्तर नहीं होता। अतः कुमारशिरा भरद्वाज के बतलाये विभाग द्रव्य के ही हो सकते हैं, रसों के नहीं।

६. राजर्षि वार्योविद ने गुरु, लघु आदि छः रस बतलाये हैं किन्तु ये द्रव्याश्रित गुण हैं, रस नहीं। रस जिह्वा-ग्राह्य गुण है किन्तु ये जिह्वा-ग्राह्य नहीं है।

७. वैदेह निमि ने जो सात रस माने हैं उनमें मधुरादि छः तो अनुकूल ही हैं किन्तु क्षार रस नहीं है। यह तो द्रव्य है जो अनेक रस वाले द्रव्यों से उत्पन्न स्वयं अनेक-रसयुक्त विशेषतः कटुलवणरसविशिष्ट, अनेक इन्द्रियार्थों से युक्त तथा एक विशिष्ट क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है। इन सब कारणों से रस से यह भिन्न है।

८. बडिश धामार्गव ने अव्यक्त रस को भी माना है, यह मान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यक्त और अव्यक्त तो रस की अवस्थाएँ हैं, ये स्वयं रस कैसे हो सकते हैं? रस जल में, अनुरस में तथा अनुरसयुक्त द्रव्य में अव्यक्तावस्था में रहता है। अतः यह पृथक् रस नहीं हो सकता।

९. बाह्लीक वैद्य काङ्कायन ने रस को अपरिसंख्येय माना है यह भी उचित नहीं है क्योंकि मधुरादि रसों के आश्रय, गुण, कर्म तथा संस्वाद की विशेषताओं के असंख्य होने पर भी रसों की संख्या में अन्तर नहीं पड़ता। कारण यह है कि द्राक्षा-दुग्ध-घृत आदि आश्रयों, गुरु-स्निग्ध-पिच्छिल आदि गुणों, बृंहण-तर्पण आदि कर्मों तथा मधुरतर-मधुरतम आदि संस्वादों में अवान्तर भेद होने पर भी सब में मधुरत्व जाति समान रूप से एक ही है, रस की संख्या में कोई भेद नहीं। यदि यह कहा जाय कि परस्पर संयोग से रस के आस्वाद, कर्म आदि में भिन्नता आ जाती है, अतः रस असंख्य हैं तो यह भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि परस्पर संयोग की विशेषता होने पर भी उनके गुणकर्म में अन्तर नहीं आता। संयोग होने पर उनके स्वाभाविक गुणकर्म ही मिश्रित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अतः ऐसी स्थिति में रस असंख्य नहीं माने जा सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे वातादि दोषों का अनेक प्रकार से संसर्ग भेद होने पर भी उनकी संख्या तीन ही है, अधिक नहीं। रस की भी इसी प्रकार छः ही संख्या है, अधिक या कम नहीं।[१]

१. तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिद्वेषौ, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः; क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्; अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये; अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वात्र युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते; परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वात्र चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति; तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। (च० सू० २६.९)

सिद्धान्त

अन्त में पुनर्वसु आत्रेय ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि छः ही रस हैं- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय।[१]

अष्टाङ्गसङ्ग्रह की मान्यता

वृद्ध वाग्भट ने अपनी शैली से रसों की संख्या का निरूपण करते हुए शास्त्रीय मत का समर्थन किया है–

पूर्वपक्षी कहता है कि मधुर स्कन्ध में कथित घृत, तैल, गुड़ आदि द्रव्यों में गुण, आस्वाद आदि की अनन्त विशेषताओं के कारण रस की शास्त्रीय संख्या मान्य नहीं हो सकती। रस की छः संख्या तो हो ही नहीं सकती क्योंकि यदि असंख्य विशेषताओं का विचार किया जाय तो रस अपरिसंख्येय हो जाते हैं और यदि आस्वाद-सामान्य की दृष्टि से देखा जाय तो सभी रस एक हो जाते हैं और उनकी संख्या एक से अधिक नहीं हो सकती। अतः या तो रस अपरिसंख्येय हों या एक हो।

इसका समाधान यह है कि भूतों के न्यूनाधिक्य से गुणों में यद्यपि सूक्ष्मतया थोड़ा बहुत अन्तर होता है किन्तु उनके प्रभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। इसके अतिरिक्त, थोड़ा तारतम्य होने पर भी उनकी जाति तो एक ही रहती है यथा गुरुतर, गुरुतम या लघुतर, लघुतम आदि में गुरुत्व और लघुत्व जाति तो एक ही है। उसी प्रकार रसों के आस्वाद आदि विषयों में भी मधुरत्व आदि जाति एक ही रहती है। एक रस वाले द्रव्यों के कर्म भी समान देखने में आते हैं यथा मुखोपलेप, ह्लादन आदि कर्म घृत, द्राक्षा आदि सभी मधुर रस द्रव्यों में ही मिलते हैं दाडिम आदि अम्लरस द्रव्यों में नहीं। अतः गुणसामान्य, कर्मसामान्य और जातिसामान्य के कारण रस छः ही हैं। यदि रस अनन्त या एक माना जाय तो शास्त्र भी निरर्थक हो जाता है क्योंकि रस असंख्य होने से उसका प्रतिपादन शक्य नहीं है और एक होने से वैशिष्ट्य के अभाव में प्रतिपादन ही किसका किया जायगा? अतः शास्त्रीय मत ही युक्तियुक्त है।[२]

१. षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः।
(च० सू० २६.९)

२. मधुरस्कन्धनिर्दिष्टघृततैलगुडादिषु। गुणास्वादादिभेदेन रसषट्कं न युज्यते।।
अस्तु भेदादसंख्यत्वमैक्यं वाऽऽस्वादलक्षणात्। भूतोत्कर्षापकर्षेण भेदो योऽल्पेन कल्प्यते।।
सङ्कीर्णत्वात् फले चासौ तुल्यत्वान्न विवक्ष्यते। गुर्वादीनां विशेषेऽपि स्वजातेरनतिक्रमात्।।
संख्याभेदो यथा नास्ति रसानामपि स क्रमः। दृष्टं मुखोपलेपादि यत् सर्वेषु घृतादिषु।।
न च तद्दाडिमाद्येषु षडेवातो रसाः स्मृताः। आनन्त्यैकत्वयोश्च स्यान्न विचित्रार्थतन्त्रणम्।।
(अ० सं० सू० १७.३९-४३)

नागार्जुन का मत

रसवैशेषिककार नागार्जुन ने आयुर्वेदोक्त मत का ही समर्थन किया है और इस सम्बन्ध में उन्होंने दो प्रमाणों का आधार लिया है एक प्रत्यक्ष और दूसरा आप्तोपदेश। वह कहते हैं कि रस छः ही हैं इसको सिद्ध करने में अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्षतः छः ही रसों की उपलब्धि होती है, इससे अधिक की नहीं। अतः इससे अधिक या कम रसों की संख्या मानने का कोई कारण नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्राचीन नीरजस्तम महर्षियों ने रस की छः ही संख्या बतलाई है। अतः प्रत्यक्ष और आप्तोपदेश इन दोनों प्रमाणों से रस की संख्या छः ही सिद्ध होती है।[१]

आधुनिक मत

आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान तथा मनोविज्ञान में चार ही रस मूलतः माने गये हैं- मधुर (Sweet), अम्ल (Sour), लवण (Salt) और तिक्त (Bitter) कषाय और कटु को वे रस और स्पर्श की संवेदना का संयुक्त रूप मानते हैं, स्वतंत्र रस नहीं। तथापि औषधविज्ञान में कषाय-स्कन्ध (Astringents) तथा कटुक-स्कन्ध (Volatile oils and pungents) का पृथक् उल्लेख किया है। इस प्रकार व्यवहारतः छः रस आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान में भी हो जाते हैं।

४. पाञ्चभौतिक आधार

द्रव्य के समान रस भी पाञ्चभौतिक है। जल तो मुख्य रूप से और पृथिवी जलानुप्रवेश के कारण अमुख्य रूप से रस का समवायी कारण हैं। इनके अतिरिक्त आकाश, वायु और अग्नि ये तीन महाभूत रस की सामान्य अभिव्यक्ति तथा वैशिष्ट्य में निमित्त कारण होते हैं।[२] इस प्रकार पाँचों महाभूत रस से कारणतया सम्बद्ध हैं।

१. षट् सूत्रकारप्रामाण्यादास्वादाच्च। (र० वै० ३.५)

२. ....तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः।।
(च० सू० १.६४)

द्रव्यशब्दो ह्याधारकारणवाची...., 'अपक्षिती' इति वक्तव्ये, 'क्षितिस्तथा' इति वचनात् क्षितेराधारकारणत्वममुख्यमिति दर्शयति।...मधुरादिविशेषनिर्वृत्तौ निमित्तकारणं खवाय्वनलाः, न त्वाधारकारणभूताः। (च० सू० १.६४-चक्र०)

द्रव्यस्य पाञ्चभौतिकत्वात् तदाश्रितरसोऽपि पाञ्चभौतिकः।...रसोऽपां नैसर्गिकः, क्षितेस्तु अबनुप्रवेशकृतः। तेन रसस्य योनिरापः, क्षितिश्चाधारः, तस्य निर्वृत्तौ निष्पत्तौ विशेषे मधुरादिभेदे च खादयः खं वायुरग्निश्च एते त्रयः प्रत्ययाः कारणानि।....अनेन खादीनां त्रयाणां रसं प्रति कारणत्वमुपदर्शितं भवति, अपां क्षितेश्च तदनिर्बाधमेव। एवं पञ्चानां महाभूतानां रसं प्रति कारणतया वर्त्तमानत्वाद् रसस्य पाञ्चभौतिकत्वमुपपद्यते। (च० सू० १.६४-यो०)

द्रव्य और रस दोनों पाञ्चभौतिक होने के कारण द्रव्य अनेक-रस होते हैं[१] किन्तु भूतों के सङ्घटन तथा उत्कर्षापकर्ष के अनुसार कोई रस प्रधान तथा कोई अप्रधान होता है। इसी के आधार पर आचार्यों ने रस और अनुरस की व्यवस्था की है।

५. रस और अनुरस

द्रव्य में स्थित प्रधान रसनाग्राह्य गुण को 'रस' कहते हैं। इसके निम्नाङ्कित लक्षण होते हैं-

१. यह पूर्णतः व्यक्त होता है अतः इसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि मधुर, अम्ल आदि के रूप में स्पष्ट रूप से होती है यथा पिप्पली में कटु तथा हरीतकी में कषाय आदि।[२]

२. द्रव्य की शुष्कावस्था में ही यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। कभी-कभी द्रव्य की आर्द्रावस्था में जो रस रहता है वह शुष्कावस्था तक स्थायी नहीं रह पाता। ऐसा अस्थायी और क्षणिक रस 'रस' की संज्ञा नहीं पा सकता। जो रस शुष्कावस्था तक स्थिर रहे या शुष्कावस्था में व्यक्त हो वही प्रधान माना गया है और उसे ही 'रस' की संज्ञा दी गई है यथा द्राक्षा आदि में आर्द्र तथा शुष्क अवस्थाओं में विद्यमान मधुर रस 'रस' कहा जाता है। उसी प्रकार पिप्पली आर्द्रावस्था में मधुर होती है किन्तु शुष्क होने पर कटु हो जाती है अतः कटु 'रस' कहा जाता है और मधुर अनुरस।

३. द्रव्य का रसनेन्द्रिय से संयोग होते ही सर्वप्रथम जो रस प्रतीत होता है वही 'रस' कहा जाता है यथा काञ्जी, तक्र आदि में अम्ल।

रस के विपरीत अनुरस होता है। रस से अभिभूत होने के कारण इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती और यदि होती भी है तो बहुत कम और अन्त में।[३] इसके निम्नाङ्कित लक्षण होते हैं-

१. तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवात्। (अ० हृ० सू० ९.३)
सर्वं द्रव्यं पञ्चमहाभूतसमवायसम्भवं, तस्मादनेकरसम्। (च० सू० २६.२८-यो०)

२. व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते। (च० सू० २६.२८)

३. तत्र यो व्यक्तः स रसः, यस्तु रसेनाभिभूतत्वान्न व्यज्यते व्यज्यते वा किञ्चिदन्ते सोऽनुरसः।
(च० सू० २६.२८-यो०)

विपर्ययेणानुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः। (च० सू० २६.२८)

तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते।।
(अ० हृ० सू० ९.३-)

तत्र द्रव्ये कश्चिद्धर्मः सद्यो व्यक्तः, कश्चिदव्यक्तः कश्चिदीषद्व्यक्तः कश्चिदन्ते व्यक्तः। तेष्वाद्यो रसाख्यः, इतरे त्रयोऽनुरसाख्याः। (अ० हृ० सू० ९.३-हे०)

१. यह अव्यक्त या ईषद्व्यक्त होता है यथा हरीतकी में स्थित मधुर आदि रस।

२. द्रव्य की शुष्कावस्था तक यह स्थायी नहीं रहता यथा पिप्पली का मधुर रस जो आर्द्रावस्था में ही होता है, शुष्कावस्था में नहीं।

३. यह प्रधान रस की प्रतीति के अनन्तर अन्त में प्रतीत होता है यथा- हरीतकी में प्रथम कषाय रस की प्रतीति है और अन्त में मधुर आदि की। काञ्जी, तक्र आदि में भी पहले अम्ल रस प्रतीत होता है और अन्त में तिक्त आदि।

रस और अनुरस में अन्तर

रस	अनुरस
१. व्यक्त	अव्यक्त या ईषद्व्यक्त
२. शुष्कावस्था में स्थायी	शुष्कावस्था में अस्थायी
३. आदि में प्रतीत	अन्त में प्रतीत

६. रसों का वैशिष्ट्य

सामान्यत: रस पाञ्चभौतिक होने पर भी मधुर, अम्ल आदि रसों की विशिष्ट निष्पत्ति पञ्चमहाभूतों के विशिष्ट सङ्घटन के कारण होती है जिस प्रकार प्राणियों के पाञ्चभौतिक होने पर भी महाभूतों के न्यूनातिरेक के कारण उनमें अनेक विशिष्ट वर्ण और आकार उत्पन्न होते हैं।[१] जल से ही ओषधियों का पोषण और वर्धन होता है। जल स्वत: अव्यक्त रस है किन्तु आकाश से नीचे आते समय अनेक महाभूतों से उसका सम्पर्क होता है और पृथिवी पर गिरने के बाद तो वह पूर्णत: पञ्चमहाभूतों के गुणों से युक्त हो जाता है। यही जल जंगम और स्थावर द्रव्यों के संयोग में आने पर महाभूतों के संयोगविशेष से परिपाक (रासायनिक संयोग) के द्वारा उनमें मधुर आदि छ: रसों को उत्पन्न करता है।[२]

१. एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां, भूतानामिव स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषा:। (च० सू० २६.४०)

२. सौम्या: खल्वापोऽन्तरीक्षप्रभवा: प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च, तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसा:। (च० सू० २६.३९)

रस: खल्वाप्य: प्रागव्यक्तश्च। स षड्टतुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तै: संसृष्टो विषमं विदग्ध: षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन। (अ० स० सू० १८.२)

आप्यो रसोऽव्यक्तोऽपि कालसहायभूमिवियदनिलानलसंसर्गेण परिपाकान्तरं गत:, षोढा विभज्यते षट्प्रकारो भवति। (सु० सू० ४२.३-ड०)

स खल्वाप्यो रस: शेषभूतसंसर्गाद् विदग्ध: षोढा विभज्यते; तद्यथा- मधुर:, अम्ल:, लवण:, कटुक:, तिक्त:, कषाय इति। (सु० सू० ४२.३)

यथा-

१. **मधुर**-	जल	+	पृथिवी
२. **अम्ल**-	पृथिवी	+	अग्नि (चरक, वृद्धवाग्भट और वाग्भट)
	जल	+	अग्नि (सुश्रुत)
३. **लवण**-	जल	+	अग्नि (चरक, वाग्भट)
	पृथिवी	+	अग्नि (सुश्रुत)
	अग्नि	+	जल (नागार्जुन)
४. **कटु**-	वायु	+	अग्नि
५. **तिक्त**-	वायु	+	आकाश
६. **कषाय**-	वायु	+	पृथिवी[१]

रसों के भौतिक सङ्घटन के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं, एक तो यह कि इतने ही महाभूत-द्वन्द्वों से इतने ही रस क्यों उत्पन्न हैं अन्य द्वन्द्वों यथा जल + वायु, जल + आकाश आदि से अधिक रस क्यों नहीं होते और दूसरा यह कि इन रसों की उत्पत्ति में कारणभूत महाभूतों का न्यूनातिरेक क्यों और कैसे होता है?

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकारों ने इसमें स्वभाव को ही कारण माना है। महाभूतों का यह स्वाभाविक गुण है कि किसी विशिष्ट महाभूतों के साथ संयुक्त होने पर ही विशिष्ट रस को उत्पन्न करता है अन्य महाभूत के साथ नहीं। यही कारण है कि महाभूतों के छ: विशिष्ट द्वन्द्वों से छ: रसों की ही उत्पत्ति होती है अन्य की नहीं।[२]

१. तेषां षण्णां रसानां पृथिवीसोमगुणातिरेकान्मधुरो रस:, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्ल:, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवण:, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुक:, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्त:, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति। (च० सू० २६.४०)

क्ष्माऽम्भोऽग्निक्ष्माऽम्बुतेज:खवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलै:। द्वयोल्बणै: क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भव:। (अ० हृ० सू० १०.१)

२. तोयवत् पृथिव्यादयोऽपि किमिति पृथग्रसान्तरं न कुर्वन्ति, तथा तोयवातादिसंयोगादिभ्य: किमिति रसान्तराणि नोत्पद्यन्ते इति, तदपि भूतस्वभावापर्यनुयोगादेव प्रत्युक्तम्। (च० सू० २६.४०-चक्र०)

ननु, यथा- भूमितोयाधिक्यान्मधुर:, एवमम्बुवाय्वाधिक्यादन्यो भूम्याकाशाधिक्यादन्य इत्येवमादिविकल्पैरसङ्ख्येयरसप्रसङ्ग: प्राप्नोति? अत्रोच्यते- स्वभावाददोष:। एषां भूम्याकाशादीनामीदृश: स्वभावो यत् केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थितानि भूम्यादीनि रसान्तरोत्पादनसमर्थानि भवन्ति, न सर्वेणेति। (अ० हृ० सू० १०.१-अ० द०)

द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है कि महाभूतों का न्यूनाधिक्य ऋतुओं के अनुसार होता है और उसके कारण विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है। ऋतुओं की संख्या ६ होने के कारण रसों की संख्या की सङ्गति भी इससे ठीक बैठती है।[१] निम्नाङ्कित तालिका में यह बतलाया गया है कि किस ऋतु में किन महाभूतों का आधिक्य होता है और उनसे किन रसों का प्रादुर्भाव होता है[२]–

ऋतु	महाभूताधिक्य	रसोत्पत्ति
१. शिशिर	वायु + आकाश	तिक्त
२. वसन्त	वायु + पृथिवी	कषाय
३. ग्रीष्म	वायु + अग्नि	कटु
४. वर्षा	पृथिवी + अग्नि	अम्ल
५. शरत्	जल + अग्नि	लवण
६. हेमन्त	पृथिवी + जल	मधुर

किन्हीं वस्तुओं में ऋतु के विपरीत भी रस देखा जाता है इसका समाधान इन्दु तो यह करते हैं कि उन-उन ऋतुओं में कथित महाभूतों का आधिक्य प्रधानत: होता है किन्तु अन्य ऋतुओं में भी हो सकता है अतएव ऋतुविपरीत रस का प्रादुर्भाव देखा जाता है। चक्रपाणि इसका उत्तर देते हैं कि ऋतुओं के अतिरिक्त अहोरात्र तथा अदृष्ट के कारण भी महाभूतों का न्यूनाधिक्य होता रहता है यही कारण है कि अन्य ऋतुओं में रसान्तर की उत्पत्ति कुछ वस्तुओं में देखी जाती है।[३] ऋतुओं के कारण महाभूतों का न्यूनातिरके होता है या महाभूतों के न्यूनाधिक्य के कारण ऋतुओं का भेद होता है यह बड़ा जटिल प्रश्न है तथा बीजाङ्कुरन्याय से इसका कार्यकारणभाव समझना चाहिए।[४]

१. षड्ऋतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेष:। (च० सू० २६.४०)
स षड्ऋतुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तै: संसृष्टो विषमं विदग्ध: षोढा पृथग्वि-परिणमते। (अ० सं० सू० १८.२)

२. कथं महाभूतानामूनाधिक्यम्? उच्यते- कालस्य संवत्सराख्यस्य षड्ऋतुकत्वाद्रसस्यापि षड्भेदत्वम्। तथा च शिशिरे वाय्वाकाशयोराधिक्याद्रसस्य तिक्तता, वसन्ते वायुपृथिव्यो: कषायता, ग्रीष्मेऽग्निवाय्वो: कटुता, वर्षास्वग्निपृथिव्योरम्लता, शरद्यग्न्युदकयोर्लवणता, हेमन्ते पृथिव्युदकयोर्मधुरतेति प्राधान्याद् व्यपदेश:, तेनान्यर्तून्द्रवानामपि रसानां यथोक्तमहाभूतद्वयाधिक्यमेव कारणं विज्ञेयम्। (अ० सं० सू० १८.३-इन्दु)

३. षड्ऋतुकत्वाच्चेति चकारेणाहोरात्रकृतोऽपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयस्तथाऽदृष्टकृतश्च, तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पाद: क्वचिद्वस्तून्युपपन्नो भवति। (च० सू० २६.४०-चक्र०)

४. यद्यपि च, ऋतुभेदेऽपि भूतोत्कर्षविशेष एव कारणं, यदुक्तं- 'तावेतावर्कवायू' (सू० ६) इत्यादि, तथापि बीजाङ्कुरकार्यकारणभाववत् संसारानादितयैव भूतविशेषर्त्वो: कार्यकारणभावो वाच्य:। (च० सू० २६.४०-चक्र०)

ऊपर बतलाया गया है कि अम्ल और लवण रसों के भौतिक सङ्घटन के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है किन्तु कार्य की दृष्टि से इनमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है।[१] आचार्यों ने भी कार्यों को देखकर ही भौतिक सन्निवेश की उपपत्ति स्थापित की है अत: सभी उपपत्तियाँ सही हैं यथा अम्ल रस का सङ्घटन पृथिवी + अग्नि से मानें या जल + अग्नि से, दोनों ही प्रकार से यह पित्त और कफ का वर्धक तथा वात का शामक होगा। इसी प्रकार लवण रस का भी समझना चाहिए। इसमें केवल आचार्यों के दृष्टिकोण का अन्तर कारण है। बृंहणत्व आदि कर्मों को देखकर पृथिवी तथा आस्रावकरत्व आदि कर्मों को देखकर जल तत्त्व का अनुमान होता है। अत: यह सभी तथ्यमूलक हैं और इनसे रसों के सङ्घटन पर प्रकाश पड़ता है।

जल तथा अग्नि जैसे परस्परविरोधी महाभूतों के संयोग से रस का अभाव क्यों नहीं हो जाता, एक ही द्रव्य में परस्परविरोधी रस कैसे उत्पन्न होते हैं तथा परस्पर विरोधी भूतों से आरब्ध रसों में परस्परविरोधी गुण क्यों नहीं देखे जाते इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है– स्वभाव। वस्तु का स्वभाव सर्वोपरि है। युक्तियाँ स्वभाव के आधार पर ही चल सकती हैं उसका उल्लङ्घन करके नहीं।[२] भूतों का यह स्वभाव है कि उनके सन्निवेश-स्थल में कुछ ही गुण व्यक्त होते हैं सब नहीं यथा मकुष्ठ में जल के द्वारा मधुर रस की ही अभिव्यक्ति होती है स्नेह की नहीं, इसी प्रकार सैन्धव में अग्नि के द्वारा उष्णता की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह सब अदृष्ट या स्वभाव के कारण ही होता है।[३] रस के सम्बन्ध में शिवदास सेन के विचार निम्नाङ्कित हैं–

'चरक ने रस का लक्षण 'रसनार्थो रस:' कहा। अर्थात् रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य जो विषय है वह रस है। चक्रपाणिदत्त ने इस लक्षण का अनुमोदन किया

१. चरके तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवण: पठित:, इह तु तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्ल: पठ्यते; तदत्र प्रमेये विरोधो नास्त्येव, उभयथाऽपि वक्ष्यमाणरसगुणानामुपपत्ते:। (सु० सू० ४२.४-चक्र०)
एवं लवणेऽप्यपां कारणत्वं ज्ञेयम्। लवणस्तु सुश्रुते पृथिव्यग्न्यतिरेकात् पठित:, अस्मिंश्च विरोधे कार्यविरोधो नास्त्येव। (च० सू० २६.४०-चक्र०)

२. नात्र वस्तुस्वभावे युक्तय: क्रोशनीया:, अपर्यनुयोग्यत्वाद् भावस्वभावानाम्।
(सु० सू० ४२.३-चक्र०)

३. भूतानामयं स्वभाव:-यत्-केनचित् प्रकारेण सन्निविष्टा: कञ्चिद्गुणमारभन्ते, न सर्वम्। यथा- मकुष्ठकेऽद्भिर्मधुरो रस: क्रियते, न स्नेह:; तथा सैन्धवे वह्निनाऽपि नोष्णत्वमारभ्यते। अयं च भूतानां सन्निवेशोऽदृष्टप्रभावकृत एव। (च० सू० २६.४०-चक्र०)

क्योंकि यह छः रसों में अनुगत है और इससे (अन्य इन्द्रियों से ग्राह्य) सूप आदि की व्यावृत्ति हो जाती है। इस प्रसङ्ग में शिवदास ने अपने पितृचरण (अनन्तसेन) का स्मरण करते हुए लिखा है कि वह इससे सहमत नहीं थे। इसका कारण यह है कि यह लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से दुष्ट है। रसत्व और रसाभाव भी रसनेन्द्रिय-ग्राह्य हैं। अतः उनमें यह लक्षण अतिव्याप्त है। इस कारण अनन्त-सेन ने रस का लक्षण इस प्रकार किया– 'रसनेन्द्रियग्राह्यवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्वं रसत्वम्' जिससे इन दोषों का निवारण हो जाता है।

अब कारण की दृष्टि से विचार करते हैं। सुश्रुत ने रस को आप्य (जल से निर्वृत्त) कहा है। इसमें दो शङ्कायें हैं– पहली यह कि यदि रस आप्य है तो पार्थिव द्रव्यों में रस की स्थिति कैसे होती है और दूसरी यह कि जल का रस अव्यक्त होने से मधुरादि विशेष कैसे होते हैं? यदि कहा जाय कि रस पाञ्चभौतिक है तो वह भी युक्तिसङ्गत नहीं होता क्योंकि तीन महाभूत (अग्नि, वायु और आकाश) नीरस होने के कारण रस के प्रति कारण कैसे हो सकते हैं?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि रस आप्य है तथापि उत्तरोत्तरभूतों में पूर्वभूतों के गुण का अनुप्रवेश होने से पृथिवी में भी (जल के अनुप्रवेश से) रसवत्ता सिद्ध होती है। भूतों में एक उनका पूर्व (नैसर्गिक) गुण होता है और दूसरा पूर्वभूत का अनुप्रविष्ट गुण। इस प्रकार पृथिवीभूत पञ्चगुण होता है। अनुप्रवेश होने पर भी उत्कर्ष के अनुसार व्यपदेश होता है, अतएव रस को आप्य कहते हैं अर्थात् जल के उत्कर्ष से रस का प्रादुर्भाव होता है। जल मूलतः तो अव्यक्तरस है, किन्तु अन्य भूतों के सम्बन्ध से मधुरादि विशेष उत्पन्न होते हैं जैसा कि सुश्रुत ने कहा है– 'स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद् विदग्धः षड्विधो भवति' इति। इसका अर्थ यह है कि रस आप्य होने पर भी कालवश पृथिवी, आकाश, वायु और अग्नि भूतों के संसर्ग से विदग्ध (परिणामान्तर को प्राप्त) होकर छः प्रकार का हो जाता है। यथा–

१. पृथिवी + जल	के गुणबाहुल्य से	मधुर
२. जल + अग्नि	,,	अम्ल
३. पृथिवी + अग्नि	,,	लवण
४. वायु + अग्नि	,,	कटु
५. वायु + आकाश	,,	तिक्त
६. पृथिवी + वायु	,,	कषाय

यहाँ शङ्का होती है कि यदि जल और अग्नि से अम्ल रस होता है तो उष्ण जल में अम्लता क्यों नहीं होती? यह दोष नहीं है क्योंकि भूतों के संसर्गमात्र से रस विशेष की निष्पत्ति नहीं होती। अपितु उनकी विशिष्ट परिणति से होती है। इसी कारण मिट्टी के ढेले को आग में तपाने पर पृथिवी और अग्नि के गुण का बाहुल्य होने पर भी लवणता नहीं होती क्योंकि लवणत्व की निष्पत्ति के लिए जो विशिष्ट विदाह (अणुसंयोग) आवश्यक है, वह वहाँ नहीं होता।

यदि शेष भूतों के संयोग से मधुरादि विशेष होते हैं तब कैसे मधुर में अप् की कारणता होती है? वस्तुतः जल रसों का आधार कारण है और पृथिवी भी जल के अनुप्रवेश के कारण आधारकारण है। इस प्रकार पृथिवी और जल दोनों आधार कारण होने से रसों की अभिव्यक्ति एवं मधुरादि विशेष में कारण होते हैं। अग्नि, वायु और आकाश– ये तीन भूत नीरस होने के कारण मधुरादि विशेष में निमित्त कारण होते हैं क्योंकि इनके बिना अम्लादिरस नहीं हो सकते और न उनकी विशेषता व्यक्त हो सकती है जैसा कि चरक ने कहा है–

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः।। (च० सू० १.६४)

यहाँ दो 'चकार' होने से जल और पृथिवी का भी विशेष में कारणत्व है और आकाश आदि का निर्वृत्ति में भी कारणता है। इस प्रकार मधुर रस विशेष में भी जल की कारणता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त मधुरादिरसों की निष्पत्ति जैसे दो-दो भूत मिलकर करते हैं वैसे ही जल और वायु या पृथिवी और आकाश के संयोग से भी कोई अन्य रस क्यों नहीं बनता? इसका उत्तर स्वभाव से दिया जाता है जिस पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। पृथिवी आदि भूतों का यह स्वभाव ही है कि वह किसी विशिष्ट भूत के साथ ही मिलकर रस विशेष की उत्पत्ति करते हैं न कि जिस किसी भूत के साथ। इसी (स्वभाव) के आधार पर यह शङ्का भी समाप्त हो जाती है कि जल और अग्नि परस्पर विरुद्ध होने पर भी कैसे मिल कर एक कार्य (रसविशेष) की निष्पत्ति करते हैं।

अन्तरीक्ष जल आदि में अव्यक्त रस होने से इसे सप्तम रस मानना चाहिए। छः ही रस क्यों? वस्तुतः ये मधुरादि रस ही वहाँ अव्यक्त रूप में रहते हैं। अतः यह उनसे भिन्न नहीं। इसी प्रकार क्षार भी सप्तम रस नहीं हो सकता क्योंकि वह गुण-कर्म का आश्रय द्रव्य है, रस नहीं जैसा कि चरक ने स्पष्ट किया है। साहचर्य के कारण इसका लवणवर्ग में पाठ भी किया गया है।

ये रस परस्पर संयोग से ५७ होते हैं। इसका विवरण चरक, सुश्रुत आदि में द्रष्टव्य है।

रसों में आयुष्यत्व आदि गुणों के कारण मधुर रस को प्रथम स्थान दिया गया है। स्निग्ध, गुरु और शीत गुणों के कारण इसके वात पित्त हन्तृत्व का ज्ञान

होता है। शीतत्व औत्सर्गिक है क्योंकि कहीं मधुर उष्ण भी दृष्टिगत होता है जैसाकि चरक ने लिखा है– 'मधुरं किञ्चिदुष्णं स्याद् यथाऽब्जानूपमामिषम्।'

यद्यपि गुण निर्गुण होते हैं, अत: उनमें स्निग्ध आदि गुणों का अस्तित्व नहीं होता तथापि औपचारिक रूप से द्रव्य के गुण ही रस में निर्दिष्ट होते हैं। जैसा कि लिखा है– 'गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारत:।।' इति। अर्थात् गुर्वादि गुण जो रस के आश्रय पृथिवी आदि द्रव्यों में होते हैं वे साहचर्य के उपचार से रस में कहे जाते हैं। साहचर्य का अभिप्राय है एक द्रव्य में साथ रहना। इस उपचार का प्रयोजन क्या है इसका उत्तर यह है कि द्रव्यगुण-प्रसङ्ग में मधुरादि रस के निर्देश से ही न कहने पर भी उसके सहचारी स्निग्धत्वादि गुणों का ज्ञान प्राय: हो जाता है। इस कारण मधुरत्व का उल्लेख करने पर स्निग्धत्व आदि का निर्देश आवश्यक नहीं रहता क्योंकि उनका ज्ञान साहचर्य से ही हो जाता है। जहाँ कहीं कहा जाता है वहाँ और अधिक स्पष्टीकरण ही प्रयोजन होता है।

मधुर के समान अम्ल में भी उष्णत्व प्रायिक है। इसी कारण आमलक अम्ल होने पर उसका शीतत्व विरुद्ध नहीं होता। इसका निष्कर्ष यह निकला कि रस में जो गुण कहे गये हैं वे अपवाद को छोड़कर समझना चाहिए। इसी प्रकार लवण उष्ण होने पर भी सैन्धव में शीतत्व असङ्गत नहीं होता।

अब शङ्का यह उठती है कि जल और अग्नि के बाहुल्य से अम्ल रस की निष्पत्ति है तो जल के कारण उसमें शैत्य होना चाहिए या अग्नि के कारण उसमें उष्णता? इसी प्रकार पृथिवी और अग्नि से आरब्ध लवण पर भी प्रश्न उठता है। सुश्रुत ने इन दोनों-अम्ल लवण रसों को आग्नेय ही कहा है। अत: वह युक्ति स्पष्ट करनी चाहिए जिससे परस्पर विरुद्ध गुण स्थिति में केवल आग्नेयत्व ही होता है। इसका समाधान यह है कि अम्लरस आदि में परस्पर विरोधी दो भूतों का गुणबाहुल्य होने पर भी पर भूत (अग्नि) के गुण पूर्वभूत (जल) के गुणों को अभिभूत कर अपने उष्णत्व को प्रकट करते हैं। ऐसा उष्णजल आदि में प्रत्यक्ष देखा भी जाता है। यदि ऐसा है तो सभी रसों में अग्निगुण के आधिक्य (संयोग) से लघुत्व होना चाहिए। ऐसा नहीं होता, उष्ण जलादि में उष्णता के कारण शीतत्व अभिभूत होता है, किन्तु सुवर्ण, रजत, लौह आदि में गुरुत्व अभिभूत नहीं होता। इस कारण अम्ल आदि के गुरुत्व में पूर्वभूत के गुण प्रधान होते हैं। कहा भी है–

भूतद्वयगुणे मुख्ये मुख्यो गुणविशेषकृत्।
स्नेहगौरवयो: पूर्व: पर: स्यादौष्ण्यशैत्ययो:।।

अर्थात्– 'दो भूतगुणों में जो प्रधान होता है, उसी के अनुसार गुणविशेष व्यक्त होता है। पूर्वभूत स्नेह-गौरव (तथा रौक्ष्य-लाघव) और पर-भूत औष्ण्य-शैत्य

का द्योतक है। वस्तुत: भूतों का यह स्वभाव ही है कि दो भूतों के संयोग से आरब्ध रस में भी किसी एक भूत का कोई एक गुण ही व्यक्त हो पाता है, सब नहीं। इस स्वभाव का अदृष्ट के अतिरिक्त और क्या हेतु कहा जा सकता है।

रसों के गौरव-लाघव तथा उसका भूतसन्निवेश से सम्बन्ध की व्याख्या का प्रयत्न टीकाओं में हुआ है, चक्रपाणि ने लिखा है और शिवदास ने भी। ऐसे विचार से छ: गुणों की दृष्टि से रसों का जो कोटिभेद चरक ने दिया है उसे आधार बना कर पुनर्निधारण करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, गुरु में लवण और लघु में अम्ल की स्थिति के आधार पर उनमें क्रमश: पृथिवी और जल भूत का सन्निवेश होना चाहिए। इस प्रसङ्ग में चक्रपाणिदत्त का कथन कि 'यतो न भूतनिवेशेन गौरवलाघवे शक्येतेऽवधारयितुम्' ग्राह्य नहीं है क्योंकि भूतसन्निवेश से यदि गौरव-लाघव का निर्धारण नहीं हो तो और क्या साधन है? वस्तुत: भूतसन्निवेश से ही रसों में गुण होते हैं और उसी आधार पर उनके गौरव-लाघव का विचार होना चाहिए। पृथिवी गुरु है और अप् आदि में क्रमश: आपेक्षिक लघुत्व आता-जाता है। अन्तिम आकाश लघुतम है। इस दृष्टि से जब लवण और अम्ल रसों के गुण (गुरु-लघु) का विचार करते हैं तब उनके भौतिक सङ्घटन में क्रमश: पृथिवी और जल की स्थिति सङ्गत है। इसके अतिरिक्त, गुणों के तारतम्य के अनुसार रसों में भूतसन्निवेश के क्रम का उल्लेख करना चाहिए यथा लवण में पृथिवी + अग्नि न लिखकर अग्नि + पृथिवी लिखना चाहिए क्योंकि लवण उष्ण में प्रवर और गुरु में अवर है। इसी प्रकार तिक्त में आकाश + वायु यह क्रम होना चाहिए। ऐसा करने से भूतों के स्थितिक्रम से ही उनके सापेक्ष गुणों का बोध हो जायगा।'

७. भौतिक निष्पत्ति का निर्धारण

रसों की भौतिक निष्पत्ति का निर्धारण अनुमान के द्वारा होता है।[१] रसों के कार्यों को देखकर उनके कारणभूत महाभूतों की स्थिति का अनुमान किया जाता है। रस का सेवन करने पर शरीर के सजातीय दोषधातु की वृद्धि एवं विजातीय दोषधातु का ह्रास होता है।[२] और इस आधार पर तज्जातीय महाभूतों का अनुमान से ज्ञान होता है यथा मधुर रस से आप्य एवं जलीय कफ की वृद्धि तथा आग्नेय पित्त का ह्रास देखकर मधुर रस के पार्थिवाप्य भौतिक सङ्घटन का अनुमान होता है। इसी प्रकार अम्ल रस कफवर्धक, पित्तवर्धक होने से पार्थिवाग्नेय, लवण रस

१. ते निर्धार्यन्तेऽनुमानात्। (र० वै० ३.४४)

२. वर्धनात् समानजातीयस्य, असमानजातीयस्य क्षपणाच्च। (र० वै० ३.४५)
स च सन्निवेश: कार्यदर्शनेनोन्नेय:। तेन यत्र कार्यं दृश्यते तत्र कल्प्यते यथा– लवणे उष्णत्वादग्निर्विष्यन्दित्वाच्च जलमनुमीयते। (च० सू० २६.४०–चक्र०)

कफ-पित्तवर्धक होने से आप्याग्नेय, कटु रस वातपित्तवर्धक होने से वायव्याग्नेय, तिक्त रस वातवर्धक कफनाशक होने से वायव्याकाशीय तथा कषाय रस वातवर्धक और पित्तशामक होने से वायव्यपार्थिव माना गया है।[१]

कुछ टीकाकारों ने इसे आगम-गम्य बतलाया है क्योंकि यह गूढ़ विषय साधारण मानव की कल्पना के परे हैं।[२] वस्तुत: रसों की भौतिक निष्पत्ति का ज्ञान तो हमें आप्तोपदेश से ही होता है किन्तु इसकी पुष्टि अनुमान के द्वारा हम स्वत: कर सकते हैं। इसको रसवैशेषिक के भाष्यकार ने अनुमेयार्थ आगम कहा है। उन्होंने आप्तोपदेश तीन प्रकार का बतलाया है– प्रत्यक्षार्थ, अनुमेयार्थ और श्रद्धेयार्थ। इनमें प्रथम दो की पुष्टि क्रमश: प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा होती है यथा 'चक्षु रूप का ग्राहक है' इस आप्तोपदेश की पुष्टि हम दोनों प्रकार से कर सकते हैं किन्तु तीसरा विशुद्ध आगम है जो आप्त पुरुष पर श्रद्धा के कारण मान लिया जाता है उसका न तो प्रत्यक्ष हो सकता है और न अनुमान यथा 'स्वर्ग में अप्सरायें होती हैं' आदि। इन तीन प्रकार के आप्तोपदेशों में आयुर्वेद में केवल प्रथम दो प्रत्यक्षार्थ और अनुमेयार्थ का ही प्रयोग होता है क्योंकि यह प्रत्यक्षमूलक शास्त्र है।[३]

संशमन कर्मों के अतिरिक्त संशोधन कर्मों से भी रसों के भौतिक सङ्घटन का अनुमान होता है यथा वमन कर्म से आग्नेयवायव्य सङ्घटन का अनुमान होता है क्योंकि अग्नि स्वभावत: ऊर्ध्व गामी होता है और वायु लघुत्व के कारण उत्प्लवनशील होता है अत: ये दोनों मिलकर शरीरस्थ दोष को ऊर्ध्व मार्ग से निकालते हैं। इसी प्रकार जलीय पार्थिव रस अधोभागहर (रेचन) होते हैं क्योंकि जल स्वभावत: निम्नगामी होता है और पृथिवी भी गुरुत्व के कारण अधोगामी होती है अत: रेचन रसों में जल और पृथिवी महाभूतों का अनुमान होता है। उभयतोभागहर

१. भूतेजोवारिजैर्द्रव्यै: शमं याति समीरण:। भूम्यम्बुवायुजै: पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्।। खतेजोऽनिलजै: श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम्। वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुत:।। आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते। वसुधाजलजाताभ्यां बलास: परिवर्धते:।।
(सु० सू० ४१.७-९)

२. आगमवेदनीयश्चायमर्थो, नात्रास्मद्विधानां कल्पना: प्रसरन्ति। (च० सू० २६.४०-चक्र०)

३. आगमेन पूर्वमुपलब्धानां प्रमाणान्तरेण दृढीकरणार्थमयमारम्भ:। आप्तवचनस्य त्रैविध्यात्- श्रद्धेयार्थम्, अनुमेयार्थं प्रत्यक्षार्थं चेति। श्रद्धेयार्थं- उत्तरा: कुरव:, स्वर्गोऽप्सरस इति। अनुमेयार्थं प्रत्यक्षार्थं च यथा– चक्षुरिन्द्रियं रूपस्य ग्राहकमिति। चक्षुषि सति न भवति। तस्मादस्ति चक्षुरिन्द्रियमित्यनुमीयते। प्रत्यक्षत एव रूपमुपलभ्यत इति। इहाप्ययमागमोऽनुमानार्थ:.... न ह्यायुर्वेदे प्रत्यक्षार्थानुमेयार्थाभ्यामागमाभ्यामन्यच्छ्रद्धेयार्थमस्ति, दृष्टफलत्वादिति।
(र० वै० ३.४४-४५-भा०)

में दोनों के मिश्रण का अनुमान होता है।[१] इसी प्रकार दीपन आदि कर्मों को देखकर भी महाभूतों का अनुमान किया जाता है।[२]

८. रस की उपलब्धि

किसी द्रव्य के रस का परिज्ञान हमें किन-किन साधनों से होता है? भारतीय दर्शन में ज्ञानप्राप्ति के तीन साधन बतलाये हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश। रस का परिज्ञान इन तीनों साधनों से होता है।[३] किन्तु इसमें सर्वाधिक उपयोग प्रत्यक्ष का ही होता है। द्रव्य का रसनेन्द्रिय के साथ सम्पर्क होने पर ही रस का ज्ञान होता है, यह रासन प्रत्यक्ष कहलाता है।[४] किसी द्रव्य के रस-निर्धारण के लिए सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसको रसनेन्द्रिय पर रखें और उससे मधुर, अम्ल आदि जो आस्वाद प्रतीत हो उसी से रस का निर्णय करें। कुछ द्रव्यों के रस का ज्ञान अनुमान एवं आप्तोपदेश से होता है यथा सुवर्ण के कषाय और मधुर रस का ज्ञान आप्तोपदेश से तथा शरीर पर उसके कर्मों को देखकर अनुमान से किया जाता है। अनुरस तथा अव्यक्त रस का ज्ञान विशेषत: आप्तोपदेश से करते हैं और उसकी पुष्टि अनुमान से करते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष से रस का सामान्य ज्ञान, अनुमान से विशिष्ट ज्ञान तथा आप्तोपदेश से प्रायोगिक ज्ञान होता है।[५]

९. रस का रूपान्तर

निम्नाङ्कित कारणों से एक रस दूसरे रस में बदल जाता है–

१. तत्राग्निमारुतात्मका रसा: प्रायेणोर्ध्वभाज:, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्ने:, सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाज:, पृथिव्या गुरुत्वात्निम्नगत्वाच्चोदकस्य; व्यामिश्रात्मका: पुनरुभयतोभाज:। (च० सू० २६.४१)
तत्र, विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्य:, ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्; वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्; उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्।
(सु० सू० ४१.६)

२. आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनम्; साङ्ग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्; दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं, तत्समानत्वात्; लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठं; बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्।
(सु० सू० ४१.६)

३. प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च रसानामुपलब्धि:। (र० वै० ३.१०८)

४. रसो निपाते द्रव्याणाम्। (च० सू० २६.६६)

५. आस्वाद्य प्रत्यक्षत उपलभ्यते, अनुमानात् पूर्वोक्तं लिङ्गं दृष्ट्वा मधुरोऽयमित्युपलभ्यते। उपदेशत आगमात् कषायं मधु, मधुरमुदकम् इत्यादि। अथवा आस्वादतो रसानां सामान्यत उपलब्धिर्भवति, अनुमानाल्लिङ्गपूर्वाकाद् विशेषोपलब्धिर्भवति, उपदेशत: कर्मणि रसानां प्रवृत्तिरुपलभ्यते। अथवा सर्वमास्वादत एव रसो न गृह्यते, आगमतश्च क्वचित्, क्वचिदनुमानाच्चेति।
(र० वै० ३.१०८-भा०)

१. **स्थिति**– कुछ काल तक किसी द्रव्य को रखने से उसका रस विकृत हो जाता है यथा चावल का भात मधुर है किन्तु कुछ समय तक रखने से अम्ल हो जाता है।[१]

२. **पात्र**– पात्रविशेष के कारण भी रस बदल जाता है यथा कांस्यपात्र में दधि रखने से कटु हो जाता है।[२]

३. **संयोग**– किसी द्रव्यविशेष के संयोग से रसान्तर की उत्पत्ति होती है यथा चूने के संयोग से अम्ल चिञ्चाफल (इमली) मधुर हो जाता है।[३]

४. **पाक**– अग्नि के संयोग से अनेक द्रव्यों का रस बदल जाता है यथा इमली पकाने पर मधुर हो जाती है और जम्बूफल पकने पर मधुर हो जाते हैं।

५. **आतप**– कुछ द्रव्य धूप में सुखाने से रसान्तर को प्राप्त होते हैं यथा तुम्बुरुफल कषाय हैं किन्तु धूप में सुखाने पर मधुर हो जाते हैं।[४]

६. **भावना**– किन्हीं द्रव्यों का रस भावना से बदल जाता है यथा तिल कषाय-तिक्त-मधुर हैं किन्तु यष्टीमधु के क्वाथ की भावना देने से मधुर हो जाते हैं।[५]

७. **देश**– देशविशेष में कुछ द्रव्यों का रस दूसरा होता है यथा कुछ देशों में आमलकफल मधुर होते हैं।

८. **काल**– काल के प्रभाव से रस का रूपान्तर हो जाता है यथा कदलीफल कषाय होता है किन्तु काल के प्रभाव से पकने पर मधुर हो जाता है।

९. **परिणाम**– द्रव्य का रूपान्तर होने से रस भी बदल जाता है यथा दुग्ध दधि में परिणत होने पर अम्ल हो जाता है। इसी प्रकार फलों का भी अतिपरिणाम होने से उनमें अम्लता उत्पन्न हो जाती है।[६]

१०. **उपसर्ग**– कृमि आदि से उपसृष्ट होने पर रस विकृत हो जाता है यथा इक्षु में कृमि लग जाने पर तिक्तता या अम्लता उत्पन्न होती है।[७]

११. **विक्रिया**– कुछ विशिष्ट क्रियाओं से भी रस बदल जाता है यथा तालफल को आग में पका कर भूमि पर पटकने से तिक्त हो जाता है। इसी प्रकार कटहल का फल हाथ से कुछ देर तक मलने से अम्ल हो जाता है।[८]

१. अन्यथात्वगमनं स्थानात्। (र० वै० ३.२९)
२. स्थानम् अधिकरणं भाजनं, तद्धेतोरपि रसान्तरत्वं भवति। (र० वै० ३.२९-भा०)
३. सयोगतोऽग्नेः पाकात्। (र० वै० ३.३०)
४. आतपात्। (र० वै० ३.३१)
५. भावनया देशकालाभ्याम् (र० वै० ३.३२)
६. परिणामतः (र० वै० ३.३३)
७. उपसर्गतः (र० वै० ३.३४)
८. विक्रियातः (र० वै० ३.३५)

१०. रसों का वर्गीकरण

जगत् के अग्निषोमीय होने के कारण रसों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है– आग्नेय और सौम्य। कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस आग्नेय तथा मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस सौम्य वर्ग में रक्खे गये हैं। आग्नेय रस उष्ण होते हैं तथा मूर्च्छा और विदाह को उत्पन्न करते हैं अतः इन्हें विदाही भी कहते हैं। इसके विपरीत, सौम्य रस शीत होते हैं और मूर्च्छा एवं विदाह के शामक होते हैं अतः अविदाही कहलाते हैं।[१]

रसों का वर्गीकरण

वर्ग	रस	गुण	कर्म
१. सौम्य	मधुर, तिक्त, कषाय	शीत	पित्तशमन, मूर्च्छाशमन, अविदाही
२. आग्नेय	कटु, अम्ल, लवण	उष्ण	पित्तवर्धक, मूर्च्छाजनक, विदाही

इसी प्रकार वायु के आधार पर वायव्य और अवायव्य (पार्थिवाप्य) में दो वर्ग हो सकते हैं। पहले वर्ग में कटु, तिक्त और कषाय तथा दूसरे में मधुर, अम्ल और लक्षण हैं। ये क्रमशः वातवर्धक और वातशामक हैं।

११. रसों का लक्षण

द्रव्यों का रसनेन्द्रिय के साथ संयोग होने पर आस्वाद के रूप में मधुर आदि विशिष्ट रसों की जो अनुभूति होती है वह स्वसंवेद्य है, उसका शब्दों में कथन सम्भव नहीं। मिष्ठान्न खाने पर 'यह बहुत मीठा है' इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उस माधुर्य का विश्लेषण सम्भव नहीं। अतः साहित्यिकों के 'रस' के समान यह रस भी आस्वाद के रूप में स्वसंवेद्य मात्र ही है; किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में यह दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है वहाँ तो असीम को स्थूल रेखाओं में बाँधना ही होगा जिससे वह प्रत्यक्षगम्य हो सके। अतः मधुर आदि रसों का प्रयोग करने पर मुख में स्थानीय जो भौतिक या प्रत्यावर्तित क्रियायें होती हैं उन सबका समष्टिरूप से सङ्कलन कर रसों के लक्षण निर्धारित किये गये हैं।

१. **मधुर**– यह स्नेहन, तर्पण, आह्लादक, मार्दवकर, मुखलेपकर, कफजनन तथा षट्पद-पिपीलिका आदि का अभीष्टतम होता है अतः जहाँ मधुर रस होता है

१. अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः- सौम्या आग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः; कट्वम्ललवणा आग्नेयाः।...सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः। (सु० सू० ४२.७)
कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः। स्वादुतिक्तकषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः।।
विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः। विदाहरहिता मूर्च्छां शमयन्तीति निश्चितम्।।
(र० वै० ३.१४-१५-भा०)

वहाँ चीटियाँ लगती हैं यथा प्रमेह में मूत्र के माधुर्य के कारण उसमें चीटियाँ लगती हैं और शरीर की मधुरता के कारण मक्खियाँ बहुत लगती हैं।[१]

२. **अम्ल**– अम्लरस दन्तहर्षकर, प्रस्रावण, स्वेदन, मुखशोधन, रोचन, नेत्रभ्रूनिकोचन, मुखकण्ठदाहकर, रोमाञ्चकर तथा हृद्य होता है।[२]

३. **लवण**– यह आशुविलयन, क्लेदन, मार्दवकर, रोचन तथा मुख, गल, कण्ठ तथा कपोल में विदाहजनक होता है।[३]

४. **कटु**– यह निपातमात्र से रसना का उद्वेजक और तोदक, विदाह के साथ मुख, नासा और नेत्र से स्राव करने वाला तथा शिर:शूलजनक होता है।[४]

५. **तिक्त**– निपातमात्र में ही यह जिह्वा के अन्य आस्वादों को नष्ट करता है, स्वयं अप्रिय होने पर भी रुचि को बढ़ाता है तथा मुखवैशद्यकर, कण्ठशोधन, मुखशोषकर, शैत्यकर तथा प्रह्लादकर है।[५]

---

१. स्नेहनप्रीणनाह्लादमार्दवैरुपलभ्यते। मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च।। (च० सू० २६.७४)
तत्र, यः परितोषमुत्पादयति प्रह्लादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्धयति स मधुरः। (सु० सू० ४२.९)
तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पति, इन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रह्लादयति, षट्पदपिपीलिकादीनामभीष्टतमः। (अ० सं० सू० १८.४)
षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्। (च० नि० ४.४७)
मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्। (च० वि० ४.७)

२. दन्तहर्षान्मुखास्रावात् स्वेदानान्मुखबोधनात्। विदाहाच्चास्य कण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत्।। (च० सू० २६.७५)
यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्रावं जनयति श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्लः। (सु० सू० ४२.९)
अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयति, उरःकण्ठं विदहति, मुखं स्रावयति, अक्षिभ्रुवं सङ्कोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च। (अ० सं० सू० १८.४)

३. प्रलीयन् क्लेदविष्यन्दमार्दवं कुरुते मुखे। यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च।। (च० सू० २६.७६)
यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति मार्दवं चापादयति स लवणः। (सु० सू० ४२.९)
लवणो मुखं विष्यन्दयति, कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति। (अ० सं० सू० १८.४)

४. संवेजयेद्यो रसनं निपाते तुदतीव च। विदहन्मुखनासाक्षि संस्रावी स कटुः स्मृतः।। (च० सू० २६.७७)
यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति स कटुकः। (सु० सू० ४२.९)
कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं चिमचिमायति कण्ठकपोलं स्रावयति मुखाक्षिनासिकं विदहति देहम्। (अ० सं० सू० १८.४)

५. प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च।
स तिक्तो मुखवैशद्यशोषप्रह्लादकारकः।। (च० सू० २६.७८)

क्रमशः ....

६. **कषाय**– यह जिह्वा में वैशद्य, स्तम्भ और जाड्य तथा कण्ठ में स्तम्भ उत्पन्न करता है। यह मुखशोधक, हच्छूलकर, कफनाशक तथा गौरवकर है।[१]

लालास्राव पर छः रसों के प्रभाव को देखते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

१. **स्रावबर्धक**– कटु, अम्ल
२. **स्रावशोषक**– तिक्त, कषाय
३. **सान्द्रतापरिवर्तक**– मधुर, लवण

इस आधार पर जान्तव परीक्षण के द्वारा रसों का निर्धारण किया जा सकता है।

१२. रसों के गुण

रस एक गुण है और गुण में गुण नहीं रह सकता, अतः रसों के गुण वास्तव में रसाश्रय द्रव्य के ही गुण हैं किन्तु साहचर्य से वे रसों में आरोपित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, रस और गुण में परस्पर आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इन दोनों का आश्रय द्रव्य होने के कारण इनमें साहचर्य सम्बन्ध है तथा साहचर्य सम्बन्ध के आधार पर औपचारिक रूप से उसमें गुणों का आरोप किया जाता है यथा घृतस्थ अग्नि के द्वारा दग्ध होने पर भी घृतदग्ध कहा जाता है।[२]

यो गले चोषमुत्पादयति मुखवैशद्यं जनयति भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च स तिक्तः। (सु० सू० ४२.९)
तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनाम्। (अ० सं० सू० १८.४)
तिक्तस्य हर्षणं च हरिमता शैत्यमास्यस्य गलद्वारशोषणं च। (र० वै० ३.१८)
तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नः। (च० सू० २६.४३(५)

१. वैशद्यस्तम्भजाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः। बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि। (च० सू० २६.७९)
यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कर्षति पीडयति च स कषाय इति। (सु० सू० ४२.९)
कषायस्य मुखपरिशोषः श्लेष्मसंवृत्तिः, गौरवं स्तम्भश्च। (र० वै० ३.१८)

२. गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः।। (च० सू० २६.३६)
गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः।। (अ० हृ० सू० ९.४-)
गुर्वादयो गुणा द्रव्य एव, न रसेषु। यस्तु मधुरो गुरुः, अम्लो लघुरित्यादिव्यपदेशः, स साहचर्योपचारतः। एकस्मिन्नाश्रये द्वयोरवस्थानं साहचर्यम्। ...द्रव्यं हि गुर्वादीनामिव रसानामप्याश्रयः। अत एकाश्रयत्वात् साहचर्यम्, तेन उपचारः-अविद्यमानस्याप्याश्रयाश्रयीभावस्यारोपः। (अ० हृ० सू० ९.४-हे०)

१. **मधुर**– मधुर रस जल और पृथिवी महाभूतों से निष्पन्न है अत: इसमें जलतत्त्व के कारण स्निग्ध और शीत तथा पृथिवीतत्त्व के कारण गुरु गुण होते हैं। इनके अतिरिक्त जल के कारण यह मृदु भी होता है।[१]

२. **अम्ल**– यह जल और अग्नि महाभूतों से बना है अत: इसमें जलतत्त्व के कारण स्निग्ध तथा अग्नितत्त्व के कारण उष्ण और लघु गुण होते हैं।[२]

३. **लवण**– लवण रस पृथिवी और अग्नि महाभूतों से बना है अत: इसमें पृथिवीतत्त्व के कारण गुरु तथा किञ्चित् स्निग्ध और अग्नितत्त्व के कारण उष्ण गुण होते हैं। यह अग्नि के कारण तीक्ष्ण भी होता है।[३]

४. **कटु**– कटु रस वायु और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न है अत: इसमें वायु के कारण रूक्ष और लघु तथा अग्नि के कारण उष्ण गुण होते हैं। अग्नि की विशेषता के कारण यह तीक्ष्ण भी होता है।[४]

५. **तिक्त**– यह वायु और आकाश महाभूतों से निष्पन्न है अत: वायु के कारण इसमें रूक्ष और शीत तथा आकाश के कारण लघु गुण होते हैं।[५]

६. **कषाय**– कषाय रस वायु और पृथिवी से निष्पन्न है अत: वायु के कारण इसमें रूक्ष और शीत तथा पृथिवी के कारण गुरु गुण होते हैं।[६]

रस	गुण
१. मधुर	स्निग्ध, शीत, गुरु
२. अम्ल	स्निग्ध, उष्ण, लघु
३. लवण	स्निग्ध, उष्ण, गुरु
४. कटु	रूक्ष, उष्ण, लघु
५. तिक्त	रूक्ष, शीत, लघु
६. कषाय	रूक्ष, शीत, गुरु

१. तत्र, मधुरो रस:...स्निग्ध: शीतो गुरुश्च। (च० सू० २६.४३(१)
तत्र मधुरो रस:...स्निग्ध: शीतो मृदुर्गुरुश्च। (अ० सं० सू० १८.५)
२. अम्लो रस:...लघुरुष्ण: स्निग्धश्च। (च० सू० २६.४३(२)
३. लवणो रस:.....नात्यर्थं गुरु: स्निग्ध उष्णश्च। (च० सू० २६.४३(३)
लवण:....नातिगुरु: तीक्ष्णोष्णश्च। (अ० सं० सू० १८.१०)
४. कटुको रस:....लघुरुष्णो रूक्षश्च। (च० सू० २६.४३(४)
कटुको....लघुरूक्षतीष्णोष्णश्च। (अ० सं० सू० १८.१४)
५. तिक्तो रस:....रूक्ष: शीतो लघुश्च। (च० सू० २६.४३(५)
६. कषायो रस:....रूक्ष: शीतोऽलघुश्च। (च० सू० २६.४३(६)

इस प्रकार व्यवस्थित करने पर गुणों की दृष्टि से रसों के स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु, लघु ये ६ वर्ग हो जाते हैं तथा प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन रसों का समावेश होता है यथा–

१. **स्निग्ध**– मधुर, अम्ल, लवण। २. **रूक्ष**– कषाय, कटु, तिक्त।
३. **शीत**– कषाय, मधुर, तिक्त। ४. **उष्ण**– लवण, अम्ल, कटु।
५. **गुरु**– मधुर, कषाय, लवण। ६. **लघु**– तिक्त, कटु, अम्ल।

एक वर्ग के तीन रसों में भी गुण के तारतम्य की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और अवर ये तीन कोटियाँ स्थापित की गई हैं[१] यथा–

गुण	उत्तम	मध्यम	अवर
१. रूक्ष	कषाय	कटु	तिक्त
२. स्निग्ध	मधुर	अम्ल	लवण
३. उष्ण	लवण	अम्ल	कटु
४. शीत	मधुर	कषाय	तिक्त
५. गुरु	मधुर	कषाय	लवण
६. लघु	तिक्त	कटु	अम्ल

उपर्युक्त तारतम्य विभाग चरक के मत से किया गया है। वाग्भट में भी वही है।[२] कुछ आचार्य लवण रस को लघु में अवर मानते हैं।

कुछ द्रव्य इस सामान्य नियम के अपवाद हैं यथा–

१. औदक और आनूप मांस मधुर होने पर भी उष्ण होते हैं।
२. आमलक अम्ल होने पर भी शीत होता है।
३. सैन्धव लवण होने पर भी उष्ण नहीं होता।
४. पिप्पली और रसोन कटु होने पर भी स्निग्ध और गुरु होते हैं।
५. अर्क, अगुरु और गुडूची तिक्त होने पर भी उष्ण हैं।

१. रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यम: कटु:। तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवण: पर:।।
मध्योऽम्ल कटुकश्चान्त्य: स्निग्धानां मधुर: पर:। मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रस: स्नेहान्निरुच्यते।।
मध्योत्कृष्टावरा: शैत्यात् कषायस्वादुतिक्तका:। स्वादुर्गुरुत्वादधिक: कषायाल्लवणोऽवर:।।
अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमोत्तमा:। केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम्।।
गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि। (च० सू० २६.५३-५६-)
२. तिक्त: कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतला:। (अ० हृ० सू० १०.३७)

६. हरीतकी कषाय होने पर भी उष्ण है। बृहत् पञ्चमूल कषाय, तिक्त होने पर भी उष्ण है।[१]

१३. रसों के कर्म

(क) **संस्थानिक कर्म**– शरीर के विभिन्न संस्थानों पर रसों के निम्नाङ्कित कर्म होते हैं–

१. मधुर

नाड़ीसंस्थान– आह्लाकर, षडिन्द्रियप्रसादन, मेध्य, तर्पण।
पाचनसंस्थान– अनुलोमन, तृष्णानिग्रहण।
रक्तवहसंस्थान– सन्धानीय, हृद्य।
श्वसनसंस्थान– कण्ठ्य।
मूत्रवहसंस्थान– मूत्रल।
प्रजननसंस्थान– वृष्य, गर्भस्थापन, स्तन्यजनन।
त्वचा– दाहप्रशमन, त्वच्य, केश्य, वर्ण्य।[२]

२. अम्ल[३]

नाड़ीसंस्थान– मन:प्रसादन, इन्द्रियस्थैर्यकर।
पाचनसंस्थान– लालास्रावकर, रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन।
रक्तवहसंस्थान– हृद्य, रक्तपित्तकर।
मूत्रवहसंस्थान– मूत्रल।
प्रजननसंस्थान– शुक्रघ्न।

१. मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च। यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपमामिषम्।। लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा। अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते।।... कषाय: स्तम्भन: शीत: सोऽभयायामतोऽन्यथा।...तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत्। दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम्।। (च० सू० २६.४८-४९,५१)
पिप्पली च लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवै:। (अ० सं० सू० १७.२९)

२. तत्र, मधुरो रस: शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौज:शुक्राभिवर्धन आयुष्य: षडिन्द्रिय-प्रसादनो बलवर्णकर: पित्तविषमारुतघ्नस्तृष्णादाहप्रशमनस्त्वच्य: केश्य: कण्ठ्यो बल्य: प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहण: स्थैर्यकर: क्षीणक्षतसन्धानकरो घ्राणमुखकण्ठौष्ठजिह्वाप्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमन:। (च० सू० २६.४३(१)
शुक्रस्तन्य[illegible]र्धन:। (सु० सू० ४२.१०(१)

३. अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति, जरयति, प्रीणयति। (च० सू० २६.४३(२)

३. लवण[१]

पाचनसंस्थान– क्लेदन, दीपन, पाचन, भेदन, रोचन, लालास्रावजनक।
रक्तवहसंस्थान– रक्तकोपक।
श्वसनसंस्थान– छेदन, कफनि:सारक।
मूत्रवहसंस्थान– मूत्रल।
प्रजननसंस्थान– शुक्रघ्न।

४. कटु[२]

नाड़ीसंस्थान– इन्द्रियोत्तेजक, संज्ञास्थापन।
पाचनसंस्थान– मुखशोधन, दीपन, पाचन, क्रिमिघ्न, रोचन, ग्राही।
रक्तवहसंस्थान– हृदयोत्तेजक, रक्तस्रावकर।
श्वसनसंस्थान– कफघ्न।
मूत्रवहसंस्थान– मूत्रसङ्ग्रहणीय।
प्रजननसंस्थान– अवृष्य।
त्वचा– कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न।

५. तिक्त[३]

पाचनसंस्थान– रोचन, कृमिघ्न, तृष्णानिग्रहण, दीपन, पाचन, पुरीषशोषण।
रक्तवहसंस्थान– रक्तप्रसादन, अहृद्य।
श्वसनसंस्थान– कफघ्न।
मूत्रवहसंस्थान– मूत्रसङ्ग्रहणीय।
प्रजननसंस्थान– अवृष्य, स्तन्यशोधन।
त्वचा– स्वेदघ्न, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन, स्थिरीकरण।
तापक्रम– ज्वरघ्न।

१. लवणो रस: पाचन: क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्ण: सरो विकास्यध:स्रंस्यवकाशकरी वातहर: स्तम्भबन्धसंघातविधमन: सर्वरसप्रत्यनीकभूत:, आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदुकरोति, रोचयत्याहारम् आहारयोगी। (च० सू० २६.४३(३)

२. कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति। चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसकश्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदक्लेदमलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसङ्घातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति। (च० सू० २६.४३(४)

३. तिक्तो रस: स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो विषघ्नो, कृमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमन-स्त्वङ्मांसयो: स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपन: पाचन: स्तन्यशोधनो लेखन: क्लेदमेदोवसामज्जल-सीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोष: (च० सू० २६.४३(५)

६. कषाय[१]

पाचनसंस्थान– स्तम्भन।
रक्तवहसंस्थान– सन्धानीय, अहृद्य।
श्वसनसंस्थान– कफघ्न।
मूत्रवहसंस्थान– मूत्रसङ्ग्रहणीय।
प्रजननसंस्थान– अवृष्य।
त्वचा– पीडन, रोपण, सवर्णीकरण।

(ख) **धातु-कर्म**– मधुर आदि रसों का शरीर के विभिन्न धातुओं पर निम्नाङ्कित प्रभाव होता है–

१. **मधुर**– यह शरीर के सभी धातुओं को बढ़ाता है तथा धातुओं के सारभूत ओज की वृद्धि करने के कारण यह बल्य, जीवन तथा आयुष्य भी है। स्तन्य को भी बढ़ाता है।

२. **अम्ल**– नागार्जुन ने अम्लरस को बृंहणीय, बल्य, वृष्य और जीवनीय लिखा है।[२] किन्तु चरकमत से यह बृंहण और बल्य तो है किन्तु शुक्रनाशक है।

३. **लवण**– यह धातुनाशन, बलनाशन और शैथिल्यकर है।

४. **कटु**– यह भी धातुनाशन, लेखन तथा अवृष्य है।

५. **तिक्त**– यह लेखन, अवृष्य तथा विशेषकर मेद, वसा, मज्जा एवं लसीका का शोषण करने वाला है।

६. **कषाय**– यह सर्वधातुशोषण तथा लेखन है।

रस	धातु-कर्म
१. मधुर	सर्वधातुवर्धन, बल्य, जीवन, आयुष्य, स्तन्यवर्धन।
२. अम्ल	बृंहण, बल्य, शुक्रहा।
३. लवण	धातुनाशन, दौर्बल्यकर, अवृष्य, शैथिल्यकर।
४. कटु	धातुनाशन, लेखन, अवृष्य।
५. तिक्त	धातुनाशन, अवृष्य, मेद-वसा-मज्जा-लसीका-शोषण।
६. कषाय	सर्वधातुशोषण, लेखन।

१. कषायो रसः संशमनः सङ्ग्राही सन्धानकरः पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता। (च० सू० २६.४३(६)

२. तत्र बृंहणीयास्तर्पणीयाः बल्या वृष्याः स्वादवो गुरुविपाका मेदुराः स्थिराः पयस्या हृद्याः स्निग्धा जीवनीयाः सृष्टमूत्रपुरीषाः पूजिताश्चाभ्यवहरणाय पूर्वे भूयिष्ठाम्। (र० वै० ३.३४) इतरे विपरीताः। (र० वै० ३.३५)

(ग) **मल-कर्म**– शारीर मलों पर कर्म की दृष्टि से रसों के दो वर्ग हैं– स्निग्ध और रूक्ष। प्रथम वर्ग में मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस हैं तथा द्वितीय वर्ग में कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस हैं। स्निग्ध रस (मधुर, अम्ल और लवण) स्निग्धता के कारण वात का अनुलोमन करते हैं तथा मूत्र एवं पुरीष के उत्सर्ग में सहायक (सृष्टविण्मूत्रमारुत) होते हैं। इसके विपरीत, रूक्ष रस (कटु, तिक्त और कषाय) रूक्षता के कारण वात को प्रतिलोम कर देते हैं अतः मूत्र एवं पुरीष का विबन्ध उत्पन्न करते हैं।[१] स्निग्धवर्ग में मधुर उत्तम तथा लवण अवर एवं रूक्षवर्ग में कषाय उत्तम एवं तिक्त अवर है, यह पहले बतलाया जा चुका है।[२]

रस	मल-कर्म
१. मधुराम्ललवण	सृष्टविण्मूत्रमारुत
२. कटुतिक्तकषाय	बद्धविण्मूत्रमारुत

(घ) **दोषकर्म**– रसों का शारीर दोषों पर कर्म सामान्य-विशेष के नियम से ही होता है अर्थात् महास्रोत में रसदोष-सन्निपात होने पर रस अपने समानगुण दोषों को बढ़ाते हैं तथा विपरीतगुण दोषों को शान्त करते हैं।[३]

१. **मधुर**– मधुर रस जल और पृथिवी महाभूतों से निष्पन्न है तथा कफदोष भी पृथिवी और जल से निष्पन्न है अतः कारण की दृष्टि से दोनों समान हैं। गुण भी माधुर्य, स्नेह, गौरव, शैत्य, मार्दव और पैच्छिल्य दोनों में समान हैं। अतः मधुर रस कफवर्धक है।[४] इन्हीं गुणों के कारण (शैत्य को छोड़कर) यह वात (रूक्ष, लघु, विशद, खर आदि) के विपरीत है, अतः विपरीत गुणभूयिष्ठ होने

१. तत्र....सृष्टमूत्रपुरीषाः पूजिताश्चाभ्यवहरणाय पूर्वे भूयिष्ठम्। इतरे विपरीताः।
(र० वै० ३.३४-३५)

२. तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा। षट्वम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः।।
(अ० हृ० सू० १०.३८)

३. रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। (च० वि० १.७)
त एते रसाः स्वयोनिवर्धना, अन्ययोनिप्रशमनाश्च। (सु० सू० ४२.६)
स्वयोनेरागमाद् विवृद्धिर्दोषधातुमलानाम्। क्षयः प्रतिपक्षस्यागमात्। (र० वै० ३.६३-६४)

४. माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः, सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति। (सु० सू० ४२.८(३)
माधुर्यस्नेहगौरवपैच्छिल्यमार्दवशैत्यैः श्लेष्माणं वर्धयति मधुरः। (र० वै० ३.६२)

से यह वात का शामक है। पित्त (कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष (ईषत् स्निग्ध), लघु) के विपरीतगुणभूयिष्ठ होने के कारण यह पित्त का भी शमन करता है।

२. **अम्ल**– अम्ल रस पृथिवी और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न है तथा स्निग्ध, गुरु, तीक्ष्ण एवं उष्ण गुणों से सम्पन्न है। अत: स्निग्ध तथा गुरु गुणों के कारण समानगुण कफ को प्रकुपित करता है। वात दोष रूक्ष, लघु एवं शीत होने के कारण विपरीतगुण है अत: यह वात का शमन करता है। उष्ण एवं तीक्ष्ण गुणों के कारण यह पित्त को प्रकुपित करता है।[१]

३. **लवण**– लवण रस जल और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न है तथा स्निग्ध, उष्ण एवं गुरु गुणों से युक्त है। अत: अम्लरस के समान पूर्वोक्त रीति से यह भी कफप्रकोपक, पित्तप्रकोपक तथा वातशामक है।[२]

४. **कटु**– कटु रस वायु और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न तथा रूक्ष, उष्ण एवं लघु गुणों से युक्त है। इनके अतिरिक्त, तीक्ष्ण और विशद गुण भी इसमें हैं। इन गुणों के कारण यह पित्तदोष के समानगुण है अत: पित्त का वर्धक है।[३] ये सभी गुण कफ के विपरीतगुण हैं अत: यह कफ का शमन करता है।[४] रूक्ष, लघु एवं कटु गुणों के कारण वायु के समानगुणभूयिष्ठ होने के कारण यह वातवर्धक है।[५]

५. **तिक्त**– तिक्त रस वायु और आकाश महाभूतों से निष्पन्न है तथा रूक्ष, शीत और लघु गुणों से युक्त है। इनके अतिरिक्त, मृदु और विशद गुण भी इसमें हैं। इन गुणों से वायु के समानगुण होने के कारण यह उसको बढ़ाता है।[६] पित्त के विपरीतगुणभूयिष्ठ होने से पित्त का शामक है। इसी प्रकार कफ के विपरीतगुणभूयिष्ठ होने के कारण यह कफशामक भी है।

६. **कषाय**– कषाय रस वायु और पृथिवी महाभूतों से निष्पन्न है और रूक्ष, शीत तथा लघु गुणों से युक्त है। इनके अतिरिक्त, विशद और विष्टम्भी गुण भी

१. पित्तस्य भृशविदाहित्वादुष्णत्वात्तीक्ष्णत्वाच्च विदाहयति कोपयति चाम्ल:। (र० वै० ३.६८)
कोपयति क्लेदयति चैनमम्ल:, औष्ण्यात् तैक्ष्ण्याद् गौरवात् स्नेहाच्च। (र० वै० ३.६५)

२. विष्यन्दयति चैनं लवण:। (र० वै० ३.६६)

३. औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनि: कटुको रस:, सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यमिति।
(सु० सू० ४२.८(२)

४. तस्य पुनरन्ययोनि: कटुको रस:; स श्लेष्मण: प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद् गौरवं, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। (सु० सू० ४२.८)

५. रौक्ष्यलाघवकाटुक्यैरेव वायुं कोपयति कटुक:। (र० वै० ३.७२)

६. शैत्यरौक्ष्यवैशद्यलाघवमार्दवैरेनं कोपयति तिक्त:। (र० वै० ३.७१)

इसमें हैं। इन गुणों से वायु के समानगुणभूयिष्ठ होने के कारण यह वातवर्धक है। पित्त के विपरीत गुणभूयिष्ठ होने से यह पित्तशामक है। इसी प्रकार कफ के विपरीतगुणभूयिष्ठ होने के कारण यह कफ का शमन करता है।[१]

रस	वात	पित्त	कफ
१. मधुर	शमन	शमन	कोपन
२. अम्ल	शमन	कोपन	शमन
३. लवण	शमन	कोपन	शमन
४. कटु	कोपन	कोपन	शमन
५. तिक्त	कोपन	शमन	शमन
६. कषाय	कोपन	शमन	शमन

इस प्रकार दोषों के प्रकोप और प्रशम की दृष्टि से तीन-तीन रसों के वर्ग निर्धारित हो गये हैं यथा–

शामक रस[२]

१. **वातशामक**– मधुर, अम्ल, लवण।
२. **पित्तशामक**– कषाय, तिक्त, मधुर।
३. **कफशामक**– कटु, तिक्त, कषाय।

कोपक रस[३]

१. **वातकोपक**– कटु, तिक्त, कषाय।

१. तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायु:, तस्य समानयोनि: कषायो रस:; सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति।
(सु० सू० ४२.८(१)

२. स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तका:। जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तका:।।
(च० सू० १.६६)
तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादय: कफम्। कषायतिक्तमधुरा: पित्तमन्ये तु कुर्वते।।
(अ० स० सू० १.३४)

३. कट्वम्ललवणा: पित्तं, स्वाद्वम्ललवणा: कफम्। कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्।।
(च० सू० १.६६–(१)
तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा– कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति; कट्वम्ललवणा: पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति; मधुराम्ललवणा: श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति।
(च० वि० १.६)

२. **पित्तकोपक**– कटु, अम्ल, लवण।

३. **कफकोपक**– मधुर, अम्ल, लवण।

ऊपर की पंक्तियों में रसों के दोषजननत्व तथा दोषशमनत्व का जो वर्णन किया गया है वह सामान्यत: समझना चाहिए क्योंकि इसके कुछ अपवाद भी हैं जो नीचे दिये जाते हैं।[१]

१. **मधुर**– कफवर्धक है किन्तु मधु, मिश्री, जाङ्गल मांस तथा पुराना चावल, यव, गेहूँ और मूंग कफ नहीं बढ़ाता।

२. **अम्ल**– पित्तवर्धक है किन्तु अनार और आमलक को छोड़कर।

३. **लवण**– पित्तवर्धक तथा नेत्र के लिए हानिकर है किन्तु सैन्धव को छोड़कर।

४. **कटु**– वातवर्धक तथा शुक्रनाशक है किन्तु शुण्ठी, पिप्पली और रसोन इसके अपवाद हैं।

५. **तिक्त**– वातवर्धक और शुक्रनाशक है किन्तु वेत्राग्र, गुडूची और पटोलपत्र को छोड़कर।

६. **कषाय**– शीत और स्तम्भन है किन्तु हरीतकी इसके विपरीत है।

१४. औषध में रसों का प्रयोग-क्रम

कफ आदि दोषों से उत्पन्न विकारों में रसों का चिकित्सार्थ प्रयोग एक सुनिर्धारित क्रम से किया जाता है। कफ से उत्पन्न व्याधि में कटु, तिक्त और कषाय-इस क्रम से रसों का उपयोग करना चाहिए। सर्वप्रथम कटु का प्रयोग करने से कफ की पिच्छिलता और गुरुता नष्ट होती है। उसके बाद तिक्त रस का प्रयोग करने से मुख का माधुर्य नष्ट होता है तथा कफ का शोषण होता है। बाद में कषाय रस देने से कफ का स्नेहांश नष्ट होता है तथा कफ का निकलना बन्द हो जाता है।

पैत्तिक रोग में तिक्त, मधुर और कषाय– इस क्रम में रसों का प्रयोग करना चाहिए। सर्वप्रथम प्रयुक्त तिक्त रस आमपित्त का परिपाक करता है। इसके बाद मधुर रस देने से शैत्य, गुरुत्व, स्निग्धता और माधुर्य से पक्व पित्त का शमन होता है। अन्त में कषाय रस का प्रयोग करने से रूक्षता और शोषण-धर्म के कारण वह पित्त के द्रवत्व को नष्ट करता है। इसी प्रकार वातरोगों में लवण, अम्ल और मधुर रसों

१. तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलं, अन्यत्र पुराणशालियवगोधूममुद्गमधुशर्कराजाङ्गलमांसात्। प्रायोऽम्लं पित्तलं, अन्यत्र दाडिमामलकात्। प्रायो लवणं अचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात्। प्रायस्तिक्तकटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्रामृतापटोलीनागरपिप्पलीलशुनात्। प्राय: कषायं शीतं स्तम्भनं च, अन्यत्र हरीतक्या:। (अ० सं० सू० १८.२५)

रसों के गुण-कर्म

सं.	रस	गुण	कर्म	दोषप्रभाव	अतिसेवनजन्य विकार
१.	मधुर	स्निग्ध, शीत, गुरु	बृंहण, जीवन, आयुष्य, बल्य, सृष्टविण्मूत्र	कफकर, वातपित्तहर	स्थौल्य, अरुचि, कास, श्वास, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, प्रमेह, कृमि आदि कफज रोग
२.	अम्ल	स्निग्ध, उष्ण, गुरु	रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, अवृष्य	कफपित्तकर, वातहर	रक्तविकार, शोथ, पाक, दाह, कण्डू, पाण्डु, दृष्टिमांद्य, रक्तपित्त, भ्रम आदि
३.	लवण	स्निग्ध, उष्ण, गुरु	क्लेदन, दीपन, पाचन, छेदन, भेदन, शुक्रघ्न	कफपित्तकर, वातहर	नपुंसकता, पलित, खालित्य, रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका आदि
४.	कटु	रूक्ष, उष्ण, लघु	मुखशोधन, दीपन, पाचन, लेखन कृमिघ्न, ग्राही	वातपित्तकर, कफहर	नपुंसकता, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, दौर्बल्य, तृष्णा आदि
५.	तिक्त	रूक्ष, शीत, लघु	दीपन, पाचन, रोचन, कृमिघ्न, ज्वरघ्न, विषघ्न	वातकर, कफपित्तहर	धातुशोष, दौर्बल्य, भ्रम, मुखशोष, वातव्याधि
६.	कषाय	रूक्ष, शीत, लघु	स्तम्भन, शोषण, रोपण, सन्धानीय, अवृष्य	वातकर, कफपित्तहर	मुखशोष, हृदयशूल, आध्मान, स्रोतोरोध, नपुंसकता, वातव्याधि

का क्रमशः उपयोग होना चाहिए। आदि में लवण का प्रयोग करने से वह प्रक्लेदी-धर्म से वायु के विबन्ध को, उष्णता से उसके शैत्य को तथा गुरुता से उसके लघुत्व को दूर करता है। उसके बाद अम्ल रस का प्रयोग करने से वह अपने तीक्ष्ण गुण से स्रोतों को खोल कर स्निग्ध और उष्ण गुणों से विमार्गगामी वायु को अनुलोम करता है। अन्त में मधुर रस का प्रयोग करने से वह अपने गुरु, पिच्छिल एवं स्निग्ध गुणों से क्रमशः वायु के लघु, विशद और रूक्ष गुणों को शान्त करता है।[१]

दोष	आदि	मध्य	अन्त
वात	लवण	अम्ल	मधुर
पित्त	तिक्त	मधुर	कषाय
कफ	कटु	तिक्त	कषाय

१५. आहार में रसोपयोग-क्रम

आहार में सामान्यतः सर्वप्रथम मधुर, मध्य में अम्ल-लवण और उसके बाद कटु-तिक्त-कषाय रसों का सेवन करना चाहिए।[२] इसका वैज्ञानिक आधार यह है कि भोजन के पूर्व जब कोष्ठ रिक्त रहता है तब वात की बहुलता रहती है। भोजन

१. कटुतिक्तकषायाँस्तु रसान् प्राज्ञो यथाक्रमम्। योगतः कफजे व्याधौ भैषज्यमवचारयेत्।।
प्रयुक्तः कटुकः पूर्वं पैच्छिल्यं गौरवं च यत्। श्लेष्मणस्तं निहन्त्याशु तिक्तस्तस्मादनन्तरम्।।
ह्रासयत्यास्यमाधुर्यं कफं संशोषयत्यपि। संगृह्णाति कषायश्च स्नेहं चाप्यवकर्षति।।
तिक्तस्वादुकषायाः स्युः क्रमशः पैत्तिके हिताः। आमान्वयत्वात् पित्तस्य पूर्वं तिक्तोऽवचारितः।।
पाचयत्याशु तं पक्वं ततस्तु मधुरो रसः। शैत्याद् गुरुत्वात् स्नेहाच्च माधुर्याच्च नियच्छति।।
तद्द्रवत्वविघातार्थं कषायश्चावचारितः। रौक्ष्याद्विशोषिभावाच्च विशोषयति तैजसम्।।
वातिके क्रमशो योज्याः पट्वम्लमधुरा रसाः। वातिके लवणः पूर्वं संयोगादवचारितः।।
प्रक्लेदिभावाज्जयति विबन्धं मातरिश्वनः। निहन्ति शैत्यमुष्णत्वाद् गुरुत्वाच्चापि लाघवम्।।
तथैवाम्लो रसः पश्चात्तस्मिन्नेवावचारितः। जडीकृतानि स्रोतांसि तैक्ष्ण्यादुद्घाट्य मारुतम्।।
अनुलोमयति क्षिप्रं स्निग्धोष्णत्वाद् विमार्गगम्। अम्लादनन्तरं पश्चात् प्रयुक्तो मधुरो रसः।।
वायोर्लघुत्वं वैशद्यं रूक्षत्वं च व्यपोहति। गुरुत्वात्पिच्छिलत्वाच्च स्निग्धत्वाच्च यथाबलम्।।
इत्युक्ताः सर्वदोषेषु रसानां प्रविचारणाः। (का० खि० ६.२४-३५)

२. पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ। पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत्।।
(सु० सू० ४६.४६०)
मधुरमधुरमादौ मध्यतोऽम्लैकभावः, कटुकटुकमथान्ते तिक्ततिक्तं तथैव।
यदि सुखपरिणामं वाच्छसि त्वं हि राजन्, त्यज खलजनसङ्गं भोजनं मा कदाचित्।।
(क्षे० कु० ३.२१)

में प्रथम मधुर रस के सेवन से वात का शमन हो जाता है तथा कफ की वृद्धि होकर आहार का क्लेदन ठीक होता है। इसके बाद अम्ल और लवण रसों का प्रयोग किया जाता है, इसका कारण यह है कि इनसे अवशिष्ट वात का तो शमन होता ही है आग्नेय होने के कारण ये अग्नि को भी बढ़ाते हैं जिससे पाचन आरम्भ होता है। अन्त में कषाय, कटु, तिक्त रसों का प्रयोग होता है जिनसे अग्नि का दीपन भी होता है और भोजन के बाद सद्यः जो कफ की वृद्धि होती है उसे भी नियन्त्रित करता है।

असामान्य अवस्थाओं में इस क्रम में कुछ विपर्यय का भी विधान है यथा अरुचि, अग्निमांद्य या अन्य कफविकारों में प्रथम आर्द्रक और लवण सेवन का विधान है।[१] इसके कटु रस से कफ भी शान्त होता है और लवण से क्लेदन और वातशमन का कार्य भी हो जाता है। प्रकृति, रुचि या परिस्थितिवश प्रथम लवण, अम्ल, कटु आदि विदाही रसों का सेवन किया जाय तो विदाह की शान्ति के लिए अन्त में मधुर रस का प्रयोग करना चाहिए[२] जिससे पित्त की वृद्धि अधिक न होने पावे। तात्पर्य यह कि भोजन ऐसा षड्रस और क्रमबद्ध हो कि सब दोष समावस्था में बने रहें।

रसों के अतियोग से उत्पन्न होने वाले रोग

रसों के समयोग से तो स्वास्थ्य का अनुवर्त्तन होता है किन्तु अतियोग से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं यथा–

१. **मधुर**– इसके अतिसेवन से स्थौल्य, मार्दव, आलस्य, अतिस्वप्न, गौरव, अरुचि, अग्निमांद्य, मुख और कठ में मांस की वृद्धि, श्वास, कास, प्रतिश्याय, अलसक, शीतज्वर, आनाह, मुखमाधुर्य, वमन, संज्ञानाश, स्वरभङ्ग, कृमि, गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद, श्लीपद, गलशोफ, बस्ति-धमनी और गले में चिकनाहट (मलसञ्चय), अभिष्यन्द, नेत्ररोग आदि कफज विकार उत्पन्न होते हैं।[३]

१. भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्। अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्।।
(भा० प्र० दि० ५.१३०)

२. लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीन्यत्ति यानि तु। तद्दोषं हर्तमाहारं मधुरेण समापयेत्।।
(भा० प्र० दि० ५.१६४)

३. स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमालस्यमतिस्वप्नं गौरवमनन्नाभिलाषमग्ने-र्दौर्बल्यमास्यकण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं श्वासकासप्रतिश्यायालसकशीतज्वरानाहास्यमाधुर्यवमथुसंज्ञा-स्वरप्रणाशगलगण्डगण्डमालाश्लीपदगलशोफबस्तिधमनीगलोपलेपाक्ष्यामयाभिष्यन्दानित्येवं-प्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति। (च० सू० २६.४३(१)

२. **अम्ल**– इसके अतिसेवन से दन्तहर्ष, तृष्णा, अक्षिनिमीलन, रोमाञ्च, कफ का द्रवीभवन, पित्तवृद्धि, रक्तदोष, मांसविदाह, शरीरशैथिल्य, शोथ (क्षीण, क्षत, कृश और दुर्बल व्यक्तियों में), क्षत, पाक, कण्ठ, वक्ष तथा हृदय में दाह आदि पित्तविकार उत्पन्न होते हैं।[१]

३. **लवण**– इसका अतियोग पित्तप्रकोप, रक्तवृद्धि, तृष्णा, मूर्च्छा, सन्ताप, विदार, मांसकोथ, कुष्ठ, विष, शोफ, दन्तच्युति, नपुंसकता, इन्द्रियनाश, बलि, पालित्य, खालित्य, रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त आदि रक्तदुष्टिजन्य एवं पैत्तिक विकारों को उत्पन्न करता है।[२]

४. **कटु**– कटु रस के अतिसेवन से नपुंसकता, मूर्च्छा, ग्लानि, कृशता, भ्रम, दाह, दुर्बलता, तृष्णा, कम्प, शरीर के अङ्गों में शूल आदि वातिक तथा पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं।[३]

५. **तिक्त**– इसके अतिसेवन से धातुशोष, स्रोतों में खरत्व, दौर्बल्य, कार्श्य, ग्लानि, मूर्च्छा, भ्रम, मुखशोष आदि वातिक विकार उत्पन्न होते हैं।[४]

६. **कषाय**– कषाय रस के अतियोग से मुखशोष, हृच्छूल, आध्मान, स्वरभेद, स्रोतोविबन्ध, श्यावत्व, नपुंसकता, विष्टम्भ, वात-मूत्र-पुरीष तथा शुक्र का

---

१. स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहतदष्टदग्धभग्नशून-प्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पितमर्दितच्छिन्नभिन्नविश्लिष्टोद्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च। (च० सू० २६.४३(२)

२. स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलिपलितखालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्तवीसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारान् उपजनयति।

(च० सू० २६.४३(३)

३. स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति, रसवीर्यप्रभावान् मोहयन्ति, ग्लापयति, सादयति, कर्शयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति, अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रमदवथुकम्पतोदभेदैश्चरणभुजपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति।

(च० सू० २६.४३(४)

४. स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांस-मेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपपादयति, बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति। (च० सू० २६.४३(५)

अवरोध, कार्श्य, ग्लानि, तृष्णा, स्तम्भ, पक्षाघात, अपतानक, अर्दित आदि वातिक रोग उत्पन्न होते हैं।[१]

१६. रस-भेद-विकल्प

रसभेद के सूक्ष्म विचार, अंशांश-कल्पना, को रसभेदविकल्प कहते हैं चिकित्सा तथा स्वस्थवृत्त में रसों का प्रयोग दोषों के अनुसार होता है क्योंकि दोषसाम्य ही आयुर्वेद का लक्ष्य है। अंशांशकल्पना से दोषों के ६३ भेद किये गये हैं जो धातु और मलों के संयोग से असंख्य हो जाते हैं।[२] उसी प्रकार रसों के भी ६३ भेद किये गये हैं जो रस अनुरस आदि की कल्पना से असंख्य हो जाते हैं।[३] इस प्रकार रसभेदविकल्प दोषभेदविकल्प के बिल्कुल समानान्तर है और इसका प्रयोजन यही है कि जिस प्रकार की स्थिति दोष की रहे और दोष का जो प्रकार विद्यमान रहे; वहाँ रस के उसी प्रकार का प्रयोग किया जाय।[४] सुश्रुत ने दोषभेदविकल्पाध्याय (उत्तरतन्त्र अ० ६६) तथा रसभेदविकल्पाध्याय (उत्तरतन्त्र अ० ६३) में दोनों का विशद वर्णन किया है। उन अध्यायों में इस विकल्प का प्रयोजन[५] भी बतलाया गया है। आचार्य वाग्भट ने भी कहा है कि सभी रसों का प्रयोग दोष और औषध के अनुसार करना चाहिए। यथा केवल वायु में अम्ल, पित्तयुक्त वात में अम्लतिक्त तथा कफयुक्त वात में अम्लकटु रस का प्रयोग करें। इसी प्रकार विरेचन औषध एकरस अहृद्य होता है अतः उसमें दो-तीन रसों को मिलाकर प्रयोग किया जाता है।[६]

---

१. स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वातमूत्रपुरीषरेतांस्यवगृह्णाति, कर्शयति, ग्लपयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खरविशदरूक्षत्वात् पक्षवधग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति। (च० सू० २६.४३(६)

२. मिश्राः धातुमलैर्दोषा यान्त्यसंख्येयतां पुनः। (सु० उ० ६६.१२)

३. त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात्। (च० सू० २६.२३)

४. एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याता रसानां रसचिन्तकैः। दोषभेदत्रिषष्ट्यां तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः।।

(सु० उ० ६३.१७)

५. तस्मात् प्रसङ्गं संयम्य दोषभेदविकल्पनैः। रोगं विदित्वोपचरेद्रसभेदैर्यथैरितैः।। (सु० उ० ६६.१३)
अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा। रसभेदत्रिषष्टिं तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ।।

(सु० उ० ६३.४)

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्। दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता।।
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः। रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति।।

(च० सू० २६.२५-२६)

६. दोषभेषजवशादुपयोज्याः। (अ० हृ० सू० १०.४४)
दोषवशाद्भेषजवशाद्वा सर्वेऽपि रसा उपयोज्याः- औपयोगिका भवन्ति।

क्रमशः ....

यह रस का विकल्प द्रव्य, देश एवं काल के प्रभाव से होता है। द्रव्य के पाञ्चभौतिक सङ्घटन की विविधता के अनुसार उसमें तदनुसार रस का भी निष्पादन होता है। देशभेद से एक ही द्रव्य में अनेक रस उत्पन्न होते हैं यथा अन्य प्रदेशों की अपेक्षा हिमालय प्रदेश में द्राक्षा और दाडिम मधुर होते हैं। कालभेद से भी रसभेदों की उत्पत्ति होती है यथा आम्र बालावस्था में कषाय, तरुणावस्था में अम्ल एवं प्रौढावस्था में मधुर होता है। इसी प्रकार हेमन्त में ओषधियाँ मधुर और वर्षा में अम्ल हो जाती हैं।[१]

अंशांश-कल्पना से रसों के ६३ भेद होते हैं–

एकरस	६
द्विकरस	१५
त्रिकरस	२०
चतुष्करस	१५
पञ्चकरस	६
षट्करस	१
	६३

इनका विस्तृत विवरण सोदाहरण नीचे दिया जाता है–

	रस	उदाहरण
एक–	१. मधुर–	गोदुग्ध, द्राक्षा
	२. अम्ल–	कच्चा करौंदा
	३. लवण–	सैन्धव
	४. कटु–	पिप्पली, चव्य
	५. तिक्त–	पर्पट, किराततिक्त, नीम
	६. कषाय–	पद्म, रोध्र, न्यग्रोधाङ्कुर

दोषवशाद्यथा- केवलवायावम्लः, पित्तयुक्ते अम्लतिक्तौ, श्लेष्मयुक्ते अम्लकटुकावित्यादि। भेषजवशाद्यथा- विरेचनमौषधमेकरसत्वादद्वद्यं द्विरसत्रिरसादि कार्यम्।

(अ० हृ० सू० १०.४४-हे०)

१. भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति। (च० सू० २६.१४)
तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा- 'सोमगुणातिरेकान्मधुरः' इत्यादि; देशप्रभावाद्यथा- हिमवति द्राक्षादाडिमादीनि मधुराणि भवन्ति, अन्यत्राम्लानीत्यादि; कालप्रभावाद्यथा- बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं पक्वं मधुरं, तथा हेमन्ते ओषध्यो मधुरा वर्षास्वम्ला इत्यादि। अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्भावनीयाः। (च० सू० २६.१४-चक्र०)

	रस	उदाहरण
द्विक–	७. मधुराम्ल–	बदर, कपित्थ फल
	८. मधुरलवण–	उष्ट्रीदुग्ध, भेड़ का मांस
	९. मधुरकटु–	कुत्ता, शृगाल का मांस
	१०. मधुरतिक्त–	गन्धाविरोजा, राल
	११. मधुरकषाय–	तिलतैल, धामन का फल
	१२. अम्ललवण–	ऊषक (क्षारमृत्तिका)
	१३. अम्लकटु–	चुक्र (शुक्त)
	१४. अम्लतिक्त–	सुरा
	१५. अम्लकषाय–	हथिनी का दही, शुकमांस
	१६. लवणकटु–	गोमूत्र, सज्जीखार
	१७. लवणतिक्त–	राँगा, सीसा
	१८. लवणकषाय–	समुद्रफेन
	१९. कटुतिक्त–	कपूर, जायफल
	२०. कटुकषाय–	भल्लातक, हरताल
	२१. तिक्तकषाय–	हस्तिनीघृत
त्रिक–	२२. मधुराम्ललवण–	हस्तिमांस
	२३. मधुराम्लकटु–	शल्यकमांस
	२४. मधुराम्लतिक्त–	गोधूमसुरा
	२५. मधुराम्लकषाय–	मस्तु, तक्र
	२६. मधुरलवणकटु–	जङ्गली कबूतर का मांस
	२७. मधुरलवणतिक्त–	घोंघा का मांस
	२८. मधुरलवणकषाय–	गुड़-संयुक्त कमलकन्द
	२९. मधुरकटुतिक्त–	केतकी-फल, सूखी धनिया
	३०. मधुरकटुकषाय–	गोधामांस, एरण्डतैल
	३१. मधुरतिक्तकषाय–	गुडूची, वानर-मांस, तुवरकतैल
	३२. अम्ललवणकटु–	रौप्य, शिलाजतु
	३३. अम्ललवणतिक्त–	हस्तिमूत्र
	३४. अम्ललवणकषाय–	साम्भर नमक से युक्त हस्तिनीदधि

	रस	उदाहरण
	३५. अम्लकटुतिक्त–	मरिचयुक्त सुरा
	३६. अम्लकटुकषाय–	अम्लवेतस
	३७. अम्लतिक्तकषाय–	शुकमांसयुक्त सुरा
	३८. लवणकटुतिक्त–	भेंड़ का मूत्र
	३९. लवणकटुकषाय–	साम्भर नमक से युक्त भल्लातक
	४०. लवणतिक्तकषाय–	समुद्रफेन
	४१. कटुतिक्तकषाय–	देवदारुतैल, काला अगुरु
चतुष्क–	४२. मधुराम्ललवणकटु–	गोमूत्रयुक्त शिलाजतु
	४३. मधुराम्ललवणतिक्त–	गोमूत्र और एक खुरवाले पशु (घोड़ी आदि) का दूध
	४४. मधुराम्ललवणकषाय–	सैन्धवयुक्त तक्र
	४५. मधुराम्लकटुतिक्त–	लशुनयुक्त सुरा
	४६. मधुराम्लकटुकषाय–	काञ्जीयुक्त एरण्डतैल, खदिरयुक्त शिलाजतु
	४७. मधुराम्लतिक्तकषाय–	तुरञ्जबीन मिला गूलर का फल
	४८. मधुरलवणतिक्तकटु–	बैंगन का फल
	४९. मधुरलवणकटुकषाय–	गोमूत्रयुक्त तिलतैल
	५०. मधुरकटुतिक्तकषाय–	तिल, गुग्गुलु
	५१. मधुरलवणतिक्तकषाय–	समुद्रफेन, शक्कर और चित्रक मिला बदर
	५२. अम्ललवणकटुतिक्त–	सोंचल मिला हुआ हथिनी के दही से बनी सुरा
	५३. अम्ललवणकटुकषाय–	सोंचल मिला हुआ हथिनी का दही
	५४. अम्ललवणतिक्तकषाय–	रेह नमक मिला हुआ शुकमांस
	५५. अम्लकटुतिक्तकषाय–	बालमूलक, हस्तिनीदधि
	५६. लवणकटुतिक्तकषाय–	साँभर नमक मिला हुआ कच्चा बेलफल
पञ्चक–	५७. मधुराम्ललवणकटुतिक्त–	कच्चे करौंदे के साथ मिला हुआ भूना बैंगन

	रस	उदाहरण
	५८. मधुराम्ललवणतिक्तकषाय–	औद्भिदलवणयुक्त तक्र
	५९. मधुराम्ललवणकटुकषाय–	त्रिकटु और यवक्षार से युक्त तक्र
	६०. मधुराम्लकटुतिक्तकषाय–	हरीतकी, आमलकी
	६१. मधुरलवणकटुतिक्तकषाय–	रसोन
	६२. अम्ललवणकटुतिक्तकषाय–	भल्लातक तथा रौप्यशिलाजतुमिश्रित नीम
षट्क–	६३. मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय–	काले हरिण का मांस[१]

इस प्रकार रसभेदों की विशाल संख्या को देखते हुए शायद ही कोई द्रव्य ऐसा मिले जो एक-रस हो क्योंकि पहले भी कहा जा चुका है कि द्रव्य पाञ्चभौतिक होने से सर्वरस होते हैं, किन्तु होता यह है कि इन रसों में जो रस प्रबल होते हैं वही व्यक्त होते हैं और उन्हीं के अनुसार द्रव्य की संज्ञा होती है तथा शेष दुर्बल रस अव्यक्त होकर अनुरस के रूप में रहते हैं।[२] अत: जब किसी द्रव्य को हम मधुर कहते हैं तब हमारा अभिप्राय केवल 'मधुर' से ही नहीं है बल्कि मधुरप्राय, मधुरविपाक, मधुरप्रभाव से भी है। इसी प्रकार अन्य रसों के लिए भी समझना चाहिए।[३]

१७. अनेकरस द्रव्यों के प्रभाव का विश्लेषण

अनेकरसात्मक द्रव्यों तथा अनेकदोषात्मक विकारों के प्रभाव का ज्ञान निम्नाङ्कित दो नियमों से होता है–

---

१. एकैकहीनास्तान् पञ्चदश यान्ति रसा द्विके। त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककम्।।
चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः पटुः सकृत्। पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते।।
द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः।
षट् पञ्चकाः, षट् च पृथग्रसाः स्युश्चतुर्द्विकौ पञ्चदशप्रकारौ।
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः।।
ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्य-परिकल्पनया च।
सम्भवन्ति गणनां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्याः।। (अ० हृ० सू० १०.४०-४४)

२. जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वश्यतां रसाः।
यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः।। (सु० सू० ४२.१३)
तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः। (अ० सं० सू० १७.३)

३. यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्याचक्षते भिषजः, तद्दुर्लभतमं संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि मधुरप्रायाणि मधुरविपाकानि मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते, तथेतराणि द्रव्याणि। (च० वि० ८.१३८)

१. यदि रसों और दोषों का संयोग प्रकृतिसमसमवाय है तो प्रत्येक रस और दोष के पृथक्-पृथक् प्रभाव के अनुसार उस समस्त द्रव्य या विकार के प्रभाव का निर्णय करना चाहिए।

२. यदि उनका संसर्ग विकृतिविषमसमवाय हो तो कल्पनाविशेष तथा संयोग-विशेष से परस्पर गुणों का रूपान्तर होने से उपर्युक्त रीति से निर्णय करना कठिन हो जाता है, अतः ऐसे स्थल में समस्त द्रव्य और विकार की परीक्षा कर ही उनके प्रभाव का निर्णय करना चाहिए।[१]

१८. रसों का औषधीय प्रयोग

मधुर– मधुर रस बृंहण एवं बल्य होने से दौर्बल्य को दूर करने के लिए रसायन के रूप में प्रयुक्त होता है। वातपित्तशामक होने से वातपैत्तिक विकारों में उपयोगी है।

अम्ल– रोचन, दीपन-पाचन होने से अग्निमांद्य-अजीर्ण में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में उपयोगी अनेक योगों में इसी कारण नींबू के रस की भावना या सहपान दिया जाता है।

लवण– यह भी दीपन-पाचन है। भास्करलवण अजीर्ण के लिए प्रसिद्ध योग है।

कटु– यह दीपन पाचन है। हिंग्वष्टकचूर्ण कटु द्रव्यों का एक उत्तम योग है। उष्ण होने से प्रतिश्याय, कास, वातश्लैष्मिक ज्वर आदि में भी उपयोगी होता है।

तिक्त– विदग्ध पित्त तथा श्लेष्मा से उत्पन्न रोगों में इसका प्रयोग होता है। पटोलादि क्वाथ अम्लपित्त के लिए उत्तम योग है। ज्वर, रक्तविकार, कुष्ठ आदि में भी तिक्त द्रव्य उपयोगी हैं।

कषाय– स्तम्भन होने के कारण अतिसार, रक्तपित्त आदि में द्रवपुरीष तथा रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग होता है।

---

१. तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभावमेकैकशयेनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। (च० वि० १.९)
न त्वेवं खलु सर्वत्र। न हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वम् अध्यवसातुं शक्यम्।
(च० वि० १.१०)
तथायुक्ते हि समुदये समुदायप्रभावतत्त्वमेवमेवोपलभ्य ततो द्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्।
(चि० वि १.११)

१९. रस का प्राधान्य

द्रव्य के प्रकरण में एकीय मत से द्रव्य का प्राधान्य बतलाया गया है। यहाँ उसी रीति से रस का प्राधान्य प्रदर्शित किया गया है। द्रव्यप्राधान्यवादियों के विपक्ष में रसप्राधान्यवादी कहते हैं कि रस ही प्रधान है और उसकी प्रधानता में निम्नाङ्कित युक्तियाँ देते हैं–

१. **अधिकार**– शास्त्र के द्वारा स्वस्थवृत्त तथा चिकित्सा में सर्वत्र रसों का ही अधिकार व्यवस्थित किया गया है और उन्हीं की प्रधानता रक्खी गई है यथा 'प्राणों का आधार आहार है और आहार रस के ही अधीन है' तथा 'वमन-विरेचन आदि संशोधन एवं संशमन चिकित्सा रस के ही अधीन है'। अधिकारी प्रधान होता है यथा सेनापति अतः रस प्रधान है।[१]

२. **उपदेश**– शास्त्र में रसों के द्वारा ही उपदेश किया गया है यथा मधुर, अम्ल और लवण वात का शमन करते हैं।[२]

३. **अनुमान**– अनुमिति का साधन होने से भी रस प्रधान है क्योंकि रस के द्वारा द्रव्य का अनुमान किया जाता है यथा 'मधुर होने के कारण यह द्रव्य कफवर्धक है।'[३]

४. **आगम**– ऋषिप्रणीत शास्त्रों में द्रव्यों का निर्देश रसवाचक शब्दों के द्वारा ही किया गया है यथा 'यज्ञ के लिए कुछ मधुर लाओ।'[४]

---

१. नेत्याहुरन्ये, रसास्तु प्रधानं; कस्मात्? आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा– रसायत्त आहार इति, तस्मिंस्तु प्राणाः (सु० सू० १) इति।
(सु० सू० ४०.४)
रसानधिकारात् (र० वै० १.१११)
केचिद् रसान् प्रधानान् ब्रुवतेऽधिकारात्। ते ह्यधिकृताश्चिकित्सायामिति। कथं–
षट्स्वेव युक्तं वमनं षट्सु युक्तं विरेचनम्। षट्सु चास्थापनं युक्तं षट्सु संशमनं हितम्।।
इत्यादि यो यस्मिन्नधिकृतः स तस्मिन्नन्येभ्यः प्रधानो दृष्टः सेनायां सेनापतिः।
(र० वै० १.१११–भा०)

२. उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसा; यथा– मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति। (सु० सू० ४०.४)
उपदेशात्। (र० वै० १.११४)

३. अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा– मधुरमिति। (सु० सू० ४०.४)
अनुमानात्। (र० वै० १.११६)

४. ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा– किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति, तस्माद्रसाः प्रधानम्।
(सु० सू० ४०.४)
आगमाच्च। (र० वै० १.१२०)

५. **उपसंहार**– इसी से द्रव्यों का उपसंहार किया जाता है यथा कुछ द्रव्यों को गिनाकर यह कहा कि इसी प्रकार मधुरस्कन्ध में संख्यात द्रव्य लेने चाहिए।[१]

६. **व्यापत्तिनिमित्तता**– रस के विकृत होने पर द्रव्य विकृत हो जाता है तथा उसके विपाक आदि भी दूषित हो जाते हैं। अत: द्रव्य के जीवन का आधार होने से रस प्रधान हैं।[२]

७. **अपदेश**– रस द्रव्य की विशेषता का निदर्शक होता है यथा मधुर वाणी, कटु सर्प आदि।[३]

८. **अनेकविषयत्व**– रस के विषयभूत द्रव्य अनेक होते हैं यथा मधुर रस के इक्षु, शर्करा, गुड़, क्षीर आदि। बहु-विषय प्रधान होता है यथा मन और चक्रवर्ती राजा।[४]

९. **प्रवृत्तिनिमित्तता**– आहारद्रव्यों में रुचि उत्पन्न करने तथा प्रवृत्ति उत्पन्न करने के कारण रस प्रधान है। लोक में आहारद्रव्यों की ओर प्रवृत्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मधुर, अम्ल आदि में करते हैं।

१०. **आशुकारित्व**– रस का कर्म जिह्वा के साथ द्रव्य का संयोग होते ही प्रारम्भ हो जाता है यथा मधुर का उपलेप, कटु का रसनोद्वेजन और तिक्त का मुखवैशद्य आदि।

११. **गुणव्यपदेश**– विपाक, वीर्य आदि का निर्धारण रस के अनुसार होता है यथा मधुर द्रव्य का अर्थ केवल मधुर रस नहीं बल्कि गुरु, स्निग्ध आदि गुणयुक्त, मधुर विपाक और शीतवीर्य इतना होता है।

---

१. तेनोपसंहारात्। (र० वै० १.११२)
यथा- विदारिगन्धादीन् द्रव्यगणान् उक्त्वा यानि यान्येवं प्रकाराणि मधुरस्कन्धपरिसंख्येयानि भवन्तीति। (र० वै० १.११२-भा०)

२. तद्व्यापत्तौ शेषव्यापत्तेः। (र० वै० १.११३)
रसव्यापत्तिनिमित्तं शेषाणां द्रव्यादीनां व्यापत्तिः यथा- क्षीरस्य रसे दुष्टे क्षीरं न गृह्यते, तद्विपाकादयश्च विपन्ना इति। (र० वै० १.११३-भा०)

३. अपदेशात् (र० वै० १.११५)
अपदेशो नाम अन्येनान्योऽपदिश्यत उपमारूपेण.... प्रधानेन...मधुरं गान्धर्वं, मधुरा वाणी, कटुकः फणीति। (र० वै० १.११५-भा०)

४. नानाविषयत्वात्। (र० वै० १.११७)
अनेकाधारत्वादिति। मधुरस्य तावदिक्षुक्षीरशर्कराखण्डादयः। एवमन्येषां च। यद् बहुविषयं तत् प्रधानं दृष्टं यथा- मनः, अथवा चक्रवर्ती। (र० वै० १.११७-भा०)

२०. रस का महत्त्व

द्रव्यगुण शास्त्र में रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि आचार्यों ने स्वतन्त्र अध्याय में इसका विस्तार से वर्णन किया है। वास्तव में प्राचीन अन्वेषकों के लिए रसना एक प्रयोगशाला थी जिसमें द्रव्यों के रस का प्रत्यक्ष ग्रहण करके उसके द्वारा उनके भौतिक सङ्घटन, गुण, विपाक, वीर्य आदि का अनुमान किया जाता था जिसकी संपुष्टि प्रयोग द्वारा होती थी और आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन किया जाता था। उदाहरणार्थ, यदि कोई द्रव्य तिक्त है तो उसके वाय्वाकाशीय सङ्घटन, रूक्ष गुण, कटु विपाक और शीतवीर्य की कल्पना होती है किन्तु यदि प्रयोग करने पर पित्तवर्धक हो तो उष्णवीर्य का निश्चय किया जाता है।

*

पञ्चम अध्याय

विपाक

१. निरुक्ति

'विशिष्टः जरणनिष्ठाकाले द्रव्यस्य पाकः परिणतिः विपाकः'। अर्थात् पाचनक्रिया के अन्त में द्रव्य की परिणति को 'विपाक' कहते हैं। पाचन के निष्ठा (अन्तिम) काल में होने के कारण इसका नाम 'निष्ठापाक' भी है।[१]

२. लक्षण

जाठराग्नि का व्यापार समाप्त होने पर पाचनक्रिया के अन्त में जो द्रव्य या रस का परिणाम होता है उसे विपाक कहते हैं।[२] इसी का दूसरा नाम 'निष्ठापाक' भी है। आयुर्वेद में आहार का पाक दो प्रकार का माना गया है– अवस्थापाक और निष्ठापाक। पहले आहारद्रव्यों का अवस्थापाक होता है इसलिए इसे 'प्रपाक' (प्रथमः पाकः प्रपाकः) भी कहा गया है। बात यह है कि जिस रूप में आहार का ग्रहण किया जाता है महास्रोत में जाने पर उसका वही रूप बना नहीं रह सकता क्योंकि जाठराग्नि के सम्पर्क से उसके रूप और रस में परिवर्तन होता जाता है। महास्रोत में ज्यों-ज्यों आहार आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसके रूप और रस में विभिन्नता आती जाती है। इस क्रम में पाचन के कारण उससे अनेक मलों का प्रादुर्भाव भी होता है तथा अन्त में रस और मल (मूत्र, पुरीष) का पृथक्करण हो जाता है। पाचन के इस व्यापार को 'अवस्थापाक' कहते हैं क्योंकि महास्रोत की अवस्था के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है। स्पष्ट शब्दों में, भुक्त आहार का महास्रोत के विभिन्न भागों में जो आवस्थिक पाक होता है उसे 'अवस्थापाक' कहते हैं। अवस्थापाक की तीन अवस्थायें होती हैं– प्रथम अवस्था आमाशय में सम्पन्न होती है जहाँ मधुर रस

१. पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूपरसयोः परावृत्तिः। सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः, तस्या विशेषो विपाकः। (च० सू० २६.५७-५८-गं०)
अवस्थापाकापेक्षया विशिष्टः पाको विपाकः। (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

२. जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः।।
(अ० हृ० सू० ९.२०)
रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले, यद् रसान्तरं रसविशेषः, उदेति उत्पद्यते स विपाकः।
(अ० हृ० सू० ९.२०-अ० द०)
परिणामलक्षणो विपाकः। (र० वै० १.१७०)

के बाहुल्य से मलभूत कफ उत्पन्न होता है। द्वितीय अवस्था पच्यमानाशय में होती है जहाँ अम्लरस के आधिक्य से मलभूत पित्त का प्रादुर्भाव होता है। तृतीय अवस्था पक्वाशय में होती है जहाँ कटुरस के आधिक्य से मलभूत वायु की उत्पत्ति होती है।[१] आहार में उपयुक्त सभी रसों को इन तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। यह बात अवश्य है कि रस के अनुसार अवस्थापाक में उत्पन्न मलभूत दोषों के प्रमाण में अन्तर आ जाता है यथा मधुर रस का सेवन करने से प्रथम अवस्था में कफ की उत्पत्ति अधिक होगी और कटुरस के सेवन से कम। इसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी समझना चाहिए। रसों का यह परिवर्तन आवस्थिक होने से अवस्थापाक कहलाता है।

निष्ठापाक में रसों का अन्तिम परिणाम होता है और यह चरम-परिणत रस रसधातु में आश्रित होता है और इसके साथ सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है। इससे समस्त शरीर में धातु-रूप दोषों की उत्पत्ति होती है यथा मधुर विपाक से धातुरूप कफ, अम्ल विपाक से धातुरूप पित्त एवं कटु विपाक से धातुरूप वात की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार निष्ठापाक में उत्पन्न रसविशेष अवस्थापाकों के बाद रस-मल विवेक के समय रस-धातु में समाविष्ट होता है।[२] यही विपाक है। धातु में आश्रित होने के कारण इसका प्रत्यक्ष होना कठिन है जब कि अवस्थापाक बहुत कुछ प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[३]

अवस्थापाक (प्रपाक)	निष्ठापाक (विपाक)
१. आवस्थिक परिणाम	चरम परिणाम
२. मलभूत दोषों की उत्पत्ति	धातुरूप दोषों की उत्पत्ति
३. प्रत्यक्षगम्य	अनुमानगम्य

१. अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते।।
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।।
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः।।
(च० चि० १५.९-११)

२. विपाकस्तु रसमलविवेकसमकालो भिन्नकाल एवावस्थापाकैः समम् इति न विरोधः।
(च० चि० १५.९-११-चक्र०)
इमे मधुराम्लकटुरूपेण रसानां त्रयो विपाकाश्चरमपरिणामाः रसाख्ये आद्यधातौ गुणा भवन्ति, न तु पाकारम्भचरमपर्यन्तं पच्यमाने षड्रसद्रव्ये प्रथममध्यमचरमास्ववस्थासु मधुराम्ल-कटुरूपाः। (च० सू० २६.५७-५८-गं०)

३. एवं कर्मनिष्ठानुमित एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद् यो रसानां रसान्तरोद्भवः, स एव विपाकः। न तु यो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः, प्राङ्मधुरोऽन्तरं स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुर्विपाकः। (अ० हृ० सू० १.१७-अ० द०)

धातुपाक के समय भी रसधातु से मलरूप कफ तथा रक्तधातु से मलरूप पित्त उत्पन्न होता है।[१] इसी आधार पर कुछ आचार्यों ने अवस्थापाक और निष्ठापाक में अन्तर बतलाते हुए यह लिखा कि अवस्थापाक से कफपित्त की वृद्धि तथा निष्ठापाक से उनकी मलरूप में उत्पत्ति होती है।[२]

मेरे विचार से, जहाँ जहाँ अग्नि का व्यापार (पाक) है वहाँ वहाँ द्रव्य की परिणति (विपाक) है। आयुर्वेदानुसार अग्नि त्रिस्तरीय है– जठराग्नि, धात्वग्नि और भूताग्नि। अत: इन सभी स्तरों पर होने वाले परिणाम को विपाक कहते है।[३] इस प्रकार विपाक समस्त चयापचय क्रिया (metabolism) का द्योतक है। इस दृष्टि से उपर्युक्त वाग्भटोक्त लक्षण एकाङ्गी है क्योंकि इसमें केवल जठराग्नि का ही उल्लेख है।

३. विपाक का स्वरूप

सम्प्रति विपाक का जो लक्षण प्रचलित है वह अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट द्वारा निर्धारित है। उनके अनुसार रसों के आधारभूत द्रव्यों का महास्रोत में जाठराग्नि पाक के परिणास्वरूप जो रस उत्पन्न होता है वह विपाक कहलाता है।[४] इसे और स्पष्ट करते हुए अरुणदत्त और हेमाद्रि ने कहा है कि औदर्य अग्नि के संयोग होने पर जो रसविशेष आविर्भूत होता है वह विपाक है।[५]

द्रव्यों के पाचनक्रम में सर्वप्रथम जाठराग्नि का तथा अन्त में धात्वग्नि का व्यापार होता है।[६] आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त की दृष्टि से जहाँ भी रूपान्तर या परिणाम होगा वहाँ भौतिक परिवर्तन अवश्य होगा क्योंकि शरीर पाञ्चभौतिक है और द्रव्य भी पाञ्चभौतिक है।[७] दूसरे शब्दों में, आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त पञ्चमहाभूत

१. किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृज:। पित्तम्, (च० चि० १५.१८)

२. अवस्थापाकात् कफपित्तयोर्वृद्धि:, तथा निष्ठापाकाच्च मलरूपतया उत्पाद:।
(च० चि० १५.९-११-चक्र०)

३. औदर्यधातुभूताग्निपाकादन्त्यात् क्रमोद्भवात्।
परिणामो विपाक: स्याद् द्रव्ये तत्स्थे गुणे रसे।। (स्व०)
और देखें– लेखक की पुस्तक 'प्रियनिघण्टु'। (१३.३३)

४. जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत:।।
(अ० हृ० सू० ९.२०)

५. औदर्येण अग्निना योगात् संश्लेषात्, यद् रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठकाले रसान्तरं रसविशेष:, उदेति उत्पद्यते स विपाक:। (अ० हृ० सू० ९.२०-अ० द०)
रसानां रसवतां द्रव्याणां जाठराग्निना संयोगात्- यद्रसान्तरमुत्पद्यते स विपाक:।
(अ० हृ० सू० ९.२०-हे०)

६. विपक्व: पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।। (सु० सू० ४६.५२६)

७. सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे। (च० सू० २६.१०)

है। इसी कारण सुश्रुत ने कहा है कि चिकित्सा-शास्त्र में महाभूत के अतिरिक्त कोई विचारणीय विषय नहीं आता है।[१] यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि जाठराग्नि-व्यापार या धात्वग्नि-व्यापार के बाद जो परिणाम होता है वह भौतिक परिवर्तन के बिना सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए, जब द्रव्यों का सङ्घातभेद होकर क्लेदक कफ के द्वारा उनमें मृदुता एवं द्रवता आती है तो स्वत: वे पार्थिव स्वरूप से आप्य स्वरूप में चले जाते हैं। इसी प्रकार जब द्रव रक्तधातु से सङ्घातवान् मांस धातु का निर्माण होता है तो इसके विपरीत आप्यधातु का परिणाम पार्थिवधातु में हो जाता है। ऐसी स्थिति में भूताग्नि-व्यापार एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया सिद्ध होती है जिसके बिना कोई परिणमन सम्भव नहीं। इस प्रकार यदि मान लिया जाय कि भूताग्निव्यापार ही प्रमुख है तथा जाठराग्नि एवं धात्वग्नि उसके सहायक मात्र हैं तो स्थिति का चित्रण और स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त दृष्टि से यदि भौतिक व्यापार को जाठराग्नि एवं धात्वग्नि व्यापार के समानान्तर मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि विपाक का स्थल क्या है? जाठराग्नि या धात्वग्नि?

प्राचीन आचार्यों के मतों की यदि समीक्षा की जाय तो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। चरक ने विपाक का कोई लक्षण नहीं दिया है केवल 'विपाक: कर्मनिष्ठया' के द्वारा उसके स्वरूप पर सूत्र रूप में प्रकाश डाला है। इससे यह सङ्केत मिलता है कि द्रव्यों के पाक कर्म की चरम परिणति ही विपाक है।

'निष्ठा' शब्द इस बात का द्योतक है कि यह केवल प्रारम्भिक अग्नि का ही परिणाम नहीं है प्रत्युत उत्तरोत्तर अन्य अग्नियों के द्वारा आविर्भूत होता है जो कर्मपरिसमाप्ति में कारणभूत होता है। इस क्रमिक दृष्टि से इस लक्षण के अन्तर्गत जाठराग्नि, भूताग्नि एवं धात्वग्नि ये तीनों व्यापार अन्तर्भूत हैं। सुश्रुत का इस सम्बन्ध में क्या मत था यह स्पष्ट नहीं होता क्योंकि उन्होंने इसका कोई स्वतंत्र लक्षण नहीं लिखा है। किन्तु प्रासंगिक उद्धरणों को देखने से ऐसा लगता है कि वह जाठराग्नि-व्यापार के परिणाम को ही विपाक मानते थे।

इसके प्रमाण में तीन प्रसङ्ग यहाँ उद्धृत किये जाते हैं–

१. विपाक का प्राधान्य बतलाते हुए सुश्रुत ने यह कहा है कि द्रव्यों का सेवन करने के बाद उनका सम्यक् या मिथ्या विपाक होने पर ही उनका गुण या दोष निर्भर करता है।[२] इससे स्पष्टत: यह प्रतीत होता है कि सुश्रुत का यह अभिप्राय

१. भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते। (सु० शा० १.१३)

२. नेत्याहुरन्ये, विपाक: प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपक्वत्वात्; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति। (सु० सू० ४०.१०)

है कि द्रव्यों के गुण या दोष उनके पाचन पर ही निर्भर हैं। यदि उनका सम्यक् रूप से पाचन होगा तो गुण उत्पन्न होंगे और यदि मिथ्यापाक होगा तो उससे दोष उत्पन्न होंगे।[१]

२. जल के दोषों का निरूपण करते हुए एक विपाकदोष का भी उल्लेख किया है और यह कहा गया है कि यदि जल में विपाकदोष होगा तो वह देर से पचेगा या विष्टम्भ करके उसका पाक होगा।[२]

३. मधुर और कटु विपाक का लक्षण बतलाते हुए सुश्रुत ने यह कहा है कि द्रव्यों के पाककाल में यदि पृथिवी और जल के गुणों की अधिकता होती है तो मधुर विपाक तथा अग्नि, वायु और आकाश के गुणों की अधिकता होती है तो कटुविपाक होता है। इससे भी जाठराग्निपाक का ही बोध होता है।[३]

अब यह प्रश्न उठता है कि जाठराग्निव्यापार के बाद विपाक की स्थिति मानी जाय या धात्वग्नि-व्यापार के बाद? आहारद्रव्यों में जाठराग्निव्यापार के बाद धात्वग्निव्यापार होता है और उसके परिणाम-स्वरूप धातुओं का निर्माण होकर कर्म की परिसमाप्ति होती है, किन्तु औषधद्रव्यों के सम्बन्ध में परिणामक्रिया का क्या स्वरूप है? यदि आहारद्रव्यों के समान ही हो तब तो कोई बात नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि औषधद्रव्यों के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न प्रकार की होती है।

चक्रपाणि ने आहारद्रव्य और औषधद्रव्य में भेद करते हुए बतलाया है कि "रसप्रधानमाहारद्रव्यम्, वीर्यप्रधामौषधद्रव्यम्" अर्थात् आहारद्रव्य और औषधद्रव्य इस अर्थ में भिन्न हैं कि आहारद्रव्यों में रस की प्रधानता होती है जब कि औषधद्रव्यों में वीर्य की प्रधानता होती है। यहाँ पर 'रस' शब्द शरीर के पोषक तत्त्वों का वाचक है और रस, रक्त आदि धातुओं का उपलक्षण है। इस प्रकार आहारद्रव्यों में स्पष्टत: धात्वग्निव्यापार अपेक्षित है जिससे शरीर के धातुओं का निर्माण होता है। किन्तु औषधद्रव्य वीर्यप्रधान बतलाए गए हैं, वीर्य गुणात्मक स्वरूप का होता है और उसका मुख्य कर्म शरीरस्थ पदार्थों में गुणात्मक परिवर्तन करना होता है। आयुर्वेदीय

१. सम्यग्विपक्वानि गुणं, मिथ्याविपक्वानि दोषं जनयन्ति। सम्यक्पाकः समेनाग्निना, मिथ्यापाकस्तु हीनातिपाकरूपो यथाक्रमं मन्देन तीक्ष्णेन चाग्निना क्रियते; ...यथोक्तं गुणं दोषं वा करोति। (सु० सू० ४०.१०-१२-चक्र०)

२. ....यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाकदोष इति। (सु० सू० ४५.११)

३. द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते।।
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते।।
(सु० सू० ४०.११-१२)

दृष्टि से ये गुणात्मक परिवर्तन भूताग्नि-व्यापार के कार्य हैं। अत: इनमें भूताग्नि प्रमुख होगी। मुख द्वारा ग्रहण के बाद जाठराग्नि का स्वाभाविक व्यापार होने के अनन्तर भूताग्नि के द्वारा इनका परिणमन होता है; किन्तु कुछ औषधद्रव्य जो कि शरीर में प्रविष्ट होने पर शीघ्र समस्त शरीर में व्याप्त हो जाते या सीधे रक्त में प्रविष्ट किए जाते हैं उनमें जाठराग्नि-व्यापार नहीं होता केवल भूताग्नि-व्यापार ही होता है। जाठराग्निपाक के अतिरिक्त और उसके बाद एक अन्य पाक भी होता है इसका संकेत व्यवायि के लक्षण में किया है।[१]

भूताग्नि और धात्वग्नि का अधिष्ठान मुख्यत: यकृत् है।[२] आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान की दृष्टि से ये परिवर्तन मुख्यत: यकृत् में होते हैं। औषधद्रव्यों के सम्बन्ध में होने वाली इस प्रक्रिया को "जैव रूपान्तरण" (Biotransformation) कहते हैं। यकृत् के श्लक्ष्ण कोषाणु औषधद्रव्यों के पाक में तथा खर कोषाणु धातुनिर्माण में भाग लेते हैं। औषधद्रव्यों का कभी-कभी धात्वग्नियों द्वारा भी पाक हो जाता है। किन्तु इनका वास्तविक पाक भूताग्नि द्वारा ही होता है। इस प्रक्रिया में औषधद्रव्यों का पाक होकर उसका मल और प्रसाद भागों में विभाजन हो जाता है। मलभाग शरीर के मूत्र आदि मलों के साथ बाहर निकल जाता है और प्रसादभाग शरीर पर अपना कार्य करता है। सम्भवत: इसके द्वारा धात्वग्नियाँ प्रभावित होती हैं और उससे धातुनिर्माण प्रभावित होता है।

गुरुविपाक से धातुओं की वृद्धि और लघुविपाक से धातुओं का ह्रास होता है[३] और विपाक के द्वारा इस कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है। परिसमाप्ति दो अर्थों में होती है एक तो प्रसादभाग द्वारा धात्वग्नि को प्रभावित करके तथा दूसरा मलभाग का उत्सर्ग होकर। आधुनिक द्रव्यगुण-शास्त्र में औषध का कर्म मुख्यत: जैव रूपान्तरण के पूर्व सम्पन्न होना बतलाया है। जैव रूपान्तरण में जो औषध का पाक होता है उससे मुख्यत: वह मलभाग होकर बाहर निकल जाता है इससे उस द्रव्य में क्रियाहीनता उत्पन्न होती है अत: इस प्रक्रिया को निष्क्रियकरण

१. व्यवायि चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते। (सु० सू० ४६.५२३)
पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति। व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्।।
(शा० पू० ४.१९)

2. Drugs are sometimes metabolized by enzymes involved in intermediary metabolism. However, the majority of the drugs are metabolized by hepatic enzymes. That are not thought to participate in intermediary metabolism.
(The Pharmacological basis of therapeutics by Goodman and Gilman.)

३. शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः। मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।।
(च० सू० २६.६१)

(ख) **अनियतविपाकवाद**– इस सम्प्रदाय का मन्तव्य है कि विपाककाल में प्रबल रस दुर्बल रसों को दबा देता है। अत: विपाक का स्वरूप प्रबल रस के अनुसार निर्धारित होता है। चूँकि किस रस की प्रबलता कब होगी यह कहना कठिन है अत: विपाक के प्रकार के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रस की प्रबलता अनियत है उसी प्रकार तदाश्रित विपाक भी अनियत है। इस प्रकार मधुर रस का विपाक मधुर ही होगा यह न कह कर विपाक अनियत है यही कहना उचित है। इस सम्प्रदाय के अनुसार भी विपाक की संख्या छ: ही है किन्तु उनका निर्धारण नियत नहीं है।[१]

२. **पञ्चविधविपाकवाद**– सुश्रुतसंहिता के एक स्थल पर पाञ्चभौतिक दृष्टि से आहार का पञ्चधा विपाक बतलाया गया है। ये विपाक हैं– पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और नाभस[२]।

स्यात्; यथा–वा शालियवमुद्गादय: प्रकीर्णा: स्वभावं न परित्यजन्ति अर्थात् शालि-यव-मुद्गादिबीजेभ्य: उप्तेभ्य: शालियवमुद्गाद्यङ्कुरा उत्पद्यन्ते, तद्वन्मधुरादयो जठराग्निपक्वा: स्वं स्वं रूपं मधुरादिकं न त्यजन्ति। मधुरो मधुरमेव पच्यते, अम्लोऽम्लमेवमन्ये च; तेन षण्णां रसानां षड् विपाका भवन्ति। (च० सू० २६.५८-यो०)

इह केचिदाचक्षते-प्रतिरसं पाक:-अम्लोऽम्लस्य, मधुरो मधुरस्य, लवणो लवणस्य, कटुक: कटुकस्य, तिक्तस्तिक्तस्य, कषाय: कषायस्येति षडेव विपाका:; किमत्र प्रमाणमिति चेत्, उच्यते-यथा-क्षीरमतिपच्यमानमपि मधुरमेव स्यात्, यथा वा शालियवादय: उप्ता: प्ररूढा फलिताश्च शाल्यादिस्वरूपा एव भवन्ति, तथा मधुरादयोऽपि निष्ठापाकेऽपि मधुरादिस्वरूपा एव भवितुमर्हन्तीति। उक्तं च-"उप्ता: षष्टिकमाषाद्या बाह्यपक्वाश्च षड्रसा:। यान्ति नान्यत्वमित्येवं पाक: प्रतिरसं भवेत्।" (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

यथारसं विपाकमेके ब्रुवते। (र० वै० ४.३१)

१. केचित् पुनरबलवन्तो बलवतां वशमायान्ति, तस्मादनवस्थित: पाक इति। (सु० सू० ४०.१०)

अन्ये तु ब्रुवते-रसा द्विविधा बलवन्तोऽबलवन्तश्च; बलवत्त्वं च व्यक्तत्वेन मात्राबाहुल्येन वा, अबलवत्त्वं पुनरेतद्विपर्ययेण; तत्राल्पतयाऽबलवन्तो रसा बलवतां वशमायान्तीति; तेन निष्ठापाके बलवता रसेन दुर्बलरसाभिभवान्न रसप्रतिनियमेन मधुरस्य मधुर एव पाकोऽम्लस्य चाम्ल एवेत्यादि; प्रतिनयमाभावाच्चानवस्थित: पाक इति। अनियतत्वपक्षेऽपि षट्कत्वमेव, कदाचित् कस्यचित् सम्भवादिति। उक्तं च-"बहवोऽभिभवन्त्यल्पान् बहिर्मिश्रीकृता रसा:। तेनानिश्चितमेवैके पाकमाहुर्मनीषिण:।। (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

२. पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहार: पाञ्चभौतिक:। विपक्व: पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।।
(सु० सू० ४६.५२६)

इत्यनेन पञ्चधाऽपि विपाकस्तेनैवोक्त:। (द्र० गु० सं० १.१०-१२-शि०)

पञ्चभूतात्मके देहे आहार: पाञ्चभौतिक:। विपक्व: पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्।। इति; अनेन पञ्चधा पाकोऽभिहित:। (सु० सू० ४०.१०-१२-चक्र०)

३. **त्रिविधविपाकवाद**– आत्रेयसम्प्रदाय के अग्निवेश, वाग्भट, वृद्धवाग्भट, पराशर आदि आचार्य विपाक तीन प्रकार का मानते हैं– मधुर, अम्ल और कटु। मधुर और लवण रसों का विपाक मधुर, अम्ल रस का विपाक अम्ल एवं कटु, तिक्त और कषाय रसों का विपाक कटु होता है।[१] पराशर मुनि विपाक की संख्या तो तीन ही मानते हैं किन्तु उनके क्रम में अन्तर मानते हैं यथा मधुर, लवण, तिक्त और कषाय इन चार रसों का विपाक मधुर, अम्ल रस का विपाक अम्ल और कटु रस का विपाक कटु। अपने पक्ष में वह युक्ति यह देते हैं कि यदि तिक्त और कषाय रसों का विपाक कटु मानेंगे तो उनसे पित्त का शमन किस प्रकार होगा? अत: उनका विपाक मधुर मानना आवश्यक है।[२] रसों के अनुसार विपाक होने के कारण इसे 'रसविपाकवाद' भी कहते हैं। इसका आधार त्रिदोषवाद है। शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीन दोष होते हैं जो आहार एवं औषधद्रव्यों से घटते या बढ़ते हैं। जीवन-व्यापारों का मुख्य आधार त्रिदोष होने से द्रव्यों का भी इन्हीं से सम्बन्ध होता है। अत: दोषों की संख्या तीन होने के कारण विपाक की संख्या भी इसी के अनुसार तीन मानी गई है– मधुर विपाक कफवर्धक, अम्ल विपाक पित्तवर्धक तथा कटु विपाक वातवर्धक है।[३]

४. **द्विविधविपाकवाद**– धन्वन्तरिसम्प्रदाय के आचार्य– सुश्रुत, नागार्जुन प्रभृति द्रव्यों का विपाक दो प्रकार का मानते हैं– एक गुरु और दूसरा लघु। विपाक-काल में महाभूतों के जो गुण प्रकट होते हैं उन्हें दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं– गुरु और लघु। पृथिवी और जल गुरु एवं शेष तीन महाभूत लघु होते हैं।[४]

१. कटुतिक्तकषायाणां विपाक: प्रायश: कटु:। अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।।
(च० सू० २६.५८)

२. पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते कटु: कटुकम्।
चत्वारोऽन्ये मधुरं सङ्कीर्णरसास्तु सङ्कीर्णम्।।
कटुतिक्तकषायाणां कटुको येषां विपाक इति पक्ष:।
तेषां पित्तविघाते तिक्तकषायौ कथं भवत:।। (अ० सं० सू० १७.२६-२७)

३. वस्तुतस्तु दोषाणां त्रैविध्याद्विपाकस्यापि तदनुगुणतया त्रैविध्यमेवोचितम्।
(च० सू० २६.५८-यो०)

४. आगमे हि द्विविध एव पाको मधुर: कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरु:, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्य:, शेषाणि लघूनि; तस्माद् द्विविध एव विपाक इति।

भवन्ति चात्र-

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणा:। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते।।
तेजोऽनिलाकाशगुणा: पच्यमानेषु येषु तु। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाक: कटुक उच्यते।।
(सु० सू० ४०.१०-१२)

अतः विपाक में महाभूत के प्राधान्य के अनुसार गुणों की दृष्टि से यह वर्गीकरण किया गया है। भूतों और गुणों का आधार होने के कारण इसे 'गुणविपाकवाद' या 'भूतविपाकवाद' भी कहते हैं। शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल इन गुणों के कारण गुरु विपाक तथा लघु, रूक्ष, विशद और तीक्ष्ण इन गुणों के कारण लघु विपाक होता है।[१] गुरु विपाक को ही मधुर और लघु विपाक को कटु कहते हैं।

जिस प्रकार त्रिविधविपाकवाद का आधार त्रिदोषवाद है उसी प्रकार द्विविधविपाकवाद का आधार पञ्चमहाभूतवाद है। सुश्रुत ने यह प्रतिज्ञा की है कि चिकित्साशास्त्र में पञ्चमहाभूतों के अतिरिक्त कोई विचारणीय विषय नहीं है क्योंकि चिकित्साशास्त्र में सर्वत्र उन्हीं का प्रयोग बतलाया गया है।[२] पञ्चमहाभूतों के अनुसार पञ्चविध-विपाकवाद का सङ्केत भी सुश्रुत में मिलता है किन्तु उससे इसका कोई विरोध नहीं है। कारण यह है कि एक ही द्रव्य का वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से किया जा सकता है और इस प्रकार उसकी संख्या में भी अन्तर आ सकता है किन्तु यह उपाधि-भेद (दृष्टिकोण-भेद) विरोध-सूचक नहीं होता।[३] इसी प्रकार वहाँ भूतों के अनुसार विपाक पाँच प्रकार का बतलाया है किन्तु यहाँ उनके द्विविध गुणों को दृष्टि में रखते हुए दो विपाक बतलाये गये हैं। अतः इन मतों में परस्पर कोई असामञ्जस्य नहीं है।[४]

समीक्षा

उपर्युक्त मतों के यथार्थ मूल्याङ्कन के लिए उनकी विशद समीक्षा आवश्यक है, अतः क्रमशः प्रत्येक मत की समीक्षा की जाती है–

१. गुणा विपाकयोः कारणं शीतस्निग्धगुरुपिच्छिलानि गुरुविपाकस्य, लघुरूक्षविशदतीक्ष्णानि लघुविपाकस्येति। (र० वै० १.१२३-भा०)

२. तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा। भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते।। (सु० शा० १.१३)

३. भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति, अन्यथा पुरस्ताद् भिन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसंख्याविशेषमापादयत्यनेकधा, न च पूर्वं भेदाग्रमुपहन्ति। (च० वि० ६.४)

४. पञ्चधाऽपि विपाकस्तेनैवोक्तः, तत्कथं न विरोध इति चेत्; नैवं, उपाधिभेदेन विरोधाभावात्; तत्र हि भूतभेदमवलम्ब्य पञ्चधात्वं, अत्र तु लाघवगौरवरूपं भूतगुणद्वैविध्यमाश्रित्य द्वैविध्यमुक्तमिति न विरोधः; यथा-पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि द्रव्याणां सौम्याग्नेयत्वाद् द्वैविध्यमिति। (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

यत्त्वत्र वक्तव्यम्–'पञ्चभूतात्मके... परिवर्धयेत्'। (सु० सू० ४६) इति; अनेन पञ्चधा पाकोऽभिहितः, स द्रव्यस्वरूपचिन्तनीयो नैतत्पाकद्वयविरोधी; यथा पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि द्रव्याणां सौम्याग्नेयत्वाद् द्वैविध्यं भवति। (सु० सू० ४०.१०-१२-चक्र०)

१. **यथारसविपाकवाद**– इस मत को मानने वाले आचार्यों का कथन है कि रस के समान ही विपाक होता है अतः रस के समान विपाक की संख्या भी छः ही है; किन्तु अधि-संख्य आचार्य इसके पक्ष में नहीं हैं। क्योंकि प्रमाणों से यह मत सिद्ध नहीं होता। यह देखा जाता है कि व्रीहि (चावल) का रस मधुर होने पर भी विपाक अम्ल होता है। इसी प्रकार कटुरस पिप्पली का मधुर विपाक, मधुररस तैल का कटु विपाक, अम्लरस आमलकी का मधुर विपाक, तिक्तरस पटोलपत्र का मधुर विपाक, कषायरस कुलत्थ का अम्ल विपाक, कषाय हरीतकी का मधुर विपाक भी यह सिद्ध करता है कि रस के सदृश विपाक नहीं होता।[१]

रसवैशेषिककार श्रीनागार्जुन ने भी इस मत का खण्डन किया है। उनका कथन है कि रस और विपाक के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं अतः दोनों एक नहीं हो सकते। रस की प्रतीति आस्वादमात्र से होती है अतः प्रत्यक्षगम्य है किन्तु विपाक परिणामकाल में प्रकट होता है अतः अनुमानगम्य है। फिर यदि रससदृश ही विपाक है तो विपाक के पृथक् वर्णन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?[२]

२. **अनियतविपाकवाद**– अनियतविपाकवाद भी आचार्यों को ग्राह्य नहीं है क्योंकि विज्ञान में अनियम या अनवस्था का कोई स्थान नहीं है। यदि विपाक की सत्ता सत्य है तो उसे किसी न किसी नियत और व्यवस्थित रूप में ही स्वीकार करना होगा, अनियत और अव्यवथित रूप में नहीं। इसीलिए अधिकांश आचार्यों ने इसका खण्डन किया है क्योंकि यथारसविपाकवाद के दूषण तो इसमें हैं ही, अनवस्था एक और महान् दूषण है।[३]

१. यथारसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसाम्प्रतम्। यत् स्वादुर्व्रीहिरम्लत्वं न चाम्लमपि दाडिमम्।। याति तैलं च कटुतां कटुकापि न पिप्पली। यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः।। (अ० सं० सू० १७.४५-४६)

२. यथारसं विपाकमेके ब्रुवते। (र० वै० ४.३१)
न, भिन्नलक्षणत्वात्। (र० वै० ४.३२)
नायं पक्षः साधुः, कुतः? भिन्नलक्षणत्वात्; आस्वादग्राह्यो रसः, परिणामलक्षणो विपाक इति। विपाकस्य मधुरता कथमास्वाद्यते? यद्यास्वाद्येत्, रसलक्षणत्वाद् रस एवेति विपाकाभावः। यदि नास्वाद्येत, कथं भवता मधुरो मधुरं पच्यत इत्युपलब्धमित्युक्तं भवति। (र० वै० ४.३२-भा०)

३. किञ्च प्रतिरसं रससदृशः पाकस्तथा बलवत्पराधीनता च पाकस्य रसद्वारा प्रतिपाद्यमानकार्येणैव लक्ष्यते, तेनैतत् पक्षद्वयमपि न निष्ठापाके चिन्तनीयं, रसस्वरूपनिरूपणेनैवोक्तार्थत्वात्। (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

३. **पञ्चविधविपाकवाद**– पञ्चविधविपाकवाद वस्तुतः द्विविधविपाकवाद का ही विस्तार है। गुरु लघु इन गुणों की दृष्टि से द्विविधविपाकवाद का अवतरण हुआ। दोनों भौतिक विपाक के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

४. **त्रिधाविपाकवाद**– आत्रेयसम्प्रदाय के अनुयायी द्रव्यों के विपाक तीन प्रकार के मानते हैं- मधुर, अम्ल और कटु। इस सम्बन्ध में 'प्रायः' शब्द उन अपवादों को सूचित करता है जिनमें इस नियम के अनुसार रस का विपाक नहीं होता यथा पिप्पली का रस कटु है अतः नियमतः उसका विपाक कटु होना चाहिए किन्तु उसका विपाक मधुर होता है। ऐसे ही द्रव्यों के निर्देशार्थ 'प्रायः' शब्द दिया गया है।[१] इसका आधार त्रिदोषवाद है अतः कुछ आचार्य दोषों के अनुसार त्रिधा विपाक मानते हैं यथा कफ और कफ-वात से मधुर, कफ-पित्त से अम्ल एवं वात और पित्त से कटु विपाक[२] होता है। किन्तु त्रिधा विपाक की यह व्याख्या संगत नहीं है क्योंकि रसदोषसन्निपात के बाद ही विपाक के द्वारा दोषों की वृद्धि या ह्रास हुआ करता है। इस प्रकार विपाक दोषावस्था का कारण है, कार्य नहीं। इसलिए आचार्यों ने इसको ग्राह्य नहीं बतलाया।[३]

सुश्रुत ने आत्रेय-सम्प्रदाय के इस मत का खण्डन किया है। उनका कथन है कि त्रिविध विपाक युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि पित्त का प्राकृत रस कटु है, वही विदग्ध होने पर अम्ल हो जाता है; अतः अम्लता आवस्थिक है, प्राकृत नहीं, किन्तु विपाक का निर्णय तो प्राकृत रस के आधार पर ही होना चाहिए, वैकृत स्वरूप पर नहीं। यदि वैकृत रूप के अनुसार इसका निर्णय होगा तो लवण विपाक भी मानना होगा क्योंकि पित्त के समान कफ भी विदग्ध होने पर लवण रस हो जाता है। इसके अतिरिक्त, आप्त प्रमाण भी इसके पक्ष में नहीं है।[४] जिन रसों से दोषों

१. प्रायशो ग्रहणात् क्वचिन्नैवंविधोऽपि; यथा-शुण्ठीपिप्पल्यादीनां कटूनां मधुरो विपाकः, कषायस्य कुलत्थस्याम्लः, कषाया हरीतकी अम्लमामलकं च मधुरं पच्यते, मधुरो व्रीहिश्चाम्लं, तथाविधं तैलं पुनः कटुकम्। (च० सू० २६.५७-५८-यो०)

२. अन्ये तु वातादिभ्यो दोषेभ्य एव त्रीन् पाकानिच्छन्ति-कफात् वातकफाच्च मधुरः, कफपित्तादम्लः, वातात् पित्तात् वातपित्ताच्च कटुक इति। तदुक्तं-"कफात् वातकफात् स्वादुरम्लः पित्तकफोद्भवः। दोषैस्त्रयोऽनिलात् पित्तात् वातपित्तात् कटुर्मतः।"

(द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

३. दोषावस्थाजन्यश्च पाक उपपादकहेत्वभावादागमशून्यत्वाच्च प्रेक्षावद्भिरुपेक्षणीयः।

(द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

४. ... केचित् त्रिविधमिच्छन्ति-मधुरम्, अम्लं, कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादागमाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। (सु० सू० ४०.१०)

की वृद्धि होती है वे रस दोषों में भी हैं ऐसा अनुमान से प्रतीत होता है क्योंकि सामान्य और विशेष के नियम से ही वृद्धि और ह्रास हुआ करते हैं। इन आचार्यों के वचन से कफ में लवण रस का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।[१] इस विप्रतिपत्ति के कारण त्रिविध विपाक सङ्गत प्रतीत नहीं होता।

नागार्जुन ने भी त्रिविध विपाक का खण्डन किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि अनेक दृष्टिकोणों से विचार करने पर त्रिविध विपाकवाद युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। मुख्यतः निम्नाङ्कित तीन हेतुओं का इसमें विचार किया गया है[२]–

१. **काल की दृष्टि से**– विपाक में यदि पाचन-काल का भी विचार किया जाय तो कुछ द्रव्य देर से पचते हैं और कुछ शीघ्र पच जाते हैं, अतः इस दृष्टि से दो ही विपाक हो सकते हैं– चिरकालिक और अचिरकालिक। चिरकालिक को ही गुरु और अचिरकालिक को लघु कहते हैं। इसके अतिरिक्त कोई तीसरा विपाक नहीं है।[३]

२. **गुण की दृष्टि से**– गुण की दृष्टि से भी विचार करने पर दो ही विपाक होते हैं– गुरु और लघु, तीसरा विपाक सिद्ध नहीं होता।[४]

३. **रस की दृष्टि से**– रस की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय तो दो ही रस विपाक में आते हैं-मधुर और कटु। त्रिदोषवाद तथा पञ्चमहाभूतवाद के अनुसार भी यही दो विपाक सिद्ध होते हैं क्योंकि वात और पित्त दोनों का रस कटु और कफ का रस मधुर होता है अतः कटु विपाक वात और पित्त का वर्धक एवं मधुर विपाक कफ का वर्धक है। इसी प्रकार मधुर विपाक वातपित्तशामक तथा कटुविपाक कफशामक है। महाभूतों में भी पृथिवी और जल के संयोग से मधुर एवं वायु, अग्नि और आकाश से कटु विपाक होता है। मधुरविपाक गुरु तथा कटुविपाक लघु होता है।[५]

५. **द्विधाविपाकवाद**– धन्वन्तरिसम्प्रदाय का मान्य सिद्धान्त द्विधाविपाकवाद है जिसका दिग्दर्शन उपर्युक्त पंक्तियों में पर्याप्त हो चुका है। सुश्रुत ने आगमप्रमाण

१. कट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणः कफः। कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः।। (क०)

२. कालतो गुणतो रसतश्चानुपपत्तिः त्रित्वस्य। (र० वै० ४.४९)

३. कालतस्त्रित्वं नोपपद्यते, चिराचिरकालव्यतिरिक्तस्याभावात्। (र० वै० ४.४९-भा०)

४. गुणतश्च त्रित्वं नोपपद्यते, गुरुभूतजनिता लघुभूतजनिता इति गुणद्वैविध्यादिति।

(र० वै० ४.४९-भा०)

५. रसतश्च त्रित्वस्यानुपपत्तिः, कटुतिक्तकषायास्तु लघवो, गुरवः परे इति द्विविधभेदावरोधात् इति। (र० वै० ४.४९-भा०)

तथा पञ्चमहाभूतवाद के अनुसार दो ही विपाक स्वीकार किये हैं।[१] नागार्जुन ने विपाक के लक्षण (परिणामलक्षणो विपाकः) के आधार पर विपाक की संख्या निर्धारित की है। उनका कथन है कि आहार का परिणाम दो प्रकार का होता है। कुछ पदार्थ शीघ्र पच जाते हैं और कुछ देर से यथा खैर की लकड़ी देर से जलती है किन्तु घास बहुत शीघ्र जल जाती है। परिणाम की इस द्विविधता के कारण तल्लक्षण विपाक भी द्विविध ही सिद्ध होता है।[२] दूसरी बात उन्होंने यह बतलाई कि इस परिणाम में कारण महाभूतों के गुण होते हैं; गुरु गुणवाले पदार्थ देर से पचते हैं और लघु पदार्थों का परिणाम शीघ्र होता है। इन गुणों की संख्या भी दो ही (गुरु और लघु) होने से तज्जन्य विपाक भी दो ही प्रकार के होते हैं।[३] इस प्रकार कार्य (परिणाम) और कारण (गुण) दोनों के विचार से दो ही विपाक सिद्ध होते हैं।

नागार्जुन की यह व्याख्या विचारणीय है क्योंकि इससे विपाक के स्वरूप पर भी शङ्का का उद्गम होता है। विपाक तो निष्ठापाक है जो अवस्थापाकों के अनन्तर आद्य रसधातु से सम्बन्ध रखता है। अतः परिणाम के चिर या अचिर काल में होने से विपाक के मूल स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो अवस्थापाक का विषय है। पाचन-क्रिया देर से होना या शीघ्रता से होना अवस्थापाक की सीमा के भीतर है। विपाक का क्षेत्र तो उसके बाद प्रारम्भ होता है। इसके समर्थन में जो लौकिक दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं वह भी अवस्थापाक के ही निदर्शक हैं। इसका कारण यह है कि नागार्जुन विपाक में अवस्थापाक का भी समावेश करते हैं। वह परिणाममात्र को विपाक कहते हैं अतः आहार के सेवन के बाद निष्ठापाक तक की सभी अवस्थाएँ इसमें आ जाती हैं[४] किन्तु अन्य आचार्यों को यह अभिप्रेत नहीं है। आत्रेय-सम्प्रदाय के आचार्य परिणाम को नहीं किन्तु परिणामान्त को विपाक कहते हैं।[५] अतः उनके मत से नागार्जुन की यह व्याख्या तो असङ्गत है ही, धन्वन्तरि-संप्रदाय के आचार्यों के वचन भी इसका समर्थन नहीं करते। मेरी सम्मति में, विपाक

१. आगमस्त्वाह-द्विविध एव पाको मधुरः कटुश्च। (सु० सू० ४०.१०)

२. द्वौ द्वैविध्यदर्शनात् परिणामस्य। (र० वै० ४.५०)
यथा खदिरसारादीनि चिरादग्निसंयोगे परिणामं गच्छन्ति, पललादिन्यचिरादिति।
(र० वै० ४.५०-भा०)

३. गुणकारणत्वाद् गुणद्वैविध्याच्च। (र० वै० ४.५१)

४. परिणामोऽर्थान्तरभावः जीर्तिरित्यर्थः। एवं विदाहानामपि पाकावयवत्वं युज्यते।
(र० वै० भा०)

५. रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः। (अ० हृ० सू० ९.२०)

का स्वरूप दोष, धातु और मलों पर उसके कर्मों के अनुसार निर्धारित होना चाहिए। कर्मनिष्ठा विपाक का आधार है, अतः इस दृष्टि से गुरु और लघु विपाक का अर्थ देर और शीघ्रता से पाक न होकर बृंहण और लंघन कर्मों से निर्णीत होना चाहिए।

त्रिविधविपाकवाद एवं द्विधाविपाकवाद का समन्वय

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो त्रिधाविपाक और द्विधाविपाक में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। त्रिधाविपाक त्रिदोषवाद पर आधारित एवं रसानुसार निर्धारित है और द्विधाविपाक महाभूतवाद पर आधारित एवं गुणानुसार निर्धारित है। चूँकि भौतिक सङ्घटन के अनुसार दोषों की व्यवस्था है और रसों का वर्गीकरण भी गुणों के अनुसार किया गया है अतः एक दृष्टि से दोनों वाद मूलतः एक ही हो जाते हैं। मधुर और कटु ये दो विपाक तो इन्हीं शब्दों में चरक और सुश्रुत दोनों ने माने हैं[१] किन्तु दोनों के प्रयोग में अन्तर है। चरक में मधुर और कटु शब्द मुख्यार्थ में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु सुश्रुत ने इन शब्दों का प्रयोग सादृश्य के आधार पर गौण रूप से लक्ष्यार्थ में किया है। इसका कारण यह है कि मधुर रस भी पार्थिवाप्य है और गुरु गुण भी पार्थिवाप्य है। अतः लक्ष्यार्थ से मधुर का अर्थ गुरु हो जाता है।[२] इसी को स्पष्ट करने के लिए सुश्रुत तथा नागार्जुन ने कहा है कि मधुर विपाक गुरु एवं कटु विपाक लघु है।[३]

इस प्रकार मतभेद का स्थल केवल अम्ल विपाक है। अम्ल विपाक चरक मानते हैं, सुश्रुत नहीं। अम्ल रस का विपाक कैसा होता है, यह भी सुश्रुत ने स्पष्ट नहीं किया। अम्ल रस के सम्बन्ध में कठिनाई उत्पन्न होने का कारण यह है कि यह पृथिवी एवं अग्नि महाभूतों से निष्पन्न होने के कारण गुरु और लघु दोनों के संयोग का स्थल है। पृथिवी का विपाक गुरु एवं अग्नि का लघु होना चाहिए। अतः दोनों में से किसी के पक्ष में निर्णय देना कठिन है अतः प्राचीन आचार्यों में इसके विपाक के सम्बन्ध में अनेक विचार दृष्टिगोचर होते हैं। चरक के टीकाकार कविराज योगीन्द्रनाथ सेन ने इस विषय पर अपना विचार व्यक्त किया है कि चरक स्वभावतः पित्त को अम्ल और कटु मानते हैं किन्तु सुश्रुत प्राकृत रूप में पित्त को केवल

१. कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।। (च० सू० २६.५८)
द्विविध एव पाको मधुरः कटुश्च। (सु० सू० ४०.१०)

२. मधुरकटुकशब्दयोरर्थतत्त्वाभिधाने गुणभेद उक्तः, ...अत्राप्यस्ति सारूप्यमेकहेतुजन्यत्वं-मधुरोऽपि पार्थिवाप्यः गुरुरपि गुणः पार्थिवाप्य इति। (र० वै० ४.५२-भा०)

३. तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। (सु० सू० ४०.१०)
मधुरो गुरुत्वाल्लघुत्वाच्च कटुकः। (र० वै० ४.५२)

कटु मानते हैं और विदग्धावस्था में उसकी अम्लता स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि चरक पित्त की दृष्टि से अम्ल विपाक मानते हैं किन्तु सुश्रुत को उसकी आवश्यकता नहीं होती।[१]

अम्ल विपाक के सम्बन्ध में इस वैमत्य का समन्वय करने की चेष्टा प्राचीन काल से चली आ रही है। टीकाकारों ने इस पर विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं और अनेक प्रकार से दोनों मतों को मूलत: समन्वित करने का प्रयत्न किया है। पीछे कहा गया है कि अम्ल रस में पृथिवी और अग्नि दोनों महाभूतों का अंश होने के कारण इसके स्वरूप निर्धारण में कठिनाई रही है। कुछ आचार्यों ने इसका अन्तर्भाव मधुर (गुरु) तथा कुछ ने कटु (लघु) विपाक में किया है। स्वयं चरक ने मधुर विपाक को गुरु तथा अम्ल और कटु विपाकों को लघु माना है[२] किन्तु टीकाकारों के वचनों में विरोध दिखाई देता है। योगीन्द्रनाथ सेन अम्ल को स्निग्ध होने से गुरु विपाक में लेते हैं।[३] कविराज गङ्गाधर ने अम्ल का विपाक लघु माना है।[४] इनका कथन है कि अम्ल रस का पाक तो अम्ल ही होता है किन्तु अम्ल रस द्रव्य का पाक लघु होता है इस प्रकार वह दोनों मतों का समन्वय करते हैं 'सर्वमतानि साधूनि'। शिवदास सेन भी अम्ल का विपाक गुरु मानते हैं।[५] चक्रपाणिदत्त अम्ल का विपाक गुरु मानते हैं तथा हाराणचंद्र कटु मानते हैं।[६]

१. अम्लपाकस्याभ्युपगमानभ्युपगमयोर्बीजं तु चरकनये पित्तं प्रकृत्याऽम्लं कटु च, सुश्रुते तु कटुरसं, यत् पुनरम्लत्वं तदस्य विदग्धस्यैवेति सुश्रुतेन पित्तस्य प्राकृतस्याम्लत्वानङ्गीकारात्, सुतरामम्लपाकोऽपि नाङ्गीक्रियते, निष्प्रयोजनत्वात्, इह पुनरम्लपाक: सप्रयोजन एव।
(च० सू० २६.५८-यो०)

२. तेषां गुरु: स्यान्मधुर: कटुकाम्लावतोऽन्यथा। (च० सू० २६.६२)

३. पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठतया स्निग्धानां मधुराम्ललवणानां त्रयाणामेव मधुरो विपाक:, वायुगुणातिरेकाद्रूक्षाणां कटुतिक्तकषायाणां त्रयाणां कटुक:। (च० सू० २६.५७-५८-यो०)

४. अम्लकटुतिक्ता अधममध्यमोत्तमा लघव उक्ता:। ...अम्लरसद्रव्यपाके अत्राग्निगुणा-नामम्लरसव्यतिरिक्तानामाधिक्येनाभिनिर्वृत्तिर्भवति, अतोऽयं लघुपाक उक्त:। तत्राम्लो रसस्त्वम्ल एव पच्यते विशेषरूपेण तत्राम्लो रसो न तोयगुणो न वाग्निगुण:, उभयगुणयोगे हि तोयस्याव्यक्तरस: परिणम्याम्ल: पूर्वजात: पश्चादम्लविशेषरूपेण पच्यत इत्यतोऽयं लघुपाकरूप: कटुपाको भूतगुणानाम्, अम्लरसस्य पुनरम्ल एव पाक इत्यविरोध:।
(च० सू० २६.५७-५८-गं०)

५. अम्लपट्वो: फलं विद्यात् स्वादुपाक: कटु: पुन:। कषायतिक्तयोरित्थं सुश्रुताचार्यसंमत:।।
(द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

६. तथा चाम्लगता ह्यग्निगुणा विपाचकाग्निगुणै: सामान्यादभिवृद्ध्या, अल्पानां स्थूलसारसान्द्रादीनां विरुद्धानां तत्रस्थानां भूमिगुणानामवजया भवन्तीत्यम्लो रसोऽग्निगुणबाहुल्यात् कटु विपच्यते नैवाम्लम्। (सु० सू० ४०.१०-हा०)

आचार्य यादव जी ने उसे लघु लिखा है। इस प्रकार इस समन्वय के मतभेदों का समन्वय करना कठिन है।

ऐसी स्थिति में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए यह निश्चय करना आवश्यक है कि इस निर्णय का आधार क्या होगा? क्या कसौटी होगी जिस पर हम गुरु-लघु का निर्णय करेंगे? आगे बतलाया जायगा कि विपाक की उपलब्धि कर्म के आधार पर अनुमान से होती है और पीछे यह बतलाया गया है कि गुणों का निर्धारण भी कर्मों के अनुसार ही अनुमान के द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में कर्म के आधार पर ही इसका निर्णय हो सकता है।[१] विपाक के कर्म दोष, धातु और मल इन तीनों पर होते हैं। चरक के मत से अम्ल विपाक पित्तवर्धक, शुक्रनाशन तथा सृष्टविण्मूत्र होता है।[२] सुश्रुत के मत से गुरु विपाक वातपित्तघ्न, सृष्टविण्मूत्र तथा कफोत्क्लेशकर एवं लघु विपाक कफघ्न, बद्धविण्मूत्र तथा वातप्रकोपक होता है।[३]

	दोषप्रभाव	धातुप्रभाव	मलप्रभाव
अम्लविपाक	पित्तवर्धक	शुक्रनाशन	सृष्टविण्मूत्र
गुरुविपाक	वातपित्तघ्न, कफवर्धक	शुक्रवर्धक	,,
लघुविपाक	कफघ्न, वातपित्तवर्धक	शुक्रनाशन	बद्धविण्मूत्र

गुरु विपाक के सृष्टविण्मूत्र तथा वातहर और कफवर्धक कर्म अम्ल विपाक में मिलते हैं किन्तु गुरु विपाक पित्तशामक और शुक्रवर्धन है और अम्ल विपाक पित्तवर्धक और शुक्रनाशन है। लघु विपाक के शुक्रनाशन और पित्तवर्धक कर्म अम्ल विपाक के समान हैं किन्तु कफघ्न और वातवर्धक एवं मलप्रभाव उसके विपरीत हैं। दोषप्रभाव (पित्तवर्धन) एवं धातुप्रभाव दोनों की दृष्टि से चरक ने अम्लविपाक को लघु माना है। कुछ आचार्यों ने स्निग्धता के कारण सृष्टविण्मूत्रता एवं वातहरण और कफवर्धन की दृष्टि से गुरु विपाक में अम्ल विपाक को रक्खा है। जो लोग इसका विपाक गुरु मानते हैं वे इसके पित्तवर्धन कर्म की सिद्धि उष्णवीर्य या द्रव्यस्वभाव से करते हैं।[४] किन्तु मेरे विचार से इस द्राविड प्राणायाम की अपेक्षा लङ्घन कर्म के आधार पर उसे लघुविपाक ही मानना श्रेयस्कर है।

१. विपाक: कर्मनिष्ठया। (च० सू० २६.६६)

२. पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रो: पाकोऽम्ल: शुक्रनाशन: (च० सू० २६.६२)

३. गुरुपाको वातपित्तघ्न:, लघुपाक: श्लेष्मघ्न:। ....गुरुपाक: सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च । (सु० सू० ४१.११)

४. अम्लपाकतया पित्तकरत्वम् इति चरकोक्तं, तत्सर्वं सुश्रुते उष्णवीर्यताकार्यं क्वचिद् द्रव्यस्वभाव इति स्वीक्रियते। (सु० सू० ४०.१०-१२-चक्र०)
सुश्रुते द्विविध: पाक:, चरके तु त्रिविध उच्यते, अम्लो विपाक एकेनाङ्गीक्रियते, अन्येन पुन: प्रतिषिध्यते, इति तन्त्रद्वयविरोधे कथमुपपत्ति: स्यात्? नैष दोष: वस्तुतोऽविरोधात्। अम्लस्य मधुरविपाकित्वेऽपि उष्णवीर्यतया पित्तजननोपपत्ते:, लवणवत्। (च० सू० २६.५८-यो०)

शिवदास सेन ने एक प्रकार से चरक के मत का समर्थन करते हुए दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि व्रीहि आदि का पित्तकर्तृत्व अम्ल विपाक से ही सिद्ध हो सकता है, उष्णवीर्य से उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रस और विपाक दोनों मधुर होने से प्रबलता के कारण वीर्य को अभिभूत कर देगा फलत: मधुर रस का पित्तशमन कर्म ही दृष्टिगोचर होगा, पित्तवर्धन नहीं। दूसरी बात यह है कि चावल खाने के बाद अम्लोद्गार आदि से पित्त की जो अम्लता प्रत्यक्ष होती है वह अम्ल विपाक के कारण ही हो सकती है क्योंकि उष्ण वीर्य से उत्पन्न पित्त अम्ल न होकर कटु होता है इसके अतिरिक्त, पृथिवी और जल महाभूतों की अधिकता से मधुर विपाक होता है अत: पृथिवी (या जल) तथा अग्नि महाभूतों के मिश्रण से उत्पन्न तृतीय अम्ल विपाक का विरोध कहाँ होता है? या दोनों का वचनमात्र में ही विरोध समझना चाहिए, तात्त्विक नहीं क्योंकि चरक जिसे अम्ल विपाक कहते हैं, सुश्रुत ने उसी को उष्ण वीर्य मानकर समाधान किया है, इस प्रकार वस्तुत: द्रव्यों के गुणकर्म में कोई विरोध नहीं आता। सुश्रुत ने अम्ल विपाक के खण्डन में जो युक्तियाँ उपस्थित की है उनका भी कोई ठोस आधार नहीं है।[१]

कुछ आचार्यों ने रसविपाकवाद तथा गुणविपाकवाद का समन्वय स्पष्ट रूप से कर दिया है जैसा कि द्रव्यगुण सङ्ग्रह के निम्नाङ्कित वचनों में मिलता है–

'कटुर्विपाक: शुक्रघ्नो बद्धविड् वातलो लघु:।
स्वादुर्गुरु: सृष्टमलो विपाक: कफशुक्रल:।।
पाकोऽम्ल: सृष्टविण्मूत्र: पित्तकृच्छ्लुक्नुल्लघु:'।

(द्र० गु० सं० १.१०)

१. यत् पुनः सुश्रुतेनाम्लपाको न मन्यते तच्चरकमतानुयायिनो न सहन्ते, यतोऽम्लपाकतयैव व्रीहिकुलत्थादीनां पित्तकर्तृत्वमुपपद्यते; अथ मन्यसे-व्रीह्यादेरुष्णवीर्यत्वेन तत्र पित्तकर्तृत्वं? तदसत्, मधुरस्य व्रीहेस्तन्मते मधुरविपाकस्योष्णवीर्यतायामपि सत्यां न पित्तकर्तृत्वमुपपद्यते, रसविपाकाभ्यामेकस्य वीर्यस्य बाधनीयत्वात्; किञ्चाम्लपाकत्वाद् व्रीह्यादेः पित्तमम्लगुणमुत्पद्यते, यदि तूष्णवीर्यताकृतं स्यात्तदा कटुगुणभूयिष्ठं पित्तं स्यात्, दृश्यते च-व्रीहिभक्षणादम्लोद्गारादिनाऽम्ल-गुणभूयिष्ठतैवेति; किंच 'पृथिवीसोमगुणातिरेकान्मधुरः' पाको भवति, वाय्वग्न्याकाशातिरेकाच्च कटुर्भवति इति पक्षे यदा व्यामिश्रगुणातिरेको भवति, तदा सोमाग्न्यात्मकस्याम्लस्योत्पादः कथं प्रतिक्षेपणीयः; अथवा तन्त्रकारयोः किमनयोरनेन वचनमात्रविरोधेन कर्तव्यं; यतो यदम्लपाकं चरको ब्रूते तत् सुश्रुतेन वीर्योष्णमिति कृत्वा समाधीयते; अनने न कश्चिद् द्रव्यगुणे विरोधः; यत्तु सुश्रुतेऽम्लपाकनिरासार्थं दूषणमुच्यते "पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति" इत्यादिना, तदनभ्युपगमादेव निरस्तमिति। (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

यहाँ पर चरक और सुश्रुत दोनों के मतों का समन्वय बड़ी सुन्दर और व्यावहारिक रीति से किया गया है।

शिवदास सेन ने द्रव्यगुणसङ्ग्रह की टीका में विपाक के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे ज्ञातव्य हैं अत: नीचे उद्धृत किये जाते हैं–

'सर्वप्रथम विपाक के स्वरूप का निरूपण किया जाय। अवस्थापक की अपेक्षा विशिष्ट पाक विपाक कहलाता है (विशिष्ट: पाक: विपाक:) यहाँ 'विपाक' शब्द का लक्षण के द्वारा विपाक का आधेय एवं गौरव या लाघव से युक्त आहार का रस विशेष अभिप्रेत है। वाग्भट ने कहा भी है–

जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत:।।

अर्थात् 'जाठराग्निसंयोग से रसों के परिणाम के अन्त में जो अन्य रस प्रादुर्भूत होता है उसे विपाक कहते हैं।' यहाँ 'रसानां परिणामा:' से मधुर, अम्ल एवं कटु इन तीन अवस्थापाकों का ग्रहण होता है जो षड्रस अन्न से आमाशय आदि स्थानों के सम्बन्ध के कारण होते हैं। चरक ने ग्रहणी चिकित्सा में इनका विशद वर्णन किया है। इन रसपरिणामों के बाद पुन: जाठराग्नि संयोग से जो रसविशेष उत्पन्न होता है वह विपाक है।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्येक रस का अपना नियतपाक वही होता है यथा मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल आदि और इस प्रकार छ: विपाक होते हैं। इसमें युक्ति यह दी जाती है कि जिस प्रकार दुग्ध बहुत पकाने पर भी मधुर ही रहता है या शालि, यव आदि बोने पर शालि, यव आदि के रूप में ही फलित होते है उसी प्रकार मधुर आदि भी निष्ठापाक में भी मधुर आदि ही रहेगें। कहा भी है–

उप्ता: षष्टिकमाषाद्या वह्निपक्वाश्च षड्रसा: ।
यान्ति नान्यत्वमित्येवं पाक: प्रतिरसं भवेत् ।।

अर्थात्– षष्टिक, माष आदि बोने पर तथा छ: रस अग्नि से पाक होने पर भिन्न नहीं हो जाते। अत: विपाक प्रत्येक रस का वही होता है।

दूसरे लोग कहते हैं कि रस दो प्रकार के होते हैं– बलवान् और दुर्बल। जो रस व्यक्त या परिमाण में अधिक होते हैं वे बलवान् और इसके विपरीत दुर्बल होते हैं। ऐसी स्थिति में बलवान् रस दुर्बल रसों को दबाकर अपने वश में कर लेते हैं। इस प्रकार निष्ठापाक में भी बलवान् रस के द्वारा दुर्बल रस का अभिभव होने से नियत रूप से प्रतिरस का पाक, मधुर का मधुर आदि, सम्भव नहीं। अत: प्रतिनियम के अभाव में पाक

अनवस्थित (अनियत) होता है यद्यपि इसमें भी विपाक की संख्या छः ही होगी। (इस प्रकार षड्विध विपाकवाद के ही दो भेद हैं– नियत और अनियत)। कहा भी हैं–

बहवोऽभिभवन्त्यल्पान् वह्निमिश्रीकृताः रसाः।
तेनानिश्चितमेवैके पाकमाहुर्मनीषिणाः।।

अर्थात् 'पाकक्रम में बलवान् रस दुर्बल रसों को दवा देते हैं। अतः कुछ विद्वान् विपाक को अनिश्चित मानते हैं।'

कुछ अन्य विद्वान् वात आदि दोषों से ही तीन विपाक मानते हैं यथा कफ और वातकफ से मधुर, कफपित्त से अम्ल तथा वात, पित्त एवं वातपित्त से कटु।

उपर्युक्त तीनों मत (प्रतिरस पाक, अनवस्थित पाक और दोषज पाक) प्रमाणशून्य होने से उपेक्षणीय है। पहले दो मतों में निष्ठापाक निरर्थक हो जाता है क्योंकि रस के कार्य से ही उसकी उपलब्धि होती है। इसी प्रकार दोषज पाक भी युक्तिरहित और आगमशून्य होने से उपेक्षणीय है।

चरक ने तीन ही विपाक माने है। कटु, अम्ल और मधुर यथा–

कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।।

अर्थात् कटु, तिक्त और कषाय रसों का विपाक प्रायः कटु होता है, अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है और मधुर और लवण रसों का विपाक मधुर होता है। यहाँ 'प्रायशः' पद से सूचित होता है कि व्रीहि, कुलत्थ आदि कुछ अपवादभूत द्रव्यों में रस के प्रतिकूल भी पाक होता है।

पाक तेजस् का संयोग है जो रसों में होता है, कटु आदि शब्दों से रसों के आधारद्रव्य कहे जाते हैं। अतः कुछ लोगों की यह आपत्ति कि अवस्थापाक के अन्त में षड्रस अन्न के कटुरस में परिणत होने से उस समय तिक्त आदि रस ही नहीं रहते तो उनका विपाक असंगत है, निरस्त हो जाता है क्योंकि तिक्त आदि रसों के अभाव में भी उनका आश्रयभूत द्रव्य तो विद्यमान ही रहता है। वस्तुतः तीन अवस्थापाकों से आमाशय आदि स्थानों के महत्व के कारण मधुर, अम्ल और कटुरस उद्भूत तो होते हैं किन्तु प्राकृत रस का सर्वथा अभिभव नहीं होता अन्यथा प्राकृत रसों के कफादिजनकत्व का कथन निरर्थक हो जायगा। यहाँ शंका यह होती है कि चरक ने छः रसों का समान रूप से अवस्थापाक के कारण कफादिजनकत्व कहा है, इस प्रकार रस विशेषों से ही दोषविशेष उत्पन्न होते हैं तो 'कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः' इत्यादि के द्वारा जो विपाक कहा गया है वह सब विरोध में चला जाता है अवस्थापाक से बाधित होने के कारण ऐसी बात नहीं है। अवस्थापाक रसस्वभाव

निष्ठापाक को बाधित नहीं करता, अपितु दोनों का कार्य होता है। अवस्थापाक भी अपना कार्य करता है और रस आदि भी अपने कार्य करते हैं यथा मधुर, तिक्त आदि अनेक रसों का उपयोग करने पर मधुर और तिक्तादि सभी अपना-अपना कार्य करते हैं। इसमें विशेषता यही है कि यदि मधुर अवस्थापाक के मधुर आदि कफवर्धक रस अनुकूल होते हैं तो अधिक कफ की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत, कटु आदि रसों से संयोग होने पर कफ की उत्पत्ति अल्प होती है। यही बात पित्तजनक अवस्थापाक में है। इसके अतिरिक्त, चरकोक्त निष्ठापाक रस-मल विवेक के समय होता हैं। अतः कालभेद होने से अवस्थापाक से इसका कोई विरोध नहीं है। कालभेद होने पर भी अवस्थापाक में उत्पन्न दोषों के अनुकूल या प्रतिकूल होने से निष्ठापाक द्वारा उनकी वृद्धि या क्षय होता है। अतः शास्त्र में निष्ठापाक का वर्णन सार्थक है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अवस्थापाक में भी षड्रस अन्न से सामान्यतः दोषों की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत षड्रस अन्न में जो मधुर आहारांश होता है वही उद्भूत होकर कफ उत्पन्न करता है। इसी प्रकार पित्तकोपक आहारभाग विदाहावस्था में उद्भूत अम्ल रस से पित्त की उत्पत्ति होती है। वैसे ही वायु भी वायुजनक आहारांश से कटुतावस्था में होता है।' किन्तु यह संगत नहीं है क्योंकि चरक के अनुसार पूरे षड्रस अन्न के सामान्यतः अवस्थापाक से कफादि की उत्पत्ति होती है न कि किसी आहारांश के पाक से। यदि यह कहा जाय कि षड्रस आहार में जो कफजनक अंश है वही स्थान की विशेषता से उद्भूत होकर समस्त आहार को अवस्थापाक के समय मधुर बना कर कफ उत्पन्न करता है, तब स्वीकार है।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि अन्न के अग्नि संयोग से मधुरादि की उत्पत्ति नहीं होती। अपितु मनुष्यों के कफादि स्थानों में स्वभाव से ही मधुर आदि रस रहते हैं जो अन्न को अपने स्वभाव से प्रभावित कर कफ आदि की उत्पत्ति करते हैं। तन्त्रान्तर में कहा भी गया है–

मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः।
ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः।।
नाभिहृदयमध्ये हि रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः।
स्वभावेन मनुष्याणां तत्र पित्तं विवर्धते।।
अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः।
प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः।।
तस्माद् विपाकस्त्रिविधो रसानां नात्र संशयः।

अर्थात्– 'हृदय के ऊपर मधुर रस स्थित है। अतः वहाँ कफ की वृद्धि होती है, नाभि और हृदय के बीच में अम्ल रस है वहाँ पित्त की वृद्धि स्वभावतः होती

है, इसी प्रकार नाभि के नीचे कटु रस स्थित है वहाँ वात की वृद्धि होती है।' उपर्युक्त तन्त्रान्तर वचन कफ-पित्त में स्थित मधुराम्ल रस तथा वायु को प्रभावित करने वाले कटु रस का द्योतन करता है। ये कफादिगत रस अग्न्याशयपाक में सहकारी होने से हमें भी सम्मत है। अत: उपर्युक्त चरक का सिद्धान्त ही मान्य है।

यह विपाकाधेय रस विशेष रसनेन्द्रियग्राह्य नहीं है। अपितु अपने कार्य से अनुमेय है। यथा शुण्ठी कटुरस और उष्णवीर्य होने पर भी वृष्य है जिससे उसके मधुर विपाक का अनुमान होता है। लवण का सृष्टविण्मूत्र होने से मधुर विपाक जाना जाता है। इसी प्रकार तिक्त कषाय द्रव्यों का बद्धविण्मूत्रता से कटु-पाक अनुमान से ज्ञात होता है। यदि लवण का मधुर विपाक है तो उससे पित्तरक्तादि कर्तृत्व की संगति कैसे होगी? इसी प्रकार तिक्त-कषाय द्रव्यों का कटु विपाक होने पर उनके पित्तहन्तृत्व में बाधा पड़ेगी। इसका उत्तर यह है कि लवण का मधुर विपाक होने पर भी उसके उष्णवीर्य के कारण पित्तरक्तादि की वृद्धि होती है। विपाक उस अंश में बाधित होने पर भी सृष्टविण्मूत्र आदि लक्षणों से ज्ञात होता है। उसी प्रकार तिक्तकषाय द्रव्यों में भी कटु विपाक बलवान् शीत वीर्य से बाधित होने के कारण पित्तजनक नहीं होता, किन्तु बद्धविण्मूत्र से तो लक्षित होता ही है। अत: यह कथन कि लवण आदि में विपाक यदि रस-वीर्य से बाधित होने के कारण अपना कार्य नहीं कर सकता तो उसके वर्णन की क्या आवश्यकता है, निरस्त हो जाता है क्योंकि सृष्ट-विण्मूत्रता आदि तो उसके कार्य हैं ही। कुछ लोग इस दोष के भय से 'लवणस्तथा' में 'तथा' शब्द से अम्ल का सम्बन्ध करके लवण का विपाक अम्ल है– ऐसी व्याख्या करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि जतूकर्ण के वचन (कटु आदि का कटु विपाक, अम्ल का अम्ल विपाक और शेष दोनों का मधुर विपाक) का विरोध होता है। तीन ही विपाक क्यों होते हैं, तिक्त आदि क्यों नहीं? यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि भूतस्वभाव प्रश्न की परिधि से बाहर हैं। जहाँ पर रस के विपरीत विपाक है यथा लवण और तिक्त-कषाय में वहीं विपाक का निर्देश किया जाय और जो समान हैं यथा मधुर, अम्ल और कटु में उनके कथन का क्या प्रयोजन क्योंकि रस के गुणों से ही विपाक का ज्ञान हो जायगा? यह भी ठीक नहीं है क्योंकि लवण आदि के समान विसदृश रसान्तर की ही उत्पत्ति विपाक में होती है। इस शंका के निराकरण के लिए भी समान विपाक कहना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त, जहाँ समान विपाक होगा वहाँ कार्य प्रबल होगा और विपरीत में दुर्बल।

सुश्रुत ने दो विपाक माने हैं मधुर और कटु। इसका आधार भूतों का गौरव-लाघव की दृष्टि से द्वैविध्य है जैसा कि सुश्रुत ने स्वयं कहा है– 'पञ्च महाभूतों' के गुण की दृष्टि से दो विभाग होते हैं 'गुरु और लघु। पृथिवी और जल गुरु हैं जब कि शेष तीन लघु। अत: विपाक दो ही प्रकार का है।' यहाँ सुश्रुतमत में भी यद्यपि अम्ल और लवण मधुर विपाक हैं तथापि उनके मधुर विपाक का कार्य

क्षेत्र वातहरत्व और सृष्टविण्मूत्रता है, पित्तहरत्व नहीं। उसी प्रकार तिक्त-कषाय द्रव्यों में कटु विपाक वातकर्तृत्व एवं बद्धविण्मूत्रता में कार्यकर है न कि पित्तकर्तृत्व में। यह प्रभावकृत है जो अचिन्त्य है। इसी को माधव ने भी कहा है यथा–

अम्लपट्वो: फलं दद्यात् स्वादुपाक: कटु: पुन:।
कषायतिक्तयोरित्थं सुश्रुताचार्यसम्मत:।।

अर्थात् 'मधुरविपाक अम्ल और लवण को तथा कटु विपाक कषाय और तिक्त को अपना फल प्रदान करता है।'

सुश्रुत ने ही अन्यत्रभूतों की दृष्टि से पाँच प्रकार के विपाक कहे हैं– 'पञ्चभूतात्मके देहे आहार: पाञ्चभौतिक:। विपक्व: पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्।।' तो इससे द्विविध विपाक का विरोध नहीं होता? नहीं, उपाधिभेद से विरोध का परिहार हो जाता है। वहाँ भूतों के अनुसार पञ्चविधत्व है जब कि यहाँ लाघव गौरव रूप द्विविध भूतगुणों के अनुसार द्वैविध्य है जैसे द्रव्यों के पाञ्चभौतिक होने पर भी अग्निषोमीय दृष्टि से उनका द्वैविध्य है।

सुश्रुत ने अम्लविपाक का जो खण्डन किया है वह चरकानुयायियों को सहज नहीं है क्योंकि व्रीहि, कुलत्थ आदि में अम्लविपाक के कारण ही पित्तकर्तृत्व की संगति होती है। यदि यह कहें कि इन द्रव्यों का पित्तकर्तृत्व उष्णवीर्य से सिद्ध होगा तो वह ठीक नहीं क्योंकि रस और विपाक दोनों मिल कर अकेले वीर्य को परास्त कर देंगे। दूसरी बात यह है कि व्रीहि आदि में अम्ल विपाक से जो पित्त उत्पन्न होगा वह अम्लगुण भूयिष्ठ होगा जबकि उष्णवीर्य से उत्पन्न पित्त कटुगुणभूयिष्ठ होगा। व्यवहार में व्रीहिभक्षण के बाद अम्ल उद्गार आदि से अम्लगुण भूयिष्ठता ही दृष्टिगत भी होती है। इसके अतिरिक्त, यदि गुरु और लघु दोनों भूतों का संयोग हो तो सोमाग्न्यात्मक तृतीय विपाक अम्ल का अस्तित्व कैसे नकारा जा सकता है? वस्तुत: समन्वय की दृष्टि से देखें तो चरक और सुश्रुत में केवल शब्दों का ही अन्तर है क्योंकि चरक जिसको अम्लविपाक कहते हैं सुश्रुत उसका समाधान उष्णवीर्य कह कर करते हैं जिससे द्रव्यगुण में कोई विरोध नहीं आता। सुश्रुत ने अम्लविपाक के खण्डन में जो दोष दिया है वह भी सम्मत न होने से निरस्त हो जाता है।

विपाक के वाग्भटोक्त लक्षण में चक्रपाणिदत्त ने 'आहारपरिणामान्ते' पाठ देकर **'जाठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुण उत्पद्यते स विपाक:'** यह लक्षण दिया है जबकि शिवदास ने 'रसानां परिणामान्ते' पाठ देकर 'रसानां' से अवस्थापाक में उद्भूत रसों का ग्रहण किया है। अरुणदत्त ने 'जरणनिष्ठाकाल' अर्थ किया है। इससे प्रतीत होता है कि शिवदास की व्याख्या मौलिक है। चक्रपाणि ने अवस्थापाक को स्थान नियत तथा निष्ठापाक को द्रव्यनियत कहकर दोनों के भेद को ठीक-ठीक स्पष्ट किया है। मेरे विचार से, विपाक का क्षेत्र जाठराग्नि तक

सीमित न होकर भूताग्नि तक जाता है। सुश्रुत ने पञ्च भूताग्निपाक के प्रसंग में जो 'विपक्वः' शब्द दिया है उससे भी इनका संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त, व्यवायी आदि द्रव्य जो जाठराग्नि पाक के पूर्व रक्तप्रवाह में चले जाते हैं उनके विपाक की संगति उपर्युक्त श्लोक से नहीं हो पाती। दूसरी बात यह है कि पाक और विपाक में अन्तर करना चाहिए। विपाक को जब जाठराग्निपाक के स्तर पर लाकर गुरुपाक और लघुपाक अर्थ किया जाता है तब भ्रांति होती है। एक विकल्प यह भी है कि आहारद्रव्यों का विशेष सम्बन्ध जाठराग्नि से हो और औषध द्रव्यों का भूताग्नि से। सम्भवतः इसी कारण चक्रपाणिदत्त ने दोनों को पृथक् करते हुए लिखा कि **'रसप्रधानमाहारद्रव्यं, वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यम्।'**

सारांश

उपर्युक्त सभी तथ्यों और विभिन्न मतों के आधार पर विपाक का प्रकार निरूपण निम्नाङ्कित रूप में किया जा सकता है–

१. रसभेद से– त्रिविधविपाक– मधुर, अम्ल और कटु।

२. गुणभेद से– द्विविधविपाक– गुरु, लघु।

३. अधिष्ठानभेद से– त्रिविधविपाक– जाठराग्निज, धात्वग्निज और भूताग्निज।

त्रिविधविपाक और द्विविधविपाक का समन्वय तो ऊपर स्पष्ट हो चुका है। तीन अधिष्ठानों का भी त्रिविधविपाक में समावेश हो जाता है यथा मल, धातु और दोष। इन पर होने वाले कर्म क्रमशः जाठराग्नि, धात्वग्नि और भूताग्नि के ही लक्षित होते हैं।[१]

५. विपाक के गुण-कर्म

चरक के मत से तीनों विपाकों के गुण-कर्म इस प्रकार हैं[२]–

	गुण	दोषकर्म	धातुकर्म	मलकर्म
१. मधुरविपाक	स्निग्ध, गुरु	कफवर्धक	शुक्रल	सृष्टविण्मूत्र
२. अम्लविपाक	स्निग्ध, लघु	पित्तवर्धक	शुक्रनाशन	,,
३. कटुविपाक	रूक्ष, लघु	वातवर्धक	,,	बद्धविण्मूत्र

१. त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः। रसभेदेन, गुणतः द्वौ निर्दिष्टौ गुरुर्लघुः।।
अधिष्ठानविभेदेन पुनश्च त्रिविधो मतः। औदर्यः धातुसंस्थश्च तृतीयो भूतवह्निजः।। (स्व०)

२. मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः। वातमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः।।
कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षभावात् त्रयो रसाः। दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम्।।
शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः। मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।।
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः। तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा।।
(च० सू० २६.५९-६२)

सुश्रुत ने गुरु-लघु इन दोनों विपाकों के गुण निम्नाङ्कित प्रकार से बतलाये हैं[१]–

विपाक	दोषकर्म	मलकर्म
१. गुरु (मधुर)	कफवर्धक, वातपित्तहर	सृष्टविण्मूत्र
२. लघु (कटु)	वातपित्तवर्धक, कफहर	बद्धविण्मूत्र

सुश्रुत के 'उक्तगुण' शब्द से पृथिवी और जल की बहुलता के कारण मधुरविपाक के शुक्रवर्धक और वायु, अग्नि एवं आकाश की अधिकता के कारण कटुविपाक के शुक्रनाशन होने का सङ्केत मिलता है।

रसवैशेषिकमतानुयायी कुछ विद्वान् गुरुविपाक को चिरपाकी (देर से पचने वाला) एवं लघुविपाक को अचिरपाकी (शीघ्र पचने वाला) कहते हैं किन्तु विपाक का जैसा लक्षण है उसके अनुसार आवस्थिक पाचनक्रिया का ग्रहण इससे होना उचित नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि निष्ठापाक में गुरुविपाक से धात्वग्नियों की क्रिया में विलम्ब होने से धातुनिर्माण-क्रम देर से हो और लघुविपाक से धातुनिर्माण शीघ्र हो।

वाग्भट का मन्तव्य है कि रस के सदृश ही विपाक का कर्म भी होता है यथा मधुर रस का जो कर्म है वही मधुर विपाक का भी है।[२] केवल अन्तर यह है कि रस के अन्य जो साक्षात् शारीरिक या मानसिक प्रभाव होते हैं वे विपाक के नहीं होते।

नागार्जुन विपाक का दोषों पर प्रभाव नियमित नहीं मानते। उनका कथन है कि जैसा मधुर, अम्ल और कटु इन तीन विपाकों का दोषवर्धन एवं दोषशमन कर्म नियत है वैसा गुरु, लघु इन विपाकों का कर्म नियत नहीं है यथा लघुविपाक जल श्लेष्मा का वर्धक है किन्तु लघुविपाक मधु उसका शामक है।[३] धन्वन्तरि-सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य सुश्रुत ने इन विपाकों का भी दोषप्रभाव बतलाया है, इसलिए नागार्जुन का यह मत अनवस्थाद्योतक, अतः चिन्त्य है।

विपाक का तारतम्य

किस रस का कौन सा विपाक होगा यह निश्चय होने पर भी रसों के तारतम्य के अनुसार विपाक में भी तारतम्य होता है यथा रस मधुरतर, मधुरतम होने पर विपाक

१. (गुरुलघु)विपाकावुक्तगुणौ। ....गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। ....गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च। (सु० सू० ४१.११)

२. रसैरसौ तुल्यफलः। (अ० सं० सू० १७.२४)

३. वर्धनक्षपणप्रशमनप्रकोपेषु तयोरनियमः (र० वै० ४. ५३)
यथा लघुविपाकमुदकं श्लेष्माणं वर्धयति। लघुविपाकं मधु श्लेष्माणं हरतीति। तस्मादयमेव गुरुविपाको वर्धन एव लघुविपाकः शमन एव इति नियमो नास्ति। (र० वै० ४.५३-भा०)

भी तदनुसार मधुरतर, मधुरतम होता है।[१] कविराज गङ्गाधर का कथन है कि रसों की प्रवरता या अवरता के अनुसार तज्जन्य विपाक भी प्रवर या अवर होता है यथा मधुर रस का मधुर विपाक उत्तम, अम्ल का मध्यम तथा लवण का अवर होता है। इसी प्रकार कटु विपाक में कषाय रस से उत्पन्न विपाक उत्तम, कटु का मध्यम तथा तिक्त का अवर होता है। इसी प्रकार स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों का भी विपाक के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है और उनसे उसके गुणकर्म भी बदल जाते हैं।[२]

६. विपाक की उपलब्धि

शरीर के भीतर आवस्थिक पाकों के बाद विपाक की प्रक्रिया होने से इसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता अत: इसका ज्ञान पाकक्रिया की परिसमाप्ति पर उत्पन्न कर्मों के आधार पर अनुमान के द्वारा किया जाता है।[३] शुक्रवर्धन, कफवर्धन, सृष्टविण्मूत्र इन कार्यों से कारणभूत मधुरविपाक का अनुमान होता है। इसी प्रकार अन्य विपाकों का परिज्ञान किया जाता है।

रस और विपाक

अनेक विद्वानों का ऐसा आक्षेप है कि रस से ही सारा कार्य सम्पन्न हो जाय तो विपाक को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता? अत: रस और विपाक

१. विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयिष्ठतां प्रति। द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्।। (च० सू० २६.६३)

२. तेन मधुररसविपाको मधुर: श्रेष्ठो विण्मूत्रमोक्षे कफशुक्रवृद्धौ च, लवणरसविपाको मधुरस्त्वल्प: सृष्टविण्मूत्र: कफशुक्रलश्चाल्प:, अम्लश्च मध्यम: सृष्टविण्मूत्र: शुक्रनाशनश्च मध्यम:, तिक्तकटुकषायाणां तिक्तरसविपाक: कटुरल्परूपेण शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो वातलश्च, कटुरसविपाक: कटुर्मध्यमरूपेण, कषायरसविपाक: कटुरुत्तमरूपेणेति। इत्येवं द्रव्याणां स्नेहरौक्ष्यादिगुण-वैशेष्यादल्पमध्यश्रेष्ठत्वादुपलक्ष्य ब्रूयात्। (च० सू० २६.६३-गं०)

३. विपाक: कर्मनिष्ठया। (च० सू० २६.६६)।
कर्मणो निष्ठा निष्पत्ति: कर्मनिष्ठा क्रियापरि समाप्ति:, रसोपयोगे सति योऽन्त्याहारपरिणामकृत: कर्मविशेष: कफशुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षण:, तेन विपाको निश्चीयते। एतेन विपाकस्तु नित्यपरोक्ष:, तत्कार्येणानुमीयते। (च० सू० २६.६६-चक्र०)।
विपाक: कर्मण: आहारपरिणामकृतस्य निष्ठा निष्पत्ति: दोषशुक्रवृद्धिक्षयलक्षणा, तया उपलभ्यते। (च० सू० २६.६६-यो०)
अयं च विपाकाधेयो रसो न रसनेन्द्रियग्राह्य:, किन्तु तत्तत्कार्येणैवोन्नीयते; यथा-कटुरसाया उष्णवीर्याया अपि शुण्ठ्या वृष्यत्वेन मधुर: पाकोऽनुमीयते, तथा लवणस्य सृष्टविण्मूत्रत्वेन मधुर: पाक उन्नीयते, तथा तिक्तकषाययोर्बद्धविण्मूत्रतया कटुपाक उन्नीयते। (द्र० गु० सं० १.१०-शि०)

में अन्तर समझ लेना आवश्यक है जिससे यह स्पष्ट परिज्ञान हो जाय कि रस और विपाक दो विभिन्न गुण हैं जो एक दूसरे के स्थान की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। रस और विपाक में निम्नाङ्कित भेद हैं-

१. **लक्षणभेद**- रस और विपाक के लक्षण भिन्न हैं। रसनेन्द्रिय ग्राह्य गुण को रस और परिणामलक्षण गुण को विपाक कहते हैं।

२. **कालभेद**- रस की प्रतीति प्रथम होती है, विपाक पाचन के बाद प्रादुर्भूत होता है। रस का क्षेत्र अवस्थापाक तक रहता है, उसके बाद विपाक का प्रारम्भ होता है।

३. **कर्मभेद**- रस का कर्म स्थानिक किन्तु विपाक का सार्वदेहिक होता है। इसीलिए रस के लक्षणों में अनेक स्थानीय शारीर परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है किन्तु विपाक के कर्मों में केवल दोष, धातु और मलों पर होने वाले कर्म ही निर्दिष्ट हैं।

४. **कर्माधिष्ठानभेद**- रस का कर्म शारीर एवं मानस दोनों होता है किन्तु विपाक का प्रभाव केवल शारीर होता है, मानस नहीं। रस के सेवन से शारीर लक्षणों के साथ-साथ आह्लाद आदि मानस लक्षण भी प्रतीत होते हैं किन्तु विपाक में नहीं, अतएव आचार्यों ने विपाक को रस के सदृश न मानकर उसके 'तुल्यफल' माना है।[१]

५. **उपलब्धिभेद**- इन कारणों से रस और विपाक की उपलब्धि में भी अन्तर हो जाता है। रस प्रत्यक्षत: रसनेन्द्रिय से ग्राह्य होता है जबकि विपाक शारीर कर्मों से अनुमानत: लक्षित होता है।

रस	विपाक
१. आस्वादरूप	परिणामलक्षण
२. आशुकर्म (Immediate action)	विलम्बित कर्म (Delayed action)
३. स्थानिक प्रभाव (Local effect)	सार्वदेहिक प्रभाव (Systemic effect)
४. शारीर-मानस प्रभाव (Action physio-psychological)	शारीर प्रभाव (Only physiological)
५. प्रत्यक्षगम्य (Perceivable)	अनुमेय (Inferable)

१. रसैरसौ तुल्यफल:। (अ० सं० सू० १७.२४)।
अभ्यवहृतस्य मधुररसस्य जाठराग्निसंयोगवशाद् यद्रसान्तरं फलतया निष्पन्नं तद्रसै: सदृशम्। फलग्रहणेनैतत् प्रतिपादयति, फलोपममेव वृष्यादिलक्षणं कार्यसदृशं, न तु कुसुमोपमं देहाह्लादनादिलक्षणं कार्यमिति। (अ० हृ० सू० ९.२२-अ० द०)

७. विपाक का प्राधान्य

द्रव्यगत पदार्थों में विपाक प्रधान है क्योंकि द्रव्यों का गुण-दोष उनके सम्यक् और मिथ्या विपाक पर निर्भर होता है।[१] द्रव्यों का समाग्नि के द्वारा जब सम्यक् विपाक होता है तब गुण और विकृताग्नि के द्वारा जब मिथ्या विपाक होता है तब दोष उत्पन्न होते हैं। कुछ लोगों का यह भी अभिप्राय है कि सम्यक्पाकी समानप्रत्ययारब्ध एवं मिथ्यापाकी विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्यों के गुणदोष विपाक के अनुसार ही होते हैं यथा सम्यग्विपक्व चित्रक अग्निदीपन आदि गुण तथा बद्धविण्मूत्र आदि दोष उत्पन्न करता है एवं मिथ्याविपक्व पिप्पली शुक्रवर्धन आदि गुण एवं क्लेदजनन आदि दोष उत्पन्न करता है।[२]

नागार्जुन ने विपाक के प्राधान्य में[३] निम्नाङ्कित युक्तियाँ दी हैं–

१. विपाक के अधीन दोषों का प्रशमन और वर्धन होता है, अत: विपाक प्रधान है।[४]
२. शरीर में धातु-निर्माणक्रम विपाक के ही द्वारा होता है, अत: विपाक की प्रधानता सिद्ध होती है।[५]
३. सभी आहार तथा औषध द्रव्य अपने गुण दोष के लिए विपाक की अपेक्षा करते हैं। सम्यक् पक्व आहार-औषध गुणकारी तथा असम्यक् पक्व दोषकर होते हैं।[६]

---

१. नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपक्वत्वात्; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति। (सु० सू० ४०.१०)

२. सम्यग्विपक्वानि गुणं, मिथ्याविपक्वानि दोषं जनयन्ति। सम्यक्पाकः समेनाग्निना, मिथ्यापाकस्तु हीनातिपाकरूपो यथाक्रमं मन्देन तीक्ष्णेन चाग्निना क्रियते।... किंवा सम्यक् पाको द्रव्यगुणानुगुणः पाकः; यथा- चित्रकः... मिथ्यापाकस्तद्द्रव्यगुणविसदृशः पाकोऽपि; यथा- पिप्पल्यः। तेन... यथोक्तं गुणं दोषं वा करोति। (सु० सू० ४०.१०-१२-चक्र०)
अत्र द्रव्यगुणानुरूपो निष्ठापाकः सम्यग्विपाक उच्यते, तद्विपरीतस्तु मिथ्याविपाकः। तयोराद्यः कटुकश्चित्रकः पाकेऽपि कटुक इत्यादौ, द्वितीयस्तु कटुका पिप्पली पाके मधुरा इत्येवमादौ बुभुत्सितव्यः। गुणं दोषं वा इति वा शब्दश्चार्थे, सम्यग्विपक्वानि मिथ्याविपक्वानि वा गुणं दोषं च जनयन्ति; मिथ्याविपक्वा पिप्पली च शुक्रवर्धनादिरूपं गुणं, प्रक्लेदजननादिरूपं दोषं च जनयति। ....यद्वा अग्निसाम्यान्न हीनं नापि चाधिकं निष्ठापाकः सम्यग्विपाकः, तदन्यस्त्वग्निवैषम्यान्मिथ्याविपाकः। तत्र सम्यग्विपाके यथोक्ताः गुणाः, मिथ्याविपाके चामादिदोषाः सम्भवन्तीत्यायुर्वेदविदो भाषन्ते। (सु० सू० ४०.१०-हा०)

३. विपाकस्य प्राधान्यं प्रत्येके ब्रूवते। (र० वै० १.१४१)

४. तन्निमित्तत्वात् प्रशमनवर्धनयोः। (र० वै० १.१४२)

५. धातूपदेहात्। (र० वै० १.१४३)

६. विपाकापेक्षत्वादितरेषां प्रायशो विपाकसाद्गुण्ये च गुणवतामप्यदोषात्। (र० वै० १.१४४)

षष्ठ अध्याय

वीर्य

१. निरुक्ति

'वीर विक्रान्तौ' धातु से 'वीर्य' शब्द निष्पन्न है अत: इसकी निरुक्ति है– 'वीरयते विक्रान्तः कर्मसमर्थो भवति अनेन इति वीर्यम्'। अर्थात् द्रव्य जिसके द्वारा कर्मसम्पादन में समर्थ होता है उसे वीर्य कहते हैं।

२. लक्षण

जिस शक्ति से द्रव्य अपने कर्मों का सम्पादन करता है उसे 'वीर्य' (Active property or potency) कहते हैं।[१]

३. स्वरूप

शारीर दोषधातुमलों पर द्रव्यों के जो कर्म होते हैं वे उनमें निहित एक शक्तिविशेष से होते हैं क्योंकि यह देखा जाता है कि अधिक दिनों तक द्रव्य या द्रव्य की कल्पनाओं को रख देने के बाद उनका कोई कर्म नहीं होता या कम से कम अभीष्ट कर्म नहीं देखा जाता। इसीलिए द्रव्यों को 'अभिनव' अवस्था में ही प्रयोग करने का विधान है[२] तथा द्रव्य की कल्पनाओं कषाय, घृत, तैल आदि का भी एक निश्चित अवधि के बाद निवीर्य होना लिखा है इसके अतिरिक्त, द्रव्य के सभी अङ्गों का समान कर्म नहीं होता और किसी विशिष्ट कर्म के लिए द्रव्य के किसी विशिष्ट अङ्ग का ही प्रयोग होता है यथा तिल्वक आदि की त्वचा, दशमूल के मूल और त्रिफला के फल आदि।[३] यदि जल, आतप आदि के सम्पर्क से या अन्य कृत्रिम विधियों से यह शक्ति नष्ट कर दी जाय तो द्रव्य का स्थूल स्वरूप बना रहने पर भी उसका अभीष्ट कर्म नहीं होता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकविधि (Agreement in presence and absence) से कर्म के प्रति वीर्य की साधनता सिद्ध होती है।

---

१. येन कुर्वन्ति, तद्वीर्यम्। (च० सू० २६.१३), (सु० सू० ४१.५)
वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। (च० सू० २६.६५)
वीर्यं द्रव्यकर्तृके कर्मणि करणभूतो द्रव्यगुणः। (सि० म० प्र० नव० ३-प्र०)
वीर्यं शक्तिः क्रियाहेतुरन्वयव्यतिरेकतः। दोषधातुमलाद्येषु सामान्यात् कर्मसाधनम्।। (स्व०)

२. द्रव्याण्यभिनवान्येव प्रशस्तानि क्रियाविधौ। (प० प्र० १.५३)

३. .....तत्र कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि। (सु० सू० ३९.३)

वीर्य का स्वरूप क्या है? यह द्रव्यरूप, गुणरूप या कर्मरूप है इसमें अर्वाचीन तथा प्राचीन समीक्षकों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन दर्शनों में शक्ति तो गुणरूप ही मानी गई है किन्तु अनेक अर्वाचीन विद्वानों ने वीर्य का पर्याय Active principle देकर सन्देह उत्पन्न कर दिया है। अत: इसके स्वरूप का उद्धाटन आवश्यक है।

गुणवीर्यवाद

चरक शक्तिमात्र को वीर्य मानते हैं।[१] द्रव्यगत रस, विपाक आदि का कर्म इसी शक्ति के कारण होता है अत: इनमें जो प्रबल हो और जिसके द्वारा कर्म सम्पादित हो उसी में शक्ति का अधिष्ठान मानते हैं। सुश्रुत और वाग्भट उत्कृष्टशक्तिसम्पन्न गुणों को वीर्य मानते हैं। गुरु, लघु आदि गुण जब शक्तिसम्पन्न होते हैं तब उन्हीं की संज्ञा वीर्य हो जाती है।[२] इस प्रकार गुणवीर्यवाद की दो शाखायें हैं- एक शक्तिमात्रवीर्यवाद (चरक) और दूसरा पारिभाषिकवीर्यवाद (सुश्रुत, वाग्भट)। वृद्धवाग्भट शक्तिमात्रवीर्यवाद को शास्त्रीय एवं गुणवीर्यवाद को लोकप्रसिद्ध होने के कारण लौकिक कहते हैं।[३]

कर्मवीर्यवाद

नागार्जुन ने गुणवीर्यवाद को असङ्गत माना है। उनका कथन है कि न तो रसादि को और न गुण को वीर्य माना जा सकता है क्योंकि रस और गुण तुल्य होने पर भी कर्म में विशेषता देखी जाती है। अत: वस्तुत: इस कर्मलक्षण शक्ति को ही वीर्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त, रस, गुण आदि के रहने पर भी वीर्य के अभाव में कर्म नहीं होता तथा रस, गुण आदि के न रहने पर भी कार्य की सिद्धि होती है यथा मन्त्र आदि में।[४] इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से वीर्य रसादि पदार्थों एवं गुणों से पृथक् सिद्ध होता है तथा इसका स्वरूप कर्मात्मक है।

१. वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया।
(च० सू० २६.६५)
अयं च वीर्यशब्द: पारिभाषिकवीर्यवचनो न भवति, किन्तु शक्तिमात्रवचन:; ... तेन प्रभावरसादय: सर्व एव स्वकार्यं कुर्वन्तो द्रव्यस्य शक्तिपर्यायरूपवीर्यवाच्या इति ज्ञेया:।
(सु० सू० ४१.५-चक्र०)
शक्तिमात्रं तु वीर्यं स्यादिति केचिद् बुधा विदु:। तन्मते द्रव्यरसयो: पाकस्य च गुणस्य च।।
मृद्वादे: स्वक्रियोत्पादे शक्तिवीर्यमिति स्थिति:।। (द्र० गु० सं० १.८-शि०)
२. गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणा:। परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणा:।।
(अ० स० १७.४४)
३. गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाम्नायविहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते। (अ० सं० सू० १७.१९)
४. कर्मलक्षणं वीर्यम्। (र० वै० १. १६९)

क्रमश: ....

जो आचार्य उत्कृष्टशक्तिसम्पन्न गुणों को वीर्य मानते है उनके प्रति नागार्जुन का यह आक्षेप है कि किसी वस्तु की उत्कृष्टता या हीनता से उसकी जाति या स्वरूप में अन्तर नहीं आता यथा नील, नीलतर, नीलतम आदि सभी अवस्थाओं में नीलत्व सामान्य ही है। उसी प्रकार उत्कृष्ट होने पर भी गुण गुण ही रहेंगे अपनी जाति का परित्याग कर वीर्य नहीं हो सकते।

अत: अन्य आचार्यों ने जहाँ वीर्यों का नाम गुणों के आधार पर गुरु, लघु आदि रक्खा है वहाँ नागार्जुन ने कर्मों के आधार पर छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि रक्खा है।

द्रव्यवीर्यवाद

कई आधुनिक आचार्य द्रव्य के कार्मुक अंश को वीर्य मानते हैं। इसका आधार है शिवदास सेन का वह वचन जिसमें उन्होंने द्रव्यगत पञ्चमहाभूतों के सारातिशयरूप अंश को शक्ति माना है और उसी को वीर्यसंज्ञा प्रदान की है।[१] उनके अनुसार यह शक्ति दो प्रकार की होती है- चिन्त्य और अचिन्त्य। चिन्त्य शक्ति वह है जिससे कर्म की व्याख्या बुद्धिगम्य हो, इसी को वीर्य कहते हैं। अचिन्त्य शक्ति वह है जिसकी व्याख्या न की जा सके, इसे प्रभाव कहा गया है।

आधुनिक विज्ञान द्रव्य के कार्मुक (Active principle) को ही शक्तिसम्पन्न मानता है अत: इससे प्रभावित अनेक आयुर्वेदीय आचार्यों ने इसी द्रव्यांश को वीर्य माना है। आचार्य यादव जी कृत 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' (पूर्वार्ध) के परिशिष्ट (पृ० ३७५-७६) में आचार्य डॉ० बालकृष्ण अमर जी पाठक ने लिखा है-'द्विविध तथा अष्टविधवीर्य वादियों की युक्तियाँ पढ़ने के पश्चात् प्रभूतकार्यकारी गुण-प्रकृष्टशक्ति सम्पन्नगुण-ही वीर्य है यह मत मुझे ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। मुझे बौद्ध द्रव्यगुणवेत्ता भदन्त नागार्जुन की युक्तियाँ स्वीकार्य लगती हैं। ....मेरी नम्र बुद्धि के अनुसार वीर्य

रसगुणमात्रं वीर्यमेके। (र० वै० २.३०)
न, तुल्यरसगुणेषु विशेषाभावात्। (र० वै० २.३१)
रसगुणव्यतिरेकेण चोपलब्धे: कर्मणस्तस्य। (र० वै० २.३५)
सत्सु तेषु तस्मिंस्तस्यैवाकरणात् कर्मण: सति सम्यक् प्रयोगे। (र० वै० २.३६)
मधुररसं स्निग्धं शीतं च यष्टिमधुकं सन्दधाति, क्षीरं च तादृगेव तत् स्रंसयतीति विशेष:। अस्य कर्मविशेषस्य दर्शनादेतस्माद् रसगुणाख्यात् कारणमन्यद् विद्यते। अस्य विशेषस्य साधकं तद् वीर्यमिति जानीया इति। (र० वै० २.३१-भा०)
१. वीर्यं शक्ति:, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां य: सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या; सा च द्विविधा, चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुत्वेन; तत्र चिन्त्यक्रियाहेतुर्या द्रव्यरसादीनां स्वस्वकर्मणि स्वभावसिद्धा शक्ति:, अचिन्त्यक्रियाहेतुश्च प्रभावापरपर्याया द्रव्याणां रसाद्यननुरूपकार्यकरणशक्ति:। उक्तं च-'भूतप्रसादातिशयो द्रव्ये पाके रसे स्थित:। चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुर्वीर्यं धन्वन्तरेर्मतम्।'
(द्र० गु० सं० १.८-शि०)

का अर्थ है औषध द्रव्यों में स्थित विशिष्ट गुणोत्पादक तत्त्व (Active principle), जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ....भदन्त नागार्जुन ने प्रचलित मत-गुणोत्कर्षवाद का विरोध किया पर कर्मलक्षण वीर्य का ज्ञान उन्हें भी नहीं हुआ था। जैसे गुण, रस, विपाक, प्रभाव आदि द्रव्याश्रित हैं वैसे यह वीर्य भी द्रव्याश्रित है। अन्य शब्दों में कहें तो आधुनिक विज्ञानवादियों के मत से द्रव्य और वीर्यगुणकारक तत्त्वों के मध्य आधाराधेय सम्बन्ध है। इस मत का समर्थन करते हुए आचार्य यादव जी इस ग्रन्थ के उपोद्घात (पृ० १३) में लिखते हैं–

वास्तव में शक्ति और रसादि ये दोनों गुण हैं और गुण सर्वदा द्रव्य को आश्रय करके ही रहते हैं, अत: द्रव्य में रहा हुआ जो क्रियाजनन समर्थ सारभाग जिसको आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'ऐक्टिव प्रिंसिपल' (Active principle) नाम दिया है उसको वीर्य नाम देना चाहिए, ऐसा जो परिशिष्ट में डॉ० पाठक जी ने लिखा है वह ठीक मालूम होता है।

समीक्षा

वीर्य का स्वरूप शक्ति है, यह रसादिकों से पृथक् है, द्रव्य में आश्रित है और कर्मों का कारण है, यह प्राचीन और नवीन आचार्यों के वचनों का सारांश है। इस सम्बन्ध में जो अनेक मतवाद उपस्थित हुए उसका कारण इनमें किसी एक को प्रधानता देना है। चरक ने उसके शक्तिस्वरूप पर बल दिया और शक्ति तो गुणरूप ही है अत: सुश्रुत और वाग्भट ने गुणोत्कर्ष पर जोर दिया। वीर्य कर्मों का कारण है, अत: नागार्जुन ने कर्म की दृष्टि से वीर्य को कर्मलक्षण माना और चूँकि यह द्रव्य में आश्रित है अत: नवीन आचार्य द्रव्य के कार्मुक अंश को प्रधान मानकर उसी को वीर्य कहने लगे। वस्तुत: इसके सम्बन्ध में समन्वित दृष्टिकोण से विचार होना उचित है, एकाङ्गी दृष्टिकोण से किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।

वीर्य शक्तिरूप है, शक्ति एक उत्कृष्ट गुण है, यह द्रव्य के सारभाग में स्थित होता है तथा इसी के द्वारा द्रव्यों के कर्म निष्पन्न होते हैं वीर्य का यह स्वरूप विभिन्न मतवादों के समन्वय से स्पष्ट होता है। द्रव्यवीर्यवाद का स्वयं शिवदास सेन ने ही खण्डन किया है। वह कहते हैं– 'इससे द्रव्य ही वीर्य है ऐसा नहीं समझना चाहिए। 'येन' इससे शक्ति (वीर्य) की साधनता ज्ञात होती है, द्रव्य वस्तुत: कर्ता है।'[१] इसी को बोपदेव ने स्पष्ट रूप से कहा है– द्रव्यकृत कर्म में साधनभूत द्रव्याश्रित गुण वीर्य है।[२] किन्तु यह बात भी आधुनिक प्रयोगों से सिद्ध

१. न चैवं द्रव्यस्यापि वीर्यत्वप्रसङ्ग:; येनेति करणे तृतीया, करणस्यैव शक्तित्वात्, द्रव्यस्य च कर्तृत्वात्। (द्र० गु० सं० १.८-शि०)

२. वीर्यं द्रव्यकर्तृके कर्मणि करणभूतो द्रव्यगुण:। (सि० म० प्र० नव० ३-प्र०)

है कि द्रव्यगत इस सारभाग को पृथक् कर देने पर द्रव्य शक्तिहीन (निवीर्य) हो जाता है। अत: द्रव्य के इस सारभाग (Active principle) का इस दृष्टि से महत्त्व अवश्य है किन्तु उसे वीर्य न मानकर वीर्य का अधिष्ठान मानना चाहिए क्योंकि सारभाग होने पर भी वह द्रव्य ही है और वीर्य गुण होने के कारण द्रव्य में अधिष्ठित हो यह स्वाभाविक है। द्रव्य के सारभाग में गुण भी उत्कृष्ट रूप में होना स्वाभाविक है और कर्म की स्थिति भी वहीं होती है अत: साहचर्य से गुण-कर्म का आरोप उसमें किया जाता है।[१] इस प्रकार वीर्य का गुरु-लघु आदि गुण एवं छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि कर्म की संज्ञा से व्यवहार करते हैं। इस प्रकार वीर्य का स्वरूप शक्ति मात्र है, द्रव्य का कार्मुक अंश उसका अधिष्ठान है तथा गुरु-लघु गुण (उपाधिरूप)[२] और छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि कर्म उसके सहचर हैं। व्यवहार में, शक्ति को द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता अत: शक्त्याश्रय द्रव्य के कार्मुक अंश का ही प्रयोग होता है। शक्ति और शक्तिमान का अभेद मानकर इस कार्मुक अंश की भी संज्ञा 'वीर्य' हो जाती है। भैषज्यकल्पना में 'वीर्यकृष्टि' तथा 'गतरसत्व' के सन्दर्भ में 'वीर्य' शक्ति इसीका वाचक है। निश्चलकर ने इसी प्रक्रिया को वीर्यसंक्रान्ति कहा है।

शिवदास सेन ने वीर्य के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित विचार व्यक्त किये है जो द्रष्टव्य है– 'वीर्य शक्ति है जो स्वरूपत: पृथिवी आदि भूतों का संहत सारभाग है। वह चिन्त्य और अचिन्त्य क्रिया का हेतु होने से दो प्रकार की है– चिन्त्यक्रिया हेतु द्रव्य, रस आदि की अपने-अपने कर्मसाधन की स्वाभाविक शक्ति है और अचिन्त्यक्रियाहेतु द्रव्यों के रस आदि के असमान कार्य करने की शक्ति है जिसे प्रभाव भी कहते हैं।' कहा भी है–

भूतप्रसादातिशयो द्रव्ये पाके रसे स्थित:।
चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुवीर्यं धन्वन्तरेर्मतम्।।

अर्थात्– 'भूतप्रसाद का संघात जो द्रव्य, विपाक और रस में स्थित होकर चिन्त्य और अचिन्त्य क्रियाओं का हेतु है उसे वीर्य कहते हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है?' इससे यह स्पष्ट हुआ कि द्रव्य, रस और विपाक की अपने-अपने कर्म करने का जो सामर्थ्य है वही वीर्य है। चरक में 'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया' के द्वारा रस आदि

१. गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारत:।।
(अ० हृ० सू० ९.४-)

२. परमार्थत: शक्तिरेव वीर्यं, सा पुनर्बलवत्क्रियानिर्वर्तनक्षमा रसादिनाऽयोगान्निरुपाधिरिति तस्या: शीतोष्णादयो गुणा उपाधित्वेनाङ्गीकृता:, ...उक्तं च-'गुणा: कर्मव्यवस्थायै द्रव्याणां रसपाकयो:। शक्ते: कर्मसु शक्ता ये निरुपाधेरुपाधय:।' (द्र० गु० सं० १.८-शि०)

का भी जो वीर्यत्व कहा है वह धर्म और धर्मी के अभेद से समझना चाहिए। इससे द्रव्य के वीर्यत्व का प्रसंग नहीं होगा क्योंकि 'येन' में करण में तृतीया है और करण ही शक्ति है तथा द्रव्य कर्त्ता है। इस प्रकार द्रव्य (कर्त्ता) के द्वारा रसादि करण से सम्पन्न कार्य में रसादि का भी वीर्यत्व सिद्ध होता है। सुश्रुत ने भी कहा है– 'येन कुर्वन्ति तद् वीर्यम्' अर्थात् जिस (करण) से कर्म हो वह वीर्य है।

यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि यदि शक्ति ही वीर्य है तो शीतोष्णादि लक्षण नहीं हो सकता और यदि शीतोष्णादि लक्षण है तो शक्तिलक्षण नहीं हो सकता? वस्तुत: शक्ति ही वीर्य है जो उपाधिरहित है और रसादि के योग से प्रबल कर्मों के करने में समर्थ है। शीत-उष्ण आदि गुण उसकी उपाधि है जो द्रव्य में समवायाश्रित होते हुए रसादि में उपचारित होते हैं। कहा भी है–

गुणा: कर्मव्यवस्थायै द्रव्याणां रसपाकयो:।
शक्ते: कर्मसु शक्ता ये निरुपाधेरुपाधय:।।

अर्थात्– 'वास्तव में कर्मव्यवहार के लिए गुण द्रव्य, रस और विपाक की शक्ति से संपाद्य कर्मों में समर्थ कहे गये हैं। ये निरुपाधि शक्ति के उपाधिभूत हैं।'

चरक में जो अष्टविध और द्विविध वीर्य सम्बन्धि मतों का निर्देश किया गया है वह पारिभाषिक वीर्य की दृष्टि से वैद्यक में प्रभूत कार्य करने वाले रस, विपाक और प्रभाव के अतिरिक्त गुण को वीर्य कहते हैं। इस आधार पर अष्टविधवीर्यवाद में पिच्छिल, विशद (सुश्रुत ने पिच्छिल-विशद को गुरु-लघु के स्थान पर अष्टविध वीर्य में परिगणित किया है) आदि गुणों का रस आदि के निर्देश से ही ग्रहण हो जाता है क्योंकि वे रस आदि के विपरीत कार्य प्राय: नहीं करते हैं जब कि मृदु-तीक्ष्ण आदि आठ गुणों में रसादि को अभिभूत करने की शक्ति है। यथा पिप्पली में कटुरस के कार्य पित्तप्रकोप को दबाकर मृदु-शीत वीर्य पित्त का ही शमन करते हैं, कषाय तिक्तानुरस बृहत् पञ्चमूल में उसके कार्य वातप्रकोप को दबाकर उष्णवीर्य से उसके विरुद्ध वातशमन होता है, इसी प्रकार मधुर इक्षु में शीत वीर्य से वातवृद्धि होती है। सुश्रुत ने भी कहा है ये वीर्य अपने बल और गुण के उत्कर्ष से रस को दबाकर अपना कर्म करते हैं (बल के उत्कर्ष से प्रभाव और गुण के उत्कर्ष से वीर्य कर्म करते हैं)।

द्विविध वीर्यवादी जगत् के अग्नीषोमीय होने से शीत और उष्ण के प्राधान्य के कारण दो ही वीर्य मानते हैं– शीत और उष्ण। कहा भी है–

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्।।

अर्थात्– 'व्यक्त और अव्यक्त जगत् के समान नानात्मक द्रव्य में भी अग्नि और सोम ये ही दो प्रबल होते हैं।'

चरक के मत में शक्तिमात्र वीर्य है। अत: इसके योग से रस आदि भी वीर्य कहलाते हैं। पारिभाषिक वीर्यवाद के अनुसार शक्तिविशेष वीर्य है और उसके योग से मृदु-तीक्ष्ण आदि की ही वीर्य संज्ञा होती है, अन्य गुणों की नहीं। शास्त्र में व्यवहार पारिभाषिक वीर्यवाद से ही होता है। शिवदास का झुकाव अष्टविधवीर्यवाद में है। चरक शक्तिमात्र को वीर्य मानते है। शिवदास ने वीर्य के इस स्वरूप को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि वीर्य निरुपाधि शक्ति है, गुण उसकी उपाधि हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने द्रव्यवीर्यवाद की स्थापना की। उनका कथन है कि द्रव्य में पृथिवी आदि भूतों के सारभाग का जो अतिशयित संघात है वही उसका आश्रय तथा व्यावहारिक रूप है। आधुनिक विज्ञान में यही 'सक्रिय अंश' कहलाता है और क्वाथ आदि कल्पों में संक्रान्त होता है। आगे चलकर शिवदास ने इस शक्ति (वीर्य) को द्विविध बतलाया– एक चिन्त्यक्रियाहेतु और दूसरा अचिन्त्यक्रियाहेतु। दूसरे प्रकार को ही प्रभाव कहा। मेरी दृष्टि में यह विभाजन संगत नहीं है। वस्तुत: वीर्य और प्रभाव में अन्तर चिन्त्य और अचिन्त्य का न होकर सामान्य और विशिष्ट का है। सामान्य शक्ति वीर्य और विशिष्ट शक्ति प्रभाव है। चरक और वाग्भट के लक्षणों से यही प्रमाणित होता है। यदि कोई अचिन्त्य क्रिया होगी तो वह भी विशिष्ट में अन्तर्भूत रहेगी।

४. संख्या

शक्तिरूप-वीर्यवादी चरक वीर्य की संख्या अनेक मानते हैं अत: उन्हें बहुविध-वीर्यवादी भी कहते हैं। इनके मत में द्रव्य में अनेक शक्तियाँ रहती हैं; जिस पदार्थ से जैसा कार्य होता है उसमें वैसी शक्ति की कल्पना की जाती है।

पारिभाषिकवीर्यवादी या गुणवीर्यवादी सम्प्रदाय की दो शाखायें हैं– एक अष्टविध वीर्य मानता है और दूसरा द्विविध वीर्य मानता है।[१]

अष्टविधवीर्यवादियों का यह कथन है कि उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न गुण ही वीर्य कहलाते हैं किन्तु शक्ति का यह उत्कर्ष आठ गुणों में ही मिलता है अत: वीर्य की संख्या आठ ही है यथा गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु और तीक्ष्ण।[२] बीस गुर्वादि गुणों में ये आठ ही उत्कर्ष को क्यों प्राप्त करते हैं और इन्हीं की वीर्यसंज्ञा क्यों होती हैं इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित युक्तियाँ दी गई हैं[३]–

१. मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद् द्विविधमास्थिता:। शीतोष्णमिति–(च० सू० २६.६४)

२. गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणा:। परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणा:।। (अ० सं० सू० १७.४४)

३. तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौषधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा क्रमश: ....

१. **समग्रगुणसारता**– द्रव्य में रहने वाले सभी पदार्थों में सर्वाधिक सारवान् गुर्वादि आठ गुण हैं। ये अधिक काल तक बने रहते हैं और जठराग्नि के संयोग से भी इनका स्वरूप नहीं बदलता जब कि रसों में पर्याप्त परिवर्तन हो जाते हैं।

२. **शक्त्युत्कर्ष**– रसादि तथा अन्य गुणों की अपेक्षा इनमें शक्ति विशेषरूप से रहती है जिससे रसादि को अभिभूत कर ये कार्य करते हैं।[१]

३. **व्यवहारमुख्यता**– व्यवहार में गुर्वादि गुणों की ही प्रधानता देखी जाती है, अन्य गुणों की नहीं।

४. **बहुलता**– द्रव्यों में अन्य गुणों की अपेक्षा ये ही गुण बहुलता से मिलते हैं।

५. **उपयोगिता**– शारीर दृष्टि से गुर्वादि गुण अधिक उपयोगी हैं।

६. **प्रबलता**– शक्त्युत्कर्ष के कारण प्रबलता से रस, विपाक तथा द्रव, सान्द्र आदि अन्य गुणों को ये अभिभूत कर देते हैं यथा किसी मधुर रस में यदि तीक्ष्ण गुण हो तो वहाँ मधुर रस के कार्य, उपलेप आदि नहीं उत्पन्न होते।

सुश्रुत के एक स्थल पर (सू० अध्याय ४१ में) गुरु-लघु के बदले पिच्छिल और विशद को वीर्य लिखा गया है।[२] चक्रपाणि और डल्हण ने इस पाठ का समर्थन किया है इस आधार पर कि सुश्रुत गुरु-लघु विपाक मानते हैं अत: वीर्य के प्रसङ्ग में वे नहीं होंगे अत: उनके स्थान पर पिच्छिल-विशद मानते हैं। किन्तु हाराणचन्द्र ने इसको अनार्ष बतलाया है। उनका कथन है कि विशद और पिच्छिल का किसी ग्रन्थ में वीर्य होना नहीं लिखा है और सुश्रुत भी अन्तिम श्लोकों में गुरु-लघु को वीर्य मानते हैं अत: पिच्छिल-विशद के स्थान पर गुरु-लघु ऐसा पाठ शुद्ध होना चाहिए किन्तु चक्रपाणि तथा अन्य अनेक टीकाकारों ने उन श्लोकों को अनार्ष बतलाया है जिनके आधार पर गुरु-लघु का वीर्यत्व सुश्रुतमत से सिद्ध होता है। मेरे विचार से,

---

विशिष्टाम्नायविहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते, तथा हि तया रसविपाकगुणान्तरविजयिनो भूयांसश्च वरिष्ठाश्च गुणाः सङ्गृहीताः। (अ० सं० सू० १७.१९)।
गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते।। समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु।
व्यवहाराय मुख्यत्वाद् बह्वग्रग्रहणादपि।। अतश्च विपरीतत्वात् सम्भवत्यपि नैव सा।।
विवक्ष्यते रसाद्येषु, वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः। (अ० ह्० सू० ९.१४-१६)

१. शक्तिमत्वं रसाद्यभिभावकत्वम्। (स्व०)
वैद्यके हि रसविपाकप्रभावातिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणि गुणे वीर्यमिति संज्ञा, ...मृद्वादीनामष्टानां तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति (द्र० गु० सं० १.८-शि०)

२. तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदाः।
(सु० सू० ४१.११)

पिच्छिल और गुरु तथा विशद और लघु के कर्म समान होने से दोनों में शब्द का ही भेद है, तात्त्विक नहीं।

गुण वीर्यवादियों का एक सम्प्रदाय द्विविधवीर्यवादी है जो शीत और उष्ण दो ही वीर्य मानता है। इनकी युक्ति यह है कि सृष्टि पाञ्चभौतिक होने पर भी पञ्चमहाभूतों में अग्नि और सोम ये दो तत्त्व प्रबल होते हैं अत: जगत् को अग्नीषोमीय कहा गया है। पुरुष की उत्पत्ति में भी शुक्र सौम्य और आर्त्तव आग्नेय का संयोग ही कारण होता है अत: पुरुष भी अग्नीषोमीय है। काल सूर्य (आग्नेय) और चन्द्र (सौम्य) की प्रबलता के अनुसार आदान और विसर्ग दो भागों में विभक्त है।[१] त्रिदोष में भी पित्त आग्नेय तथा कफ सौम्य है, वात तो विक्षेप गुण के कारण योगवाही माना गया है क्योंकि यह शीत वस्तुओं के सम्पर्क में शीत और उष्ण के सम्पर्क में उष्ण हो जाता हैं। अत: त्रिदोष का भी दो वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। गुर्वादि गुणों का भी इन दो वर्गों में विभाजन हो सकता है। इस प्रकार आठ वीर्य न मानकर शीत और उष्ण ये दो ही वीर्य मानना चाहिए। जगत् की जिस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त तृतीय अवस्था नहीं है उसी प्रकार वीर्य भी दो ही हैं।

कर्मलक्षण वीर्यवादियों में नागार्जुन ने वीर्य की कोई संख्या निर्धारित नहीं की है। कर्म के अनुसार वे अनेक हो सकते हैं अत: चरक के समान यह भी बहुविधवीर्यवादी हैं किन्तु इसी सम्प्रदाय के आचार्य निमि ने पन्द्रह उत्कृष्ट कर्मों के अनुसार पन्द्रह वीर्य बतलाये हैं जिस प्रकार अष्टविधवीर्यवादियों ने उत्कृष्ट आठ गुणों को वीर्य माना है। उनके अनुसार पन्द्रह वीर्य निम्नाङ्कित हैं[२]–

---

१. अन्ये तु गुर्वादीनामग्नीषोमात्मकत्वादादानविसर्गविभागेन कालस्य चोष्णशीतात्मकत्वाद् द्विविधमेवामनन्ति। एवं चाहुः-
नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्।।
(अ० सं० सू० १७.२०-२१)
उष्णशीतगुणोत्कर्षात् तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्। (अ० स० सू० १.२७; अ० ह्० सू० १.१७)
उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च। नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ।।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्। (अ० ह्० सू० ९.१७-)

२. अब्भूमिजमधोभागं तेजोवायुजमूर्ध्वगम्। तथैवोभयतो भागं मह्याग्न्यनिलजं मतम्।।
साङ्ग्राहिकं विजानीयात् पृथिव्यनिलसम्भवम्। वायुसोममहीजातं तथा संशमनं विदुः।।
पृथिव्यनिलबाहुल्याद्दीपनं परिचक्ष्महे। पृथिव्यपां गुणैर्युक्तं जीवनीयमिति स्थितिः।।
वाय्वनलस्वभावाच्च प्राणघ्नं मदनं मतम्। प्राणघ्नं तीव्रभावात्तु दोषधातुप्रकोपनम्।।
मदनं चलधातुत्वाद् दोषकोपनमेव तु। अपां गुणबहुत्वात्तु शीतीकरणमिष्यते।।

क्रमशः ....

संख्या वीर्य	भौतिक सङ्घटन
१. अधोभागहर	जल + पृथिवी
२. ऊर्ध्वभागहर	अग्नि + वायु
३. उभयतोभागहर	पृथिवी + अग्नि + वायु
४. सांग्राहिक	पृथिवी + वायु
५. संशमन	वायु + जल + पृथिवी
६. दीपन	पृथिवी + अग्नि
७. जीवनीय	पृथिवी + जल
८. प्राणघ्न	वायु + अग्नि
९. मादन	वायु + अग्नि
१०. शीतीकरण	जल
११. शोथकर	पृथिवी + जल
१२. शोथघ्न	आकाश + वायु
१३. पाचन	अग्नि
१४. दारण	वायु + अग्नि
१५. रोपण	पृथिवी + जल + वायु

मेरी दृष्टि में, व्यावहारिक स्तर पर षड्विधवीर्यवाद ऋषिसम्मत है। यद्यपि स्पष्ट रूप से इसका अभिधान नहीं किया गया है तथापि चरक ने 'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया' से यह स्पष्ट सङ्केत कर दिया है कि वीर्य का कर्म से नियत सम्बन्ध है अत: ये चिकित्सोपयोगी भी हैं। चिकित्सा में षडुपक्रम विहित है-बृंहण-लङ्घन, स्तम्भन-स्वेदन तथा स्नेहन-रूक्षण, ये छ: कर्म क्रमश: ६ वीर्यों-गुरु-लघु, शीत-उष्ण तथा स्निग्ध-रूक्ष से सम्बद्ध हैं। रसों की संख्या के विषय में जो सम्भाषा है वहाँ भी ये ही छ: निर्दिष्ट हैं और पुन: रसों के गुण-तारतम्य के क्रम में इन्हीं ६ गुणों का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि चरक के मत में ये ही छ: गुण उत्कृष्ट हैं जो वीर्यकोटि में आकर कर्मसम्पादन में समर्थ होते हैं।[१] त्रिदोषवाद से भी इनका समुचित सामञ्जस्य घटित होता है। गुरु-लघु

भूम्यब्जं शोफकृद् विद्धि शोफघ्नं च खवायुजम्। अग्नेस्तु गुणबाहुल्यात् पाचनं परिचक्ष्महे।।
दारणं मारुताग्नेयं रोपणं भूजलानिलम्। एवमेतानि प्रोक्तानि यथावदनुपूर्वशः।।
दश पञ्च च कर्माणि गुणानां पाञ्चभौतिकात्। द्रव्येष्वेवं विजानीयात् कर्माणि दश पञ्च च।।
(निमि, र० वै० भा० ४.३० से उद्धृत)

१. देखें मेरा लेख 'चरकोक्त षड्विधवीर्यावाद' सचित्र आयुर्वेद, फरवरी, १९७६
वीर्यं षड्विधमुक्तं गुरुलघुशीतोष्णरूक्षसस्निग्धम्।
गुणसारत्वात् षण्णां षडुपक्रमकर्मयोगित्वात्।। (स्व०)

(बृंहण-लङ्घन), शीत-उष्ण (स्तम्भन-स्वेदन), और स्निग्ध-रूक्ष (स्नेहन-रूक्षण) क्रमश: कफ, पित्त और वात से सम्बद्ध हैं।

वीर्य	कर्म	दोष
१. गुरु	बृंहण	कफ (वर्धन)
२. लघु	लंघन	'' (क्षपण)
३. स्निग्ध	स्नेहन	वात (क्षपण)
४. रूक्ष	रूक्षण	'' (वर्धन)
५. शीत	स्तम्भन	पित्त (क्षपण)
६. उष्ण	स्वेदन	'' (वर्धन)

५. भौतिक सङ्घटन

वीर्य की निष्पति भी महाभूतों से होती है अत: किस महाभूत के उत्कर्ष से किस वीर्य की निष्पत्ति होती है इसका अध्ययन आवश्यक है। निम्नाङ्कित तालिका में वीर्यों का भूतोत्कर्ष बतलाया गया है[१]–

वीर्य	भूतोत्कर्ष
१. शीत	पृथिवी + जल
२. उष्ण	अग्नि
३. स्निग्ध	जल
४. रूक्ष	वायु
५. गुरु	पृथिवी + जल
६. लघु	अग्नि + वायु + आकाश
७. मृदु	जल + आकाश
८. तीक्ष्ण	अग्नि

पिच्छिल में पृथिवी और जल तथा विशद में पृथिवी और वायु की प्रधानता मानते हैं।

६. कर्म

१. **उष्ण वीर्य**– १. दहन (दाह उत्पन्न करना), २. पाचन (आहार-धातु-व्रणशोथ आदि को पकाना), ३. मूर्च्छन (मूर्च्छा-संज्ञानाश करना), ४. स्वेदन (स्वेद

१. तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ, शीतपिच्छिलौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठौ, अम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यं, विपाकौ (गुरुलघू) उक्तगुणौ। (सु० सू० ४१.११)

उत्पन्न करना), ५. वमन, ६. विरेचन, ७. विलयन (पिघलाना), ८. वात-कफशमन-पित्तजनन, ९. भ्रम उत्पन्न करना, १०. तृष्णा उत्पन्न करना, ११. ग्लानि, १२. लघु, १३. अवृष्य।[१]

२. **शीत वीर्य**– १. प्रह्लादन (सुखद), २. विष्यन्दन (स्रावों को रोकना), ३. स्थिरीकरण, ४. प्रसादन (निर्मलीकरण तथा रक्तपित्त को शान्त करना), ५. क्लेदन (आर्द्रता उत्पन्न करना), ६. जीवन (संज्ञास्थापन एवं आयुष्य), ७. स्तम्भन, ८. कफवातकर, ९. गुरु, १०. बल्य।[२]

३. **स्निग्ध वीर्य**– १. स्नेहन, २. बृंहण, ३. सन्तर्पण, ४. वाजीकरण, ५. वयः-स्थापन, ६. वातहर।[३]

४. **रूक्ष वीर्य**– १. सङ्ग्रहण (ग्राही), २. पीडन (व्रणपीडन), ३. विरूक्षण (रूक्षता उत्पन्न करना), ४. उपरोपण (व्रण को भरना), ५. वातवर्धन, ६. कफशमन।[४]

५. **गुरु वीर्य**– १. उपलेप, २. बृंहण, वातहर।[५]

६. **लघु वीर्य**– १. लेखन, २. कफहर।[६]

७. **मृदु वीर्य**– १. रक्तमांसप्रसादन, २. सुस्पर्शन, ३. पित्तशमन।[७]

---

१. कर्माण्यप्युष्णस्य दहनपाचनमूर्च्छनस्वेदनवमनविरेचनानि....तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ। (सु० सू० ४१.११)
तत्रोष्णं....विलयनानिलकफशमनानि करोति। (अ० सं० सू० १७.२२)
तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकिताः। शमं च वातकफयोः करोति। (अ० हृ० सू० ९.१८-)
उष्णं कफवातहरं पित्तकरं लघ्ववृष्यं च। (द्र० गु० सं० १.८)

२. शीतस्य प्रह्लादन-विष्यन्दन-स्थिरीकरण-प्रसादन-क्लेदन-जीवनानि। (सु० सू० ४१.११)
शीतं ह्लादनस्तम्भनजीवनरक्तपित्तप्रसादनादीनि। (अ० सं० सू० १७.२३)
शीतं कफमारुतकृद्वीर्यं गुरु पित्तनाशनं बल्यम्। (द्र० गु० सं० १.८)

३. स्निग्धस्य स्नेहन-बृंहण-सन्तर्पण-वाजीकरण-वयःस्थापनानि। उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ। (सु० सू० ४१.११)

४. रूक्षस्य अनिलवृद्धि-सङ्ग्रहण-पीडन-विरूक्षणोपरोपणानि। तीक्ष्णरूक्षविशदाः श्लेष्मघ्नाः। (सु० सू० ४१.११)

५. रूक्षगुरुलघवो विरूक्षणोपलेपलेखनादिना। (सु० सू० ४१.११-हा०)
गुरूष्णस्निग्धा वातघ्नाः। (वही)

६. लघुतीक्ष्णरूक्षाः श्लेष्मघ्नाः। (वही)

७. मृदो रक्तमांसप्रसादनसुस्पर्शनानि। (सु० सू० ४०.११)
शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः। (वही)

८. **तीक्ष्ण वीर्य**– १. सङ्ग्रहाचूषण (मलादिसङ्ग्रह को शोषित करना), २. अवदारण (विदीर्ण करना), ३. स्रावण (स्राव को बढ़ाना), ४. कफघ्न।[१]

विशद और पिच्छिल वीर्यों के निम्नाङ्कित कर्म हैं–

विशद– १. क्लेदाचूषण (आर्द्रता का शोषण करना), २. विरूक्षण (रूक्षता उत्पन्न करना), ३. उपरोहण (व्रण को भरना), ४. कफनाशन।[२]

पिच्छिल– १. उपलेपन (लेप करना), २. पूरण (भरना), ३. बृंहण, ४. संश्लेषण (जोड़ना), ५. वाजीकरण।[३]

विशद के कर्म लघुवीर्य में तथा पिच्छिल के कर्म गुरुवीर्य में मिलते हैं।

वीर्यों के कर्म

वीर्य	कर्म	दोषकर्म
१. शीत	प्रह्लादन, विष्यन्दन, स्थिरीकरण, प्रसादन, क्लेदन, जीवन, स्तम्भन, बल्य, गुरु, वृष्य	पित्तशमन, कफवातकर
२. उष्ण	दहन, पाचन, मूर्च्छन, स्वेदन, वमन, विरेचन, विलयन, भ्रम-तृष्णा-ग्लानिजनन, लघु, अवृष्य	कफवातशमन, पित्तकर
३. स्निग्ध	स्नेहन, बृंहण, सन्तर्पण, वाजीकरण, वयःस्थापन	वातहर
४. रूक्ष	सङ्ग्रहण, पीडन, विरूक्षण, उपरोपण	वातकर, कफहर
५. गुरु	उपलेप, बृंहण, संश्लेषण, वाजीकरण, पूरण	वातहर
६. लघु	लेखन, क्लेदाचूषण, विरूक्षण, उपरोहण	कफहर
७. मृदु	रक्तमांसप्रसादन, सुस्पर्शन	पित्तहर
८. तीक्ष्ण	सङ्ग्रहाचूषण, अवदारण, स्रावण	कफहर

७. उपलब्धि

वीर्य का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से होता है। कुछ द्रव्यों का वीर्य जिह्वा या त्वचा के साथ सम्पर्क (निपात) होते ही प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है, कुछ द्रव्यों का शरीर में उसकी उपस्थिति (अधीवास) के कारण उत्पन्न कर्मों के द्वारा

---

१. तीक्ष्णस्य संग्रहाचूषणावदारणस्रावणानि। (सु० सू० ४०.११)

२. विशदस्य क्लेदाचूषणविरूक्षणोपरोहणानि। तीक्ष्णरूक्षविशदाः श्लेष्मघ्नाः। (सु० सू० ४१.११)

३. पिच्छिलस्योपलेपन-पूरण-बृंहण-संश्लेषण-वाजीकरणानि। (वही)

अनुमान से होता है तथा कुछ द्रव्यों का वीर्य सम्पर्क और अधीवास दोनों से प्रतीत होता है। इस प्रकार वीर्य की उपलब्धि तीन प्रकार से होती है[१]–

क्रिया	प्रमाण	उदाहरण
१. निपात	प्रत्यक्ष	मरिच (तीक्ष्ण)
२. अधीवास	अनुमान	आनूपमांस (उष्ण)
३. निपात-अधीवास	प्रत्यक्ष + अनुमान	मरिच (उष्ण)

वस्तुतः द्रव्य के सेवन (निपात) के बाद जब तक वह शरीर में रहता है (अधीवास) तब तक वीर्य का कर्म होता रहता है। एक निश्चित समय के बाद द्रव्य शरीर से बाहर उत्सृष्ट हो जाता है तब क्रिया समाप्त हो जाती है, अतः उस कर्म की निरन्तरता बनाये रखने के लिए पुनः द्रव्य को ग्रहण करना पड़ता है।

इनमें विभिन्न वीर्यों के निपात से विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है यथा–

मृदु-शीत-उष्ण	स्पर्शग्राह्य
पिच्छिल-विशद	चक्षु और स्पर्श से ग्राह्य
स्निग्ध-रूक्ष	चक्षुर्ग्राह्य
तीक्ष्ण	मुख में दुःखोत्पादन से प्रतीत[२]

८. वीर्य का निर्धारण

जो द्रव्य रस में मधुर तथा विपाक में मधुर होता है उसका वीर्य शीत और अम्ल रस-विपाक तथा कटुरस-विपाक द्रव्य का वीर्य उष्ण होता है यथा दुग्ध, चाङ्गेरी और चित्रक।[३] इसके कुछ अपवाद भी हैं यथा–

१. वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते। (च० सू० २६.६६)
किञ्चिद् वीर्यमधीवासादुपलभ्यते, यथा–आनूपमांसादेरुष्णत्वं; किञ्चिच्च निपातादेव लभ्यते, यथा–मरीचादीनां तीक्ष्णत्वादि; किञ्चिच्च निपाताधीवासाभ्यां, यथा–मरीचादीनामेव। एतेन रसः प्रत्यक्षेणैव; विपाकस्तु नित्यपरोक्षः, तत्कार्येणानुमीयते; वीर्यं तु किञ्चिदनुमानेन, यथा–सैन्धवगतं शैत्यम्, आनूपमांसगतमौष्ण्यं वा, किञ्चिच्च वीर्यं प्रत्यक्षेणैव, यथा–राजिकागतं तैक्ष्यं घ्राणेन, पिच्छिलविशदस्निग्धरूक्षादयः चक्षुःस्पर्शनाभ्यां निश्चीयन्त इति वाक्यार्थः।
(च० सू० २६.६६–चक्र०)

२. तेषां मृदुशीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिलविशदौ चक्षुःस्पर्शाभ्यां, स्निग्धरूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखे दुःखोत्पादनेन। (सु० सू० ४१.११)

३. शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। तयोरम्लं यदुष्णं च यद्द्रव्यं कटुकं तयोः।।
तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसङ्ग्रहः। वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ।।
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ। (च० सू० २६.४६–४७)

बृ० पञ्चमूल	कषाय-तिक्त	उष्ण
आनूपमांस	मधुर	उष्ण
सैन्धव	लवण	नोष्ण
आमलक	अम्ल	नोष्ण
अर्क, अगुरु, गुडूची	तिक्त	उष्ण
धातकी	कषाय	शीत
हरीतकी	कषाय	उष्ण[१]

९. वीर्य का प्राधान्य

द्रव्यगत पदार्थों में वीर्य सर्वप्रधान है क्योंकि औषध द्रव्यों के विभिन्न कर्म इसी के कारण होते हैं।[२] इसके अतिरिक्त यह अपने बल और गुण के उत्कर्ष के कारण रस आदि को अभिभूत कर अपने कर्म का सम्पादन करता है।[३] यथा–

द्रव्य	रस	कर्म	कारण (वीर्य)
१. बृहत्पञ्चमूल	कषायतिक्त	वातहर	उष्ण
२. कुलत्थ	कषाय	वातहर	स्निग्ध
३. पलाण्डु	कटु	वातहर	स्निग्ध
४. इक्षुरस	मधुर	वातकर	शीत
५. पिप्पली	कटु	पित्तहर	मृदुशीत
६. आमलक	अम्ल	पित्तहर	मृदुशीत
७. सैन्धव	लवण	पित्तहर	मृदुशीत
८. काकमाची	तिक्त	पित्तकर	उष्ण
९. मत्स्य	मधुर	पित्तकर	उष्ण
१०. मूलक	कटु	कफकर	स्निग्ध
११. कपित्थ	अम्ल	कफहर	रूक्ष
१२. मधु	मधुर	कफहर	रूक्ष[४]

१. मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च। यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपमामिषम्।।
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा। अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते।।
कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा। (च० सू० २६.४८–४९, ५१)

२. वीर्यं प्रधानमिति। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभाग-संशोधनसंशमनसाङ्ग्राहिकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयन-दहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद् भवन्ति। (सु० सू० ४०.५)

३. एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। (सु० सू० ४०.५)

४. एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा–तावन् महत्पञ्चमूलं

क्रमशः ....

ये वीर्य रसों को अभिभूत कर देते हैं अत: इनकी उपस्थिति में रसों का कार्य नहीं होने पाता यथा– वातशामक रसों में यदि रूक्ष, लघु और शीत का सम्पर्क हो तो उनका वातशमन कर्म नहीं होता। इसी प्रकार पित्तशामक रसों में यदि तीक्ष्ण, उष्ण और लघु का सान्निध्य हो तो उनका कर्म नहीं होता। कफशामक रसों में भी यदि स्निग्ध, गुरु और शीत वीर्य का साहचर्य हो तो उनसे कफ का शमन नहीं होता।[१]

इस प्रकार वीर्य की प्रधानता सिद्ध होती है।

नागार्जुन ने वीर्य की प्रधानता में निम्नाङ्कित युक्तियाँ दी हैं–

१. **वीर्यवान् द्रव्यों का प्राधान्य**[२]– चिकित्सा में वीर्यवान् द्रव्यों का ही प्रयोग किया जाता है, निर्वीर्य का नहीं।

२. **कर्मनिष्पत्ति**[३]– वीर्य के द्वारा ही औषधों का कर्म होता है।

३. **रसाभिभव**[४]– रसादि को अभिभूत कर यह कर्म-सम्पादन में समर्थ होता है अत एव तुल्यरस-गुणयुक्त द्रव्यों में इसके कारण कर्म में वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है।

४. **आप्तोपदेश**[५]– आचार्यों ने अपनी संहिताओं में वीर्य की प्रधानता बतलाई है।

*

कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थ: कषाय:, कटुक: पलाण्डु:, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं च; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्।। (सु० सू० ४०.५)

१. भवन्ति चात्र–
ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै। रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्यु: समीरणम्।।
ये रसा: पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै। तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिण:।।
ये रसा: श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै। स्नेहगौरवशैत्यानि न ते तत्कर्मकारिण:।।
(सु० सू० ४०.६-८)

२. वीर्यं प्रधानमित्येके। (र० वै० १.१३०)
वीर्यप्राधान्याद् द्रव्याणाम्। (र० वै० १.१३०-भा०)

३. तेन कर्मकरणात्। (र० वै० १.१३१)

४. तुल्यरसगुणेषु विशेषात्। (र० वै० १.१३७)

५. आगमाच्च। (र० वै० १.१४०)
वीर्यत: कार्यसामर्थ्यं द्रव्याणां भिषजो विदु:। (र० वै० १.१४०-भा०)

सप्तम अध्याय

प्रभाव

१. निरुक्ति

'प्रभवति विशिष्टकर्मसमर्थं भवति द्रव्यमनेन इति प्रभाव:'। अर्थात् जिससे द्रव्य में विशिष्ट कर्म सामर्थ्य होता है उसे प्रभाव कहते हैं।

२. लक्षण

रस, वीर्य और विपाक समान रहने पर भी जहाँ कर्म में विशेषता प्रतीत होती है उसका कारण एक विशिष्ट शक्ति मानी जाती है। इस विशिष्ट शक्ति (Specific potency) को प्रभाव कहा जाता है।[१] यथा चित्रक और दन्ती रस (कटु), विपाक (कटु) और वीर्य (उष्ण) में परस्पर समान होने पर भी दन्ती रेचन है किन्तु चित्रक नहीं। इसका कारण दन्ती में विशिष्ट शक्ति है जो चित्रक में नहीं है। इसी का नाम प्रभाव है। इसी प्रकार विषों की विषघ्न क्रिया, वमन और विरेचन द्रव्यों का विशिष्ट कर्म, अनेक मणियों और औषधों का कर्म प्रभावजन्य है। तिल और मदनफल दोनों मधुर, कषाय, तिक्त, स्निग्ध और पिच्छिल हैं किन्तु प्रभाव के कारण मदनफल वामक है, तिल नहीं। मधुयष्टी और मृद्वीका दोनों मधुर और शीत हैं किन्तु मृद्वीका विरेचन है, मधुयष्टी नहीं। दुग्ध और घृत का रस (मधुर) और वीर्य (शीत) समान हैं किन्तु घृत प्रभावत: दीपन है, दुग्ध नहीं। इसी प्रकार लशुन कटुरस-विपाक तथा स्निग्ध गुरुवीर्य होने से कफवात-शामक है उनका वर्धक नहीं, इसका कारण प्रभाव है। आमलकी और रक्तशालि का त्रिदोषहर, यवक का त्रिदोषकोपन, शिरीष का विषघ्न, निद्रा का विषवर्धन, अगददर्शन से विषहरण, वाजीकरण से शीघ्र शुक्रोत्पत्ति, शङ्खपुष्पी आदि का मेध्य, रसायनों का आयुष्य, वशीकरण, पुंसवन, रक्षोघ्न, शल्यार्कषण आदि कर्म प्रभाव जन्य हैं।[२]

---

१. रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते। विशेष: कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृत:।।
(च०सू० २६.६७)
रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्। (अ० सं० सू० १७.५२, अ० हृ० सू० ९.२६)
रसवीर्यविपाकादिगुणातिशयवानलम्। द्रव्यस्वभावो निर्दिष्टो य: प्रभाव: स कीर्तित:।।
(अ० हृ० सू० ९.२६-अ०द०)
विशिष्टकर्मकरणे प्रभावो हेतुरुच्यते। द्रव्यसङ्घातवैशेष्यान् मेध्यादौ परिलक्षित:।। (स्व०)

२. कटुक: कटुक: पाके वीर्योष्णश्चित्रको मत:। तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्।।

क्रमश: .....

३. स्वरूप

वीर्य के प्रकरण में शिवदास ने जो यह लिखा है कि "द्रव्यगत शक्ति दो प्रकार की होती है– एक चिन्त्यक्रिया हेतु और दूसरी अचिन्त्यक्रिया हेतु। पहले को वीर्य तथा दूसरे को प्रभाव कहते हैं" वह युक्तिसङ्गत नहीं है। वस्तुत: वीर्य और प्रभाव में अन्तर चिन्त्य-अचिन्त्य का नहीं अपितु सामान्य-विशिष्ट का है जैसा कि चरकोक्त एवं वाग्भटोक्त लक्षणों में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। यदि कुछ मणिमन्त्रादि के अचिन्त्य कर्म होंगे तो वे विशिष्ट कर्म ही कहे जायेंगे।

प्रभाव द्रव्य की स्वाभाविक विशेषता के कारण होता है अत: इसे 'द्रव्यस्वभाव' कहा गया है। 'द्रव्यस्वभाव' का अर्थ है द्रव्य का स्वाभाविक रासायनिक सङ्घटन तथा उसके कारण द्रव्य की विशिष्ट कर्मशक्ति। वमन-विरेचन आदि द्रव्यों के कर्म की व्याख्या इस आधार पर की जा सकती है तब इसे अचिन्त्य कैसे कहा जाय? उस काल में स्वभाव अचिन्त्य होने के कारण कतिपय आचार्यों तथा टीकाकरों ने प्रभाव को भी अचिन्त्य कह दिया। रसादि गुणों को अभिभूत करने के कारण यह 'सर्वातिशायी' कहा गया है।

सुश्रुत ने स्पष्टत: प्रभाव का वर्णन नहीं किया है किन्तु कहीं-कहीं कुछ भेषजों के लिए 'अमीमांस्य' और 'अचिन्त्य' शब्दों का प्रयोग किया है जिससे प्रभाव का सङ्केत मिलता है। उनका कथन है कि जिन द्रव्यों के फल प्रत्यक्ष हैं और कर्म प्रसिद्ध हैं उनका आप्तोदेश से ही व्यवहार करना चाहिए क्योंकि सहस्रों युक्तियों से भी उनके स्वभाव की व्याख्या नहीं की जा सकती इसलिए कि वे अमीमांस्य और अचिन्त्य हैं।[१]

विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्। ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्।।
मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्। तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते।।
(च० सू० २६.६८-७०)

दन्ती रसाद्यैस्तुल्यापि चित्रकस्य विरेचनी। मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्।।
कटुपाकरसस्निग्धगुरुत्वै: कफवातजित्। लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणै:।।
मिथो विरुद्धा वातादीन् लोहिताद्या जयन्ति यत्। कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत् प्रभावविजृम्भितम्।।
शिरीषादि विषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विवृद्धये। मणिमन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम्।।
शल्याहरणपुञ्जन्मरक्षायुर्धीवशादिकम्। दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागद:।।
विरेचयति यद् वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा। ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च।।
मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम्। तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्य: स उच्यते।।
(अ० स० सू० १७.५३-५९)

१. अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावत:। आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणै:।।
प्रत्यक्षलक्षणफला: प्रसिद्धाश्च स्वभावत:। नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन।।
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरिचयेत्। तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमेन तु हेतुषु।।
(सु० सू० ४०.१९-२१)

रसवैशेषिककार नागार्जुन ने वीर्यप्रकरण में 'अचिन्त्य' और 'अनवधारणीय' शब्दों से प्रभाव का सङ्केत किया है।[१]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्रेय सम्प्रदाय के आचार्य (चरक, वाग्भट आदि) प्रभाव को द्रव्य-स्वभाव के रूप में स्पष्टत: स्वीकार करते थे किन्तु धन्वन्तरि सम्प्रदाय के आचार्य (सुश्रुत, नागार्जुन आदि) उसका पृथक् वर्णन न कर वीर्य के प्रकरण में ही 'अचिन्त्य' और 'अनवधारणीय' रूप में समावेश करते थे। इसका कारण सम्भवत: यह था कि दोनों ही शक्ति हैं एक सामान्य और दूसरी विशिष्ट।

सुश्रुत ने ओषधियों की परीक्षा में हेतु से विरत रहने का जो उपदेश दिया वह वर्तमान परिवेष में बुद्धिगम्य नहीं होता। यद्यपि उस काल में इसे शक्ति का अपव्यय समझा गया हो।

४. प्रभावजन्य कर्म

सुश्रुत ने संशोधन, संशमन, साङ्ग्राहिक, अग्निदीपन, पीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, विलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणघ्न, विषप्रशमन आदि कर्मों को वीर्यप्राधान्य के कारण होना लिखा है। इनमें दीपन, बृंहण आदि अनेक कर्म वीर्यजन्य तथा संशोधन, मादन आदि कर्म प्रभावजन्य हैं। मणियों के धारण एवं मन्त्रों से जो कर्म होता है वह भी प्रभावजन्य माना जाता है। सुविधा के लिए प्रभावजन्य कर्मों को आधुनिक दृष्टि से निम्नाङ्कित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

१. **औषधीय कर्म** (Pharmacological)– यथा दन्ती आदि का रेचन कर्म।
२. **अगदीय कर्म** (Toxicological)– यथा शिरीष आदि का विषघ्न प्रभाव।
३. **रक्षोघ्न कर्म** (Bacteriological)– यथा गुग्गुलु, जटामांसी आदि द्रव्यों से भूतों का निवारण।
४. **मानस कर्म** (Psychological)– यथा वशीकरण आदि।
५. **भौतिक कर्म** (Physical)– यथा चुम्बक से शल्यापकर्षण।

प्रभावजन्य विशिष्ट कर्म का आधार

इस सम्बन्ध में कविराज गङ्गाधर का विचार माननीय है। उनका कथन है कि द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों में द्रव्य से सजातीय द्रव्य की उत्पत्ति होती है और गुण से भी सजातीय गुण की उत्पत्ति होती है किन्तु कर्म के सम्बन्ध में ऐसा

---

१. रसगुणभूतसमुदायाश्रय एषामनवधारणीय:, तथारसगुणभूतसमुदायानामन्येषामन्यथा-वीर्यत्वात् (र० वै० ४.२८)

कोई नियम नहीं है और कर्म कर्मसाध्य है भी नहीं। अत: जहाँ द्रव्य, गुण और कर्म तीनों सजातीय हों वहाँ वीर्यजन्य कर्म होता है और जहाँ कर्म विजातीय होता है वहाँ प्रभावजन्य कर्म माना जाता है।[१] कविराज गङ्गाधर प्रभाव को कर्म मानते हैं किन्तु जब कर्म कर्मसाध्य नहीं है तब फिर द्रव्य इस प्रभावरूप कर्मविशेष से विरेचनादि कर्म करने में कैसे समर्थ होते हैं, यह विचारणीय है। वस्तुत: प्रभाव शक्ति है, कर्म नहीं। एक साधन और दूसरा साध्य है।

भौतिक सङ्घटन की दृष्टि से द्रव्य दो प्रकार के होते हैं– एक समान-प्रत्ययारब्ध और दूसरा विचित्र-प्रत्ययारब्ध। जिन द्रव्यों में द्रव्य और तद्गत रसादि का भौतिक सङ्घटन समान हो उन्हें समान प्रत्ययारब्ध कहते हैं यथा दुग्ध, चित्रक आदि। इनमें रस के अनुकूल ही सब कार्य होते हैं। इसके विपरीत, जिनमें द्रव्य और तदाश्रित रसादि का भौतिक सङ्घटन भिन्न-भिन्न हो उन्हें विचित्र-प्रत्ययारब्ध कहते हैं उनके कर्म रसादि से भिन्न प्रकार के होते हैं।[२] यथा–

	द्रव्य	प्रकार	गुण	कर्म
१.	गोधूम	समानप्रत्ययारब्ध	मधुर, गुरु	वातहर
	यव	विचित्रप्रत्ययारब्ध	,, ,,	वातकर

१. स्वस्वारम्भकद्रव्यसंयोगे समवेतानां तेषां द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यगुणयो: सजातीयारम्भकत्वात् तत्र द्रव्यात् सजातीयद्रव्यान्तरं जायते, गुणात् सजातीयगुणान्तरं जायते, कर्मणां तु सजातीयकर्मारम्भकत्वनियमाभावात् कर्मसाध्यकर्माभावाच्च यत्र विजातीयं कर्म तदारम्भकद्रव्याणां कर्माण्यारभन्ते, तद् विजातीयं कर्म खल्वचिन्त्यं, स प्रभाव उच्यते। कार्यभूतं कर्मेदं, कर्मपदार्थ: प्रभाव:। कार्यद्रव्यं दन्त्यादिकं तत्कर्मविशेषेण स्वीयेन प्रभावेण विरेचनादि कर्म करोति इति।
(च० सू० २६.६७-गं०)

२. इति सामान्यत: कर्म द्रव्यादीनां, पुनश्च तत्। विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते।।
(अ० ह्० सू० ९.२७-)
तदेवं द्रव्याणां द्वैविध्यं, यत: कानिचिद् द्रव्याणि यैरेव महाभूतैर्यथाविधै रसादय आरब्धास्तैरेव तथाविधैर्महाभूतैस्तदाश्रयाण्यपि द्रव्याण्यारब्धानि तानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्युच्यन्ते। तानि च यथायथं तत् कर्म रसाद्यनुगुणं सामान्यात् कुर्वते; यथा-क्षीरेक्षुशर्करादीनि। कानिचित् पुनस्तदाश्रितरसादिसमारम्भकमहाभूतान्यन्यानि तदाश्रयद्रव्यारम्भकाण्यन्यानि च महाभूतानि, तैरारब्धानि तानि विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तानि च यथायथं रसाद्यनुगुणं कर्म न कुर्वन्ति, भिन्नत्वाद्धेतुभावस्य; यथा–मकुष्ठ-यव-मत्स्य-सिंहादीनि। (अ० ह्० सू० ९.२७-अ०द०)
क्वचिद् द्रव्ये यादृगेव भूतसङ्घातो द्रव्यस्यारम्भक: तादृगेव रसादीनां, तत् समानप्रत्ययारब्धं, तत् सामान्यगुणान्नातिक्रामति; क्वचिदन्यादृग्भूतसङ्घातो द्रव्यस्यारम्भकोऽन्यादृग्-सस्यान्यादृग्गुणस्येत्यादि, तद् विचित्रप्रत्ययारब्धं, तत् सामान्यगुणानतिक्रामति।
(अ० ह्० सू० ९.२७-हे०)

	द्रव्य	प्रकार	गुण	कर्म
२.	दुग्ध	समानप्रत्ययारब्ध	मधुर, गुरु	शीतवीर्य
	मत्स्य	विचित्रप्रत्ययारब्ध	,, ,,	उष्णवीर्य
३.	शूकर	समानप्रत्ययारब्ध	,, ,,	मधुरविपाक
	सिंह	विचित्रप्रत्ययारब्ध	,, ,,	कटुविपाक
४.	घृत	,, ,,	शीतवीर्य	दीपन
५.	वसा	,, ,,	उष्णवीर्य	अग्निसादन
६.	मुद्ग	,, ,,	कटुविपाक	पित्तशामक
७.	माष	,, ,,	मधुरविपाक	पित्तवर्धक
	फाणित	,, ,,	गुरु, स्निग्ध-उष्ण	वातकर
८.	दधि	,, ,,	गुरु	दीपन
	पारावत	समानप्रत्ययारब्ध	गुरु	अदीपन
९.	कपित्थ	विचित्रप्रत्ययारब्ध	अम्लरस	ग्राही
	दाडिम			
	धात्री	समानप्रत्ययारब्ध	,,	सर
१०.	धातकीपुष्प	समानप्रत्ययारब्ध	कषायरस	शीतवीर्य, ग्राही
	हरीतकी	विचित्रप्रत्ययारब्ध	,,	उष्णवीर्य, रेचन[१]

५. प्रभाव का प्राधान्य

द्रव्यगत पदार्थों में प्रभाव सर्वोपरि है क्योंकि अन्य पदार्थ द्रव्य के आश्रित हैं किन्तु प्रभाव द्रव्य का ही स्वभाव है और द्रव्य-स्वभाव होने से यह सब का आधार है। अत: सर्वप्रधान माना गया है।[२]

१. स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यव:। उष्णा मत्स्या:, पय: शीतं, कटु: सिंहो न शूकर:।।
(अ० ह्० सू० ९.२९)
यस्माद्दृष्टो यव: स्वादुर्गरुरप्यनिलपद:। दीपनं शीतमप्याज्यं वसोष्णाऽप्यग्निसादिनी।।
कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो मुद्गो माषस्तु पित्तल:। स्वादुपाकोऽपि, चलकृत् स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम्।।
कुरुते दधि गुर्वेव वह्निं पारावतं न तु। कपित्थं दाडिमं साम्लं ग्राहि नामलकीफलम्।।
कषाया ग्राहिणी शीता धातकी न हरीतकी। (अ० सं० सू० १७.४७-४८, ५०-)

२. अप्रधाना: पृथक् तस्माद् रसाद्या: संश्रितास्तु ते। प्रभावाश्च यतो द्रव्ये, द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम्।।
(अ० सं० सू० १७.५१-)

नागार्जुन ने प्रभाव की प्रधानता में निम्नाङ्कित युक्तियाँ दी हैं[१]–

१. **अचिन्त्यता**– अचिन्त्य होने से प्रभाव प्रधान होता है।

२. **दैवप्रतीघात**– राक्षस, पिशाच आदि का नाश करने के कारण प्रभाव प्रधान है।

३. **विषप्रतीघात**– विषनाशन के कारण प्रभाव की प्रधानता सिद्ध है। प्रयोग से ही नहीं, दर्शन-श्रवण से भी विष नष्ट हो जाता है, इसका कारण प्रभाव ही है।

४. **कर्मवैशिष्ट्य**– द्रव्यों का रस, गुण आदि समान होने पर उनके कर्म में विशेषता देखी जाती है यथा तिक्त, शीत, मृदु, लघु, निम्ब कुष्ठघ्न है किन्तु अरलु तद्गुणयुक्त होने पर भी स्तम्भन है।

५. **अद्भुत कर्म**– वशीकरण आदि तथा मणिमन्त्रौषधिधारणजन्य अद्भुत कर्मों को देखकर प्रभाव की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है।

६. **आगम**– शास्त्रों में स्वभाव को सर्वोपरि माना गया है अत: प्रभाव सर्वप्रधान है, यह सिद्ध होता है।

६. वीर्य और प्रभाव में अन्तर

उपर्युक्त विवेचनों से वीर्य और प्रभाव में अन्तर स्पष्ट हो जाता है तथापि इसे स्पष्टतर बनाने के लिए विभाजक बिन्दुओं के क्रम से निम्नाङ्कित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

१. **साध्य**– वीर्य का साध्य सामान्य कर्म है जबकि प्रभाव का साध्य विशिष्ट कर्म है। कुछ लोग चिन्त्य और अचिन्त्य कर्म का हेतु क्रमश: वीर्य और प्रभाव को मानते हैं। वस्तुत: इनका समावेश क्रमश: सामान्य विशिष्ट कर्म में हो जाता है। उदाहरणार्थ, निर्गुण्डी का साध्य कर्म वातशमन वीर्य (उष्ण) का है और शङ्खपुष्पी का विशिष्ट मेध्य कर्म प्रभावजन्य है।

२. **औषधीय स्वरूप**– वीर्यजन्य कर्म का आश्रय द्रव्य दोषप्रत्यनीक कहलाता है यथा शतावरी वीर्य (शीत) के कारण पित्तशमन कर्म करने के कारण

१. अचिन्त्यत्वात्। (र० वै० १.१३३)
दैवप्रतीघातात्। (र० वै० १.१३४)
विषप्रतीघातात्। (र० वै० १.१३५)
दर्शनाच्छ्रवणात्। (र० वै० १.१३६)
तुल्यरसगुणेषु विशेषात्। (र० वै० १.१३७)
दर्शनाच्चाद्भुतादीनां कर्मणाम्। (र० वै० १.१३९)
आगमाच्च। (र० वै० १.१४०)

दोषप्रत्यनीक है। किन्तु जो द्रव्य विशिष्ट व्याधि पर प्रभावजन्य कर्म करता है वह व्याधिप्रत्यनीक है यथा क्रिमिनाशक विडङ्ग, कुष्ठघ्न खदिर आदि।

३. **आधार**– वीर्य का आधार गुणवैशेष्य है जबकि प्रभाव का आधार द्रव्यवैशेष्य[१] है यथा चन्दन का पित्तहर्तृत्व शीतगुणोत्कर्ष (वीर्य) के कारण है जबकि सर्पगन्धा का निद्राजनन कर्म द्रव्य की विशेषता के कारण अत: प्रभावजन्य है। आधुनिक काल में पादपरसायनविज्ञान के विकास के कारण द्रव्य के अनेक कार्मुक अंश पृथक् कर उनके विशिष्ट कर्म निर्धारित किये गये हैं, ये सब प्रभावजन्य हैं।

चरक ने इसी सन्दर्भ में गुणप्रभाव (वीर्य) और द्रव्यप्रभाव (प्रभाव) का उल्लेख किया है।

	वीर्य	प्रभाव
१. साध्य	सामान्य कर्म	विशिष्ट कर्म
२. औषधीय स्वरूप	दोषप्रत्यनीक	व्याधिप्रत्यनीक
३. आधार	गुणवैशेष्य	द्रव्यवैशेष्य

*

१. गुणवैशेष्यजनितसामान्यकर्मसाधनं वीर्यम्, द्रव्यवैशेष्यजनितविशिष्टकर्मसाधनं प्रभाव: इति द्वयोरितरेतरव्यावर्तकं लक्षणम्। द्रव्येऽद्रव्यस्यान्तर्भूतत्वान्मन्त्रादीनामपि ग्रहणम्। (स्व०)

अष्टम अध्याय

द्रव्यगत पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध

पिछले अध्यायों में द्रव्य एवं तदाश्रित रसादि पदार्थों का वर्णन किया जा चुका है तथा उनकी आपेक्षिक प्रधानता भी बतलाई है। अब इन पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है तथा इसका वैज्ञानिक आधार क्या है इसके सम्बन्ध में विचार करना है। इस प्रसङ्ग में निम्नाङ्कित तीन नियमों को ध्यान में रखना चाहिए–

प्रथम नियम– सामान्यत: मधुर रसवाले द्रव्य का विपाक मधुर एवं वीर्य शीत होता है। इसी प्रकार अम्ल रस का विपाक अम्ल और वीर्य उष्ण तथा कटुरस का विपाक कटु और वीर्य उष्ण होता है।[१] लवणरस का विपाक मधुर किन्तु वीर्य उष्ण और तिक्त एवं कषाय रसों का विपाक कटु किन्तु वीर्य शीत होता है। विचित्र-प्रत्ययारब्ध द्रव्यों में इसके विपरीत भी हो सकता है यथा क्षीर, तिन्तिडीक, मरिच, सामुद्र, निम्ब, धातकी।

द्वितीय नियम– स्वभावत: द्रव्यगत रसादि पदार्थों का समान बल होने पर सामान्यत: रस को विपाक, रस और विपाक को वीर्य तथा इन सबको प्रभाव दबाकर अपना कर्म करता है।[२] यथा पिप्पली में कटुरस को दबाकर मधुर विपाक वृष्यकर्म करता है। बृ० पञ्चमूल में रस (कषाय, तिक्त) और विपाक (कटु) दोनों को दबाकर वीर्य (उष्ण) वातशमन कर्म करता है। रस (कटु), विपाक (कटु) तथा वीर्य (उष्ण) इन सबको दबाकर प्रभाव से दन्ती रेचन कर्म करती है।

तृतीय नियम– यदि द्रव्यगत रसादि पदार्थों का बल विषम हो तो उनमें जो प्रबल होता है वह अन्य को दबा देता है क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है कि विरुद्ध गुण का संयोग होने पर प्रबल दुर्बल को पराजित कर देता है।[३] इसलिए

---

१. शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयो:। तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयो:।।
तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसङ्ग्रह:। वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते।।
(च० सू० २६.४५-४६)

२. रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति। बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्।।
(च० सू० २६.७२-)

३. यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्त्तते। अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते।।
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते। (अ० सं० सू० १७.३१-)

प्रबलता के अनुसार कहीं रस से, कहीं विपाक से, कहीं वीर्य से तथा कहीं प्रभाव से कर्म होता है यथा रक्तार्कपुष्प में रस (मधुर, तिक्त) विपाक (कटु) तथा वीर्य (उष्ण) को दबाकर रक्तपित्त को शान्त करता है। शुण्ठी का विपाक (मधुर) रस (कटु) तथा वीर्य (उष्ण) को दबाकर वृष्यकर्म करता है। हिंगु रस में कटुतिक्त तथा विपाक में कटु होने पर भी वीर्य (उष्ण) के कारण वातशामक है। आमलक, अम्लरस, मधुरविपाक, शीतवीर्य होने पर भी प्रभावात् त्रिदोषशमन है।[१]

चतुर्थ नियम– बलविरोध होने पर भी रसादि पदार्थों का अपना-अपना कर्म बिलकुल नष्ट नहीं होता है यथा सत्त्वरजतम और वातपित्तकफ परस्पर विरोधी होते हुए भी अपने-अपने कर्म करते हैं उसी प्रकार रसादि पदार्थ परस्पर बलविरोध होने पर भी अपने-अपने कर्म करते हैं।[२] इसलिए द्रव्य का कुछ कर्म रस से, कुछ गुण से, कुछ विपाक से, कुछ वीर्य से तथा कुछ प्रभाव से होता है और इस प्रकार सबका समन्वित कर्म द्रव्य का कर्म कहा जाता है। इस दृष्टि से रसादि सब पदार्थों की प्रधानता समान है।[३] यथा– गुडूची तिक्तरस होने से कफपित्तहर, उष्णवीर्य होने से वातहर, मधुरविपाक होने से वृष्य तथा प्रभाव से वातरक्त का नाशन है।

इस नियम का आधार यह है कि जिस कर्म में रसादि का परस्पर विरोध पड़ता है उसी कर्म में प्रबल पदार्थ अन्य पदार्थों को दबाकर अपना कर्म करता है किन्तु उसके अन्य कर्म तो नियमत: होते ही हैं यथा गुडूची में ही उष्ण वीर्य से तिक्तरस बाधित होकर वातवर्धन नहीं करता फिर भी उसका पित्तकफशमन कर्म तो होता है। मधुरविपाक से तिक्तरस बाधित होकर अवृष्य कर्म नहीं करता फिर भी उसके दीपन, पाचन तथा कफशमन आदि कर्म तो होते ही हैं। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में समझना चाहिए।

*

---

१. किञ्चिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन।। (च० सू० २६.७१-)

२. विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्या: कार्यसाधने।
नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा।। (अ० सं० सू० १७.३४)

३. पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसङ्ग्रह:। चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चित:।।
तद्द्रव्यमात्मना किञ्चित् किञ्चिद्वीर्येण सेवितम्। किञ्चिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा।।
(सु० सू० ४०.१३-१४)
द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति। (च० सू० २६.१३)

तृतीय खण्ड

कर्म

ACTION

प्रथम अध्याय

कर्म

१. निरुक्ति

'क्रियते इति कर्म' जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। यहाँ कर्म शब्द कर्म कारक के लिए नहीं बल्कि क्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है।

२. लक्षण

जो संयोग और विभाग में कारण हो तथा द्रव्य में आश्रित हो उसे कर्म (Action) कहते हैं। जिस प्रकार लोक में कोई संयोग-विभाग बिना कर्म के नहीं होता उसी प्रकार पुरुष-शरीर में कोई संयोग-विभाग (परिवर्तन) बिना कर्म के नहीं होता। दूसरे शब्दों में, शरीर में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले द्रव्यगत पदार्थ को कर्म कहते हैं।[१]

३. स्वरूप

कर्म का स्वरूप क्रिया है।[२] द्रव्यों की शरीर पर जो वमन आदि क्रिया होती है उसे कर्म कहते हैं।[३] आयुर्वेद में अदृष्ट के लिए भी यत्र-तत्र 'कर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है इसलिए उसकी व्यावृत्ति के लिए यह लिखा गया कि चिकित्सा में प्रयुज्यमान क्रियाओं को ही कर्म कहते हैं। चेतन-प्रयत्न से उत्पन्न चेष्टा-व्यापार को भी कर्म कहते हैं।[४] इसी का नाम प्रवृत्ति, क्रिया, कर्म, यत्न तथा कार्यसमारम्भ है।[५]

वैशेषिक दर्शन में उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि चेष्टाओं को कर्म कहा गया है।[६] वहाँ संयोग, विभाग और वेग इनको कर्मजन्य बतलाया है।[७] किन्तु द्रव्यगुण-

---

१. संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।।
(च० सू० १.५२)
एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। (वै० सू० १.१.१७)

२. क्रियालक्षणं कर्म। (र० वै० १.१७१)।
यत् कुर्वन्ति तत् कर्म। (च० सू० २६.१३)

३. कर्तव्यस्य क्रिया कर्म। (च० सू० १.५२)

४. प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते। (च० सू० १.४९)

५. प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था; सैव क्रिया, कर्म, यत्नः, कार्यसमारम्भश्च। (च० वि० ८.७७)

६. उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा। प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च।।
भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च। तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते।।
(कारिकावली-६-७)

७. संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः। (कारिकावली-९६)

शास्त्र में 'कर्म' शब्द से द्रव्यों के 'वमन' आदि कर्म अभिप्रेत हैं।[१] सुश्रुत ने भी वमन, विरेचन, दीपन, सांग्राहिक आदि को औषध-कर्म कहा है।[२] इनसे शरीर के आभ्यन्तर अवयवों में संयोग-विभागात्मक परिवर्तन होते हैं।

४. द्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया

शरीर पर विभिन्न द्रव्यों का कर्म कैसे होता है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। प्राचीन आचार्यों ने इसका समाधान पञ्चमहाभूतवाद तथा त्रिदोषवाद के आधार पर किया था। उन्होंने यह निश्चित कर लिया था कि यह सारी सृष्टि पाञ्चभौतिक है और लोक-पुरुष सामान्य के द्वारा यह भी ज्ञात हो गया था कि जिस प्रकार लोक पाञ्चभौतिक है उसी प्रकार पुरुष भी पाञ्चभौतिक है। त्रिदोष भी पाञ्चभौतिक रचना है। इस पाञ्चभौतिक सङ्घटन में वृद्धि या क्षय होने से ही विविध विकार उत्पन्न होते हैं और उनकी साम्यावस्था ही स्वास्थ्य है। अत: चिकित्सा का उद्देश्य बढ़े हुए तत्त्वों को घटाकर एवं घटे हुए तत्त्वों को बढ़ाकर उनमें साम्य स्थापित करना बतलाया गया है। इस कार्य के लिए द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि उनका भौतिक एवं रासायनिक सङ्घटन वही है जो पुरुष का है।[३] अत: द्रव्यों का चरम कर्म शरीर की पाञ्चभौतिक रचना को प्रभावित करना कहा जा सकता है। आधुनिक विज्ञान में भी द्रव्यों की रचना पर ही उनकी क्रिया निर्भर होती है। रचना-क्रिया का यह घनिष्ठ सम्बन्ध (Structure-function relationship) औषधविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है।

द्रव्यों का सेवन करने के बाद सर्वप्रथम जाठराग्नि की क्रिया उन पर होती है। उसके बाद धात्वग्नियों और भूताग्नियों के द्वारा उनका पाक होकर विभिन्न धातुओं एवं पाञ्चभौतिक रचनाओं का निर्माण होता है। द्रव्यों का भौतिक पाक होकर उसके भौतिक अंशों से शरीर के भौतिक अंशों का संयोग होता है और तदनुसार उनमें परिवर्तन होते हैं।[४]

१. कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि। (च० सू० २६.१०)
एतच्च प्राधान्यादुच्यते, तेन बृंहणाद्यपि बोद्धव्यम्। (च० सू० २६.१०-चक्र०)

२. इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसांङ्ग्राहिकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहण-रसायनवाजीकरणाश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद् भवन्ति। (सु० सू० ४०.५)

३. गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा। स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुका:।।
(सु० सू० ४१.१२)

४. पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहार: पाञ्चभौतिक:। विपक्व: पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।।
(सु० सू० ४६.५२६)
भौमाप्याग्नेयवायव्या: पञ्चोष्माण: सनाभसा:।
पञ्चाहारगुणान् स्वान्-स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि।।
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणा: पृथक्।
पार्थिवा: पार्थिवानेव शेषा: शेषाँश्च कृत्स्नश:।। (च० चि० १५.१३-१४)

रस का कर्म कुछ स्थानिक (Local), कुछ सार्वदैहिक (General) और कुछ मानसिक होता है। अवस्थापाक के क्रम में तीनों अवस्थाओं में क्रमश: कफ, पित्त और वात (मलरूप) की उत्पत्ति होती है।[१] निष्ठापाक के बाद जब रस का दोषों से सम्पर्क होता है तब सामान्य-विशेष के नियम से उसके द्वारा दोषों की वृद्धि या ह्रास होता है। इस प्रकार विपाक से त्रिदोष में परिवर्तन होते हैं।[२] त्रिदोष में परिवर्तन का आधार भी पाञ्चभौतिक ही है क्योंकि दोषों का सङ्घटन महाभूतों से होता है।

द्रव्यगत किस पदार्थ के द्वारा कार्य होता है यह उसकी पाञ्चभौतिक प्रबलता पर निर्भर है। इसीलिए यह बतलाया है कि द्रव्य का कर्म कहीं रस, कहीं गुण, कहीं विपाक, कहीं वीर्य और कहीं प्रभाव से होता है। सामान्यत: रस की क्रिया अवस्थापाक तक रहती है और उसके बाद विपाक उसको दबाकर अपना कर्म करता है। उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न होने के कारण वीर्य उसको भी अभिभूत कर देता है और प्रभाव सबके ऊपर अधिष्ठित होकर कर्म करता है। वस्तुत: कुछ कर्म रस से, कुछ विपाक से, कुछ गुण से, कुछ वीर्य से और कुछ प्रभाव से होता है।[३] शिवदास सेन के अनुसार, द्रव्य के जिस अंश में पञ्चमहाभूतों का अतिशय सारभाग होता है। उसीमें वीर्य (शक्ति) होता है। सामान्यत: उसे द्रव्य का कार्मुक अंश (Active fraction) कहते हैं। आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि औषध द्रव्यों की क्रिया कार्मुक द्रव्य और कोषाणुओं के बीच होने वाली रासायनिक प्रतिक्रिया पर निर्भर है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि द्रव्यों का शारीर कर्म उनके भौतिक गुणों के कारण होता है। फिर भी अभी तक ऐसा कोई सिद्धान्त निर्णीत नहीं हुआ है जिससे सभी द्रव्यों के कर्म की व्याख्या समान रूप से की जा सके।

५. प्रकार

अधिष्ठानभेद से द्रव्यों के कर्म दो प्रकार के होते हैं– एक स्थानिक (Local) और दूसरा सार्वदेहिक (General or systemic)। एक तीसरा प्रकार भी कह सकते हैं विशिष्ट कर्म (Specific action)। गुण और रस का तथा कहीं-कहीं वीर्य का

१. अविदग्ध: कफं, पित्तं विदग्ध:, पवनं पुन:। सम्यग्विपक्वो नि:सार आहार: परिबृंहयेत्।।
(सु० सू० ४६.५२७)

२. रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषै: समानगुणा: समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना:।
(च० वि० १.७)

३. तद्द्रव्यमात्मना किञ्चित् किञ्चिद्वीर्येण सेवितम्। किञ्चिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा।।
(सु० सू० ४०.१४)

कर्म स्थानिक,[१] विपाक और वीर्य का कर्म सार्वदेहिक[२] एवं प्रभाव का विशिष्ट कर्म[३] होता है। अन्त:परिमार्जन औषध का कर्म सार्वदेहिक और बहि:परिमार्जन का स्थानिक होता है।[४]

आधुनिक विज्ञान में, प्राधान्य की दृष्टि से भी दो प्रकार के कर्म होते हैं एक मुख्य और दूसरा गौण। द्रव्यों की किसी अवयवविशेष पर जो विशिष्ट क्रिया होती है वह मुख्य कर्म (Direct action) तथा प्रतिक्रिया (Reflex action) द्वारा अन्य अवयवों पर हुए प्रभाव को गौण कर्म (Indirect action) कहते हैं यथा–कटुरस का मुख्य कर्म रसनोद्वेजक है किन्तु नेत्र, मुख, नासा आदि से स्राव उत्पन्न करना यह गौण कर्म है। विकासी द्रव्य का मुख्य कर्म ओजोविश्लेषण तथा स्नायुबन्धनों को शिथिल करना गौण कर्म है। इसी प्रकार वमन और विरेचन द्रव्यों का मुख्य कर्म वमन-विरेचन तथा गौण कर्म अन्य अवयवों पर हुई उनकी क्रिया है।

६. कर्मों का वैज्ञानिक विश्लेषण

विभिन्न कर्मों की आयुर्वेदीय सिद्धान्तों (रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव) के अनुसार व्याख्या करना वर्तमान के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। पाञ्चभौतिक सङ्घटन के अनुसार किस प्रकार के द्रव्य का तथा द्रव्यगत पदार्थ का अमुक कर्म होता है इसका निर्णय होना आवश्यक है। प्राचीन आचार्यों ने इसकी व्याख्या पञ्चमहाभूत के अनुसार करने का प्रयत्न किया था और अनेक कर्मों का सन्तोषजनक विवेचन कर भी लिया है फिर भी अभी उसके और स्पष्टीकरण की नितान्त अपेक्षा है।

प्राचीन आचार्यों के इस वैज्ञानिक निर्धारण का आधार क्या था यह भी विचारणीय है। यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से विविध प्रयोगों द्वारा उन्होंने प्राकृतिक क्रियाकलापों का निरीक्षण किया था उसी निरीक्षण के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से क्रियाओं और द्रव्यों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। आज भी वही पद्धति हमारे समक्ष है। यदि दस द्रव्यों का प्रयोग करने के बाद मूत्रजनन कर्म होता है तो उस कर्म की व्याख्या के लिए उन दसों द्रव्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा और उनमें जो समानता मिलेगी उसके आधार पर एक सामान्य

१. बहुधाऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहरूपेण शीतादय उपयुज्यन्ते। (र० वै० १.१२५-भा०)
रसं विद्यान्निपातेन। (अ० सं० सू० १७.३८)
वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते। (च० सू० २६.६६)

२. विपाक: कर्मनिष्ठया (च० सू० २६.६६)
वीर्यं यावदधीवासात् (च० सू० २६.६६)

३. रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्। (अ० हृ० सू० ९.२६)

४. तत्रान्त: परिमार्जनं यदन्त:शरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन् प्रमार्ष्टि, यत्पुनर्बहि:-स्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहि:परिमार्जनम्।।
(च० सू० ११.५५)

सिद्धान्त की स्थापना होगी। अत: जिन कर्मों की ऐसी व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलती उसकी भी व्याख्या करने का प्रयत्न यहाँ किया जायेगा। इसके लिए विभिन्न रोगों की चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्यों का भी विश्लेषण करना होगा तब हम एक सामान्य नियम की रचना कर सकते हैं यथा दीपन कर्म की व्याख्या करने के लिए दीपन कर्म में प्रयुक्त औषध द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि का अध्ययन करना होगा और इनमें जो सादृश्य सब में समानरूप से मिलेगा उसी के आधार पर यह नियम बनेगा कि अमुक रस-वीर्य-विपाक का द्रव्य दीपन होता है। यद्यपि यह अनुसन्धान का विषय है और साम्प्रतिक स्थिति में कठिनतम कार्य है तथापि पथप्रदर्शन के विचार से यह दु:साहसपूर्ण विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

७. कर्मों का वर्गीकरण

आधुनिक दृष्टि से शरीर के विभिन्न संस्थानों एवं अङ्गों पर होने वाले कर्मों का वर्गीकरण निम्नाङ्कित रूप में किया जा सकता है–

१. नाडीसंस्थान के कर्म

१. मेध्य २. मदकारी ३. संज्ञास्थापन ४. निद्राजनन
५. निद्राहर ६. वेदनास्थापन ७. आक्षेपजनन ८. आक्षेपशमन

२. इन्द्रियाधिष्ठानों के कर्म

नेत्र– १. चक्षुष्य २. दृष्टिविकासी ३. दृष्टिसङ्कोची
कर्ण– कर्ण्य
नासा– शिरोविरेचन
त्वचा–
१. स्वेदन २. स्वेदोपग ३. स्वेदापनयन ४. रोमसञ्जनन
५. रोमशातन ६. केश्य– (क) केशवर्धन, (ख) केशरञ्जन
७. प्रतिक्षोभक– (क) रक्तोत्क्लेशक (ख) स्फोटजनन (अरुष्कर) (ग) क्षारण
८. व्रणहर– (क) पाचन (ख) दारण (ग) प्रपीडन (घ) शोधन (च) रोपण
९. स्नेहन १०. स्नेहोपग ११. रूक्षण १२. वर्ण्य
१३. कण्डूघ्न १४. कुष्ठघ्न १५. उदर्दप्रशमन १६. पूतिहर
१७. रक्षोघ्न १८. दुर्गन्धहर

३. रक्तवहसंस्थान के कर्म

१. हृद्य २. हृदयोत्तेजक ३. हृदयावसादक ४. रक्तभारवर्धक
५. रक्तभारशामक

४. रसवहसंस्थान के कर्म

१. शोथहर २. शोथजनन ३. गण्डमालानाशक

५. श्वसनसंस्थान के कर्म

१. श्वसनोत्तेजक २. श्वसनावसादक ३. कफनि:सारक ४. कासहर
५. श्लेष्मपूतिहर ६. श्वासहर ७. हिक्कानिग्रहण ८. कण्ठ्य

६. पाचनसंस्थान के कर्म

(क) मुख–

१. लालाप्रसेकजनन २. लालाप्रसेकशमन ३. तृष्णानिग्रहण
४. दुर्गन्धनाशन ५. वैशद्यकारक ६. दन्त्य
(क) दन्तशोधन (ख) दन्तदार्ढ्यकर

(ख) आमाशय–

१. तृप्तिघ्न २. रोचन ३. दीपन ४. पाचन
५. अग्निसादन ६. विदाही ७. विदाहशामक ८. वमन
९. वमनोपग १०. छर्दिनिग्रहण ११. उपशोषण

(ग) आन्त्र–

१. वातानुलोमन २. विष्टम्भी ३. पुरीषजनन
४. विरेचन– (क) मृदुविरेचन (ख) सुखविरेचन (ग) तीक्ष्णविरेचन (घ) पित्तविरेचन
५. विरेचनोपग ६. उभयतोभागहर
७. पुरीषसङ्ग्रहणीय– (क) ग्राही (ख) स्तम्भन
८. पुरीषविरजनीय ९. भेदनीय १०. शूलप्रशमन ११. आस्थापन
१२. आस्थापनोपग १३. अनुवासन १४. अनुवासनोपग
१५. कृमिघ्न– (क) अन्त:कृमिघ्न (१) सामान्य (२) विशिष्ट (ख) बाह्यकृमिघ्न
१६. अर्शोघ्न

७. यकृत्-प्लीहा के कर्म

१. पित्तस्रावक २. पित्तसारक (क) प्रत्यक्ष (ख) परोक्ष
३. पित्तस्रावरोधक ४. पित्ताश्मरी-भेदन ५. प्लीहवृद्धिहर

८. प्रजननसंस्थान के कर्म

(क) स्त्री-प्रजनन-संस्थान के कर्म–

१. प्रजास्थापन २. गर्भरोधक ३. गर्भाशयसङ्कोचक
४. गर्भाशयशामक ५. आर्त्तवजनन ६. आर्त्तवरोधक
७. स्तन्यजनन ८. स्तन्यरोधक ९. स्तन्यशोधन

(ख) पुं-प्रजनन-संस्थान के कर्म–

१. वाजीकरण– (क) शुक्रजनन (ख) शुक्ररेचन
(ग) शुक्रजनन-रेचन (घ) शुक्रस्तम्भन
२. कामसादक ३. शुक्रशोधन ४. शुक्रशोषण

९. मूत्रवहसंस्थान के कर्म

१. मूत्रविरेचनीय २. मूत्रविरजनीय ३. अश्मरीभेदन
४. मूत्रसङ्ग्रहणीय ५. मूत्रविशोधन

१०. सार्वदैहिक कर्म

१. ज्वरघ्न– (क) सन्तापहर (ख) आमपाचन (ग) विषमज्वरघ्न
२. दाहप्रशमन ३. शीतप्रशमन ४. मधुरकजनन ५. मधुरकशमन

११. सार्वधातुक कर्म

१. जीवनीय २. आयुष्य ३. सन्धानीय ४. बल्य
५. ओजोवर्धक ६. ओजोह्रासक ७. रसायन ८. विष
९. विषघ्न १०. अङ्गमर्दप्रशमन

१२. धातु-कर्म

रस– १. रसवर्धन २. रसक्षपण

रक्त–

१. शोणितस्थापन– (क) रक्तवर्धन (ख) रक्तस्तम्भन
२. रक्तस्रावक ३. रक्तक्षपण ४. रक्तदूषण ५. रक्तप्रसादन

मांस–

१. बृंहण २. लङ्घन ३. श्रमहर ४. उत्सादन ५. अवसादन

मेद– १. मेदोवर्धन २. मेद:क्षपण

अस्थि– १. अस्थिवर्धन २. अस्थिक्षपण ३. अस्थिसन्धानीय

मज्जा– १. मज्जवर्धन २. मज्जक्षपण

शुक्र– १. शुक्रवर्धन २. शुक्रनाशन

स्रोतस्– १. अभिष्यन्दी २. प्रमाथी

१३. दोष-कर्म

१. वातकोपन २. वातशमन ३. पित्तकोपन ४. पित्तशमन
५. कफकोपन ६. कफशमन ७. संशमन

*

द्वितीय अध्याय

१. नाडीसंस्थान के कर्म

नाडीसंस्थान मानवशरीर का एक प्रमुख तन्त्र है। शरीर के सभी अवयवों का सञ्चालन यहीं से होता है। अनेक विद्वान् मस्तिष्क को ही हृदय मानते हैं और फलत: ओज की स्थिति भी वहीं मानते हैं। वात को प्रवाहित करने वाली वातनाडियों का सम्बन्ध भी इसीसे है। मन और बुद्धि का स्थान यद्यपि हृदय माना गया है तथापि वह मस्तिष्क के माध्यम से कार्य करता है इसमें कोई सन्देह नहीं। अत एव इन सभी दृष्टिकोणों से नाडीसंस्थान के कर्मों का इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

आयुर्वेद में मन के भी अनेक कर्मों का वर्णन है जो आधुनिक दृष्टि के लिए सर्वथा नवीन है यथा मेध्य, संज्ञास्थापन आदि।

१. मेध्य (Intellect-promoting)

मेधा (बुद्धि) को बढ़ाने वाला द्रव्य मेध्य कहलाता है।[१] यद्यपि यह कर्म मन से सम्बन्ध रखता है तथापि नाडीसंस्थान मन का विशिष्ट अधिष्ठान होने से वहाँ मन विशेषरूप से रहता है अत एव यह कर्म नाडीसंस्थान से सम्बद्ध माना गया है। विशेषत: इसका सम्बन्ध मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों से है, अत: मेध्य ओषधियों को मस्तिष्क-बल्य (Brain tonic) भी कहते हैं।

यह कर्म प्रभावजन्य माना गया है[२] क्योंकि मेध्य द्रव्यों में कुछ शीतवीर्य, मधुररस और मधुरविपाक हैं यथा यष्टीमधु और कुछ उष्णवीर्य और तिक्तरस हैं यथा गुडूची; अत: समान रस-विपाक-वीर्य वाले द्रव्यों की अपेक्षा इन द्रव्यों में यह विशिष्ट कर्म होता है अत: यह प्रभावजन्य माना गया है।

चरक (चिकित्सास्थान, प्रथम अध्याय) रसायनाधिकार में मण्डूकपर्णी, शङ्खपुष्पी, गुडूची और यष्टीमधुक इन चार मेध्य द्रव्यों का उल्लेख है। विशेषत: इन द्रव्यों में शङ्खपुष्पी श्रेष्ठ मानी गई है।[३] सुश्रुत ने भी चिकित्सास्थान २८वें अध्याय (मेधायुष्कामीय रसायन) में श्वेतावल्गुज, चित्रकमूल, मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी,

१. मेधायै हितं मेध्यं, वचासुवर्णघृतादीनां वीर्यम्। (र० वै० ४.२७-भा०)

२. मेध्यायुष्यवृष्यवयस्यवर्चस्यरक्षोघ्नपुंसवनसौभाग्यविशल्यविमोक्षोन्मादक्लैब्यवशीकरण-विद्वेषणप्रवासनाकर्षणान्तर्धानिकपौष्टिकराजद्वारिकप्रभृतीनि च। (र० वै० ४.२७)

३. मण्डूकपर्ण्या: स्वरस: प्रयोज्य: क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्। .....मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी।। (च० चि० १.३.३१)

वचा इन द्रव्यों का उल्लेख किया है। अपामार्ग, विडङ्ग, हरीतकी, कुष्ठ, शतावरी, सुवर्ण को भी आचार्यों ने मेध्य बतलाया है।[१] सुश्रुत (शारीरस्थान १० अध्याय) में सिद्धार्थक, मांसी, विदारी आदि के साथ अनेक मेध्य योग निर्दिष्ट किये हैं।[२]

मेधा में ग्रहणशक्ति (Power of acquisition), धारण शक्ति (Retention) तथा स्मृति (Recollection) इन तीनों प्रक्रियाओं का समावेश है। पित्त आशु और तीक्ष्ण होने के कारण सत्त्व को उद्बुद्ध कर विषयों के ग्रहण एवं पूर्वानुभूत संस्कारों को उद्बुद्ध कर स्मृति में सहायक होता है। अत: पित्त के प्राकृत कर्मों में 'मेधा' का उल्लेख है। स्मृति की प्रक्रिया में विभिन्न भावों के संयोजन (Association of ideas) में वात भी सहायक होता है। कफ धृति (धारण) एवं स्थिरता प्रदान करता है अत: यह संस्कारों के स्थिरीकरण में सहायक होता है। इसीलिए कफ के प्राकृत कर्मों में स्थिरता और धृति है।[३] इन कारणों से उष्णवीर्य (पित्तवर्धक) तथा शीतवीर्य (कफवर्धक) दोनों प्रकार के द्रव्य मेध्य होते हैं किन्तु इनमें भी उष्णवीर्य द्रव्य मुख्यत: ग्रहणशक्ति एवं स्मरणशक्ति को तथा शीतवीर्य द्रव्य मुख्यत: धारणशक्ति को पुष्ट करते हैं।

२. मदकारी (Narcotic)

जो द्रव्य बुद्धि को विकृत कर विवेक को नष्ट कर दे उसे मदकारी कहते हैं[४] यथा मद्य, भङ्गा, अहिफेन आदि। ये द्रव्य बुद्धि को कैसे विकृत करते हैं इसकी उपपत्ति चरक ने बड़ी सुन्दर रीति से की है। मादक द्रव्य पाञ्चभौतिक सङ्घटन में आग्नेय और वायव्य[५] तथा सर्वरसात्मक एवं तीक्ष्ण, लघु, उष्ण, सूक्ष्म, अम्ल,

१. गुडूच्यपामार्गविडङ्गशंखिनीवचाभयाकुष्ठशतावरी समा। घृतेन लीढा प्रकरोति मानवं त्रिभिर्दिनै: श्लोकसहस्रधारिणम्।। (च० द० ६६.२३)

२. क्षीराहाराय सर्पि: पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पली-हरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धं; तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति। (सु० शा० १०.४५)
सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा। मत्स्याक्षक: शङ्खपुष्पी मधु सर्पि: सकाञ्चनम्।।
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा। हेमचूर्णानि कैडर्य: श्वेता दूर्वा घृतं मधु।।
.....कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धना:।। (सु० शा० १०.६८-७०)

३. प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्। (च० सू० १८.५०)
स्नेहो बन्ध: स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्। क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्।।
(च० सू० १८.५१)

४. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्।।
(शा० प्र० ४.२१)

५. सर्वान् रसान् तीक्ष्णोष्णरूक्षलघुविशदांश्च गुणान् मदनीयम्। तदाग्नेयं वायव्यं च।
(र० वै० ४.११-१२)

व्यवायी, आशु, रूक्ष, विकाशी और विशद इन दस गुणों से युक्त होता है। ये दसों गुण हृदयस्थ ओज के दस गुणों (गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, सान्द्र, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल और स्निग्ध) के नितान्त विपरीत होते हैं अत: ओज को क्षुब्ध करके उसके आश्रय मन को क्षुब्ध कर देते हैं, इस प्रकार बुद्धि भी विकृत हो जाती है।[१] अर्थात् ओज सौम्य होने के कारण आग्नेय-वायव्य मदकारी द्रव्य के द्वारा क्षुब्ध होने पर मद उत्पन्न होता है। अल्प मात्रा में मद्य लेने पर प्रारम्भ में अग्नि और वायु की क्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है जिससे सामान्य उत्तेजना-उत्साह, प्रसन्नता आदि प्रथम मद[२] के लक्षण उत्पन्न होते हैं। मुख्यत: ये लक्षण उत्पन्न करने वाले द्रव्यों को सौमनस्यजनन (Exhilarants) कहते हैं। इसके बाद मद की तीन अवस्थायें[३] और होती हैं जिनमें क्रमश: वायु की प्रधानता होती जाती है। वायु के कारण प्रलाप उत्पन्न होता है। मुख्यत: प्रलाप उत्पन्न करने वाले द्रव्यों को प्रलापजनन (Delirients) कहते हैं। प्रारम्भ में अग्नि का कार्य मुख्यत: होने से उत्तेजना और उष्णता तथा बाद में उत्तरोत्तर वायु की प्रधानता होते जाने से अवसाद और शैत्य होता है[४] ओज भी क्रमश: क्षीण होते होते अन्त में नष्ट हो जाता है तथा मृत्यु भी हो जाती है। चरक ने मदावस्थाओं का विभाग ओज:क्षय

१. मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्।।
लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्।।
गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्।।
गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावत:। माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात् प्रसादं चाशुभावनात्।।
रौक्ष्यात् स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि। विकासिभावात् पैच्छिल्यं वैशद्यात् सान्द्रतां तथा।।
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजस: स्वगुणैर्गुणान्। सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम्।।
(च० चि० २४.२९-३४)

२. बुद्धिस्मृतिप्रीतिकर: सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च।
सम्पाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्य: प्रथमो मदो हि।। (मा० नि० १८.७)
In small doses, it produces a feeling of mental and physical well being. Imaigination becomes brighter, feelings elevated, intellect clearer, senses more acute, bodily activity more predominant and some of the lower appetites sharpened. (R. Ghosh)

३. अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्ट: सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्त:।
आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्त: पुरुषो मदेन।।
गच्छेदगम्यान्न गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञ:।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतंत्र:।।
चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रिय:। कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृत:।।
(मा० नि० १८.८-१०)

४. Primary stimulation and subsequent depression.

के आधार पर ही किया है।[१] जीर्ण मदात्यय में भी आमाशयप्रदाह, यकृद्विकार आदि अग्निपित्त के कारण तथा निद्रानाश, कम्प, संधिवात, पक्षाघात आदि लक्षण वायु के कारण होते हैं। मदात्यय में वायु की प्रबलता होने के कारण इसीलिए अम्लरस का सेवन कराया जाता है जिससे वायु की शान्ति हो जाती है और अग्नितत्त्व प्राकृत स्थिति में आ जाता है।

मदकारी द्रव्यों का कर्म मस्तिष्क पर कैसे होता है इस सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान में मतभेद है। कुछ लोग तो पूर्वोक्त मत के अनुयायी हैं कि मद्य प्रथम अल्प मात्रा में मस्तिष्क की उच्चतर क्रियाओं को उत्तेजित करता है और बाद में अधिक मात्रा लेने पर उन्हें अवसादित करता है। दूसरे वर्ग के विद्वान् यह मानते हैं कि मद्य वस्तुत: प्रारम्भ से ही मस्तिष्क पर अवसादक प्रभाव डालता है जिससे उच्च केन्द्रों का नियंत्रण नष्ट होने के कारण अन्य निम्न केन्द्रों की क्रिया निरंकुश होने लगती है।[२] आयुर्वेदीय दृष्टि से, प्रथम मत की व्याख्या अग्नि और वायु के द्वारा की जा चुकी है। सर्वप्रथम अग्नि की क्रिया मुख्यत: होने से उत्तेजना तथा बाद में वायु की क्रिया होने से अवसाद होता है। द्वितीय मत की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि कफ (ओज कफरूप है) मन के क्षमा, धृति, स्थिरता आदि गुणों का कारण है जिनके द्वारा मानसिक क्रियाओं का नियंत्रण होता रहता है। आग्नेय-वायव्य द्रव्य विपरीतगुण होने के कारण कफ (ओज) को क्षुब्ध कर इस नियंत्रणशक्ति (धृति) को नष्ट कर देते हैं जिससे अनियंत्रित चेष्टायें होने लगती हैं। ऊपर की पंक्तियों में इसका सयुक्तिक वर्णन किया जा चुका है।

वस्तुत: मदकारी द्रव्यों का प्रभाव पुरुष की प्रकृति एवं वातावरण पर निर्भर होता है। सात्त्विक पुरुषों में मद्य का प्रभाव अल्प, राजस पुरुषों में मध्यम एवं तामस में सर्वाधित होता है। इसी प्रकार पैत्तिक प्रकृति वाले व्यक्ति अतिशीघ्र, वातिक प्रकृतिवाले शीघ्र और कफ प्रकृति वाले देर में मद से प्रभावित होते हैं।[३]

१. ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते। मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो मद:।।
(च० चि० २४.३७)

२. Binz and his followers maintion that it first stimulates the nerve cells in the central nervous system and subsequently depresses them, the other view is that of schmiedeberg. He told that alcohol acts as a narcotic from the very commencement and the symptoms of stimulation are the effect of the depressant action on certain higher cerebral functions which normally exert a controlling influence. (R. Ghosh)

३. प्रधानावरमध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शक:। यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम्।।
(च० चि० २४.७३)
तस्मात् प्रथमद्वितीयतृतीयमदा: सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्ति।
(मा० नि० १८.१०-मधु०)
चिरेण श्लैष्मिके पुंसि पानतो जायते मद:। अचिराद्वातिके दृष्ट:, पैत्तिके शीघ्रमेव तु।।
(सु० सू० ४५.२०६)

३. संज्ञास्थापन

संज्ञा (ज्ञान) को स्थापित करने वाले द्रव्य संज्ञास्थापन कहलाते हैं।[१] ये द्रव्य बेहोशी को दूर कर संज्ञा को प्राकृत स्थिति में लाते हैं। अधिकांश ऐसे द्रव्यों में तीक्ष्ण गुण और उष्ण वीर्य होता है जिससे वे मन में संचित तमोदोष (जिससे मन और बुद्धि आवृत होने के कारण संज्ञानाश होता है) के आवरण को नष्ट कर देते हैं अत: संज्ञा पुन: आ जाती है।[२] संज्ञा को पुन: अद्‌बुद्ध करने के कारण ये 'संज्ञाप्रबोधन' भी कहलाते हैं। शारीर दृष्टि से मस्तिष्क में रक्त की कमी से मूर्च्छा होती है, अत: ये द्रव्य अपनी तीक्ष्णता और उष्णता के कारण हृदय को भी उत्तेजित करते हैं जिससे मस्तिष्क में रक्त समुचित रूप में जाने लगता है और उसकी क्रिया ठीक से होने लगती है जिसके फलस्वरूप बेहोशी दूर हो जाती है। अत्युष्णता से भी मस्तिष्क के कोषाणु कर्म में असमर्थ हो जाते हैं ऐसी स्थिति में पित्तशामक, शीतवीर्य द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। आयुर्वेद ने मूर्च्छा में शारीरदोष पित्त और मानसदोष तम माना है। अत: पित्त की प्रधानता में शीतवीर्य द्रव्यों का प्रयोग तथा तम की प्रधानता में उष्णववीर्य तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग उचित है।

हींग, महानिम्ब, वचा, ब्राह्मी, जटामांसी आदि संज्ञास्थापन द्रव्य हैं।

४. निद्राजनन (Hypnotic)

निद्रा कफ (शारीरदोष) एवं तम (मानसदोष) के आधिक्य से होती है[३] अत: कफवर्धक एवं तामस द्रव्य निद्राजनन होते हैं यथा स्निग्ध, मधुर भोजन, अभ्यङ्ग, उद्वर्त्तन आदि।[४] अहिफेन, विजया आदि मदकारी द्रव्य भी निद्राजनन होते हैं। ये

१. संज्ञां ज्ञानं च स्थापयतीति संज्ञास्थापनम्। (च० सू० ४.८-चक्र०)

२. अज्ञानान्यवपीडाश्च धूमा: प्रधमनानि च। सूचीभिस्तोदनं शस्तं दाह: पीडा नखान्तरे।।
लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च। आत्मगुप्तावघर्षश्च हितं तस्यावबोधने।।
(च० सू० २४.४६-४७)
तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां संप्रबोधनम्। तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभि:।।
(च० चि० १०.१४)
आभि: क्रियाभि: सिद्धाभिर्हृदयं संप्रबुध्यते। स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति।।
(च० चि० १०.५२)

३. .... निद्रा श्लेष्मतमोभवा। (सु० शा० ४.५६)

४. निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्। गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च।।
शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतै:। भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभि:।।
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च। द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि।।
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च। निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान्।।
(सु० शा० ४.४३-४६)

ओज को क्षुब्ध करके तथा तमोदोष को बढ़ाकर निद्रा की स्थिति उत्पन्न करते हैं। चरक ने माहिष दुग्ध को स्वप्नजनन द्रव्यों में सर्वोत्तम कहा है।[१]

५. निद्राहर (Anti-hypnotic)

तमोदोष एवं कफ का शमन करने से निद्रा का शमन हो जाता है क्योंकि तमदोष निद्रा में तथा सत्त्वगुण जागरण में कारण होता है।[२] अत: कफनाशक एवं तीक्ष्ण द्रव्यों का उपयोग निद्रा के शमनार्थ किया जाता है यथा तीक्ष्ण संशोधन, तीक्ष्ण द्रव्यों के नस्य, लङ्घन, रक्तमोक्ष आदि।[३]

६. वेदनास्थापन (Analgesic)

'वेदना' शब्द सामान्य अनुभूति के लिए आयुर्वेद में प्रयुक्त हुआ है। यह दो प्रकार की होती है सुखात्मक और दु:खात्मक।[४] इनमें दु:खात्मक वेदना को शान्त कर सुखात्मक वेदना को स्थापित करने वाले द्रव्य वेदनास्थापन कहलाते हैं।[५] शरीर की समस्त संज्ञाओं का संवहन और चेष्टाओं का प्रवर्तन वायु के द्वारा होता है[६] किन्तु वायु का प्रकोप होने पर ये संज्ञायें अतिशयित होकर वेदना के रूप में गृहीत होती हैं। इसीलिए पीड़ा चाहे शरीर में कहीं पर हो, बिना वात के नहीं हो सकती, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है।[७] इस प्रकार वेदना वातप्रकोप का प्रत्यात्म-लक्षण होने के कारण, वेदनास्थापन द्रव्य वातशामक अवश्य होते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रहता क्योंकि बिना वात की शान्ति हुए वेदना का शमन नहीं हो सकता। अत: वेदनास्थापन द्रव्य विशेषत: उष्णवीर्य होते हैं यथा गुग्गुल, कट्‌फल आदि तथा अहिफेन, गाँजा, सूची, वत्सनाभ आदि। तथापि यह कर्म प्रभावजन्य है। इनमें कुछ द्रव्य स्निग्ध तथा कुछ द्रव्य रूक्ष होते हैं। प्रारम्भ में उष्णता के कारण वायु का प्रशमन होता है इसलिए वेदना की शान्ति होती है और स्निग्धगुण से कफ की वृद्धि होने के कारण निद्रा में भी ये सहायक होते हैं। रूक्ष द्रव्य अतिमात्रा में देने

१. महिषीक्षीरं स्वप्नजननानाम्। (च० सू० २५.४०)

२. निद्राहेतुस्तम:, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते। (सु० शा० ४.३५)

३. वमेन्निद्रातियोगे तु कुर्यात् संशोधनानि च। लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च।।
(सु० शा० ४.४७)

४. द्विविध: सुखदु:खानां वेदनानां प्रवर्तक:। (च० शा० १.१३३)

५. वेदनायां सम्भूतायां तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम्।
(च० सू० ४.८-चक्र०)
मेरे विचार से, 'वेदनां प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम्' पर्याप्त है।

६. .... प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां...सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा.....। (च० सू० १२.८)

७. नर्तेऽनिलाद्वग्। (सु०)

पर उष्णता के कारण ओज क्षुब्ध होने तथा रूक्षता के कारण वात का प्रकोप होने से कभी-कभी आक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं।

इन द्रव्यों की शारीर क्रिया अभी तक पूर्णत: ज्ञात नहीं है फिर भी ऐसा विचार प्रचलित है कि वेदना की शान्ति मस्तिष्ककन्द (Thalamus) से सम्बद्ध वेदनावाहिनी तन्त्रिका की नाडीसन्धियों पर औषध-द्रव्य की क्रिया होने से होती है।

७. आक्षेपजनन (Convulsant)

सुषुम्ना के पूर्वशृङ्ग में स्थित चेष्टा-कोषाणुओं को क्षुब्ध कर जो द्रव्य शरीर में अतिशयित तथा अनियमित चेष्टायें उत्पन्न करते हैं उन्हें आक्षेपजनन (Convulsant or spinal simulant) कहते हैं यथा कुपीलु। कुपीलु में दो प्रकार के सत्त्व होते हैं– एक तिक्त और दूसरा वातहर।

तिक्तसत्त्व (Strychnine) तिक्तरस एवं रूक्ष गुण के कारण वात को उत्तेजित कर शारीर चेष्टाओं को बढ़ा देता है। इसलिए पक्षाघात आदि वातक्षय के लक्षणों में उसका प्रयोग विशेष रूप से होता है।

वातहर सत्त्व (Brucine) वातशमन और वेदनास्थापन होता है इसकी मात्रा कुपीलु में अधिक होती है। अल्पमात्रा में देने पर यह कर्म अधिक स्पष्ट होता है और अधिक मात्रा में देने पर तिक्तसत्त्व के कारण वात के लक्षण आक्षेप आदि व्यक्त होते हैं तथा किंचित् मद भी होता है और उसके बाद ओज:क्षय होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। विषाक्त लक्षणों में ओजोवर्धक एवं वातशामक स्निग्ध, पिच्छिल द्रव्यों यथा गोघृत, गोदुग्ध, अण्डा, बिहीदाने का लबाब आदि का प्रयोग होता है।

८. आक्षेपशमन (Anti-convulsant)

ये द्रव्य सुषुम्ना के पूर्वशृङ्ग में स्थित चेष्टाकोषाणुओं पर अवसादक प्रभाव डालते हैं और पेशियों के आक्षेप को शान्त करते हैं। अत: इन्हें आक्षेपशमन (Anti-convulsant or spinal depressant) कहते है यथा अहिफेन, सूची, कर्पूर, गाँजा, तम्बाकू आदि। इनमें अधिकांश द्रव्य उष्णवीर्य हैं जो अपने वीर्य से वात का शमन करते हैं।

*

तृतीय अध्याय

२. इन्द्रियाधिष्ठानों के कर्म

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं किन्तु वे सब सूक्ष्म और इन्द्रियातीत हैं। ज्ञानेन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान हैं जो स्थूलता के कारण हमारी व्यवहारसीमा में आते हैं। इस प्रकरण में इन्द्रियों के साथ-साथ इन्द्रियाधिष्ठानों (नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका और त्वक्) से सम्बद्ध कर्मों का निरूपण किया गया है।

नेत्र

१. चक्षुष्य

चक्षु के लिए हितकर द्रव्य को चक्षुष्य कहते हैं।[१] चक्षुष्य द्रव्य दृष्टिशक्ति को प्राकृत स्थिति में रखते हैं। यथा मधुयष्टी, शतावरी, त्रिफला आदि। दृष्टि विशेषत: पित्त और कफ के द्वारा विदग्ध होती है। आलोचक पित्त के द्वारा दृष्टि का कार्य होता है तथापि पित्त का कार्य आदान है अत: पित्त की अधिकता से इन्द्रियों के बल का ह्रास होता है और दृष्टि भी दुर्बल हो जाती है। कफ का कार्य विसर्ग है और उसके प्राकृत होने से इन्द्रियों को बल मिलता है। अतएव शीतवीर्य द्रव्य दृष्टिशक्ति के लिए हितकर होते हैं। किन्तु श्लेष्मा अधिक होने से वह पित्त को दबा देता है, अत: दृष्टि मन्द हो जाती है। इसीलिए स्वस्थवृत्त में दृष्टि को निर्मल रखने के लिए 'अञ्जन' का विधान किया गया है।[२]

२. दृष्टि विकासी (Mydriatic)

कृष्णमण्डल (Iris) से दृष्टिरन्ध्र (Pupil) का नियमन होता है। कृष्णमण्डल में दो प्रकार के सूत्र होते हैं– एक वलयाकार जो सङ्कोच उत्पन्न करते हैं और दूसरे विसारी जो उसे प्रसारित करते हैं। इस प्रकार इन दोनों सूत्रों की सन्तुलित क्रिया होने से दृष्टिरन्ध्र की आकृति नियन्त्रित होती रहती है। वलयाकार सूत्र मस्तिष्क की तृतीय नाडी (नेत्रचेष्टनी-Oculomotor) से सम्बद्ध है जिसमें सांवेदनिक सूत्र आते हैं। तृतीय नाडी को उत्तेजित करने से दृष्टिरन्ध्र का सङ्कोच होता है तथा इसके विच्छेद से उसका प्रसार होता है। दृष्टिसङ्कोच का केन्द्र मध्यमस्तिष्क के कलायिका-चतुष्टय में स्थित है।

---

१. चक्षुषे हितं चक्षुष्यम्।

२. चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम्।
ततः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम्।। (च० सू० ५.१६)

विसारी सूत्र त्रिधाग्रन्थि तथा चाक्षुषग्रंथि से उत्पन्न सांवेदनिक नाडीसूत्रों से सम्बद्ध हैं। इनकी उत्तेजना से दृष्टि का प्रसार तथा इनके विच्छेद से उसका सङ्कोच होता है।[१]

दृष्टिविकासी द्रव्यों की क्रिया अनेक प्रकार से होती है–

१. नेत्रचेष्टनी नाडी को क्रियाशून्य करने से– यथा सूची, धत्तूर आदि।
२. ग्रैवेयक सांवेदनिक सूत्रों को उत्तेजित करने से– यथा कोकेन, अद्रिनिलीन, सोमसत्त्व आदि।
३. मस्तिष्कस्थित नेत्रचेष्टनी-केन्द्र को अवसादित करने से– यथा श्वासावरोध, सामान्य संज्ञानाशन आदि में।

इन द्रव्यों के अतिरिक्त कुछ मानस भावों यथा तीव्र भावावेश, भय, उत्तेजना आदि में भी दृष्टि का विस्फार हो जाता है। इसका कारण नेत्रगामी सांवेदनिक सूत्रों की उत्तेजना एवं अद्रिनिलीन का परिवर्धित स्राव है।

सङ्कोच और प्रसार वायु के कर्म हैं और ये दोनों कर्म विशिष्ट वातनाडियों द्वारा पृथक्-पृथक् सम्पादित होते हैं। अत: यह कर्म प्रभावजन्य है।

३. दृष्टिसङ्कोची (Myotic)

ये द्रव्य दृष्टि को सङ्कुचित करते हैं। इनका कार्य निम्नाङ्कित रीति से होता है–

१. नेत्रचेष्टनी नाडी को उत्तेजित करने से– यथा तम्बाकू आदि।
२. मस्तिष्कस्थित नेत्रचेष्टनी-केन्द्र को उत्तेजित करने से– यथा अहिफेन, सामान्य संज्ञानाशन आदि।

दृष्टिविकासी द्रव्य नेत्रगत दबाव (Intra-ocular tension) को बढ़ाते तथा दृष्टिसङ्कोची द्रव्य उसे घटाते हैं। यह कर्म भी प्रभावजन्य है।

कर्ण

कर्ण्य

कर्ण के लिए हितकर द्रव्य को कर्ण्य कहते हैं। इन द्रव्यों की क्रिया कई प्रकार से होती है–

१. कुछ द्रव्य बाह्यकर्ण की नलिका में स्थित मलों को विलीन कर उन्हें बाहर निकालने में सहायक होते हैं यथा तैल आदि स्निग्ध द्रव्य।
२. कुछ द्रव्य अपनी क्षणनशक्ति के द्वारा मलों को बाहर निकालते हैं। ये द्रव्य क्षारीय स्वभाव के होते हैं यथा अपामार्गक्षार आदि।
३. कुछ द्रव्य अपने स्निग्ध आदि गुणों से कर्णनलिकागत वात का शमन करते हैं जिससे वहाँ की रूक्षता, शूल, कर्णनाद आदि दूर होते हैं। इन द्रव्यों से स्थानीय अवयवों का पोषण भी होता है यथा तैल आदि। इसीलिए

१. इसका विशेष विवरण लेखक की पुस्तक 'शरीरक्रिया विज्ञान' में देखें।

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त में कर्णपूरण का विधान है तथा वातिक रोगों में स्नेहद्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।[१]

४. कुछ द्रव्य अपने उष्णस्वभाव तथा विशिष्ट गुणों से कर्णगत वातनाडी को प्रभावित करते हैं जिससे बाधिर्य दूर होता है यथा बिल्व आदि।

नासा

शिरोविरेचन (नस्य)

'शिरोविरेचन' शब्द संशोधन का वाचक है। नासामार्ग से प्रयुक्त होने के कारण इसे 'नस्य या नस्त:कर्म' भी कहते हैं।[२] इसका प्रयोग मुख्यत: शिरोरोगों में होता है।[३]

कर्म की दृष्टि से नस्य तीन प्रकार के होते हैं[४]–

१. **रेचन**– यह नासामार्ग से श्लेष्मा को बाहर निकालने में सहायक होता है। यह विशेषत: रूक्ष और तीक्ष्ण होता है अत: इसका प्रयोग श्लैष्मिक शिरोरोग में किया जाता है। स्थानिक प्रतिक्रिया के अनुसार इसके दो उपभेद होते हैं। कुछ द्रव्य तो नासा में श्लेष्मा का स्राव बढ़ा देते हैं इन्हें श्लेष्मवर्धक (Errhines) कहते हैं यथा अमोनिया आदि और कुछ द्रव्य अपनी तीक्ष्णता के कारण नासागत नाडियों को क्षुब्ध कर प्रत्यवर्त्तित क्रिया के रूप में छिक्का उत्पन्न करते हैं जिससे नासास्थ श्लेष्मा के बाहर निकलने में सहायता होती है। इन्हें छिक्काजन (Sternutatory) कहते हैं यथा तम्बाकू, कुटकी, सोंठ, मिर्च आदि।[५]

२. **तर्पण**– यह स्निग्ध-मधुर होता है अत: शिरोगत एवं नासागत वातविकारों में प्रयुक्त होता है। इसके उदाहरण नस्य के रूप में प्रयुक्त तैल, घृत आदि विविध स्नेह हैं।[६] वात को समस्थिति में रखने के लिए नस्य के प्रयोग का स्वस्थवृत्त में भी विधान किया गया है।[७] वृद्धवाग्भट ने इसे 'बृंहण' नस्य कहा है।

१. न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसङ्ग्रह:।
नोच्चै: श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्।। (च० सू० ५.८४)
२. औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। (सु० चि० ४०.२१)
३. नस्त:कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रविद्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्य हन्ति तान्।। (चि० सि० ९.८८)
४. एवं तद्रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा। (च० सि० ९.९२)
५. स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्या: श्लैष्मिका ये शिरोगदा:। शिरोविरेचनं तेषु नस्त:कर्म प्रशस्यते।।
(च० सि० ९.९३)
६. ये च वातात्मका रोगा: शिर:कम्पार्दितादय:। शिरसस्तर्पणं तेषु नस्त:कर्म प्रशस्यते।।
(च० सि० ९.९४)
७. प्रावृट्शरद्वसन्तेषु गतमेघे नभस्तले। नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते।।
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते। न स्यु: श्वेता न कपिला: केशा: श्मश्रूणि वा पुन:।।
न च केशा: प्रमुच्यन्ते वर्धन्ते च विशेषत:। मन्यास्तम्भ: शिर:शूलमर्दितं हनुसङ्ग्रह:।।
पीनसार्धावभेदौ च शिर:कम्पश्च शाम्यति...।
न चास्य रोगा: सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजा:। जीर्यतश्चोत्तमाङ्गेषु जरा न लभते बलम्।।
(च० सू० ५.५७-५९, ६२-)

३. **शमन**– यह शीत और कषायप्रधान होता है, अत: रक्तपित्त आदि पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है यथा दूर्वास्वरस आदि।[१]

स्वरूपभेद से नस्य पाँच प्रकार का होता है[२]–

१. **नावन**– नस्य के रूप में प्रयुक्त स्नेह नावन कहलाता है। इसे 'मर्श' भी कहते हैं। यह शोधन और स्नेहन दो प्रकार का होता है।[३]

२. **अवपीड**– औषध के कल्क, स्वरस, क्वाथ या चूर्ण का प्रयोग अवपीड कहलाता है। यह भी कर्मभेद से दो प्रकार का होता है– शोधन और स्तम्भन।[४] प्रथम प्रकार में कटु, उष्ण और तीक्ष्ण द्रव्य तथा दूसरे में कषाय, शीत और मृदु द्रव्य आते हैं।

३. **ध्मापन**– नस्यचूर्ण को नलिका (धमनी) द्वारा नासा में फूंकने को ध्मापन कहते हैं। यह शोधन होता है।[५]

४. **धूम**– धूम [illegible] रूप में भी नस्य का प्रयोग होता है। कर्मभेद से यह तीन प्रकार का है- स्नेहन (स्नैहिक), शमन (प्रायोगिक) और शोधन (वैरेचनिक)[६] जो क्रमश: [illegible]ात, पित्त एवं कफ के विकारों में प्रयुक्त होते हैं।

५. **प्रतिमर्श**– अङ्गुलि [illegible] थोड़ा सा स्नेह लेकर नासामार्ग में लगाने को प्रतिमर्श कहते हैं। इससे नासामार्ग स्निग्ध रहता है और वातविकार नहीं होने पाते।[७]

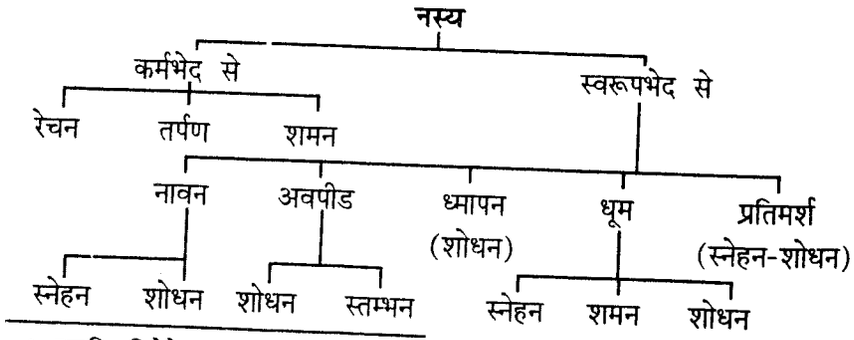

१. रक्तपित्तादिरोगेषु शमनं नस्यमिष्यते। (च० सि० ९.९५)

२. नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्त:कर्म तु पञ्चधा।। (च० सि० ९.८९)

३. स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृत[illegible]। (च० सि० ९.९०)

४. शोधन: स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मत:। (वही)

५. चूर्णस्याध्मापनं तद्धि देहस्रेतोविशोधनम्। (च० सि० ९.९१)

६. विज्ञेयस्त्रिविधो धूम: प्रागुक्त: शमनादिक:। (वही)

७. प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत्। (च० सि० ९.९२)
नस्त: स्नेहाङ्गुलिं दद्यात् प्रातर्निशि च सर्वदा। न [illegible]ोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्श: स दार्ढ्यकृत्।।
(च० सि० ९.११७)

चरक ने 'शिरोविरेचनोपग' गण में शिरोविरेचन में मुख्यत: प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का उल्लेख किया है। अपामार्गतण्डुलीय (च० सू० अ० २) के प्रारम्भ में भी शिरोविरेचन में उपयोगी द्रव्यों की गणना की गई है।

त्वचा

१. स्वेदन (Diaphoretic)

स्वेद को प्रवृत्त करने वाले द्रव्यों को स्वदेन या स्वेदजनन (Diaphoretic or sudorific) कहते हैं। स्वेद शरीर का एक मल है जो मेदोधातु से विशेषत: सम्बद्ध रहता है। शास्त्र में उसे मेदोधातु का मल कहा गया है। इसके द्वारा शरीरस्थ जल (२४ घण्टे में लगभग ५००-७०० मि० लि०), लवण तथा नत्रजनयुक्त पदार्थों के मलों का निर्हरण होता है। स्नैहिक ग्रन्थियों से उत्पन्न वसाम्लों की उपस्थिति के कारण स्वेद की प्रतिक्रिया अम्ल होती है। जल तथा लवणों के निर्हरण में स्वेद तथा मूत्र दोनों मल समान रूप से भाग लेते हैं किन्तु स्वेद में विशेषता यह है कि यह रक्तभार पर आश्रित नहीं होता (यद्यपि रक्तभाराधिक्य इसमें सहायक होता है) तथा नाडियों से विशेष प्रभावित होता है। स्वेदग्रन्थियाँ सांवेदनिक और परसांवेदनिक दोनों नाडियों की शाखाओं से सम्बद्ध है किन्तु औषधद्रव्यों का कर्म परसांवेदनिक नाडियों पर ही दृष्टिगोचर होता है। पाञ्चभौतिक सङ्घटन की दृष्टि से स्वेद जलीय और आग्नेय होता है। अत: सामान्य-विशेष के नियम से जलीय और आग्नेय द्रव्य स्वेदजनन होते हैं। जलीय द्रव्य तो स्वेद की मात्रा बढ़ाकर उसके निर्हरण में सहायक होते हैं और आग्नेय द्रव्य अपनी उष्णता और तीक्ष्णता से त्वचा में स्थित धमनियों तथा स्वेदवाही ग्रन्थियों को उत्तेजित करते हैं जिससे स्वेद अधिक मात्रा में बाहर निकलता है। अत: स्वेदन द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण और सूक्ष्म तो अवश्य होता है तथा स्वरूपभेद से स्निग्ध या रूक्ष, स्थिर या सर एवं सान्द्र या द्रव होता है।[१] आयुर्वेद में 'स्वेदन' शब्द सेंक (Fomentation) तथा स्वेदजनन (Diaphoresis) इन दोनों कर्मों का बोधक है।[२] बाहर से शरीर के अङ्गों में उष्ण द्रव्यों के सम्पर्क से जो उष्णता पहुँचाई जाती है। उसे सेंक कहते हैं। इसका उद्देश्य केवल उष्णता पहुँचाना होता है। इससे स्तम्भ, गौरव और शीत दूर होते हैं। स्वेद उत्पन्न करने के लिए जो बाह्य-आभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है उसे स्वेदजनन कहते हैं।

स्वेदजनन द्रव्य अनेक प्रकार से कार्य करते हैं–

१. स्वेद-केन्द्र को साक्षात् प्रभावित करने से– ये द्रव्य सुषुम्ना में स्थित स्वेदकेन्द्र को उत्तेजित कर स्वेदागम में सहायक होते हैं यथा कर्पूर आदि।

१. उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्। द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते।।
(च० सू० २२.१६)

२. स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। (च० सू० २२.११)

२. नाडीशाखाओं को उत्तेजित करने से– यथा तम्बाकू आदि।
३. त्वचा की रक्तवाहिनियों का प्रसार करने से– यथा सेंक, मद्य, अहिफेन आदि द्रव्य।
४. स्वेदकेन्द्र को प्रत्यावर्तित रूप से उत्तेजित करके– यथा वमन द्रव्य, भय-शोक आदि मानस विकार।

इसका प्रयोग वात और कफ[१] से उत्पन्न विकारों यथा ज्वर,[२] प्रतिश्याय, कास, श्वास, हिक्का, कर्णशूल, मन्याशूल, शिरःशूल, पक्षाघात, विबन्ध, गृध्रसी, मूत्रकृच्छ्र, अण्डवृद्धि, शोथ, स्तम्भ, गौरव-सुप्तियुक्त सर्वाङ्गविकार आदि[३] में किया जाता है। स्वेदन का प्रयोग मुख्यतः निम्नाङ्कित कर्मों के लिए किया जाता है–

१. ज्वर को कम करने के लिए
२. प्रतिश्याय या व्रणशोथ को दूर करने के लिए
३. जलसञ्चय (शोथ) को कम करने तथा अन्य मलोत्सर्जक अङ्गों विशेषतः वृक्कों का काम हल्का करने के लिए
४. वृक्कों का कार्य बन्द होने पर मलों के निर्हरण के लिए
५. अनेक जीर्ण त्वचा के रोगों में त्वचागत रक्तसंवहन को बढ़ाने के लिए

स्वरूपभेद से स्वदेन के निम्नाङ्कित विभाग किये गये हैं–

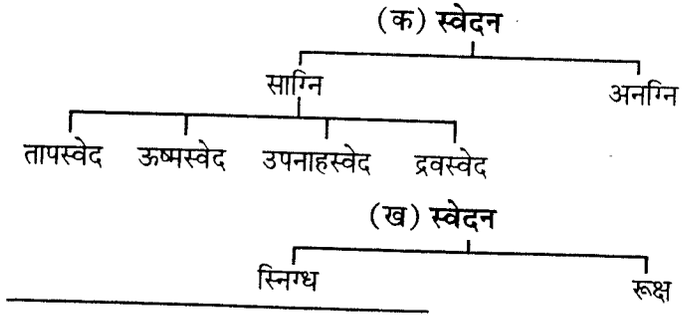

१. वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते। (च० सू० १४.८)
२. लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे।। (च० चि०३.१४२-)
३. प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्याशिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे।।
अर्दितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके। कोष्ठानाहविबन्धेषु शुक्राघाते विजृम्भके।।
पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसङ्ग्रहे गृध्रसीषु च। मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दके।।
पादजानूरुजङ्घार्तिसङ्ग्रहे श्वयथावपि। खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके।।
सङ्कोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु। सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वदेनं हितमुच्यते।। (च० सू० १४.२०-२४)

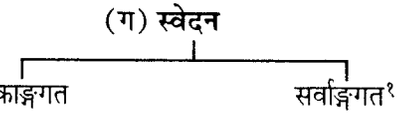

साग्निस्वेद उसे कहते हैं जिसमें अग्नि का साक्षात् रूप से उपयोग होता है। प्रयोग भेद से चरक के अनुसार यह तेरह प्रकार का होता है– १. सङ्कर, २. प्रस्तर, ३. नाडी, ४. परिषेक, ५. अवगाहन, ६. जेन्ताक, ७. अश्मघन, ८. कर्षू, ९. कुटी, १०. भू, ११. कुम्भिका, १२. कूप, १३. होलाक।[२]

अनग्निस्वेद में अग्नि का साक्षात् सम्पर्क नहीं होता, किन्तु परोक्ष रूप से शरीर का तापक्रम बढ़ाया जाता है। यह दस प्रकार का होता है– १. व्यायाम, २. उष्णसदन, ३. गुरुप्रावरण, ४. क्षुधा, ५. बहुपान, ६. भय, ७. क्रोध, ८. उपनाह, ९. युद्ध, १०. आतप।[३]

परिमाण भेद से तीन प्रकार का होता है– महान्, मध्यम और दुर्बल। रोगी एवं रोग के बलाबल के अनुसार इनका प्रयोग होता है।[४]

२. स्वेदोपग

स्वेदन कर्म में सहायक द्रव्यों को स्वेदोपग कहते हैं[५] यथा शोभाञ्जन, एरण्ड आदि। कविराज गङ्गाधर ने इस कर्म को प्रभावजन्य बतलाया है।[६]

३. स्वेदापनयन

स्वेद को कम करने या रोकने वाले द्रव्यों को स्वेदापनयन (Anti-diaphoretic or anhidrotic) कहते हैं। ये द्रव्य सङ्कटन में वायव्य होते हैं। शीत गुण का विशिष्ट कर्म स्तम्भन बतलाया है तथा शीत-रूक्ष-गुणविशिष्ट वायु का कर्म शोषण होता है। शरीर के बहिःनिसरणशील द्रवपदार्थों को रोकने वाले द्रव्य 'स्तम्भन'

१. इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च। एकाङ्गसर्वाङ्गगतः स्निग्धो रूक्षस्तथैव च।। (च० सू० १४.६५-)
२. सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षूः कुटी भूः कुम्भिकैव च।। कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश। (च० सू० १४.३९-)
३. व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा। बहुपानं भयक्रोधावुपनाहातपावपि।। स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते। (च० सू० १४.६४-)
४. व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले। दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः।। (च० सू० १४.७)
५. स्वेदस्य उप सहायत्वेन गच्छति इति स्वेदोपगानि।
६. स्वेदोपगानि प्रभावात्। (च० सू० ४.१२,२२-गं०)

कहलाते हैं।[१] इस प्रकार स्वेदापनयन द्रव्य 'स्तम्भन' के ही अङ्ग हैं। शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और लघु गुण वाले द्रव्य 'स्तम्भन' होते हैं।[२] उशीर स्वेदापनयन द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[३]

स्वेदापनयन द्रव्य अनेक प्रकार से कर्म करते हैं–

१. परसांवेदनिक (स्रावक) नाडियों को अवसादित करने से– यथा सूची।
२. संज्ञावह नाडियों की क्रिया कम करने से– यथा शीत का प्रयोग।
३. प्रभाव के द्वारा– यथा अम्ल द्रव्य, कुनयन, कुचला आदि।

४. रोमसञ्जनन

जो द्रव्य रोमों को पुनः उत्पन्न करें उन्हें रोमसञ्जनन कहते हैं यथा हस्तिदन्त आदि।[४]

५. रोमशातन

जो द्रव्य रोमों को साफ कर (गिरा) दें उन्हें रोमशातन (Depilatories) कहते हैं– यथा शङ्खचूर्ण और हरताल का लेप।[५] सलफाइड और क्षार की उपस्थिति में यह कार्य होता है, उसके बाद उसे हटा देते हैं। रोमशातन द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण एवं क्षारीय होते हैं अतः इनके प्रयोग से त्वचा में विदाह उत्पन्न होता है, विदाह को शान्त करने के लिए रोमशातन के बाद स्निग्ध लेप त्वचा पर लगाना चाहिए।

६. केश्य

केश के लिए हितकर द्रव्य को 'केश्य' कहते हैं। ये द्रव्य केश की वृद्धि एवं वर्ण को प्राकृत बनाते हैं, अतः इसके दो विभाग किये गये हैं– केशवर्धन और केशरञ्जन।

(क) **केशवर्धन**– समुचित पोषण न मिलने तथा अवटु और पोषणक ग्रन्थि का अन्तःस्राव कम होने से शिर के बाल झड़ जाते हैं। इसे 'खालित्य' या

---

१. स्तम्भनं स्तम्भयति यद् गतिमन्तं चलं ध्रुवम्। (च० सू० २२.१२)
२. शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्।
यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम्।। (च० सू० २२.१७)
३. लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्। (च० सू० २५.४०)
४. हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम्। रोमाण्येतेन जायन्ते लेपात् पाणितलेष्वपि।।
(सु० चि० १.१०१)
५. शङ्खचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम्। शुक्तेन सह पिष्टानि लोमशातनमुत्तमम्।।
(सु० चि० १.१०५)

'इन्द्रलुप्त' रोग कहते हैं। इसमें त्रिदोष एवं रक्त सभी का भाग होता है। वातपित्त प्रकुपित होकर बालों को गिरा देते हैं और कफ रक्त के साथ मिलकर रोम कूपों को अवरुद्ध कर देता है जिससे अन्य बालों की उत्पत्ति आगे भी रुक जाती है। अतः इस श्लेष्मा को हटाने के लिए तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्य दिये जाते हैं यथा तैलमक्षिका, लङ्का, क्विनीन आदि। इसके अतिरिक्त वातपित्तशामक बल्य आहार का सेवन एवं स्निग्ध द्रव्यों का स्थानिक प्रयोग भी किया जाता। यदि अन्तःस्रावों की कमी से खालित्य हो तो उन ग्रन्थियों के अन्तःस्राव का प्रक्षेप किया जाता है।

(ख) **केशरञ्जन**– केशों के वर्ण को प्राकृत (काला) रखने वाले विशेषत. पके बालों को काला करने वाले द्रव्य केशरञ्जन कहलाते हैं। रञ्जक तत्त्वों से युक्त द्रव्य केशरञ्जन होते हैं यथा भृंगराज, मेंहदी आदि। इसमें पित्त का आधिक्य रहता है अतः साथ-साथ पित्तशामक औषध भी दी जाती है।

७. प्रतिक्षोभक (Counter-irritants)

जो द्रव्य स्थानिक विदाह उत्पन्न कर आभ्यन्तर अङ्गों के शोथ को दूर करे वह प्रतिक्षोभक कहलाता है। इन द्रव्यों की क्रिया नाड़ियों को उत्तेजित करने से होती है जिसके कारण स्थानिक रक्तवाहिनियों का प्रसार एवं व्रणशोथ, दूरस्थ अङ्गों की रक्तवाहिनियों का प्रसार तथा सुषुम्नाशीर्षकगत प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं से श्वसन और रक्तसंवहन पर प्रभाव होता है। ये द्रव्य उष्ण और तीक्ष्ण होते हैं अतः इनसे पित्त की वृद्धि होती है जो निम्नाङ्कित रूपों में लक्षित होती है–

१. **स्थानिक** (Local)– त्वचा पर इनका लेप करने से वहाँ राग, दाह, पाक या स्फोट की उत्पत्ति होती है।
२. **सर्वाङ्गीण** (General)– प्रतिक्षोभक द्रव्यों के प्रयोग से प्राण से सम्बद्ध हृदय, रक्तसंवहन एवं श्वसन के केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं, अतः हृदय की तीव्रता, रक्तभाराधिक्य, श्वसन की वृद्धि, श्वेतकणवृद्धि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रतिक्षोभक द्रव्यों का प्रयोग निम्नाङ्कित अवस्थाओं में किया जाता है–

१. किसी अङ्ग के शोथ को दूर करने के लिए– यथा न्यूमोनिया, फुफ्फुसावरण-शोथ, यकृच्छोथ आदि।
२. द्रव के शोषण के लिए– यथा फुफ्फुसगत, अस्थिसन्धिगत और ग्रन्थिगत द्रव के शोषण के लिए।
३. वेदना की शान्ति के लिए– यथा गृध्रसी आदि में।
४. केन्द्रीय नाडीमण्डल के क्षोभ को कम करने के लिए– यथा योषापस्मार में।
५. केन्द्रीय नाडीमण्डल को उत्तेजित करने के लिए– यथा मूर्च्छा, मद, संन्यास आदि में।

६. पेशी के क्षोभ को कम करने के लिए– यथा विसूचिका, कटिशूल आदि में।
७. गम्भीर अङ्गों में स्थित दोष को बाहर लाने के लिए– यथा सन्धिवात में अङ्गूठे पर सर्षपलेप।

(क) **रक्तोत्क्लेशक** (Rubefacient)– जिन द्रव्यों का त्वचा पर लेप करने से रक्तसञ्चय के कारण त्वचा लाल हो जाती है तथा लालिमा के साथ प्राय: कण्डू, दाह एवं वेदना हो उन्हें रक्तोत्क्लेशक कहते हैं यथा राई आदि।

(ख) **स्फोटजनन (अरुष्कर)** (Vesicant)– अतितीक्ष्ण क्षोभक द्रव्यों के प्रयोग से त्वचा में फोड़े निकल आते हैं। ऐसे द्रव्यों को अरुष्कर या स्फोटजनन कहते हैं यथा चित्रक, भल्लातक आदि।

(ग) **क्षारण** (Caustics)– जो द्रव्य अङ्ग की जीवनी शक्ति को नष्ट कर दे तथा पार्श्ववर्त्ती अङ्गों में भी शोथ एवं व्रणशोथ उत्पन्न करे उसे क्षारण कहते हैं यथा क्षार (सोडियम या पोटाशियम हाइड्रोक्साइड)।

८. व्रणहर

(क) **पाचन**– पच्यमान व्रणशोथ को जो द्रव्य शीघ्र पका दें उन्हें पाचन कहते हैं यथा तिल, सर्षप आदि। ये द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं।[१]

(ख) **दारण**– जो द्रव्य पक्व व्रणशोथ को विदीर्ण कर दे (फाड़ दे) उसे दारण कहते हैं यथा चित्रक, कपोतविट् आदि। ये द्रव्य कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण और उष्ण होते हैं। पाञ्चभौतिक दृष्टि से ये पार्थिव और आग्नेय होते हैं।[२] पृथिवी रूक्षता के कारण स्नेह को दूर कर धातुपरमाणुओं के संश्लेष को शिथिल कर देती है और अग्नि अपनी तीक्ष्णता के कारण उसके आवरण को विदीर्ण कर देती है।

(ग) **प्रपीडन**– जो द्रव्य पक्व एवं विदीर्ण व्रणों को दबा कर उनका पूय बाहर निकालने में सहायता करे उसे प्रपीडन कहते हैं यथा पिच्छिल वृक्षों की छाल, जौ आदि। व्रण का मुँह छोड़ कर इन द्रव्यों का लेप लगाना चाहिए तथा लेप सूखने देना चाहिए।

(घ) **शोधन**– जो व्रण के पूय आदि दोषों को दूर कर स्वच्छ कर दे वह व्रणशोधन कहलाता है यथा निम्ब, तिल आदि।

(च) **रोपण**– जो व्रण के क्षत को भरकर त्वचा को प्राकृत स्थिति में लावे वह व्रणरोपण कहलाता है यथा मधुक, पञ्चवल्कल, घृत आदि।

१. द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् (सु० सू० ३७.९)
२. पित्तलान् रसान् गुणांश्च प्रदारणम्। तत् पार्थिवमाग्नेयञ्च। (र० वै० ४.१५-१६)

९. स्नेहन (Emollient)

जो द्रव्य शरीर में स्निग्धता (चिकनाहट), द्रवत्व, आर्द्रता एवं मृदुता उत्पन्न करे उसे स्नेहन कहते हैं।[१] इसके दो भाग किये गये हैं– १. वहि:स्नेहन-जो त्वचा पर अभ्यङ्ग के द्वारा अगों को मृदु बनावे तथा २. अन्त:स्नेहन-जो अन्त:प्रयोग के द्वारा शरीर में स्निग्धता पहुँचावे। स्नेह का बस्ति में भी प्रयोग होता है।

ये द्रव्य द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द तथा मृदु गुणयुक्त होते हैं।[२] स्वरूपभेद से स्नेह चार प्रकार का होता है– घृत, तैल, वसा और मज्जा।[३] इनमें अन्त:प्रयोग के लिए घृत तथा बाह्य प्रयोग के लिए तैल सर्वोत्तम माना गया है। स्नेहन से वायु अनुलोम, अग्नि दीप्त, पुरीष स्निग्ध-मृदु तथा अङ्ग स्निग्ध-मृदु होते हैं।[४] इसका प्रयोग वातविकारों में किया जाता है तथा संशोधन के प्राक्कर्म में इसका सर्वत्र विधान है क्योंकि यह वात एवं विबन्ध का नाशक है।[५] वात को समस्थिति में रखने के लिए स्वस्थवृत्त में अभ्यङ्ग का विधान किया गया है।[६]

१०. स्नेहोपग

जो द्रव्य स्नेहन द्रव्यों की शक्ति को बढ़ाते अत: उनके सहायक रूप में प्रयुक्त होते हैं उन्हें स्नेहोपग कहते हैं यथा मृद्वीका, मुलेठी आदि।

११. रूक्षण

जो द्रव्य शरीर में रूक्षता, काठिन्य तथा विशदता उत्पन्न करते हैं उन्हें 'रूक्षण' कहते हैं।[७] रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, विशद एवं कठिन गुणयुक्त द्रव्य प्राय: रूक्षण होते हैं।[८] चरक में लङ्घन और रूक्षण दोनों द्रव्यों के

१. स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्। (च० सू० २२.११)
२. द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्। प्रायो मदं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं मृतम्।। (च० सू० २२.१५)
३. सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विध:। (च० सू० १.८६)
४. वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्च: स्निग्धमसंहतम्। मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते।। (च० सू० १३.५८)
५. स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदूकरोति देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम्। (च० सि० १.७)
६. स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्। भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढ: क्लेशसहो यथा।। तथा शरीरमभ्यङ्गाद्दृढं सुत्वक् च जायते। प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्।। (च० सू० ५.८५-८६)
७. रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात् तद्धि रूक्षणम्। (च० सू० २२.१०)
८. रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्। प्रायश: कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम् (च० सू० २२.१४-)

समान गुण बतलाये गये हैं किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि रूक्षण द्रव्यों में रूक्षगुण प्रधान होता है किन्तु लङ्घन में लघुगुण की प्रधानता होती है[१] रूक्षण द्रव्यों में रूक्षगुण तो अवश्य होता है किन्तु अन्य गुण प्रायिक होते हैं। जब शरीर में क्लेद का अंश अधिक हो जाता है तब रूक्षण द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है यथा प्रमेह में यव आदि रूक्षण द्रव्यों का विधान मुख्य रूप से किया गया है।[२]

१२. वर्ण्य

जो द्रव्य शरीर के वर्ण को ठीक करे उसे 'वर्ण्य' कहते हैं। भ्राजक पित्त के कारण अवभासिनी त्वचा में वर्ण की स्थिति होती है। पित्त का विकार (वृद्धि या क्षय) होने पर त्वचा का वर्ण विकृत हो जाता है। इसके कारण त्वचा का वर्ण पीत, रक्त, नील हो जाता है। वायु और कफ भी विकृत होकर भ्राजक पित्त के प्रमाण में अन्तर उत्पन्न कर क्रमश: श्यावारुण तथा शुक्लवर्ण उत्पन्न करते हैं। पित्त दुष्ट होकर रक्त को भी दूषित करता है और उससे भी त्वचा के वर्ण में विकार आते हैं। रक्ताल्पता से भी त्वचा का वर्ण पाण्डुर हो जाता है। वर्ण्य द्रव्य इन सब विकारों में लाभकर होता है। ये द्रव्य विशेषरूप से पित्त को ठीक करते हैं और उसके द्वारा रक्त की भी शुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, न्यच्छ, व्यङ्ग, नीलिका आदि विकारों को दूर कर ये त्वचा के वर्ण को निखारते हैं इसी कारण ये 'वर्णक' (Cosmetic) में भी प्रयुक्त होते हैं। इनमें सारिवा, मञ्जिष्ठा, हरिद्रा, चन्दन आदि मुख्य हैं। रसवैशेषिक ने 'वर्ण्य' के लिए 'वर्चस्य' शब्द का प्रयोग किया है।

१३. कण्डूघ्न

जो द्रव्य कण्डू (खुजली) को दूर करे उसे कण्डूघ्न कहते हैं। कण्डू कफ के आधिक्य से होती है और इसका अधिष्ठान त्वचा या कला होता है। अत: कफशामक एवं त्वचा के लिए हितकर द्रव्य इस कर्म के लिए प्रयुक्त होते हैं यथा चन्दन, उशीर, निम्ब आदि।

१४. कुष्ठघ्न

आयुर्वेद में 'कुष्ठ' शब्द समस्त त्वग्दोषों (Skin diseases) का वाचक है।[३] अत: सामान्यत: त्वग्दोषों में तथा विशेषत: महाकुष्ठ में लाभकर द्रव्यों को 'कुष्ठघ्न' कहते हैं। कुष्ठ में दोष वात, पित्त और कफ तथा दूष्य रक्त, मांस, लसीका एवं

१. यद्गुणमेव लङ्घनद्रव्यमुक्तं तद्गुणमेव विरूक्षणं यद्यप्युक्तं, तथाऽपि रूक्षगुणस्यात्र प्राधान्यं, लङ्घने तु लघुगुणप्राधान्यं ज्ञेयम्। (च० सू० २२.१०, १२-चक्र०)

२. यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही। (च० चि० ६.२१)

३. कुष्णात्यङ्गं कुत्सितं तिष्ठति वा। (अ० को०-२.६.५४-व्याख्यासुधा)

त्वक् होते हैं। विशेषत: पित्त प्रधान होता है और वह रक्त को मुख्यत: दूषित करता है। यह रोग चिरक्रिय (Chronic) माना गया है। इसलिए त्रिदोषहर मुख्यत: रक्तशोधक द्रव्य कुष्ठघ्न होते हैं यथा खदिर, भल्लातक आदि। तथापि कुष्ठघ्न कर्म प्रभावजन्य है।

१५. उदर्दप्रशमन

शीत वायु के स्पर्श से त्वचा पर बर्रे काटने के समान जो शोथयुक्त चकत्ते उठ जाते हैं। उन्हें 'उदर्द' (Urticaria) कहते हैं। इनको शान्त करने वाले द्रव्यों को 'उदर्दप्रशमन' कहते हैं। इस रोग में कफ और वायु ये दोनों दोष प्रधान होते हैं तथा पित्त का अवर रूप से अनुबन्ध रहता है। अत एव पित्ताविरोधी वातकफनाशन द्रव्य 'उदर्दप्रशमन' होते हैं यथा तिन्दुक आदि।

१६. पूतिहर (Antiseptic)

जो द्रव्य जीवाणुओं की वृद्धि तथा तज्जन्य कोथ (सड़न) को रोकते हैं उन्हें पूतिहर या कोथप्रशमन कहते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है–

(क) **सामान्य**– ये सामान्यत: सर्वत्र अपना कर्म करते हैं अत एव इनका प्रयोग भी व्यापक है यथा पारद आदि।

(ख) **विशिष्ट**– ये विशिष्ट अङ्गों पर विशेषरूप से अपना कर्म करते हैं और तदर्थ प्रयुक्त होते हैं यथा–

१. **आन्त्रिक**	कर्पूर, तक्र आदि।
२. **मूत्रगत**	चन्दन, श्रीवेष्टक आदि।
३. **फुप्फुसीय**	सरल आदि।

१७. रक्षोघ्न (Disinfectant)

ये जीवाणुओं को नष्ट करते हैं, अत: व्रण एवं प्रसव आदि के रक्षाकर्म में प्रयुक्त होते हैं यथा सर्षप, निम्ब, गुग्गुलु आदि।[१]

१८. दुर्गन्धहर (Deodorant)

ये द्रव्य दुर्गन्ध को नष्ट करते हैं यथा सर्जरस, श्रीवेष्टक आदि। इन्हें 'दुर्गन्धनाशन' भी कहते हैं।

*

१. ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रव्यामिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपैर्धूपयेत्। (सु० सू० ५.१८)

चतुर्थ अध्याय

३. रक्तवहसंस्थान के कर्म

रक्तवहसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्यों को निम्नाङ्कित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

१. हृद्य– अर्जुन, हृत्पत्री आदि।
२. हृदयोत्तेजक– सोम आदि।
३. हृदयावसादक– अहिफेन आदि।

रक्तवह स्रोतों पर कर्म करने वाले–

४. रक्तभारवर्धक– सोम आदि।
५. रक्तभारशामक– सर्पगन्धा आदि।

हृदय पर द्रव्यों के कर्म

हृदय चेतनास्थान है तथा उसमें पर ओज की स्थिति मानी गई है। यही ओज जीवन का आधार है। उसके अतिरिक्त, हृदय रसरक्त का संवाहक यन्त्र होने से शारीर धातुओं के पोषण में प्रमुख भाग होता है। वस्तुत: रक्त के माध्यम से हृदय समस्त शरीर में प्राण का सञ्चार करता है अत एव कहा है– 'रक्तं जीव इति स्थिति:' (सु० सू० १४.४४)। यद्यपि इसका संकोच-विकास स्वत: हुआ करता है तथापि इसकी क्रियाओं का नियमन नाडीकेन्द्रों के द्वारा होता है। दो केन्द्र हृत्कार्य का नियन्त्रण करते हैं– एक रोधक और दूसरा वर्धक। रोधक केन्द्र प्राणदा नाडी (परसांवेदनिक) के द्वारा हृदय की गति को कम करता है तथा वर्धक केन्द्र सांवेदनिक सूत्रों द्वारा उसकी गति को बढ़ाता है। इस प्रकार दोनों केन्द्रों के परस्पर विरोध एवं सहयोग से हृत्कार्य का नियमन होता है।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से वात, पित्त और कफ इन तीनों का विशिष्ट स्थान हृदय है। प्राण वायु, साधक पित्त एवं अवलम्बक कफ का स्थान हृदय बतलाया गया है। प्राणवायु (Oxygen) हृदय में विशेषरूप से रहता है इसमें तनिक भी कमी होने से हृत्पेशी ठीक कार्य नहीं कर सकती। प्राणवायु के उचित परिमाण में रहने पर हृदयस्थ साधक पित्त प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट का पाचन (रूपान्तरण) करता है जिससे ऊष्मा और शक्ति प्राप्त होती है। हृदयस्थ अवलम्बक कफ हृदय का विश्राम एवं परिश्रम के समय हृदय को आवश्यक शक्ति (Rest & reserve force) प्रदान करता है। इसका क्षय होने पर श्वासकष्ट, शोथ आदि अनेक वातिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

१. **हृद्य** (Cardiac tonic)

हृदय को बल प्रदान करने वाले द्रव्य हृद्य कहलाते हैं यथा अर्जुन, स्वर्ण, मुक्ता आदि। ये द्रव्य हृत्पेशी के बल एवं अवलम्बक कफ को बढ़ाते हैं। अधिकांश हृद्य द्रव्य शीतवीर्य होते हैं, इनसे हृदय को स्थायी शक्ति प्राप्त होती है और उसकी गति में स्थिरता आती है। कुछ द्रव्य उष्णवीर्य भी होते हैं जो ऊष्मा उत्पन्न करते हैं और जिनसे हृदय को कार्यकारी शक्ति प्राप्त होती है। इसके उदाहरण वनपलाण्डु, करवीर, ताम्बूल आदि हैं।

२. **हृदयोत्तेजक** (Cardiac stimulant)

हृदय को उत्तेजित कर उसकी गति को बढ़ाने वाले द्रव्य हृदयोत्तेजक कहलाते हैं यथा अद्रिनिलीन, सोम आदि। ये द्रव्य निम्नाङ्कित प्रकार से कार्य करते हैं–

१. सांवेदनिक केन्द्र को उत्तेजित करने से– यथा कोकेन, मानसिक भावावेश आदि।
२. नाडियों को उत्तेजित करने से– यथा सोम, सूची आदि।
३. नाडीगण्डों पर कार्य करने से– यथा तम्बाकू आदि।
४. हृत्पेशी पर कार्य करने से– यथा कैफीन, हृत्पत्री (अतिमात्रा में) आदि।

ये द्रव्य उष्ण और रूक्ष गुणवाले होते हैं जिससे वायु और पित्त दोनों की वृद्धि होती है। पित्त ऊष्मा को और वायु गति को बढ़ा देता है। गति बढ़ने पर भी उष्ण और रूक्ष ये दोनों गुण ओज के विपरीत हैं अत: हृदयस्थ ओज पर हानिकारक प्रभाव होता है।

३. **हृदयावसादक** (Cardiac depressant)

हृदय को अवसादित कर उसकी गति को कम करने वाले द्रव्य हृदयावसादक कहलाते हैं यथा अहिफेन, हृत्पत्री आदि। ये द्रव्य भी रूक्षता से वात को बढ़ाते हैं किन्तु यह वात प्रभावत: हृदय को अवसादित करता है जिससे उसकी गति मन्द हो जाती है। गति कम होने से कफ का सञ्चय होता है और उसका अवलम्बन कर्म होने के कारण तथा ओज के समान गुण होने के कारण इन द्रव्यों से हृदय को कुछ विश्राम और शक्ति प्राप्त होती है। इनका अतिमात्रा में प्रयोग करने पर हल्लास, अरुचि, छर्दि, अतिसार, मन्द नाडी आदि विषाक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

ये द्रव्य निम्नाङ्कित प्रकार से अपना कर्म करते हैं–

१. प्राणदा नाडीकेन्द्र को प्रभावित करने से– यथा वत्सनाभ, हृत्पत्री, कुपीलु आदि।
२. नाडीगण्डों पर कार्य करने से– यथा तम्बाकू (अल्प मात्रा में) आदि।
३. नाडियों पर कर्म करने से– यथा हृत्पत्री आदि।
४. हृत्पेशी पर कर्म करने से– यथा हृत्पत्री, वत्सनाभ आदि।

४. रक्तभारवर्धक (Hypertensive)

धमनियों में रक्तभार को बढ़ाने वाले द्रव्य रक्तभारवर्धक कहलाते हैं यथा कुपीलु, हृत्पत्री आदि। ये द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं जिससे पित्त बढ़ कर समानधर्मी रक्त (भार) को बढ़ा देता है। कुछ द्रव्य लघुता और रूक्षता से वायु को बढ़ाकर हृदय की गति बढ़ा देते हैं तथा रक्तवाहिनियों में सङ्कोच उत्पन्न करते हैं जिससे रक्तभार बढ़ जाता है। रक्तभार निम्नाङ्कित कारणों से बढ़ता है–

१. सूक्ष्म धमनियों के सङ्कोच से।
२. हृदय का रक्तनिर्यात बढ़ने से।
३. रक्त का परिमाण बढ़ने से।
४. रक्त की सान्द्रता बढ़ने से।

इनके विपरीत कारणों से रक्तभार कम होता है। रक्तभारवर्धक द्रव्य निम्नाङ्कित प्रकार से कार्य करते हैं–

१. रक्तवाहिनीचालक केन्द्र को उत्तेजित करने से– यथा कुपीलु, हृत्पत्री आदि।
२. रक्तवाहिनीचालक नाडियों पर कार्य करने से– यथा अद्रिनिलीन, सोम आदि।
३. रक्तवाहिनियों की पेशियों पर कर्म करने से– यथा हृत्पत्री आदि।

विशेषत: रक्तवाहिनियों में सङ्कोच उत्पन्न कर ये द्रव्य रक्तभार को बढ़ाते हैं अत: इन्हें रक्तवाहिनी-सङ्कोचक (Vaso-constrictor) कहते है।

५. रक्तभारशामक (Hypotensive)

रक्तभार को कम करने वाले द्रव्य रक्तभारशामक कहलाते हैं यथा सर्पगन्धा आदि। इनमें कुछ द्रव्य तो शीतवीर्य एवं पित्तसंशोधक होते हैं जिससे रक्त (भार) की शान्ति होती है और कुछ द्रव्य रूक्ष और लघु होने के कारण वायु को बढ़ाते हैं जिससे रक्तवाहिनियों का प्रसार होकर रक्तभार कम होता है।

ये द्रव्य निम्नाङ्कित प्रकार से कर्म करते हैं–

१. रक्तवाहिनीचालक केन्द्र को अवसादित करने से– यथा मादक द्रव्य आदि।
२. धमनी-पेशियों पर कार्य करने से– यथा सोमल (अतिमात्रा में)।
३. रक्त का परिमाण घटाकर– यथा रक्तमोक्षण, रेचन, स्वेदन आदि।

स्वेदन से प्रथम तो रक्तभार उष्णता के कारण बढ़ता है किन्तु बाद में स्वेदागम से जलांश के निकलने पर यह कम हो जाता है।

ये द्रव्य विशेषत: रक्तवाहिनियों का प्रसार कर कार्य करते हैं अत: रक्तवाहिनीप्रसारक (Vaso-dilator) कहलाते हैं।

४. रसवहसंस्थान के कर्म

रस (लसीका) के संवहन तथा रसवाही ग्रन्थियों पर कर्म करने वाले द्रव्यों का वर्णन इस प्रकरण में किया जायेगा। यद्यपि आधुनिक विज्ञान में इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं है तथापि इन द्रव्यों के गुणकर्म को अधिक स्पष्टता से व्यक्त करने के विचार से यह प्रकरण स्वतन्त्र रक्खा गया है।

रसवहसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्यों के दो विभाग किये जा सकते हैं–

१. **रससंवहन पर प्रभाव डालने वाले**– इस वर्ग के भी दो भेद हो जाते हैं– (क) **शोथहर** यथा दशमूल। (ख) **शोथजनन** यथा लवण।
२. **रसग्रन्थियों पर कर्म करने वाले**– ये रसग्रन्थियों को संकुचित एवं अपचित करते हैं फलत: इनका प्रयोग गण्डमालानाशक होता है।

१. शोथहर

सामान्यत: रस से समस्त धातुओं का पोषण होता है और एक धातु का पोषण करने के बाद अवशिष्ट रस स्रोतों द्वारा अन्य धातुओं के पास पोषणार्थ चला जाता है। वैकृत अवस्था में वायु का प्रकोप होने पर रस, पित्त और कफ सभी दूषित हो जाते हैं और इनके द्वारा रस की गति अवरुद्ध हो जाती है। जिससे उसका सञ्चय त्वचा और मांस के बीच (अधस्त्वक् धातु) में होने लगता है। इसी को शोथ कहते हैं।[१] इस प्रकार यह होता तो त्रिदोषज है किन्तु वायु की प्रधानता रहती है।

इस शोथ को दूर करने वाले द्रव्य शोथहर कहलाते हैं। चरक ने पाटला, अग्निमन्थ आदि दस द्रव्यों को 'शोथहर' गण में रक्खा है और सुश्रुत ने इन्हें 'दशमूल' कहा है। दशमूल उष्णवीर्य होने के कारण वात का तथा कषाय और तिक्तरस के कारण पित्त और कफ को शान्त करता है, इसलिए त्रिदोषघ्न है।[२] ऊपर कहा गया है कि शोथरोग में तीनों दोष प्रकुपित रहते हैं किन्तु उसमें वात की प्रधानता रहती है तदनुसार दशमूल (शोथहर द्रव्य) मुख्यत: वातशामक[३] होते हैं और अन्य दोषों का भी शमन साथ-साथ करते हैं। दोषशमन के साथ-साथ प्रभावात् शोथ को भी दूर करते हैं अत एव दशमूल के द्रव्य उभय-विपरीत कहे गये हैं।[४]

---

१. रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहि:सिरा:। नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम्।। उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादत:। (मा० नि० ३६.१-)
२. दशमूलं त्रिदोषघ्नम्। (भा० प्र० नि० गु० ४१)
३. महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्। (सु० सू० ४०.५)
४. शीतगुणतोऽतिवृद्धवातशोथे दशमूलमुष्णं शीतहेतुविपरीतं वातशोथविपरीतञ्च। (मधुकोश)

रसवैशेषिक ने सर्वरसात्मक, शीत-मृदु-पिच्छिल-गुणयुक्त-जलीय-पार्थिव द्रव्यों को शोथहर (विलायन) लिखा है।[१] उनके मत में शोथ वायु और अग्नि से होता है क्योंकि ये दोनों ऊर्ध्वगामी होने के कारण त्वचा को उठा देते हैं और इस प्रकार शोथजनन में समर्थ होते हैं। अत: शोथहर द्रव्य में वायु और अग्नि के गुणों से विपरीत गुण होना चाहिए।[२] किन्तु वस्तुत: शोथ में वात की ही प्रधानता रहती है अग्नि की नहीं जैसा कि शास्त्र में शोथ की संप्राप्ति में बतलाया गया है। अत: श्वयथु-विलायन द्रव्य में शीतगुण होना कथमपि अभीष्ट नहीं हो सकता है। यह सम्भव है कि शल्याचार्य सुश्रुत के अनुयायी होने के कारण नागार्जुन ने शोथ-सामान्य का विचार न कर वहाँ व्रणशोथ के विलायन का विचार किया हो। ऐसे प्रसङ्ग में तो यह ठीक ही है क्योंकि व्रणशोथ में पित्त उल्बण रहता ही है।

२. शोथजनन

जो द्रव्य शोथ उत्पन्न करें उन्हें शोथजनन कहते हैं। रसवैशेषिककार ने मधुर और कषाय रसों को छोड़कर शेष चार (अम्ल, लवण, कटु और तिक्त) रस वाले द्रव्यों को शोथजनन लिखा है तथा यह भी निर्देश किया है कि ये द्रव्य आग्नेय-वायव्य तथा तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष गुण होते हैं।[३] इनमें भी लवण विशेष रूप से शोथजनन है[४] क्योंकि क्लेद-विष्यन्दशील होने के कारण वह जलांश का शोषण अधिक करता है और इस कारण धातुओं में जलसञ्चय के कारण शोथ उत्पन्न करता है। इसीलिए शोथरोग में लवण वर्जित है।[५]

३. गण्डमालानाशक

जो द्रव्य रसग्रन्थियों की वृद्धि को दूर करे उसे गण्डमालानाशक कहते हैं यथा काञ्चनार, मुण्डी आदि। ये द्रव्य प्रभाव से कर्म करते हैं।

*

१. सर्वान् रसान् शीतमृदुपिच्छिलांश्च गुणान् विलायनम्। तत् सौम्यं पार्थिवं च। (र० वै० ४.१९-२०)
२. अग्निवायू विश्लेषणं कृत्वोर्ध्वमुद्धूय शोथजननसमर्थौ भवत:।.... तस्य विलायनं तत्प्रतिपक्षभूतनिर्वर्तितं भवति। (र० वै० ४.१८, २०-भा०)
३. मधुरकषायवर्जितान् रसान् तीक्ष्णोष्णरूक्षांश्च गुणाञ् श्वयथुजननम्। तदाग्नेयं वायव्यं च। (र० वै० ४.१७-१८)
४. (च० सू० २६.४३; सु० सू० ४२.१०)
५. पिष्टान्नमुष्णं लवणानि मद्यं...परिवर्जयेद्धि। (भै० र० ४२.२०७)

पञ्चम अध्याय

५. श्वसनसंस्थान के कर्म

श्वसनसंस्थान का मुख्य कर्म शरीर-धातुओं को प्राणवायु प्रदान करना तथा मलभूत वायु को बाहर निकालना है। इससे समस्त शरीर का प्रीणन होता है तथा अग्नि (ऊष्माशक्ति) की दीप्ति होती है। श्वसन-कर्म श्वसनयन्त्र, वायुमण्डल, रक्तसंवहन, नाडीसंस्थान एवं श्वसनकेन्द्र के पारस्परिक सम्बन्ध से नियन्त्रित होता है। श्वसनकेन्द्र उष्णीषक एवं सुषुम्नाशीर्षक के ऊर्ध्वभाग में स्थित है। श्वसन की मुख्य नाडी प्राणदा है जिसमें संज्ञावह एवं चेष्टावह दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं। रक्तभार एवं रक्त में गैसों की स्थिति का श्वसन पर पूरा प्रभाव पड़ता है। रक्त में प्राङ्गार द्विजारेय की वृद्धि से श्वसन केन्द्र उत्तेजित हो जाता है फलत: श्वसन की वृद्धि हो जाती है। रक्तभार में कमी होने से श्वसन बढ़ जाता है।

श्वसनसंस्थान से सम्बद्ध कर्म निम्नाङ्कित वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं-

१. श्वसनोत्तेजक	४. कासहर	७. हिक्कानिग्रहण
२. श्वसनावसादक	५. श्लेष्मपूतिहर	८. कण्ठ्य
३. कफनि:सारक	६. श्वासहर	

१. श्वसनोत्तेजक (Respiratory stimulant)

श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित कर श्वसन को बढ़ाने वाले द्रव्यों को श्वसनोत्तेजक कहते हैं यथा कुपीलु, कर्पूर आदि। इसके अतिरिक्त शीतस्पर्श, अमोनिया, बाष्प आदि से भी श्वसनकेन्द्र प्रत्यावर्त्तित रूप से उत्तेजित हो जाता है।

२. श्वसनावसादक (Respiratory depressant)

श्वसनकेन्द्र पर अवसादक प्रभाव करके जो द्रव्य श्वसन को कम करे उसे श्वसनावसादक कहते हैं यथा अहिफेन, वत्सनाभ आदि। कासकेन्द्र श्वसनकेन्द्र से अत्यन्त सम्बद्ध रहने के कारण ये द्रव्य कासकेन्द्र को भी अवसादित करते हैं। अत: इनका प्रयोग कास में भी किया जाता है।

३. कफनि:सारक (Expectorant)

श्वासनलिकाओं में जमे कफ को बाहर निकालने वाले द्रव्य कफनि:सारक कहलाते हैं। इस कर्म के दो अवयव होते हैं- एक कफोत्क्लेशक और दूसरा छेदन।

एक से श्वासपथ की श्लेष्मल कला में श्लेष्मा का स्राव बढ़ जाता है और दूसरा पेशियों तथा श्लेष्मल कला की रोमिकाओं में गति उत्पन्न कर श्लेष्मा को बाहर निकाल देता है। कफोत्क्लेशक द्रव्य सौम्य (मधुर-स्निग्ध-पिच्छिल) होने के कारण कफ का स्राव बढ़ाकर शुष्क कफ को आर्द्र बनाते हैं जिससे वह सरलता से बाहर निकल जाय यथा श्लेष्मातक, खत्मी, गोजिह्वा आदि। छेदन द्रव्य सञ्चित एवं उत्क्लिष्ट कफ को बाहर निकाल देता हैं यथा यवक्षार, मरिच, हिङ्गु आदि।[१] ये प्राय: कटुरस होते हैं अत: वायव्य और आग्नेय स्वभाव के कारण क्रमश: विभाजन एवं तीक्ष्णता के द्वारा कार्य करते हैं। अम्ल और लवण रस आग्नेय-जलीय होने के कारण उत्क्लेशन एवं छेदन दोनों कर्म करते हैं।[२]

उत्क्लेशक और छेदन ये दोनों कर्म प्राणदा एवं सांवेदनिक नाडीसूत्रों से नियन्त्रित होते हैं।

आधुनिक दृष्टि से, कफनि:सारक कर्म निम्नाङ्कित क्रियाओं से होता है–

१. प्रत्यावर्त्तित रूप से प्रभाव डाल कर (Reflex expectorant)– यथा मदनफल आदि वामक द्रव्य। ये अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने पर कफघ्न होते हैं।
२. केन्द्र को उत्तेजित करने से (Central expectorant)– यथा काकतुण्डी आदि।
३. स्रावक नाडियों को उत्तेजित करने से– यथा पाइलोकार्पाइन आदि।
४. श्वासप्रणालिकीय श्लेष्मग्रन्थियों को उत्तेजित करने से– यथा लवण, क्षार आदि।

४. कासहर (Bronchial sedative or anti-tussive)

कास के वेग को शान्त करने वाले द्रव्य को 'कासहर' कहते हैं यथा द्राक्षा, हरीतकी, बिभीतक आदि। कास एक प्रत्यावर्त्तित क्रिया है जो वातजन्य क्षोभ के कारण होता है। उदानानुगत प्राणवायु से कास की उत्पत्ति बतलाई गई है। अत एव कासहर द्रव्य माधुर्य, स्निग्धता तथा उष्णता के कारण वात की शान्ति कर कास को दूर करते हैं।

५. श्लेष्मपूतिहर (Pulnonary antiseptic)

जो द्रव्य श्लेष्मा की पूति (Sepsis) तथा तज्जन्य दुर्गन्ध को दूर करे उसे श्लेष्मपूतिहर कहते हैं यथा हिंगु, रसोन आदि। ये द्रव्य तीक्ष्ण-गन्धयुक्त होते हैं तथा इनका उत्सर्ग फुफ्फुसों से होता है अत: उत्सर्गकाल में फुफ्फुसों एवं तत्रस्थ श्लेष्मा पर अपना पूतिहर कर्म करते हैं। इन द्रव्यों का नस्य के द्वारा प्रयोग अधिक लाभकर होता है।

१. श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात्। छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु।। (शा० अ० ४.९)

२. द्रव्याणि हि अम्ल-लवण-कटूनि शारीरक्लेदादीनि छिन्दन्ति। (गं०)

६. श्वासहर (Bronchial antispasmodic)

प्राणवायु का अधिक मात्रा में ऊर्ध्वगामी होना जिसमें वक्ष:स्थल भाँथी के समान गति करे श्वास कहलाता है।[१] इसे लोक में 'दम फूलना' या 'दमा' कहते हैं। शारीर-क्रिया की दृष्टि से यह श्वासकष्ट (Dyspnoea) की अवस्था है। इस अवस्था को जो द्रव्य दूर करे उसे 'श्वासहर' कहते हैं। कफप्रधान वायु के विकार से यह अवस्था होती है। आधुनिक विकृतिविज्ञान की दृष्टि से भी, श्वासप्रणालिकाओं की श्लेष्मल कला में शोथ हो जाने से वायु-पथ सङ्कीर्ण हो जाता है और परसांवेदनिक (प्राणदा) नाडीसूत्रों के उत्तेजित होने के कारण श्वासप्रणालिकीय पेशियाँ सङ्कुचित हो जाती हैं जिससे वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और श्वास में कष्ट उत्पन्न हो जाता है। अत: श्वासहर द्रव्य उष्णवीर्य एवं कफवातहर होते हैं यथा शटी, पुष्करमूल आदि।

७. हिक्कानिग्रहण

जो द्रव्य हिक्का (हिचकी) को बन्द करे वह हिक्कानिग्रहण कहलाता है। हिक्का भी श्वास के समान वात और कफ दोषों से उत्पन्न होती है। किन्तु श्वास में कफ की और इसमें वात की प्रधानता रहती है। अत: हिक्कानिग्रहण द्रव्य भी उष्णवीर्य और कफवातहर होते हैं। अत एव प्राय: श्वासहर द्रव्य हिक्कानिग्रहण होते हैं यथा शटी, पुष्करमूल आदि।

८. कण्ठ्य (Beneficial for throat)

कण्ठ (स्वर) को ठीक करने वाले द्रव्य को 'कण्ठ्य' या 'स्वर्य' कहते हैं[२] यथा सारिवा, मुलेठी आदि। स्वर के विकार (स्वरभेद) यों तो त्रिदोषजन्य होते हैं किन्तु उन सब में वात-कफ की प्रधानता होती है। कण्ठ्य द्रव्य वात-कफघ्न और कफनि:सारक होने से कण्ठ को शुद्ध करते हैं।

*

१. श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता। (मा० नि० १२.१५-मधु०)

२. कण्ठस्थस्वराय हितं कण्ठ्यम्। (च० सू० ४.८-गं०)
कण्ठाय हितं कण्ठ्यम्। (च० सू० ४.८-यो०)

षष्ठ अध्याय

६. पाचनसंस्थान के कर्म

मुख से गुदापर्यन्त समस्त पाचननलिका (महास्रोत- Gastro-intestinal tract) से सम्बद्ध कर्म इस प्रकरण के अन्तर्गत आते हैं तथापि वर्णन की सुविधा के लिए अधिष्ठान की दृष्टि से उसके तीन विभाग किये गये हैं-

(क) **मुख** (Mouth) **के कर्म**- इसमें मुख तथा उसके अन्तर्गत उपाङ्गों में होने वाले द्रव्यजनित परिवर्तनों (कर्मों) का वर्णन किया गया है।

(ख) **आमाशय** (Stomach) **के कर्म**- आमाशय पर होने वाले द्रव्यों के विविध कर्म इसके अन्तर्गत आते हैं।

(ग) **आन्त्र** (Intestines) **के कर्म**- रेचन आदि कर्म जो अन्त्र से सम्बन्ध रखते हैं इस वर्ग में आते हैं।

(क) मुखगत कर्म

मुख में लालाग्रन्थियों के स्रोत खुलते हैं जिससे आहार का बोधन, क्लेदन एवं पाचन होता है। इसके अतिरिक्त, इसमें स्वभावत: अनेक प्रकार के जीवाणु निवास करते हैं जो अनुकूल परिस्थितियों में रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र में मुखगत कर्मों का विशेष महत्त्व है।

१. लालाप्रेसकजनन (Sialagogue)

लाला-स्राव (Salivary secretions) को बढ़ाने वाले द्रव्य लालाप्रसेकजनन कहलाते हैं यथा तुम्बुरु आदि। लाला में कफ और पित्त दोनों होते हैं। कफांश से आहार का बोधन और क्लेदन तथा पित्तांश से पाचन होता है। अत: लालाप्रसेकजनन द्रव्य जलीय और आग्नेय स्वभाव के होते हैं यथा अम्ल और कटु रस।

लालाग्रन्थियाँ दो प्रकार के नाडीसूत्रों (परसांवेदनिक और सांवेदनिक) से सम्बद्ध है। परसांवेदनिक नाडीसूत्रों की उत्तेजना से रक्तवाहिनियों का प्रसार होता है अत: लाला का स्राव बढ़ जाता है। इसके विपरीत, सांवेदनिक नाडीसूत्रों से रक्तवाहिनियों का सङ्कोच होता है जिससे लाला का स्राव कम होता है। स्वभावत: लालास्राव की वृद्धि आहार द्रव्यों के रूप, गन्ध आदि से उत्पन्न मानसिक प्रभाव (Psychic reflex), रसवहनाडियों की रासायनिक उत्तेजना (Chemical stimulation) तथा चर्वण की यान्त्रिक क्रिया (Mechanical stimulation) से होती है।

लालाप्रसेकजनन निम्नांकित प्रकार से अपना कर्म करते हैं-

१. संज्ञावह नाडियों को उत्तेजित करने से- यथा अम्ल, कटु आदि द्रव्य।
२. परसांवेदनिक नाडियों को उत्तेजित करने से- यथा पाइलोकार्पाइन आदि।
३. नाडीगण्डों को उत्तेजित करने से- यथा तम्बाकू।

अनेक द्रव्य लाला द्वारा उत्सृष्ट होने पर लालास्राव को बढ़ाते हैं यथा पारद आदि।

२. लालाप्रसेकशमन (Anti-sialagogue)

लालास्राव को कम करने वाले द्रव्य लालाप्रसेकशमन कहलाते हैं। ये द्रव्य पार्थिव और वायव्य स्वभाव के होते हैं अत: रूक्ष गुण होते हैं यथा कषाय द्रव्य। इनका कार्य अनेक प्रकार से होता है-

१. मुखगत क्षोभ को कम करने से- यथा कषायस्कन्ध के द्रव्य।
२. परसांवेदनिक नाडियों के आघात से- यथा सूची।

३. तृष्णानिग्रहण

जो द्रव्य तृष्णा (प्यास) को दूर करे उसे तृष्णानिग्रहण कहते हैं यथा नागरमोथा, पित्तपापड़ा आदि। सामान्यत: श्लेष्मल ग्रन्थियों के निरन्तर कफभूत स्राव से मुख की श्लेष्मल कला आर्द्र बनी रहती है किन्तु वात और पित्त के बढ़ जाने पर कफ का क्षय हो जाता है; जिससे कला के शुष्क हो जाने पर मुखशोष और तृष्णा उत्पन्न होती है।[१] अत एव तृष्णाशामक द्रव्य वातपित्तशामक होते हैं; जो कारणभूत दोष (वात और पित्त) को शान्त कर देते हैं जिससे तृष्णा भी शान्त हो जाती है। अतिशीत (बर्फ आदि) का प्रयोग करने पर अग्नि की शान्ति से कुछ तात्कालिक सुख तो मिलता है किन्तु शैत्य के कारण वायु और बढ़ जाती है। जिससे तृष्णा की और वृद्धि हो जाती है।

तृष्णानिग्रहण द्रव्यों का कर्म दो प्रकार से होता है-

१. स्थानिक- कुछ द्रव्य स्थानिक प्रयोग (गण्डूष[२] आदि) से मुखगत दोष को शान्त करते हैं यथा इक्षुरस, क्षीर आदि।
२. सार्वदैहिक- कुछ द्रव्यों का पान, व्यञ्जन, सेक[३] आदि के रूप में प्रयोग होता है। जिससे शरीरगत वातपित्त दोषों का शमन होता है।

---

१. (च० चि० २२.४-६)

२. क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रशीधुमाध्वीकै:। वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्ना:।। (च० चि० २२.३४)

३. पानाभ्यञ्जनसेकेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम्। (च० चि० २२.३२)

४. दुर्गन्धनाशन

जिह्वामूलगत मल[१] का जब आधिक्य हो जाता है तथा मुख में आहार द्रव्यों के कुछ सूक्ष्मकण रह जाते हैं (जिन पर जीवाणुओं की क्रिया से सड़न होने लगती है) तब मुख से दुर्गन्ध आने लगती है। इसे दूर करने वाले द्रव्यों को मुखदुर्गन्धनाशन कहते हैं यथा लवङ्ग, एला आदि। ये द्रव्य उड़नशील तैलयुक्त तथा सुगंधित होते हैं जिससे मुख की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। साथ ही ये उसके कारणभूत दोष को भी नष्ट करने में सहायक होते हैं। यही कारण है कि ये द्रव्य प्रचुर परिमाण में मुखशुद्धि के रूप में प्रयुक्त होते हैं।[२]

५. वैशद्यकारक

मुख की पिच्छिलता को दूर करने वाले द्रव्यों को मुखवैशद्यकारक कहते हैं यथा ताम्बूल, पूग आदि। कफ का गुण पिच्छिल है अत: कफदोष के आधिक्य से मुख में पैच्छिल्य उत्पन्न होता है। इसलिए कफनाशक द्रव्य (कटु, तिक्त, कषाय, विशद आदि) वैशद्यकारक होते हैं।

६. दन्त्य (Dentifrice)

दाँतों के लिए हितकर द्रव्य दन्त्य कहलाते हैं।[३] कुछ द्रव्य दाँतों को शुद्ध (साफ) करते हैं और कुछ उन्हें दृढ़ बनाते हैं। इस दृष्टि से इसके दो वर्ग किये गये हैं। आधुनिक विद्वानों ने भी रक्षोघ्न (Antiseptic) तथा कषाय (Astringent) ये दो वर्ग बनाये हैं।

(क) **दन्तशोधन**– दाँतों को शुद्ध एवं स्वच्छ बनाने वाले द्रव्यों को दन्तशोधन कहते हैं। 'दन्तधावन' और 'दन्तपवन' भी इनके नाम हैं। इनके काष्ठ की कूची से दाँतों को रगड़ने से उन पर सञ्चित मल दूर होता है। ये द्रव्य कटु, तिक्त रस वाले होते हैं जो दन्त पर आवरणभूत कफ को नष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये जन्तुघ्न भी होते हैं जिससे वहाँ पर स्थित जीवाणुओं को नष्ट करते हैं (Antiseptic)। करञ्ज, निम्ब, करवीर आदि द्रव्य इस वर्ग में प्रमुख हैं।[४] चूर्णरूप में भी ये प्रयुक्त होते हैं।

---

१. जिह्वामूलगतं यच्च मलमुच्छ्वासरोधि च। दौर्गन्ध्यं भजते तेन।। (च० सू० ५.७५-)

२. धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता। जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च।।
कक्कोलस्य फलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा। तथा कर्पूरनिर्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च।।
(च० सू० ५.७६-७७)

३. दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम्।

४. करञ्जकरवीरार्कमालतीककुभासनाः। शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधाः द्रुमाः।।
(च० सू० ५.७३-)

(ख) **दन्तदार्ढ्यकर**– दाँतों को दृढ बनाने वाले द्रव्य 'दन्तदार्ढ्यकर' कहलाते हैं। ये विशेषत: कषायस्कन्ध के (Astringent) होते हैं और अपने सङ्कोचक प्रभाव के कारण दन्तमांस की शिथिलता को दूर कर दाँतों को दृढ बनाते हैं। इसके अतिरिक्त, स्तम्भन होने के कारण ये तत्रस्थ रक्तवाहिनियों को भी सङ्कुचित करते हैं जिससे मसूडों से रक्त आना बन्द होता है। इसके उदाहरण त्रिफला, बबूल आदि हैं। दाँतों को मजबूत बनाने वाले अनेक दन्तमञ्जनों में इनका प्रयोग होता है।

(ख) आमाशयगत कर्म

आमाशय (Stomach) में वात, पित्त और कफ तीनों की स्थिति होती है। वहाँ समान वायु, पाचक पित्त तथा क्लेदक कफ रहते हैं। क्लेदक कफ में भौतिक क्रिया (अन्न का क्लेदन), पाचक पित्त से रासायनिक क्रिया (अन्न का पाचन) एवं समान वायु से यान्त्रिक क्रिया (प्रेरण, गति आदि) होती है। श्लेष्मल ग्रन्थि द्वारा उद्भूत श्लेष्मा कफ का स्थूलरूप, पाचक ग्रन्थियों से परिस्रुत आमाशय रस (Gastric juice) पित्त का स्थूलरूप तथा वातनाडियों से पेशियों तथा ग्रन्थियों में प्रवाहित होने वाला वात वायु का रूप है। पाचन की प्रथम एवं द्वितीय अवस्था में क्रमश: मलभूत कफ और पित्त का उद्रेक आमाशय में होता है। आमाशयगत कर्म इन्हीं दोषों से सम्बन्धित हैं और इन्हीं के अनुसार उनका विभाजन किया जा सकता है यथा रोचन-तृप्तिघ्न कफ से, दीपन-पाचन पित्त से तथा अनुलोमन-विष्टम्भी वात से सम्बन्ध रखते हैं।

आमाशय में दो प्रकार की वातनाडियों का सम्बन्ध है, एक प्राणदा की शाखाओं का तथा दूसरी कोष्ठीय नाडियों का। प्रथम नाडी आमाशयगति को बढ़ाती तथा दूसरी अवरुद्ध करती है।

१. तृप्तिघ्न

तृप्ति कफ का एक नानात्मज (विशिष्ट) विकार है जिससे आमाशय कफ से परिपूर्ण होने के कारण (पेट) भरा ऐसा प्रतीत होता है और पुरुष कुछ खाने की इच्छा नहीं करता और भोजन से द्वेष (भक्तद्वेष[१]) होने लगता है। इस विकार को नष्ट करने वाले द्रव्य 'तृप्तिघ्न'[२] कहलाते हैं यथा शुण्ठी, चित्रक आदि। ये द्रव्य उष्णवीर्य, रूक्षगुण, कटु, तिक्त, कषाय रस होते हैं जिससे कफ का शमन होता है।

---

१. चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वापि भोजनम्।
द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते।। (मा० नि० १४.४-मधु०)

२. तृप्तिः श्लेष्मविकारो येन तृप्तमिवात्मानं मन्यते, तद्घ्नं तृप्तिघ्नम्। (च० सू० ४.८-चक्र०)
तृप्तिः श्लेष्मविकारभेदः, तन्नाशकम्। (च० सू० ४.८-गं०)

कविराज योगीन्द्रनाथ सेन ने 'तृप्ति' को 'अरोचक' मानकर 'तृप्तिघ्न' द्रव्य को 'अरोचकहर' बतलाया है।[१] आचार्य यादव जी ने भी इसी का अनुसरण किया है, क्योंकि 'तृप्तिघ्न' प्रकरण में ही उन्होंने 'अरोचकहर' तथा रोचन द्रव्यों का निर्देश उदाहरणरूप में किया है, किन्तु वस्तुत: दोनों भिन्न हैं। तृप्तवत् अनुभव होना तृप्ति है जबकि अतृप्त होने पर भी भोजन की इच्छा न होना या उसमें रुचि न लगना अरुचि है।

२. रोचन

रुचि (Relish) वस्तुत: पुरुष के महास्रोत विशेषत: मुख तथा आमाशय की अवस्था तथा मानसिक स्थिति से सम्बन्ध रखता है। इसमें भोजन तो आदमी कर लेता है किन्तु उसमें स्वाद नहीं मालूम होता। इस विकार को 'अरुचि' कहते हैं।[२] इसे दूर करने वाले द्रव्य 'रोचन' 'रुचिकर' या 'अरोचकहर' कहे जाते हैं।

अरोचक की उत्पत्ति तीनों दोषों से बतलाई गई है तथापि कफ की प्रधानता देखी जाती है। इसके कारण मुख का स्वाद भी बदल जाता है। वात, पित्त और कफ के कारण क्रमश: कषाय, कट्वम्ल लवण तथा मधुर रस की प्रतीति मुख में होती है।[३] शारीर दोषों के अतिरिक्त कुछ मानस कारण भी होते हैं।[४] एक ही वस्तु निरन्तर सेवन करते रहने से भी अरुचि हो जाती है।[५] मानस भाव के आधार पर ही रुचिकर पदार्थों को 'स्वादु'[६], 'प्रिय', हृद्य आदि संज्ञायें दी गई हैं। चरक का हृद्यगण[७] वस्तुत: रोचन गण है। अम्लद्रव्यों को रोचन बतलाया है। खट्टे पदार्थ स्वभावत: रुचिकर और रुचिवर्धक होते हैं। इसका कारण यह है कि बोधक कफ के कारण द्रव्यों का स्वाद प्रतीत होता है किन्तु मलभूत कफ के आधिक्य से जब वह आच्छन्न हो जाता है तब इसकी क्रिया नहीं होने से अरुचि हो जाती है।

१. तृप्तिं हन्तीति तृप्तिघ्नम् अनन्नाभिनन्दनात् तृप्तिरिव तृप्तिरोचकः, स च श्लेष्मजो विकारः। (च० सू० ४.८-यो०)
२. प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः। अरोचकः स विज्ञेयः। (मा० नि० १४.४-मधु०)
३. कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन।
कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसम्बद्धयुतं कफेन।। (च० चि० २६.१२४-१२५)
४. वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः। अरोचकाः स्युः.... (चि० चि० २६.१२४)
५. सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्। कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः।। (च० चि० ३०.३३१-)
६. भुक्त्वाऽपि यत् प्रार्थयते भूयस्तत् स्वादु भोजनम्। (सु० सू० ४६.४८२)
७. हृदयाय मनसे हितं हृद्यम्। (च० सू० ४.८-यो०)

अम्लद्रव्य पार्थिव और आग्नेय होने के कारण बोधक कफ को उत्तेजित करते हैं किन्तु अग्नितत्त्व की उपस्थिति के कारण कफ का आवरण नहीं होने देते।

३. दीपन (Stomachic)

जिन द्रव्यों से अग्नि (जाठराग्नि) दीप्त होती (बढ़ती) है उसे 'दीपन' कहते हैं।[१] अग्नि मन्द होने पर भूख कम हो जाती है और पुरुष भोजन कम करता है। ऐसी स्थिति में प्रयुक्त होने पर ये द्रव्य लाभकर होते हैं और इनसे भूख बढ़ती है किन्तु इनसे अन्न का पाचन नहीं होता।[२] ये द्रव्य आग्नेयस्वभाव, कटु, अम्ललवणरस, उष्णवीर्य तथा तीक्ष्ण-उष्ण-लघुगुण युक्त होते हैं।[३] कुछ आचार्यों ने इनमें वायु और पृथिवी का बाहुल्य माना है।[४] मेरे विचार से इसमें अग्नि और वायु की प्रधानता होती है। अग्नि कम रहने पर वायु दीपन कार्य करता है जिससे अग्नि दीप्त हो जाती है। समान वायु का कार्य अग्नि-संधुक्षण है[५] और लोक में भी अग्नि का दीपन वायु के द्वारा होता है। इसके उदाहरण सौंफ, मरिच, आर्द्रक आदि हैं।

आधुनिक दृष्टि से, आमाशयरस का स्राव प्राणदा के स्रावक सूत्रों से नियन्त्रित होता है। प्राणदा नाडी को उत्तेजित करने से आमाशयिक रस का स्राव बढ़ जाता है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि आमाशय में भोजन न रहने पर भी केवल रूप या गन्ध से प्रेरित वात के प्रभाव के कारण आमाशय का स्राव होने लगता है। प्राणदा नाडी के स्रावक सूत्रों की उत्तेजना से स्राव होता है। उसे 'क्षुधारस' (Psychic or appetite juice) कहते हैं। इसीसे भूख लगती है और इससे पाचन की अवस्था भी आरम्भ हो जाती है किन्तु वास्तविक पाचन आगे

१. दीपनाय वह्नेरुद्दीपनाय हितम्। (च० सू० ४.८-गं०)
दीपनमन्तरग्नेः सन्धुक्षणं तस्मै हितं दीपनीयम् (च० सू० ४.८-यो०)
२. यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्।
दीपनं ह्यग्निकृत्वामं कदाचित् पाचयेन्न वा।। (अ० हृ० सू० १४.७-अ०द०)
पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद्यथा मिशिः। (शा० प्र० ४.१)
३. दीपनमग्निभूयिष्ठं, तत्समानत्वात्। (सु० सू० ४१.६)
पित्तलान् रसान् गुणांश्च दीपनीयम्, तदाग्नेयम्। (र० वै० ४.१०)
कटुकाम्ललवणान् रसान् तीक्ष्णोष्णलघून् गुणानाश्रिमिति। तदग्निनैव निर्वर्त्यम्। (र० वै० ४.१०-भा०)
४. पृथिव्यनिलबाहुल्याद्दीपनं परिचक्ष्महे। (भा० प्र०)
५. समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये।। (च० चि० १५.७)

होने वाले स्राव से होता है।[१] मेरे विचार से, दीपन द्रव्य क्षुधारस को बढ़ाते हैं। कटु, अम्ल आदि द्रव्य प्राणदा को उत्तेजित करते हैं और उससे क्षुधारस का स्राव बढ़ जाता है।

दीपन द्रव्य निम्नाङ्कित प्रकार से कार्य करता है–

१. मुखगत नाडियों को उत्तेजित कर क्षुधारस बढ़ाने से– यथा रुचिकर भोजन, कटु, तिक्त आदि।
२. प्राणदा के स्रावक सूत्रों को उत्तेजित करने से– यथा पाइलोकार्पाइन आदि।
३. आमाशय के शीर्षभाग (Fundus) को उत्तेजित करने से– यथा मद्य।
४. आमाशय के मुद्रिका भाग (Pylorus) को उत्तेजित करने से– यथा मांससत्व आदि।

४. पाचन (Digestive)

जो द्रव्य आमाशयिक रस का स्राव बढ़कर आहार का पाचन करे (पचावे) उसे 'पाचन' कहते हैं[२] यथा मातुलुङ्गकेशर आदि। इससे आहार का पाचन होता है किन्तु अग्नि का दीपन (क्षुधारस की वृद्धि) नहीं होता,[३] अत: इसका प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ भूख तो लगती हो किन्तु आहार का पाचन नहीं होता हो। ये द्रव्य आग्नेय स्वभाव के होते हैं, कुछ लोग इसमें वायु का अंश भी मानते हैं।[४]

कुछ द्रव्य दीपन और पाचन दोनों कर्म करते हैं यथा चित्रक।[५]

दीपन और पाचन में अन्तर

अभ्यवहरण (बुभुक्षा) और जरण (पाचन) ये दोनों जठराग्नि के कार्य हैं। इन्हीं दोनों कार्यों के आधार पर दीपन-पाचन का विभाग किया है। दीपन द्रव्यों

१. It is evident that sensation of taste, odour etc reflexly stimulates the secretory fibres of vagus, and the secretion so induced is termed psychic or appetite secretion, this secretion initiates gastric digestion which is supplemented by further secretion arising in the stomach itself. (R. Ghosh-Materia medica)

२. पचन्तमग्निं प्रतिपक्षक्षपणेन बलदानेन च यत् पाचयति तत् पाचनम्।
(च० सू० २२.१८-चक्र०)
पचतोऽग्नेः पक्तुं शक्तिमधिकां यदुत्पादयति तद् द्रव्यं क्रिया वा पाचनमुच्यते।
(अ० हृ० सू० १४.७-अ०द०)

३. पचत्यामं न वह्निं च कुर्यात्तद्धि पाचनम्। लुङ्गकेशरवद् विद्याद्। (शा० प्र० ४.१-)

४. तच्च वाय्वग्निभूयिष्ठम् (च० सू० २२.१८-चक्र०)
आग्नेस्तु गुणबाहुल्यात् पाचनं परिचक्ष्महे। (भा० प्र०)

५. चित्रो दीपनपाचनः।- (शा० प्र० ४.२)

से अभ्यवहरण शक्ति बढ़ती है और पाचनद्रव्यों से जरणशक्ति बढ़ती है। इसी को कुछ आचार्यों ने यह भी लिखा है कि जो अग्नि को दीप्त करे किन्तु आम (अपक्व अन्न) का पाचन न करे उसे दीपन कहते हैं। सुश्रुत ने सामान्य-विशेषन्याय से (अग्निवर्धक होने से) आग्नेय द्रव्यों को दीपन माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीपन पाचन दोनों को दृष्टि में रख कर सुश्रुत ने ऐसी व्यवस्था की है। नागार्जुन ने भी ऐसा ही किया है। किन्तु इस प्रकार पाञ्चभौतिक सङ्घटन की दृष्टि से दोनों का भेद स्पष्ट नहीं होता। कुछ आचार्य पृथिवी और वायु की अधिकता से दीपन तथा वायु और अग्नि की अधिकता से पाचन कर्म मानते हैं। अन्यत्र एक दृष्टान्त द्वारा दोनों के भेद को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। कहा गया है कि चरक में भी 'दीपनीय' के समान 'पाचनीय' गण नहीं मिलता। जिस प्रकार एक ही अग्निपाक में विभिन्न रूपों से भिन्न-भिन्न कार्य करती है उसी प्रकार जठराग्नि भी विभिन्न रूपों मे भिन्न-भिन्न कार्यों के सम्पादन में समर्थ होती है। जैसे दीपक में स्थित अग्नि केवल प्रकाश का कार्य कर सकती है किन्तु उससे रसोई बनाने का कार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईंधन की अग्नि से ओदन का पाक-कर्म होता है किन्तु उससे प्रकाश नहीं हो सकता। आढमल्ल ने इसका समाधान प्रभाव से किया है।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों के विविध मतों के पर्यालोचन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि दीपन और पाचन वस्तुत: एक ही कर्म की दो अवस्थायें हैं। दीपन प्रथम और पाचन द्वितीय अवस्था है। दीपन में अग्नि कम उद्दीप्त रहती है अत: उसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि उससे पाचन का कार्य हो सके अत: उससे केवल भूख लगती है जैसे दीपक से केवल प्रकाश ही मिल सकता है उससे पाक कर्म नहीं हो सकता क्योंकि उसमें ताप की मात्रा कम होती है। पाचन में अग्नि अधिक उद्दीप्त होती है जिससे पाचन का कर्म तो होता है किन्तु उससे क्षुधा की संज्ञा (Sensation) जाग्रत नहीं होती क्योंकि इसके लिए मृदु और विशिष्ट अग्नि चाहिए ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रकाश के लिए ताप मृदु और विशिष्ट रूप का होना चाहिए। पाञ्चभौतिक सङ्घटन की दृष्टि से भी, दीपन-पाचन अग्निवाय्वात्मक है किन्तु दीपन में वायु की प्रधानता है और पाचन में अग्नि की। लोक में भी वायु के द्वारा अग्नि का दीपन होता है और अग्नि के द्वारा वस्तुओं का पाचन।

५. अग्निसादन

अग्नि (जठराग्नि) को मन्द करने वाले द्रव्य 'अग्निसादन' कहलाते हैं यथा कषाय द्रव्य, अहिफेन, वमन आदि। मानस भावों में उद्वेग, चिन्ता, भय, शोक आदि

में अग्नि मन्द हो जाती है।[१] ये द्रव्य विशेषत: पार्थिवाप्य होते हैं। अतिशीत से भी आमाशयिक स्राव कम होता है। अत: बर्फ का सेवन भोजन के साथ अभीष्ट नहीं है।

६. विदाही

जो द्रव्य पच्यमानावस्था[२] में पित्त का अधिक प्रकोप एवं तज्जन्य विदाह उत्पन्न करता है उसे विदाही कहते हैं। तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं कटु-अम्ल-लवण द्रव्य विदाही होते हैं यथा सर्षप, लङ्का आदि।

इन द्रव्यों से आमाशय क्षुभित होता है और आमाशय रस का स्राव अत्यधिक होने लगता है। स्राव की प्रकृति तीव्र अम्ल होने से आमाशय में अतिलवणाम्लता (Hyperchlorhydria) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण विदाह होता है। इसमें पित्त का द्रवत्व और तीक्ष्णत्व बढ़ जाता है जैसा कि अम्लपित्त में होता है।

७. विदाहशामक (Gastric sedative)

जो द्रव्य आमाशय के विदाह को शान्त करे उसे 'विदाहशामक' कहते हैं। ये द्रव्य पित्तशामक होते हैं। जो निम्नाङ्कित प्रकार से कार्य करते हैं–

१. पित्त का द्रवत्व कम करके– यथा पटोल, गुडूची आदि तिक्त द्रव्य। ये वातप्रधान होने से द्रवत्व का शोषण करते हैं। इसी को उपशोषण कहा गया है।
२. पित्त की उष्णता-तीक्ष्णता का शमन करके– यथा नारिकेल, आमलकी आदि पित्तशामक द्रव्य।
३. अम्लता को उदासीन करके– यथा क्षार, शंखभस्म आदि।

८. वमन (Emetic)

जो द्रव्य आमाशयस्थ अपक्व अन्न, श्लेष्मा एवं पित्त आदि दोषों को ऊर्ध्वभाग (मुखमार्ग) से बाहर निकाले उसे वमन या ऊर्ध्वभागहर कहते हैं[३] यथा

१. ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति।।
मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदु:खशय्याप्रजागरै:।।
(मा० नि० ६.८-९)

२. द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्।
पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि।। (सु० सू० ४५.१५८-ड०)

३. दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्। (च० क० १.४)
अपक्वपित्तश्लेष्माणौ बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत्। वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा।।
(शा० प्र० ४.७-)

मदनफल आदि। ये द्रव्य सर्वरस,[१] उष्णवीर्य, तीक्ष्ण-सूक्ष्मगुणयुक्त व्यवायी-विकाशी[२] एवं अग्निवाय्वात्मक[३] होते हैं। अग्नि और वायु ये दोनों महाभूत लघु होने के कारण ऊर्ध्वगामी होते हैं और अपने साथ-साथ शरीर दोषों को भी बाहर निकालते हैं।[४] किन्तु सभी अग्निवाय्वात्मक द्रव्य वमन नहीं कराते अत: यह द्रव्यप्रभावजन्य कर्म माना गया है।[५]

कफ के निर्हरण के लिए यह मार्ग सर्वोत्तम बतलाया गया है।[६] इसके अतिरिक्त निम्नाङ्कित विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है–

१. गला या अन्ननलिका से शल्य को निकालने के लिए।
२. आमाशय से आमदोष या विष के निर्हरण के लिए।
३. कुष्ठ, श्लीपद आदि विकार।[७]

आधुनिक शारीर की दृष्टि से, वमन एक अत्यन्त जटिल कर्म है जिसमें अनेक अङ्ग भाग लेते हैं। वमन-केन्द्र सुषुम्नाशीर्षक में स्थित है। यह केन्द्र साक्षात् रूप से मस्तिष्क-गत रक्तसंवहन में विकृति या यान्त्रिक तथा रासायनिक उत्तेजकों (यथा अर्बुद, मूत्रविषमयता आदि) के द्वारा और परोक्ष रूप से अनेक बाह्य उत्तेजकों (यथा द्विष्ठ, वीभत्सदर्शन आदि[८]) के द्वारा उत्तेजित होता है। उत्तेजना के अधिष्ठानभेद से वमन द्रव्य दो प्रकार के होते हैं–

१. स्थानिक (Local or reflex emetic or gastric emetic)

ये द्रव्य अपनी तीक्ष्णता से आमाशयस्थित प्राणदा नाडी से संज्ञावह सूत्रों को उत्तेजित कर वमन कराते हैं यथा सर्षप, तुत्थ आदि।

२. केन्द्रीय (Central emetic)

ये द्रव्य शोषण के बाद मस्तिष्कस्थित वमनकेन्द्र को उत्तेजित कर वमन कराते हैं यथा अहिफेन आदि।

१. तत्र सर्वान् रसानाश्रित्य छर्दनीयम्। (र० वै० ४.२)
२. तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि..... प्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते।
(च० क० १.५)
३. तदाग्नेयवायव्यं च। (र० वै० ४.३)
४. वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्। (सु० सू० ४१.६)
५. ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्। (च० सू० २६.६९)
६. वमनं श्लेष्महराणाम्। (च० सू० २५.४०)
७. शेषास्तु वम्या:; विशेषतस्तु पीनसकुष्ठ...श्लेष्मव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं केदारसेतुभेदे शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत्। (च० सि० २.१०)
८. दुष्टैर्दोषै: पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभि:। छर्दय: पञ्च विज्ञेया:। (मा० नि० १५.१)

९. वमनोपग

वमन में सहायक द्रव्यों को 'वमनोपग' कहते हैं यथा मधु, लवण, मुलेठी आदि। इनमें कुछ उनकी शक्ति को बढ़ाते हैं यथा मधु, लवण और कुछ उपद्रवों से रक्षा करते हैं यथा मुलेठी आदि; वमन द्रव्यों में मधु-सैन्धव का प्रयोग सर्वत्र निर्दिष्ट है। मधु कफ का विलयन करता है और सैन्धव छेदन करता है।[१] इस प्रकार कफदोष निर्हरण में ये सहायक होते हैं।

१०. छर्दिनिग्रहण (Anti-emetic)

जो द्रव्य वमन को रोके तथा कारणभूत दोष को शान्त करे उसे 'छर्दिनिग्रहण' कहते हैं[२] यथा जम्बू, आम्रपल्लव आदि। ये द्रव्य मुख्यत: शीत और कषाय होते हैं। जिससे आमाशय के श्लेष्मल कला का क्षोभ शान्त होता है।

आधुनिक दृष्टि से ये दो प्रकार के होते हैं–

१. **स्थानिक** (Local)– यथा जम्बू, आम्रपल्लव आदि।
२. **केन्द्रीय** (Central)– यथा सूची आदि।

११. उपशोषण

जो द्रव्य महास्रोत (आमाशय और अन्त्र) में स्थित द्रव पदार्थों का शोषण करता है उसे 'उपशोषण' कहते हैं[३] यथा कुटज आदि।[४] ये द्रव्य वायव्य और आकाशीय होते हैं। अतिमात्रा में प्रयुक्त होने पर ये शारीर धातुओं का भी शोषण करते हैं।

(ग) आन्त्रगत कर्म

आन्त्र में मुख्यत: पित्त और वात दोषों की स्थिति है। पित्त आन्त्र के ऊपरी भाग (पच्यमानाशय) में तथा वात निचले भाग (पक्वाशय) में रहता है। पित्त आहार के पाचन का कार्य करता है तथा वायु के द्वारा महास्रोत में आहार की गति, मल और प्रसाद भागों का विवेचन (पृथक्करण) एवं रस का शोषण होता है। अवस्थापाक में अन्त्र के ऊर्ध्वभाग में मलभूत पित्त एवं अधोभाग में मलभूत वात की उत्पत्ति होती है। आन्त्रगत कर्म विशेषत: इन्हीं दोषों से सम्बन्ध रखते हैं।

१. सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्। (च० क० १.१५)
२. छर्दिं निगृह्णाति स्तम्भयतीति छर्दिनिग्रहणम्, व्याधिहरणवचनेन तद्धेतुदोषहरणमपि लभ्यते। (च० सू० ४.८-गं०)
३. उपशोषणं यच्छरीरे आर्द्रभावं शोषयति। (अ० सं० सू० १३.२-इन्दु)
४. कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानाम्। (च० सू० २५.४०)

अन्त्र का पेशी-स्तर दो प्रकार के नाडीसूत्रों से संबद्ध है एक सांवेदनिक और दूसरा परसांवेदनिक। सांवेदनिक सूत्र कोष्ठीय नाडियों (Splanchnic nerves) के द्वारा आते हैं और वे आन्त्रिक गति का विरोध करते हैं। परसांवेदनिक सूत्र प्राणदा नाडी के द्वारा आते हैं और उनकी उत्तेजना से अन्त्र की गति बढ़ती है। अन्त्र की गति निम्नाङ्कित कारणों से बढती है–

१. परसांवेदनिक नाडीसूत्रों को उत्तेजित करने से– यथा पाइलोकार्पाइन।
२. पेशीस्तर पर साक्षात् क्रिया करने से– यथा पीयूषीन, नाग आदि।
३. श्लेष्मलकला में क्षोभ उत्पन्न करने से– यथा क्षोभक विरेचन।

अन्त्र की गति निम्नाङ्कित कारणों से कम होती है–

१. सांवेदनिक नाडीसूत्रों की उत्तेजना से– यथा तम्बाकू, अद्रिनिलीन आदि।
२. परसांवेदनिक नाडीसूत्रों के अवसाद से– यथा सूची आदि।
३. स्थानिक प्रभाव से– यथा अफीम, कटुद्रव्य आदि।
४. यान्त्रिक क्रिया से– यथा खटिक आदि।

१. वातानुलोमन

कोष्ठगत वात को नीचे की ओर अपने मार्ग में प्रवृत्त करने वाले द्रव्य अनुलोमन कहलाते हैं। वायु के प्रतिलोम होने से विबन्ध हो जाता है। उसका भेदन अनुलोमन से होता है।[१] वातानुलोमन विबन्ध-भेदन तो करते हैं किन्तु मलपातन नहीं; यथा शुण्ठी।[२]

२. विष्टम्भी

विष्टम्भी द्रव्य कोष्ठ में अधिक वात उत्पन्न कर आध्मान आदि उत्पन्न करते हैं यथा कटहल आदि।[३]

३. पुरीषजनन

जो द्रव्य पुरीष को अधिक मात्रा में उत्पन्न करें उन्हें 'पुरीषजनन' कहते हैं यथा उड़द, यव आदि। इनमें कोष्ठावरण (Cellulose) की मात्रा अधिक होती है और ये पार्थिव एवं गुरु होते हैं। पुरीष भी पार्थिव होता है अत: ये द्रव्य उसको

१. प्रतिलोमगतं वातं कोष्ठे तैक्ष्ण्यौष्ण्यवेगत:। नयत्यधो यथा हिङ्गु तद्धि वातानुलोमनम्।। (स्व०)
२. शक्तिर्विबन्धभेदे स्याद् यतो न मलपातने। (भा० प्र० नि० ह० ४८)
३. कोष्ठे वातं समुत्पाद्य पाककाले तु यद् भृशम्। आध्मानशूलादिकरं विष्टम्भि पनसं यथा।। (स्व०)

बढाते हैं। इनका प्रयोग पुरीषक्षय में किया जाता है।[१] ये द्रव्य पुरीष का प्रमाण बढाकर आन्त्र की गति को उत्तेजित करते हैं जिससे विबन्ध का नाश होता है।

४. **विरेचन** (Purgative)

जो द्रव्य अधोमार्ग (गुदा) से दोषों को बाहर निकाले उसे विरेचन या अधोभागहर कहते हैं।[२] इनके द्वारा अपक्व या पक्व पुरीष आदि दोष गुदामार्ग से बाहर निकल जाते हैं।[३] विरेचन द्रव्य सर्वरस, उष्णवीर्य, तीक्ष्णसूक्ष्मगुणयुक्त तथा व्यवायी और विकासी होते हैं।[४] पाञ्चभौतिक सङ्घटन इनका पार्थिवाप्य होता है। पृथिवी और जल महाभूत गुरु होते हैं और गुरुत्व के कारण अधोगामी स्वभाव के होते हैं, अतः ये नीचे की ओर से दोषों को बाहर निकालते हैं।[५] तथापि यह कर्म प्रभावजन्य माना गया है क्योंकि उपर्युक्त गुणों के रहने पर भी सब द्रव्य विरेचन नहीं होते।[६]

विरेचन द्रव्यों का कर्म निम्नाङ्कित प्रकार से होता है–

१. अशोष्य पार्थिव भाग का प्रमाण बढाकर– यथा पुरीषजनन द्रव्य।
२. जल के शोषण में अवरोध उत्पन्न कर
३. क्षुद्रान्त्र तथा बृहदन्त्र में क्षोभ उत्पन्न कर
४. अन्त्रगत नाडी या पेशी को उत्तेजित कर

विभिन्न विरेचन द्रव्यों का कर्म अन्त्र के विभिन्न भागों पर होता है। क्षुद्रान्त्र पर जिनकी क्रिया प्रारम्भ हो जाती है वे शीघ्र विरेचनकर्म करते हैं यथा एरण्डतैल तथा जिनकी क्रिया बृहदन्त्र से प्रारम्भ होती है वे विलम्ब से विरेचन करते हैं यथा कुमारीसार, सनाय आदि। त्रिवृत् और कृष्णबीज की क्रिया क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्र दोनों पर होती है।

प्रायः विरेचनद्रव्य मुखमार्ग से लेने पर प्रभावशाली होते हैं किन्तु कुछ द्रव्यों का कर्म अन्य मार्गों से देने पर भी प्रकट होता है यथा सनाय, एलुआ और इन्द्रायण

१. पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्। (च० शा० ६.११)
२. दोषहरणमधोभागं विरेचनसंज्ञकम्। (च० क० १.४)
३. विपक्वं यदपक्वं वा मलानि द्रवतां नयेत्। रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा।।
(शा० प्र० ४.६–)
४. तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि...अधः प्रवर्तते। (च० क० १.५)
५. विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यः, ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। (सु० सू० ४१.६)
६. गुरुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं त्रिवृतादिसमवेतं ग्राह्यं न तु गुरुत्वमात्रम्, अन्यथा मत्स्यपिष्टान्नमसूरादीनां विरेचकत्वं स्यात्। (चक्र०)

का अधस्त्वक् (Subcutaneous) प्रयोग करने पर भी विरेचन होता है क्योंकि इनका निर्हरण और उत्सर्ग अन्त्र से होता है। इसी प्रकार जयपाल तैल त्वचा पर रगड़ने से ही विरेचन करता है। चेतकी (हरीतकी की एक जाति) के सम्बन्ध में भी लिखा है कि हाथ में लेने से या उसकी छाया में स्थित होने से विरेचन होता है। उनके रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से भी विरेचन होता है।[१]

श्रेष्ठ विरेचन वही है जिसमें पुरीष, पित्त, कफ और वायु इस क्रम से दोष निकलें, स्रोतों की शुद्धि हो जाय किन्तु कोई उपद्रव न हो, अग्नि दीप्त हो, शरीर में शक्ति, लघुता और प्रसन्नता का अनुभव हो।[२]

विरेचन का प्रयोग निम्नाङ्कित प्रयोजनों के लिए किया जाता है–

१. विबन्ध में पुरीषसञ्चय को दूर करना।
२. शोथरोग में रक्तवारि को धातुओं से खींचना।
३. ज्वर में तापक्रम को कम करना।
४. रक्तभार को कम करना।
५. अर्श आदि गुदमार्ग के रोगों में पुरीषनिर्हरण में सुविधा प्रदान करना।
६. पित्त एवं पित्ताश्मरी को बाहर निकालना।
७. रक्तगत मलपदार्थ (यूरिया, यूरिक एसिड आदि) को बाहर निकालना।
८. अन्त्रगत क्षोभक या हानिकर पदार्थों को बाहर निकालना यथा अन्नविष, अन्त्रगत पूति, अतिसार आदि।

पित्त के निर्हरण के लिए विरेचन सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[३]

चरक ने विरेचन द्रव्य के तीन भेद किए हैं–

१. सुखविरेचन– यथा त्रिवृत्।

१. काचिदास्वादमात्रेण काचिद्गन्धेन भेदयेत्। काचित् स्पर्शेन दृष्ट्याऽन्या चतुर्धा भेदयेच्छिवा।
(भा० प्र० नि० ह० १४)
२. स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादो लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्।
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण।। (च० सि० १.१७–)
An ideal purgative should not have any other effect except on the intestines. It should not irritate the stomach, but should become active only when it reaches the intestine. It should not be easily absorbed or absorbed so slowly that it can exert its effect throughout intestine.
(R. Ghose-Materia medica)
३. शेषास्तु विरेच्याः; विशेषतस्तु कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्त...पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्तमग्न्युपशमेऽग्निगृहवत्।
(च० सि० २.१३)
विरेचनं पित्तहराणाम्। (च० सू० २५.४०)

२. मृदुविरेचन– यथा अमलतास
३. तीक्ष्णविरेचन– यथा स्नुहीदुग्ध[१]

आधुनिक दृष्टि से विरेचन द्रव्यों का निम्नाङ्कित वर्गीकरण किया गया है–

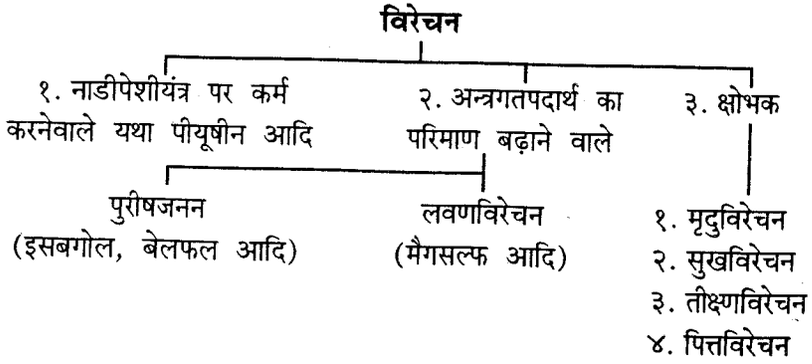

(क) **मृदुविरेचन** (Laxative)– इनसे पुरीष मृदु होता है तथा परिसरणगति थोड़ी सी बढ जाती है जिससे पाखाना होता है। इसमें पुरीष अपक्व नहीं आता। इसके उदाहरण अमलतास, एरण्डतैल, तुरञ्जवीन, गन्धक, अञ्जीर, आलूबुखारा, हरीतकी, जैतून का तेल आदि हैं। इसे सर या मलानुलोमन भी कहते हैं।[२]

(ख) **सुखविरेचन** (Purgative)– ये न अत्यन्त मृदु होते हैं और न अत्यन्त तीक्ष्ण होते हैं। अत: सुखपूर्वक दोषों का निर्हरण करते हैं यथा त्रिवृत् (अरुण), एलुआ, रेवन्दचीनी, सनाय आदि। इसकी क्रिया मृदुविरेचन की अपेक्षा कुछ तीव्र होती है अत: इसके द्वारा पक्व तथा अपक्व दोनों मल निकलते हैं। इसे 'संस्रन'[३] भी कहते हैं।

(ग) **तीक्ष्णविरेचन** (Drastic purgative)– ये सबकी अपेक्षा तीक्ष्ण होते हैं अत: इनकी क्रिया तीव्र होती है जिससे अन्त्र में दाह एवं मरोड़ होकर पतला मल निकलता है यथा जलापा, जयपाल, इन्द्रायण, स्नुही आदि।

(घ) **पित्तविरेचन** (Cholagogue purgative)– इनकी पित्ताशय और ग्रहणी पर उत्तेजक क्रिया होती है जिससे पित्त अधिक मात्रा में स्रुत होकर पुरीष के

१. त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्।
(च० सू० २५.४०)

२. कृत्वा पाकं मलानां यद् भित्त्वा बन्धमधो नयेत्। मलानुलोमनं तत्स्याद् यथा प्रोक्ता हरीतकी।।
(स्व०)

३. पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात् कृतमालकः।।
(शा० प्र० ४.४–)

साथ बाहर निकलता है यथा पारद, एलुआ, रेवन्दचीनी, कुटका आदि। कटुका भेदन कही गई है, इससे विवृद्ध पित्तस्राव के द्वारा पिण्डित मल का भेदन होता है।[१]

५. विरेचनोपग

विरेचन के साथ प्रयुक्त होने वाले उपयोगी द्रव्यों को 'विरेचनोपग' कहते हैं यथा द्राक्षा आदि। ये द्रव्य विरेचन की शक्ति को बढाते तथा उनसे उत्पन्न होने वाले क्षोभ एवं अन्य उपद्रवों को शान्त रखते हैं।

६. उभयतोभागहर

जो वमन और विरेचन दोनों के द्वारा मलों को बाहर निकाले वह 'उभयतोभागहर' कहलाता है।[२] शार्ङ्गधर ने इसे देहसंशोधन कहा है यथा देवदाली, कोशातकी आदि।[३] ऐसे द्रव्य कटु-तिक्त-कषाय, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण एवं पार्थिवाप्य-वायव्य-तैजस स्वभाव के होते हैं।[४]

७. पुरीषसङ्ग्रहणीय

जो द्रव्य अति द्रवरूप में आने वाले पुरीष को बाँधे (रोके एवं ठोस बनावे) उसे 'पुरीषसङ्ग्रहणीय' कहते हैं।[५] इसके दो भेद होते हैं, ग्राही और स्तम्भन।[६]

(क) **ग्राही**– यथा जातीफल आदि। ये द्रव्य उष्णवीर्ण, कटुरस एवं कटुविपाक होते हैं जिससे ये अग्नि दीप्त करते हैं तथा आम का पाचन भी करते हैं। पाचन के बाद उष्णता के कारण द्रवांश का भी शोषण कर लेते हैं जिससे

१. मलादिकमबद्धं च बद्धं वा पिण्डितं मलैः। भित्वाऽधः पातयति तद्भेदनं कटुका यथा।।
(शा० प्र० ४.५–)

२. उभयतोभागहराणीति वमनानि विरेचनानि चेत्यर्थः। (सु० सू० ३९.५–ड०)

३. स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्वमधश्च मलसञ्चयम्। देहसंशोधनं तत् स्याद् देवदालीफलं यथा।।
(शा० प्र० ४.८–)

४. वातलांश्च रसान् पित्तलांश्च गुणानुभयतो भागम्। तत् पार्थिवाप्यतैजसवायव्यम्।।
(र० वै० ४.६–७)
उभयगुणभूयिष्ठमुभयतो भागम्। (सु० सू० ४१.६)

५. पुरीषस्य अतिसरतः सङ्ग्रहणं सङ्ग्रहः तत्र हितं पुरीषसङ्ग्रहणीयम्। (च० सू० ४.८–यो०)

६. पक्वामग्राहकत्वेन द्विविधं हि सङ्ग्राहकम्। तत्र यत् ग्रहण्यामामं सम्पाच्य वह्निं कृत्वा तत्रस्थं द्रवं च शोषयित्वा सङ्ग्रहणं करोति तदुष्णग्राहकं ज्ञेयम्, यद् द्रव्यमतीसारादौ पक्वमलादिकं संस्तभ्य सङ्ग्रहं करोति तच्छीतसङ्ग्राहकं ज्ञेयम्, एतदनिलभूयिष्ठम्। (आ०)

पुरीष बँध जाता है। उष्णता के कारण ये पक्वाशय में वात की शान्ति भी करते हैं। इस प्रकार इनकी क्रिया समस्त पाचन-नलिका पर अनुकूल होती है।[१]

ये द्रव्य अग्निवाय्वात्मक होते हैं जिनमें अग्नि की प्रधानता होती है। उष्ण होने के कारण इन्हें 'उष्णग्राही' तथा आम को पचा कर बाँधने के कारण 'आम-ग्राही' भी कहते हैं। इनका प्रयोग ग्रहणी आदि में होता है जहाँ अग्निमांद्य हो और पुरीष द्रव आता हो।

(ख) **स्तम्भन**– यथा धातकी, कुटज आदि। ये द्रव्य रूक्ष, कषाय एवं शीतवीर्य होते हैं जिससे अन्त्र में वात की वृद्धि कर द्रवांश का शोषण करते हैं।[२] इनके सङ्घटन में वायुतत्त्व की प्रधानता होती है। वायु के कारण ये द्रवांश का शोषण करते हैं तथा कषाय रस से तत्रस्थ धातुओं को सङ्कुचित भी करते हैं।

इनसे आम का पाचन नहीं होता अत: इन्हें 'पक्वग्राही' तथा शीत होने के कारण 'शीतग्राही' भी कहते हैं। इनका प्रयोग ऐसी अवस्था में होता है। जहाँ पाचन की विकृति न हो केवल अतिसार (Diarrhoea) हो।

नागार्जुन ने स्तम्भन को 'सांग्राहिक' लिखा है और इसमें पृथिवी, जल तथा वायुतत्त्वों की प्रधानता बतलाई है।[३] सुश्रुत ने भी इसे 'सांग्राहिक' ही लिखा है तथा इसे वायव्य बतलाया है।[४] चरकोक्त पुरीषसङ्ग्रहणीय गण में भी स्तम्भन द्रव्य ही है।

ग्राही और स्तम्भन में भेद

ग्राही	स्तम्भन
१. रस-प्राय: कटु	कषाय
२. वीर्य-उष्ण	शीत
३. वातशामक	वातवर्धक
४. दीपन-पाचन	अग्निसादक

वस्तुत: 'सङ्ग्रहणीय', 'सङ्ग्राहक' आदि शब्द स्तम्भन के तथा 'ग्राही' उष्णग्राही के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं ग्राही के साथ 'दीपन' विशेषण भी लगा है।[५] जो इसे स्तम्भान से पृथक् करता है।

१. दीपनं पाचनं यत् स्यादुष्णत्वाद् द्रवशोषकम्।
ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली।। (शा० प्र० ४.११-)
२. रौक्ष्यात् शैत्यात् कषायत्वात् लघुपाकाच्च यद् भवेत्।
वातकृत् स्तम्भनं तत् स्याद्यथा वत्सकदुण्टुकौ।। (शा० प्र० ४.१२-)
३. लवणतीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत् साङ्ग्राहिकं तत् पार्थिवाप्यवायव्यम्। (र० वै० ४.९)
४. साङ्ग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्। (सु० सू० ४१.६)
५. (च० चि० १५.११७, १२४ आदि)

८. पुरीषविरजनीय

जो द्रव्य पुरीष के दोषों को दूर कर उसके वर्ण को प्राकृत कर दे उसे 'पुरीषविरजनीय'[१] कहते हैं यथा जम्बू, मुलेठी आदि। पुरीष में वर्ण के विकार प्राय: पित्त के कारण होते हैं क्योंकि रञ्जन कर्म (रञ्जक) पित्त का है। अत: ये द्रव्य प्राय: पित्तशामक होते हैं।

९. भेदनीय

कोष्ठ में सञ्चित वात के द्वारा उत्पन्न गुल्म आदि का जो भेदन करे वह 'भेदनीय' कहलाता है। चरक ने भेदनीय महाकषाय में अर्क, चित्रक, एरण्ड, कटुका आदि दस द्रव्यों का परिगणन किया है। ये द्रव्य तीक्ष्णता के कारण भेदन कर्म करते हैं।

१०. शूलप्रशमन

जो द्रव्य शूल (उदरशूल) को शान्त करे उसे 'शूलप्रशमन' कहते हैं यथा पञ्चकोल आदि। शूलरोग वायु के कारण होता है तथा उसमें वायु प्रतिलोम हो जाती है। ये द्रव्य उष्णवीर्य एवं स्निग्ध होने के कारण वायु का शमन एवं अनुलोमन करते हैं जिससे शूल शान्त हो जाता है।

११. आस्थापन

जो द्रव्य शरीरगत दोषों विशेषत: वायु का संशोधन कर शरीर को स्थापित करें (दृढ बनावें) उन्हें 'आस्थापन' कहते हैं[२] यथा पाटला आदि। ये द्रव्य दोषसंशोधन होते हैं और इनका प्रयोग आस्थापन बस्ति में होता है। इनसे शरीर निर्मल होता है तथा दोषधातुओं की गति सम होती है जिससे पुरुष की आयु बढती है।[३] विशेषत: इनका प्रयोग वातव्याधि में होता है।[४] आस्थापन द्रव्य रसभेद से छ: स्कन्धों में विभक्त हैं। (देखें पृ० २९)

१. पुरीषस्य विरजनं दोषसंबन्धनिरासं करोतीति पुरीषविरजनीयम्। (च० सू० ४.८-चक्र०)
पुरीषस्य दोषसंबन्धाद् विगमेन रजनं रागस्तस्मै हितं पुरीषविरजनीयम्। (च० सू० ४.८-गं०)
२. शरीरं आस्थापयन्ति दोषसंशोधनेन स्थिरं कुर्वन्ति इति आस्थापनानि।
३. बस्तिर्वय:स्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्यय: सर्वगदापहश्च।।
विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी स्थिरत्वकृच्छ्रुक्रबलप्रदश्च।
विष्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूह:।। (च० सि० १.२७-२८)
४. ... वातव्याधयो विशेषेण महारोगाश्च्यायोक्ताश्च; एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदवत्। (च० सि० २.१६)

१२. आस्थापनोपग

आस्थापन कर्म में सहायक द्रव्यों को 'आस्थापनोपग' कहते हैं यथा त्रिवृत्, इन्द्रयव आदि। ये प्रमाथी स्वभाव के होते हैं और स्रोतों से दोषों को निकालने में सहायता करते हैं।

१३. अनुवासन

जो द्रव्य शरीर को स्निग्ध और दृढ़ बनावे उसे 'अनुवासन' कहते हैं[१] यथा तैल, घृत आदि। इनमें तैल वातविकारों के लिए तथा घृत पित्तविकारों के लिए सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[२] इनका प्रयोग अनुवासन बस्ति में होता है और ये विशेषत: रूक्ष और तीक्ष्णाग्नि पुरुषों में प्रयुक्त होते हैं।[३] इनके प्रयोग से शरीर दृढ़ एवं आयु दीर्घ होती है।[४]

१४. अनुवासनोपग

जो द्रव्य अनुवासन कर्म में सहायक होते हैं वे 'अनुवासनोपग' कहलाते हैं यथा रास्ना, देवदारु आदि। ये वातशामक होते हैं।

आयुर्वेद में वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और नस्य इन पाँच संशोधन कर्मों का विषय 'पञ्चकर्म'[५] के नाम से विशदरूप में प्रतिपादित किया गया है। इसके विशेष ज्ञान के लिए तत्तत् आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

१५. कृमिघ्न

जो द्रव्य शरीर के बाह्य तथा आभ्यन्तर कृमियों को नष्ट करे तथा उन्हें बाहर निकाले उसे 'कृमिघ्न' कहते हैं। वर्णन की सुविधा के लिए इन्हें दो वर्गों में विभाजित कर देते हैं–

(क) अन्त:कृमिघ्न (Anthelmintic or Vermicide)

(ख) बाह्यकृमिघ्न (Insecticide)

---

१. अनुवासयन्ति अनुबध्नन्ति शरीरं बलदानेन इति अनुवासनानि।

२. तेषां तु तैलवसामज्जसर्पिषां यथापूर्वं श्रेष्ठं वातश्लेष्मविकारेष्वनुवासनीयेषु, यथोत्तरं पित्तविकारेषु। (च० वि० ८.१५०)

३. .... विशेषतस्तु रूक्षस्तीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च; एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूले द्रुमप्रसेकवत्। (च० सि० २.१९)

४. मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्र्यः।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन।। (च० सि० १.३१)

५. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्। एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः।।
(शा० उ० ८.६३)

(क) **अन्त:कृमिघ्न** (Anthelmintic)– ये शरीर के भीतर विशेषत: अन्त्र में स्थित कृमियों को नष्ट करते हैं। इनसे कृमियों की मृत्यु न भी हो तो वे अवसादित या मूर्च्छित अवश्य हो जाते हैं। अत: इनसे अन्त्र में क्षोभ तथा शारीर धातुओं को भी हानि पहुँचने की आशङ्का रहती है। इसलिए इनका प्रयोग ऐसी मात्रा में किया जाता है जिससे कृमि मर भी जायँ और शरीर पर कोई हानिकर प्रभाव भी न हो[१] और इसीलिए इनके प्रयोग के बाद शीघ्र ही विरेचन दिया जाता है जिससे कृमि के साथ-साथ अवशिष्ट द्रव्य भी बाहर निकल जाता है।

ये दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं–

१. **सामान्य** (General) **या प्रकृति विघातकर**– इन द्रव्यों का सामान्य रूप से सब कृमियों पर सामान्य प्रभाव होता है। वस्तुत: ये प्रकृतिविघात का कार्य करते हैं जिससे अन्त्र की परिस्थिति कृमियों के जीवन और विकास के लिए अनुकूल नहीं रह जाती। ये द्रव्य कटु तिक्त, कषाय, क्षार और उष्ण होते हैं।[२]

२. **विशिष्ट** (Specific)– जिस द्रव्य का किसी विशिष्ट कृमि पर कर्म होता है उसे 'विशिष्ट अन्तःकृमिघ्न, कहते हैं यथा चौहार, पलाशबीज, विडङ्ग आदि गण्डूपद कृमि के लिए; दाडिमत्वक्, कम्पिल्लक आदि स्फीत कृमि के लिए आदि।

जो द्रव्य कृमियों को बाहर निकाले उसे 'कृमिनि:सारक' (Vermifuge) कहते हैं। चरक ने इसे 'अपकर्षण' कहा है। मार्गभेद से इसे चार भेदों में विभक्त किए हैं– वमन, विरेचन, आस्थापन और शिरोविरेचन।[३] वमन से आमाशयस्थ, विरेचन से अन्त्रस्थ, आस्थापन से मलाशयस्थ तथा शिरोविरेचन से शिरोनासागत कृमि बाहर निकलते हैं। इन द्रव्यों के उदाहरण तत्तत् प्रकरणों में देखना चाहिए तथापि इनमें विरेचन द्रव्यों का ही अधिक प्रयोग होता है यथा इन्द्रयव, चिरायता आदि।

(ख) **बाह्यकृमिघ्न** (Insecticide)– जो द्रव्य महास्रोत के बाहर स्थित यूका, लिक्षा आदि कृमियों को नष्ट करें उन्हें 'बाह्यकृमिघ्न' कहते हैं यथा धत्तूर, पारद आदि। ये द्रव्य तीक्ष्ण एवं मादक होते हैं जिससे कृमि संज्ञारहित हो जाते हैं या मर जाते हैं।

---

१. An ideal anthelmintic is one whose value depends not only upon its poisonous effects upon the parasites in the intestinal canal, but also upon its harmlessness as regards the patient.
(R. Ghosh-Materia medica.)

२. ...प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः, यच्चान्यदपि किंचिच्छ्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तत् स्यात्; इति प्रकृतिविघातः। (च० वि० ७.१५)

३. ...स्थानगतानां तु क्रिमीणां भेषजेनापकर्षणं न्यायतः। तच्चतुर्विधं; तद्यथा-शिरोविरेचनं, वमनं, विरेचनम्, आस्थापननं च; इत्यपकर्षणविधिः। (च० वि० ७.१५)

१६. अर्शोघ्न

यकृत् के विकार से प्रतिहारिणी-सिरागत रक्तसंवहन में अवरोध उत्पन्न होता है जिसके कारण गुदास्थित सिराओं में रक्तसंचित होने के कारण 'अङ्कुर' उत्पन्न होते हैं। इन्हें 'अर्श' कहते हैं। अर्श के कारण दोष को शान्त कर अङ्कुरों को नष्ट करने वाले द्रव्यों को 'अर्शोघ्न' कहते हैं। इनमें कुछ द्रव्य शीतवीर्य एवं कषाय होने के कारण रक्तस्तम्भन भी करते हैं। इन्हें 'रक्तार्शोघ्न' तथा कुछ द्रव्य उष्णवीर्य होने के कारण कफवात (कफजन्य श्लेष्मस्राव तथा वातजन्य वेदना) को शान्त करते हैं। इन्हें 'वातार्शोघ्न' कहते हैं। दारुहरिद्रा, नागकेशर आदि रक्तार्शोघ्न तथा भल्लातक, चित्रक आदि वातार्शोघ्न द्रव्यों के उदाहरण हैं।

*

सप्तम अध्याय

७. यकृत्-प्लीहा के कर्म

(क) यकृत् के कर्म

यकृत् का कार्य रक्तनिर्माण तथा पित्तस्राव बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट के सात्मीकरण में (क्रमशः यूरिया तथा शर्कराजन के निर्माण द्वारा) भी प्रमुख भाग लेता है। शरीरस्थ विषों (दोषों) का भी निर्हरण करता है। यकृत्-सम्बन्धी कर्म इन्हीं कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

१. **पित्तस्रावक** (Choleretic)– ये द्रव्य यकृत् को उत्तेजित कर पित्त का स्राव बढ़ाते हैं यथा पित्तलवण, गोरोचन आदि। ये कटु और उष्ण होते हैं।

२. **पित्तसारक** (Cholagogue)– ये द्रव्य पित्ताशय से पित्त का निर्हरण करते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है–

(क) **प्रत्यक्ष** (Direct)– ये पित्ताशय को उत्तेजित एवं सङ्कुचित कर पित्त का स्राव बढ़ाते हैं यथा एरण्डतैल, स्नेह आदि।

(ख) **परोक्ष** (Indirect)– ये अन्त्र की गति को बढाकर पित्त को शीघ्र आगे बढाते हैं और इस प्रकार स्राव की वृद्धि करते हैं। इस वर्ग में पित्तविरेचन के द्रव्य आते हैं यथा कुटकी, नौसादर आदि।

३. **पित्तस्रावरोधक** (Anticholagogue)– ये द्रव्य पित्त का स्राव कम करते हैं यथा अहिफेन आदि।

४. **पित्ताश्मरी-भेदन** (Biliary lithontriptic)– ये द्रव्य सञ्चित पित्त (पित्ताश्मरी) को पिघला कर बाहर निकालते हैं यथा इक्षुरकभस्म आदि। ये तीक्ष्ण एवं उष्ण होते हैं और उसके कारण अश्मरी का भेदन करते हैं।

(ख) प्लीहा के कर्म

प्लीहा का मुख्य कर्म टूटे हुए रक्तकणों से नये रक्तकण बनाना है। जब रक्तकणों का अधिक क्षय होने लगता है और रक्तकणों का निर्माण कम होता है तब विशीर्ण रक्तकणों का सञ्चय प्लीहा में होने लगता है जिससे उसका आकार बढ जाता है। विदाही और अभिष्यन्दी पदार्थों के अतिसेवन से प्लीहा बढती है।

विदाही द्रव्यों के सेवन से रक्त दूषित (सञ्चित एवं विशीर्ण) होता है तथा अभिष्यन्दी द्रव्यों से प्लीहागत रक्तवहस्रोतों में अवरोध उत्पन्न होता है। जिससे रक्तनिर्माण बन्द हो जाता है और प्लीहा में शोथ भी उत्पन्न होता है।[१]

५. **प्लीहवृद्धिहर**– ऐसी अवस्था में प्लीहावृद्धि को दूर करने वाले द्रव्यों को 'प्लीहवृद्धिहर' कहते हैं यथा रोहीतक, कुमारी आदि। इनमें कुछ द्रव्य तो तीक्ष्णता के कारण अभिष्यन्द को दूर करते हैं यथा इन्द्रायण, शरपुङ्खा आदि और कुछ द्रव्य विदाह को शान्त करते हैं यथा चिरायता, कुमारी आदि।

*

१. विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ। (मा० नि० ३५.१६)

अष्टम अध्याय

८. प्रजननसंस्थान के कर्म

प्रजननसंस्थान में पुरुष और स्त्री दोनों के प्रजनन अङ्गों एवं भावों का वर्णन है। आधुनिक विज्ञान में स्त्रीप्रजनन यन्त्रों से सम्बद्ध कर्मों का तो कुछ वर्णन किया है किन्तु पुरुष के प्रजनन तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार अत्यल्प है। आयुर्वेद का एक अङ्ग ही इस विषय के लिए स्वतन्त्ररूप से विहित है, उसका नाम है 'वाजीकरण'।

इस प्रकरण में स्त्री-प्रजननसंस्थान और पुं-प्रजननसंस्थान के क्रम से दोनों का स्वतन्त्र वर्णन किया जायगा।

(क) स्त्री-प्रजननसंस्थान के कर्म

शुक्र और शोणित के संयोग से गर्भ बनता है जिनका अधिष्ठान गर्भाशय है। प्रतिमास गर्भाशय से आर्त्तव का भी स्राव होता रहता है जिससे शरीरस्थ दोष बाहर निकलते रहते हैं।[१] इन्हीं अङ्गों से स्तन्य-स्राव का भी सम्बन्ध होता है। अतः स्त्री-प्रजननसंस्थान के कर्म मुख्यतः इन्हीं तीन कर्मों से सम्बन्ध रखते हैं–

१. गर्भसम्बन्धी– प्रजास्थापन, गर्भरोधक आदि।
२. आर्त्तवसम्बन्धी– आर्त्तवजनन आदि।
३. स्तन्यसम्बन्धी– स्तन्यजनन आदि।

१. **प्रजास्थापन**– जो द्रव्य गर्भाशयगत दोषों को दूर कर गर्भधारण करावे उसे 'प्रजास्थापन'[२] कहते हैं यथा दूर्वा, शतावरी, बला आदि। ये द्रव्य कषाय-मधुर, स्निग्ध, शीत और बल्य होते हैं। गर्भधारण के पूर्व इनका प्रयोग करने से गर्भाशय को बल मिलता है तथा श्लेष्मल कला की शिथिलता दूर होती है जिससे गर्भ अच्छी तरह और दृढता से वहाँ अपना स्थान बनाता है और उसके च्युत होने का भय नहीं रहता। गर्भावस्था में इनका प्रयोग करने से गर्भ का पोषण होता है और गर्भाशय को भी बल मिलता है जिससे असमय प्रसव (Premature labour) का उपद्रव नहीं होने पाता। ये द्रव्य स्त्री के

१. रजः प्रसेकात्नारीणां मासि मासि विशुध्यति।
सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः।। (मा० नि० ३३.३६-मधु०)
२. प्रजोपघातकं दोषं हृत्वा प्रजां स्थापयतीति प्रजास्थापनम्। (च० सू० ४.८-चक्र०)
प्रजां गर्भं स्थापयति दोषं निरस्येति प्रजास्थापनम्। (च० सू० ४.८-यो०)

सामान्य बल को भी बढ़ाते हैं जिससे गर्भ को पोषण समुचित रूप से मिलता है (माता के रस-रक्त से ही गर्भ का पोषण होता है)।

२. **गर्भरोधक**– जो द्रव्य गर्भधारण में अवरोध उत्पन्न करते हैं वे 'गर्भरोधक' कहलाते हैं यथा जपा, गुञ्जा, पाठा, वन्ध्यावरी आदि। इनके सेवन से गर्भधारण नहीं हो पाता। इसके लिए अनेक योग शास्त्र में दिये गये हैं, इनका अवलोकन वहीं करना चाहिए।

३. **गर्भाशयसङ्कोचक** (Ecbolic)– जो द्रव्य गर्भाशय में सङ्कोच उत्पन्न कर उसके अन्तर्गत पदार्थों को बाहर निकालता है उसे 'गर्भाशयसङ्कोचक' कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–

(क) **प्रत्यक्ष**– कुछ द्रव्य तो गर्भाशय में साक्षात् रूप से सङ्कोच उत्पन्न करते हैं, इन्हें 'प्रत्यक्ष गर्भाशयसङ्कोचक' (Direct ecbolic) कहते हैं। ये द्रव्य भी अनेक प्रकार से सङ्कोच उत्पन्न करते हैं–

१. कुछ द्रव्य गर्भाशयपेशी को उत्तेजित करते हैं यथा कुनयन आदि।
२. कुछ द्रव्य गर्भाशय की नाडियों को उत्तेजित करते हैं यथा अन्नामय आदि।
३. कुछ द्रव्य केन्द्र को उत्तेजित करते हैं यथा कुपीलु आदि।

(ख) **परोक्ष**– कुछ द्रव्य श्रोणिगत अवयवों में रक्ताधिक्य उत्पन्न करके गर्भाशय को सङ्कुचित करते हैं। इन्हें 'परोक्ष गर्भाशयसङ्कोचक' (Indirect ecbolic) कहते हैं। ये द्रव्य तीक्ष्ण, उष्ण एवं भेदन होते हैं यथा अर्क, एलुआ आदि।

४. **गर्भाशयशामक** (Uterine Sedative)– जो द्रव्य गर्भाशय के सङ्कोच को शान्त करे उसे 'गर्भाशयशामक' कहते हैं यथा सूची आदि। इनका प्रयोग गर्भस्राव आदि विकारों में किया जाता है।

५. **आर्त्तवजनन** (Emmenagogue)– जो द्रव्य आर्त्तव का स्राव बढ़ाते हैं उन्हें 'आर्त्तवजनन' कहते हैं। ये श्रोणिगत अवयवों में रक्ताधिक्य उत्पन्न करते हैं। गर्भाशयसङ्कोचक द्रव्य भी अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने पर आर्त्तवजनन कर्म करते हैं। इन द्रव्यों में कुछ तो गर्भाशय में रक्ताधिक्य उत्पन्न कर आर्त्तव की प्रवृत्ति करते हैं। आर्त्तव 'आग्नेय'[१] है। अत: ये द्रव्य तीक्ष्ण, उष्ण तथा विदाही (आग्नेय) होते हैं यथा सर्षप, मद्य आदि।[२] कुछ द्रव्य रक्ताल्पता को दूर कर

१. आर्तवमाग्नेयम्। (सु० शा० ३.३)
आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम् अग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य। (सु० सू० १४.७)

२. दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रिया:। तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिता:।।
पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने। (सु० शा० २.२१-)
तत्र संशोधनमाग्नेयानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुपयोग:। (सु० सू० १५.१२)

परोक्षरूप से आर्त्तव बढाने में सहायक होते हैं यथा लौह आदि। आर्त्तवजनन द्रव्यों का आर्त्तवक्षय तथा रज:कष्ट में प्रयोग करते हैं।

६. **आर्त्तवरोधक** (Anti-emmenagogue)– आर्त्तव के स्राव को कम करने वाले द्रव्य 'आर्त्तवरोधक' कहलाते हैं यथा नागकेशर, लोध्र आदि। ये द्रव्य शीत और कषाय (स्तम्भक) होते हैं तथा रक्तपित को शान्त करते हैं। आर्त्तवरोधक द्रव्यों का प्रयोग रक्तप्रदर में करते हैं।

७. **स्तन्यजनन** (Galactogogue)– पक्व आहार से उत्पन्न मधुर स्वभाव वाला रस सम्पूर्ण शरीर से स्तन को प्राप्त होने पर उसे स्तन्य कहते हैं।[१] स्तनों में स्तन्य (दूध) उत्पन्न करने या बढाने वाले द्रव्य 'स्तन्यजनन' कहलाते हैं यथा शतावरी, इक्षुमूल आदि। स्तन्य आप्य होता है अत: इसको बढाने वाले द्रव्य भी आप्य और श्लेष्मल होते हैं। इसके अतिरिक्त, नारी का स्तन्य मधुर, कषायानुरस, शीत एवं मृदु[२] होता है, ये द्रव्य भी इन्हीं गुणों से युक्त होते हैं।

८. **स्तन्यरोधक** (Anti-galactogogue)– जो द्रव्य स्तन्य (दूध) का स्राव कम करे उसे 'स्तन्यरोधक' कहते हैं यथा मल्लिका।

९. **स्तन्यशोधन**– दूषित स्तन्य (दूध) को शुद्ध करने वाले द्रव्य 'स्तन्यशोधन' कहलाते हैं। दोष स्तन में पहुँच कर रक्तमांस को दूषित कर स्तन्य में विकार उत्पन्न करता है अत: स्तन्यशोधन द्रव्य रक्तशोधक होते हैं और साथ ही वात, पित्त एवं कफ दोषों को भी शान्त करते हैं यथा देवदारु (वातहर), सारिवा (पित्तहर) और शुण्ठी (कफहर)। इनका प्रयोग दोषानुसार करना चाहिए।[३]

(ख) पुं-प्रजननसंस्थान के कर्म

शुक्र समस्त शरीर में व्याप्त रहता है किन्तु विशेष रूप से उसका अधिष्ठान वृषण माना गया है। स्त्री-सम्भोग-काल में प्रीति से प्रेरित होकर यह बाहर निकलता है[४] और स्त्री के रज के साथ संयुक्त होकर गर्भाधान करता है।

१. रसप्रसादो मधुर: पक्वाहारनिमित्तज:।
कृत्स्नादेहात् स्तनौ प्राप्त: स्तन्यमित्यभिधीयते।। (सु० सू० ४५.४८-चक्र०)

२. नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्। (सु० सू० ४५.५७)
स्तन्यक्षये...श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोग:। (सु० सू० १५.१२)

३. दूषितं स्तन्यं शोधयतीति स्तन्यशोधनम्।

४. स्नेहो निरन्तरस्तस्य प्रसवे हेतुरुच्यते। (सु० नि० १०.२३)

१. **वाजीकरण** (Aphrodisiac)– जिस द्रव्य के सेवन से शुक्र, हर्ष एवं मैथुन शक्ति की वृद्धि हो उसे वाजीकरण[१] या वृष्य कहते हैं। इसके चार विभाग किये गये हैं–

(क) **शुक्रजनन**– शुक्र धातु को बढाने वाले द्रव्य 'शुक्रजनन' या 'शुक्रल' कहलाते हैं।[२] शुक्र आप्य (सौम्य) तथा स्निग्ध, मधुर, शीत, द्रव[३] आदि गुणों से युक्त होता है अत: शुक्रवर्धक द्रव्य भी इन्हीं गुणों से युक्त होते हैं यथा जीवक आदि। शुक्रक्षय में इन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।[४] यह देहबलकर होता है। चरक ने शुक्र को शुक्रजनन बतलाया है उसमें भी नक्र (घड़ियाल) का शुक्र सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[५]

(ख) **शुक्ररेचन**– ये द्रव्य शुक्र को बढाते नहीं केवल कामोत्तेजना उत्पन्न करते हैं और शुक्र के स्राव को प्रवृत्त करते हैं अत: उन्हें 'शुक्रस्रुतिकर' 'हर्षण' या 'शुक्रप्रवर्त्तन' भी कहते हैं। ये द्रव्य अनेक प्रकार से कार्य करते हैं–

१. कई द्रव्य सुषुम्ना के निम्नभाग में स्थित शिश्नेन्द्रिय के नाडीकेन्द्र को उत्तेजित करते हैं यथा कुपीलु आदि।

२. इस केन्द्र की उत्तेजना संज्ञावह उत्तेजनाओं से प्रत्यावर्तित रूप में भी होती है यथा स्त्री का मनोहर रूप, स्पर्श, सङ्गीत[६] आदि।

---

१. वाज: शुक्रं तदस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्। अथवा बाज: वेग: (शुक्रस्य) स विद्यते येषां ते वाजिन:, अवाजिन: वाजिन: क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम्। (चक्र०)

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नर:।
व्रजेच्चाप्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्।। (च० चि० २.४.५१)
यस्माद् द्रव्याद् भवेत् स्त्रीषु हर्षो वाजीकरं च तत्।
यथा नागबलाद्या: स्युर्बीजं च कपिकच्छुजम्।। (शा० प्र० ४.१४-)

२. यस्माच्छुक्रस्य वृद्धि: स्याच्छुक्रलं च तदुच्यते।
यथाऽश्वगन्धा मुसली शर्करा च शतावरी।। (शा० प्र० ४.१५-)

३. शुक्रं चाप्यम्। (चक्र०)
स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रम्-(सु० शा० २.११-)
स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च। रेत: शुद्धं विजानीयात्।। (च० चि० ३०.१४५-)

४. शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणाम्। (च० शा० ६.११)

५. .... शुक्रं शुक्रेण। (च० शा० ६.१०)
नक्ररेतो वृष्याणाम्। (च० सू० २५.४०)

६. प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य रेचनं बृहतीफलम्। (शा० प्र० ४.१७)
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि। शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्त्तते।। (सु० नि० १०.२०)

३. मूत्राशय आदि में क्षोभ उत्पन्न कर अप्रत्यक्ष रूप से यथा तैलमक्षिका आदि। यह केवल मनोबलकर होता है।

(ग) **शुक्रजनन-रेचन**– ये शुक्र की वृद्धि तथा स्राव दोनों को बढाने वाले होते हैं, अत: इन्हें 'शुक्रस्रुति-वृद्धिकर' भी कहते हैं।[१] ये शुक्र के जनक और प्रवर्त्तक[२] दोनों होते हैं तथा देहमनोबलकर हैं।[३] इसके उदाहरण क्षीर, माष आदि हैं।

(घ) **शुक्रस्तम्भन**– ये द्रव्य शुक्र को रोक कर मैथुन का समय बढाते हैं यथा जायफल,[४] अफीम आदि। इन द्रव्यों में मुख्यत: उष्णता, रौक्ष्य एवं कषाय रस होता है तथा सङ्घटन में ये अग्नि वाय्वात्मक होते हैं।

२. **कामसादक** (Anaphrodisiac)– जो द्रव्य कामशक्ति (पुंस्त्व) को नष्ट करते हैं उन्हें 'कामसादक', 'षाण्ढ्यकर' या 'पुंस्त्वघाती' कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–

(क) कुछ द्रव्य तो शुक्रक्षय करते हैं यथा क्षार[५]।

(ख) कुछ द्रव्य शिश्नेन्द्रिय नाडीकेन्द्र को अवसादित करते हैं यथा सूची, कपूर आदि।

३. **शुक्रशोधन**– जो द्रव्य शुक्रगत दोषों को दूर कर शुक्र को शुद्ध करते हैं उन्हें 'शुक्रशोधन' कहते हैं यथा कुष्ठ, कट्फल आदि।

४. **शुक्रशोषण**– जो द्रव्य शुक्र के विपरीत गुणों के कारण शुक्र को सुखा दे वह 'शुक्रशोषण' कहलाता है यथा हरीतकी।[६] इसी कारण यह दुर्बल एवं कृश व्यक्तियों में वर्जित है।[७]

*

---

१. शुक्रस्रुतिकरं किंचित् किंचिच्छुक्रविवर्धनम्। स्रुतिवृद्धिकरं किंचित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते।। (च० चि० २.४.५१-चक्र०; सु० सू० १.६-चक्र०)

२. तत् त्रिविधम् जनकं प्रवर्तकं जनकप्रवर्तकं चेति। (सु० चि० २६.६-ड०)

३. ... केवलं देहबलकरं जनकं गोधूमादिकं, केवलमनोबलकरं सङ्कल्पादि तु प्रवर्त्तकं, घृतक्षीरादि देहमनोबलकरं सदुभयकरमिति। (सु० चि० २६.६-ड०)

४. जातीफलं स्तम्भकं च। (शा० प्र० ४.१८)

५. क्षार: पुंस्त्वोपघातिनाम्। (च० सू० २५.४०)

६. शोषणी च हरीतकी। (शा० प्र० ४.१८)

७. अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्ष: कृशो लङ्घनकर्शितश्च।
पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत्।। (भा० प्र० नि० ह० ३५)

नवम अध्याय

९. मूत्रवहसंस्थान के कर्म

दोष, धातु और मलों को समस्थिति में रखने की जो व्यवस्था प्राकृतिक रूप से शरीर यन्त्र में की गई है उसमें वृक्कों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये यूरिया आदि मलों को तथा शर्करा आदि धारक पदार्थों को भी अतियोग होने पर मूत्रद्वारा बाहर निकालते हैं और इस प्रकार इनकी समस्थिति बनाने में सहयोग देते हैं। जल का भी प्राकृतिक परिमाण इनके द्वारा शरीर में सुरक्षित रहता है और अधिक अंश बाहर निकल जाता है। रक्तगत लवणों का परिमाण भी इनके द्वारा नियन्त्रित होता है। सारांश यह कि शरीर की स्थिति को सन्तुलित रखने में वृक्कों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है।

१. मूत्रविरेचनीय (Diuretic)

जो द्रव्य मूत्र को अधिक मात्रा में लाते हैं उन्हें 'मूत्रविरेचनीय' कहते हैं। इसे 'बस्तिशोधन' और 'मूत्रल' भी कहते हैं। मूत्र जलीय+आग्नेय है, अत: इसको प्रवृत्त करने वाले या बढाने वाले द्रव्य भी जलीय (शीतवीर्य) और आग्नेय (उष्णवीर्य) दोनों होते हैं। जलीय द्रव्य मूत्र में जल का परिमाण बढाकर तथा सूक्ष्म नलिकाओं से जलांश के शोषण का अवरोध कर मूत्र की मात्रा बढा देते हैं। आग्नेय द्रव्य मूत्रोत्सिकाओं में रक्तभार बढ़ाकर तथा वृक्कों में क्षोभ उत्पन्न कर मूत्रस्राव बढ़ाते हैं। शीतवीर्य द्रव्यों के उदाहरण तृणपञ्चमूल तथा उष्णवीर्य द्रव्यों के उदाहरण मरिच, पुनर्नवा आदि हैं। इसके अतिरिक्त, मूत्रल द्रव्य मधुर, अम्ल, लवण, द्रव तथा उपक्लेदी होते हैं।

मूत्रविरेचनीय कर्म के सम्पादन के लिए निम्नाङ्कित बातें शरीरक्रिया की दृष्टि से अवश्य मिलनी चाहिए–

१. वृक्कों में जलांश का आधिक्य।
२. रक्त में अम्लता की वृद्धि।
३. मूत्रोत्सिकाओं में निरन्तर, तीव्र और भारयुक्त रक्तप्रवाह।

उपर्युक्त अवस्थायें होने पर मूत्र अधिक मात्रा में निकलता है और विपरीत स्थिति अर्थात् जलांश की कमी, रक्तगत क्षारीयता की वृद्धि तथा अल्प-भारयुक्त रक्तप्रवाह होने पर मूत्र कम बनता है।

आधुनिक दृष्टि से, मूत्रविरेचनीय द्रव्यों के अनेक वर्ग किये गये हैं–

१. क्रियाशील मूत्रोत्सिकाओं की संख्या बढ़ाने वाले– यथा कैफीन, यूरिया।
२. वृक्कों में रक्तसंवहन बढाने वाले– यथा हृत्पत्री, कैफीन, मद्य आदि।
३. रक्तगत अम्लता बढाने वाले– यथा नौसादर, लवण आदि।
४. वृक्कों में क्षोभ उत्पन्न कर रक्तभार बढाने वाले– यथा (क) तैलमक्षिका आदि। (ख) अम्ल, क्षार आदि। (ग) कटु, तीक्ष्ण द्रव्य-मरिच, हपुषा, कंकोल आदि।
५. रक्तगत जलांश को बढाने वाले तथा सूक्ष्म नलिकाओं में जल के पुन: शोषण को रोकने वाले– यथा जल, दुग्ध, शर्करा, लवण, गोमूत्र आदि।

मूत्रविरेचनीय द्रव्यों का प्रयोग शरीर से जलीयांश को बाहर निकालने के लिए किया जाता है। निम्नाङ्कित अवस्थाओं में इनका उपयोग लाभकर होता है–

१. हृदय तथा फुप्फुस के विकारों में जब मूत्राल्पता हो तब इन्हें प्रयोग करना आवश्यक होता है अन्यथा शोथ उत्पन्न हो जाता है।
२. मूत्रक्षय[१] में रक्तगत विषाक्त पदार्थों या मलों को बाहर निकालने के लिए इन्हें देते हैं।
३. जलोदर, फुप्फुसावरणशोथ आदि अवस्थाओं में जहाँ शरीर के किसी भाग में द्रव का सञ्चय हो जाता है।
४. बस्ति तथा मूत्रप्रसेक के विकारों में मूत्र को पतला और हल्का बनाने के लिए मूत्रल औषध देते हैं। अश्मरी रोग में शर्करा को बाहर निकालने के लिए तथा भविष्य में अश्मरी की उत्पत्ति रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

२. मूत्रविरजनीय

जो द्रव्य मूत्र के वर्ण को प्राकृत बनावे उसे 'मूत्रविरजनीय' कहते हैं यथा कमल के फूल, मुलेठी आदि। ये द्रव्य शीतवीर्य होते हैं क्योंकि मूत्र में वर्ण के अनेक विकार पित्त के कारण होते हैं यथा माञ्जिष्ठमेह, हारिद्रमेह, कालमेह आदि और शीतवीर्य होने से ये पित्त को शान्त कर वर्णविकार को दूर करते हैं।

३. अश्मरीभेदन (Urinary lithontriptic)

मूत्रवह संस्थान में संचित अश्मरी को तोड़ने वाले द्रव्य 'अश्मरीभेदन' कहलाते हैं। इनमें कुछ द्रव्य तो तीक्ष्णता के कारण अश्मरी का भेदन करते हैं यथा कुलत्थ, पाषाणभेद, क्षार आदि और कुछ मूत्रविरेचनीय होने से उनका निर्माण

१. मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम्। (च० शा० ६.११)

नहीं होने देते। ऐसे द्रव्यों को अश्मरी-प्रतिषेधन (Antilithic) कहते हैं यथा दूर्वा, काश, गोक्षुर आदि।

४. मूत्रसङ्ग्रहणीय (Anti-diuretic)

जो मूत्र की प्रवृत्ति को कम करे उसे 'मूत्रसङ्ग्रहणीय' कहते हैं यथा जामुन, आम आदि। इनमें कुछ द्रव्य आग्नेय हैं जो जलांश को कम करके मूत्र का प्रमाण घटाते हैं तथा कुछ कषायरस हैं जो रूक्षता के कारण जलांश के शोषण में सहयोग देते हैं जिससे मूत्र कम आता है। आग्नेय द्रव्यों का उदाहरण भल्लातक आदि तथा वायव्य द्रव्यों के उदाहरण आम, जामुन आदि।

५. मूत्रविशोधन (Urinary antiseptic)

जो द्रव्य मूत्रगत पूति (Sepsis) तथा जीवाणुओं को नष्ट कर मूत्र को शुद्ध बनावे उसे 'मूत्रविशोधन' कहते हैं। ये द्रव्य मूत्रनलिका को भी विशोधित करते हैं। इसके उदाहरण चन्दन, कंकोल, टङ्कणाम्ल आदि हैं। वरुण और शिग्रु उत्तम जन्तुघ्न द्रव्य हैं जो मूत्रवह स्रोत में स्थित जीवाणुओं के उपसर्ग को नष्ट करते हैं। इस क्रम में क्षारीय या अम्ल द्रव्य देकर मूत्र की क्षाराम्लता को उचित परिमाण में रखते हैं।

*

दशम अध्याय

१०. सार्वदैहिक कर्म

१. ज्वरघ्न

सन्ताप (तापक्रम का अधिक होना) ज्वर का प्रत्यात्म (विशिष्ट) लक्षण कहा गया है।[१] सामान्यत: ताप की उत्पत्ति और क्षय इस परिमाण में होता है कि उसका सन्तुलन बना रहता है और शरीर का तापक्रम एक निश्चित बिन्दु पर स्थिर रहता है। शारीर तापक्रम का यह सन्तुलन मस्तिष्क-स्थित तापनियामक केन्द्र के अधीन है। इस केन्द्र में किञ्चित् भी विकृति होने से तापसम्बन्धी विकार प्रकट हो जाते हैं।

ज्वर में आमदोष प्रधान हेतु बतलाया गया है तथा उसमें शीत या उष्ण की अनुभूति भी होती है। कुछ ज्वर नियत समय पर भी आने वाले होते हैं। इन सब में ताप का विकार लक्षित होता है।

(क) सन्तापहर (Antipyretic)

जो द्रव्य ज्वर के सन्ताप को कम करें उन्हें 'सन्तापहर' कहते हैं। ये द्रव्य अनेक प्रकार से कर्म करते हैं–

(क) कुछ द्रव्य सन्ताप के कारणभूत दोष पित्त को शान्त करते हैं जिससे ज्वर कम हो जाता है यथा द्राक्षा, सारिवा आदि।
(ख) कुछ द्रव्य तापकेन्द्र पर कर्म करते हैं यथा वेतस, कुनयन आदि।
(ग) कुछ द्रव्य त्वचा की रक्तवाहिनियों का प्रसार करते हैं जिससे ताप का क्षय अधिक होता है यथा मद्य, अञ्जन, वत्सनाभ आदि।
(घ) कुछ द्रव्य स्वेदजनन कर्म से उष्णता का क्षय करते हैं यथा स्वेदन द्रव्य।
(च) साक्षात् सम्पर्क से ताप का क्षय करके यथा शीत द्रव्यों का स्पर्श।[२]
(छ) कुछ व्याधि-प्रत्यनीक औषध कारणभूत जीवाणु का नाश कर सन्ताप कम करते हैं यथा कुनयन आदि।

(ख) आमपाचन

आमदोष के कारण ज्वर उत्पन्न होता है। प्राय: सात दिनों तक ज्वर साम रहता है आमदोष के अनुसार ही सन्ताप की गति रहती है। प्रारम्भ में आमदोष

---

१. ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानस:। (च० चि० ३.३१)
२. मध्वारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च सद्यो दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वात्।
(च० चि० ३.२५९)

अधिक रहने पर ज्वर अधिक रहता है तथा आमदोष के क्षीण होने पर ज्वर मृदु हो जाता है। अत: आम का पाचन करने वाले द्रव्य ज्वरहर होते हैं। तिक्तरस के द्रव्य 'आमपाचन' माने गये हैं[१] यथा चिरायता, पटोल आदि।

(ग) **विषमज्वरघ्न** (Antiperiodic)

ये नियत काल पर आने वाले ज्वरों को रोकते हैं। विषमज्वर में दोष धातुगत होते हैं। अत: इसमें वही द्रव्य लाभकर होते हैं जो धातुओं तक गम्भीर पहुँचने की शक्ति रखते हैं। सन्तापनिवारण एवं आमपाचन का कर्म भी सामान्यत: इनसे होता है। क्योंकि ये अधिकांश तिक्तरस होते हैं। इसके उदाहरण लताकरञ्ज, सप्तपर्ण, कुनयन आदि हैं।

२. **दाहप्रशमन** (Refrigerant)

जो द्रव्य बाह्य और आभ्यन्तर दाह को शान्त करे वह 'दाहप्रशमन' कहलाता है यथा कमल, चन्दन आदि। दाह पित्त का लक्षण है अत: ये द्रव्य शीतवीर्य और पित्तशामक होते हैं। पैत्तिक विकारों तथा दाहज्वर में इनका प्रयोग करते हैं।

३. **शीतप्रशमन**

जो द्रव्य शीत (ठंढक) को दूर करे वह 'शीतप्रशमन' कहलाता है। शैत्य वात और कफ[२] से होता है। ये द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं और वात-कफ को शान्त करके शीतप्रशमन कर्म करते हैं। वातकफज विकारों में तथा शीतज्वर में इनका प्रयोग किया जाता है।

४. **मधुरकजनन**

ये द्रव्य यकृत् में सञ्चित शर्कराजन को मधुरक (Glucose) में परिणत करते हैं जिससे रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। ऐसे द्रव्यों को मधुरकजनन कहते हैं यथा आनूप मांसरस, इक्षुविकार आदि।

५. **मधुरकशमन**

ये द्रव्य यकृत् के शर्कराजनन कार्य को अवसादित कर रक्तगत शर्करा की मात्रा को कम करते हैं यथा बीजक, कारवेल्लक आदि। ये सब कफशामक एवं रूक्ष द्रव्य हैं। ये कर्म प्रभावजन्य हैं।

*

१. लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रस:। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे।। (च० चि० ३.१४२-)

२. त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतपादौ जनयतो ज्वरे।
तयो: प्रशान्तयो: पित्तमन्ते दाहं करोति च।। (मा० नि० २.४५)

एकादश अध्याय

११. सार्वधातुक कर्म

इस प्रकरण में समस्त धातु-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कर्मों का उल्लेख किया जायगा। आधुनिक विज्ञान में भी सात्मीकरण को प्रभावित करने वाले द्रव्यों का अध्ययन किया गया है किन्तु आयुर्वेद में समष्टिरूप से पुरुष के जीवन से सम्बद्ध कर्मों का अध्ययन और विवेचन नितान्त मौलिक है। 'रसायन' तो आयुर्वेद का एक अङ्ग ही है, इसके अतिरिक्त अनेक कर्म ऐसे हैं जो समस्त धातुपरम्परा और जीवन-व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे ही कर्मों को 'सार्वधातुक कर्म' की संज्ञा प्रदान की गई है।

१. **जीवनीय** (Vitaliser)– जो द्रव्य जीवनी शक्ति को बढ़ावे उसे 'जीवनीय' कहते हैं।[१] शारीर क्रियाओं में निरन्तर जो शक्ति क्षीण होती रहती है इन द्रव्यों से वह पूर्ण होती रहती है और इसी चयापचय-व्यापार से जीवन का सञ्चालन होता है। यदि क्षति की पूर्ति इन द्रव्यों से न हो तो जीवन नष्ट हो जाय। अत: जीवन के लिए आवश्यक होने के कारण इन्हें 'जीवनीय' कहा गया है यथा विदारी, मुञ्जातक आदि। दुग्ध जीवनीय द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है।[२] जीवनीय द्रव्य पार्थिव-जलीय[३] एवं प्राय: मधुरस और शीतवीर्य होते हैं।

२. **आयुष्य** (Life-promoter)– जो दीर्घ आयु प्रदान करे वह 'आयुष्य' कहलाता है[४] यथा आमलक, दुग्ध आदि।

३. **सन्धानीय** (Union-promoter)– भग्न या विच्छिन्न रक्त, मांस, अस्थि आदि धात्ववयवों को जोड़ने में सहायक द्रव्य 'सन्धानीय'[५] कहलाता है यथा मुलेठी आदि। सन्धानीय गण में विशेषत: कषाय द्रव्य हैं जो विच्छिन्न धात्ववयवों को सङ्कुचित कर परस्पर मिला देते हैं।[६] व्यापक दृष्टि से, यह धातुपोषक के अर्थ में व्यवहृत होता है।[७]

१. जीवनम् आयु:, तस्मै हितं जीवनीयम्। (चक्र०)
२. प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तम्। (च० सू० २७.२१८)
३. पृथिव्यपां गुणैर्युक्तं जीवनीयमिति स्थिति:। (र० वै० भा०)
४. आयुष्यस्तु आयु:प्रकर्षकारित्वेन। (च० सू० २६.४३(१)-चक्र०)
५. सन्धानीयो भग्नसंयोजनाय हित सन्धानीयम्। (च० सू० ४.८-गं०)
६. व्रणं कषाय: सन्धत्ते। (सु० सू० १५.४०)
७. क्षीणस्य सन्धानकरो धातुपोषकत्वेन। (च० सू० २६.४३(१)-चक्र०)

४. **बल्य** (Tonic)– जो द्रव्य शरीर के बल (Strength) को बढ़ाते हैं उन्हें 'बल्य' कहते हैं।[१] बल ओज का कार्य माना गया है। बल के अभाव में शरीर अपने कर्मों में असमर्थ हो जाता है। इसके दो वर्ग किये गये हैं–

(क) **सामान्य**– ये शरीर के सभी अङ्गों की सामान्यत: शक्ति बढ़ाते हैं यथा कपिकच्छू, शतावरी आदि। ये धातुवर्धक द्रव्य हैं अत: इनसे ओज अधिक बनाने के कारण शरीर को बल अधिक मिलता है।

(ख) **विशिष्ट**– कुछ द्रव्य विशिष्ट अङ्गों को बल देते हैं यथा–

आमाशय–	तिक्त द्रव्य	हृदय–	अर्जुन
सुषुम्ना–	कुपीलु	नाड़ीसंस्थान–	तगर

५. **ओजोवर्धक**– ओज समस्त धातुओं का सारभाग है जो समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और जिसके कारण शरीर को बल प्राप्त होता है। ओज को बढाने वाले द्रव्य 'ओजोवर्धक' 'ओजस्य' या 'वर्चस्य' कहलाते हैं। ओज मधुर, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द और प्रसन्न इन दस गुणों से युक्त होता है। अत: इन गुणों से युक्त द्रव्य ओजोवर्धक होते हैं यथा गोक्षीर।[२]

६. **ओजोह्रासक** (विकासी)– ये द्रव्य ओज के विपरीत गुण होने से ओज को क्षीण करते हैं तथा परिणामस्वरूप शरीर में शैथिल्य (दौर्बल्य) उत्पन्न करते हैं यथा पूग, कोदो आदि।[३]

७. **रसायन**– जो द्रव्य शरीर के रस-रक्तादि समस्त धातुओं को प्रशस्त रूप में बढ़ावे, उसे 'रसानयन' कहते हैं।[४] इससे जराजन्य क्षय या शौथिल्य नहीं हो पाता अत: इसे 'वयःस्थापन' भी कहते हैं। शरीर की आभ्यन्तरिक शक्ति बढ़ने तथा बाह्य विकारकारणों का प्रतिषेध होने से यह व्याधिनाशन भी कहा गया है।[५]

---

१. बल्यमुपचयौज:शक्तिकरत्वात्। (सु० सू० ४५.२६-ङ०)

२. स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पय:।।
तदेवंगुणमेवौज: सामान्यादभिवर्धयेत्। (च० सू० २७.२१७-)

३. सन्धिबन्धांश्च शिथिलान् यत् करोति विकासि तत्।
विश्लिष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवौ।। (शा० प्र० ४.२०-)

४. लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्। (च० चि० १.१.८)

५. रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्।
यथाऽमृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी।। (शा० प्र० ४.१३-)
दीर्घमायु: स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वय:। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्।
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्। (च० चि० १.१.७-)

८. **विष** (Poison)– जो द्रव्य ओज का क्षय करके विषाद उत्पन्न करते हैं उन्हें 'विष' कहते हैं[१] यथा वत्सनाभ आदि। ये द्रव्य लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायी, विकासी, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, उष्ण, अनिर्देश्यरस इन गुणों से युक्त होते हैं जिससे समस्त दोषों को प्रकुपित कर, सभी धातुओं में व्याप्त होकर तथा ओज को नष्ट कर प्राणनाशक होते हैं।[२] उपविष (गुञ्जा) आदि इसी के अङ्ग हैं।

९. **विषघ्न या प्रतिविष** (Antidote)– विषप्रभाव को नष्ट करने वाले द्रव्यों को 'विषघ्न' या 'प्रतिविष' कहते हैं यथा शिरीष आदि। आयुर्वेद में इनकी विशिष्ट संज्ञा 'अगद' है।[३]

१०. **अङ्गमर्दप्रशमन**– जो द्रव्य अङ्गमर्द (मांसपेशियों की हल्की ऐंठन-पीड़ा) को शान्त करे वह 'अङ्गमर्दप्रशमन' कहलाता है यथा लघुपञ्चमूल, काकोली आदि। अङ्गमर्द वायु का लक्षण है, जो विशेषत: धातुक्षय (शरीर दौर्बल्य) की अवस्था में प्रकट होता है। ये द्रव्य वायु के विपरीत गुण वाले (मधुर-स्निग्ध आदि) होते हैं तथा बलवर्धक हैं अत: अङ्गमर्द को शान्त करते हैं। आधुनिक दृष्टि से, शरीर की क्षति को पूर्ण कर अङ्गमर्द का प्रशमन करते हैं। ऐसे द्रव्यों को क्षतिपूरक (Restorative) कहते हैं।

*

---

१. जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञित:। (च० चि० २३.५)

२. लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञै:।।
रौक्ष्याद्वातमशैत्यात् पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति।
कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम्।
शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्।
तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात्।।
दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्।। (च० चि० २३.२४-२६-)

३. (च० चि० २३)

द्वादश अध्याय

१२. धातुकर्म

पृथक्-पृथक् धातुओं पर द्रव्यों के जो कर्म होते हैं उनका इस प्रकरण में वर्णन किया जायगा। धातु शरीर को धारण करने वाले द्रव्य हैं, इनसे शरीर के अवयवों का धारण एवं पोषण होता है। स्वास्थ्य के लिए इनकी समस्थिति आवश्यक है। इनका क्षय या वृद्धि होने से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त, दोषों का स्थानसंश्रय इनमें होता है, इसलिए विकार की दृष्टि से ये दूष्य कहलाते हैं।

एक बात इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखनी चाहिए कि वृद्धि कफ का कर्म है अत: सभी धातुओं की वृद्धि में कफ का अनुबन्ध अवश्य रहता है। इसी प्रकार क्षय वायु के कारण होता है अत: धातुओं के क्षय में वायु का भाग अवश्य रहता है।[१]

दूसरी बात यह है कि जिस धातु का क्षय होता है उसके समान गुण द्रव्यों के सेवन की स्वाभाविक इच्छा होती है। अत: वैसा आहार-औषध देने से क्षय निवृत्त हो जाता है।[२]

रस

१. **रसवर्धन**– रसधातु को बढाने वाले द्रव्य 'रसवर्धन' कहलाते हैं। रस आप्य[३] होता है और उसके गुण कफ के समान[४] होते हैं अत: रसवर्धक द्रव्य भी आप्य और कफवर्धक होते हैं। अर्थात् रसवर्धक द्रव्य गुरु, द्रव, पिच्छिल, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु एवं सर गुणयुक्त, मधुर रस एवं शीतवीर्य होते हैं यथा क्षीर।

२. **रसक्षपण**– रस धातु को घटानेवाले द्रव्य 'रसक्षपण' कहलाते हैं। ये द्रव्य रूक्ष, कठिन आदि विपरीत गुणों से युक्त होते हैं और विशेषत: वायव्य, आकाशीय एवं आग्नेय सङ्घटन के होते हैं यथा यव आदि।

१. सर्वैव हि वृद्धिः प्रायोऽतिसन्तर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणानुगता। तद्विपर्ययाच्च क्षयो वायुना। (अ० सं० सू० १९.८)

२. दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः। स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति।।
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः। तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति।। (सु० सू० १५.२९-३०)

३. स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते। स खल्वाप्यो रसः। (सु० सू० १४.३-४)

४. रसोऽपि श्लेष्मवत्। (अ० हृ० सू० ११.८)

रक्त

१. **शोणितस्थापन**– जो द्रव्य रक्त को बढावे तथा रक्तस्राव को रोके उसे 'शोणितस्थापन'[१] कहते हैं। इस दृष्टि से इसके दो भाग हो जाते हैं–

(क) **रक्तवर्धन**– रक्तधातु को बढाने वाले द्रव्य 'रक्तवर्धन' कहलाते हैं। रक्त पाञ्चभौतिक है[२] किन्तु उसमें अग्नि और जल[३] की विशेषता है इसीलिए रक्त अनुष्ण-शीत माना गया है।[४] अत: आग्नेय और जलीय द्रव्यों से रक्त की वृद्धि होती है। इस दृष्टि से आग्नेय तत्त्व रक्त कणों को तथा जलीय तत्त्व रक्तरस को बढाता है। रक्त स्वयं रक्तवर्धक होता है[५] तथा इसके अभाव में तद्गुण द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। रक्तक्षय में जीवित पशुओं का रक्त लेकर पिलाने का विधान है।[६] इसके अतिरिक्त नातिशीत, लघु, स्निग्ध और रक्तवर्धक आहारद्रव्यों का प्रयोग लाभकर होता है।[७]

इस प्रकार आयुर्वेद में रक्त का समष्टिरूप से विचार किया गया है किन्तु आधुनिक रचना-शारीर की दृष्टि से रक्त में अनेक अवयव होते हैं जिनसे शरीर के विशिष्ट कर्म सम्पादित होते हैं। रक्त में दो प्रकार के कण होते हैं– श्वेतकण और रक्तकण जो रक्तरस में तैरते रहते हैं। इनके अतिरिक्त लवण भी होते हैं। इन सभी अवयवों पर पृथक्-पृथक् जो द्रव्यों के कर्म होते हैं इनका स्वतंत्र अध्ययन आवश्यक है, अत: तदनुसार कर्मों का विभाजन किया गया है–

(१) **रक्तकणवर्धक** (Haematinic)– रक्तकणों के भीतर रक्तरञ्जक पदार्थ (Haemoglobin) होता है जो प्राणवायु का वहन करता है। इसमें लौह का विशेष अंश होता है, सम्पूर्ण शरीर के सञ्चित लौह का लगभग २/३ भाग रक्तरञ्जक पदार्थ में होता है। रक्तकणों की संख्या भी रक्त में नियत होती है। एक रक्तकण का जीवन तीन सप्ताहों तक ही रहता है, अत: निरन्तर उसकी उत्पत्ति होना आवश्यक है। ऐसे द्रव्य जो रक्तकणों की संख्या बढाते हैं, 'रक्तकणवर्धक' कहलाते हैं। रक्तकण आग्नेय होते हैं अत: रक्तकणवर्धक आग्नेय स्वभाव के होते हैं यथा लौह, ताम्र आदि।

१. रुधिरसंस्थापनं पुरुषस्य रुधिरवृद्धिस्थैर्यकरम्। (अ० सं० सू० १५.४२-इन्दु)

२. पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः। विस्रता द्रवता रागः स्यन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते।। (सु० सू० १४.८-९)

३. रक्तं तेजोजलात्मकम्। (सु० सू० १५.८-चक्र०)

४. रक्तं पुनरनुष्णशीतमेवमाचार्या मन्यन्ते। (सु० सू० १४.७-ड०)

५. लोहितं लोहितेन। (च० शा० ६-१०)

६. मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्। पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति।। (च० सि० ६.८२)

७. तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः। ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्।। (सु० सू० १४.३८)

(२) **अम्लवर्धक**– ये द्रव्य रक्त में अम्ल की मात्रा बढाते हैं यथा सोमल, स्फुरक आदि।

(३) **क्षारवर्धक**– ये द्रव्य रस की क्षारीयता बढाते हैं यथा यवक्षार आदि।

(ख) **रक्तस्तम्भन** (Haemostatic)– रक्तस्राव को रोकने वाले द्रव्य 'रक्तस्तम्भन' कहलाते हैं यथा लोध्र, नागकेसर आदि। ये द्रव्य शीत एवं कषाय होते हैं। ये रक्तस्कन्दन को बढाते हैं (Coagulant) और रक्तवाहिनियों को सङ्कुचित करते हैं (Vasoconstrictor)। इनका प्रयोग रक्तपित्त में किया जाता है।[१]

कुछ द्रव्य स्थानिक प्रयोग से रक्तस्राव को रोकते हैं (Styptic)। ये भी शीत और कषाय होते हैं। शीतद्रव्य रक्तवाहिनियों को सङ्कुचित कर तथा कषायद्रव्य रक्तवाहिनियों के पार्श्ववर्ती धातुओं में मांसतत्त्व को जमाकर रक्तस्राव को बन्द करते हैं।[२] इनके उदाहरण क्रमशः बर्फ तथा फिटकरी आदि हैं। इनका प्रयोग क्षत आदि में तथा रक्तपित्त में बाह्य उपचार के रूप में किया जाता है।

२. **रक्तस्रावक**– रक्तस्रावक द्रव्य रक्तस्राव को बढाते हैं। ये अपनी उष्णता एवं तीक्ष्णता के कारण रक्तवाहिनियों को प्रसारित करते हैं तथा रक्त की प्राकृतिक स्कन्दन शक्ति को कम करते हैं अतः ये प्रतिरक्तस्कन्दक (Anti-coagulant) भी कहलाते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं– सार्वदैहिक (Systemic) और स्थानिक (Local)। कुष्ठ, तगर आदि प्रथमवर्ग में तथा तैलमक्षिका, सर्षप आदि द्वितीय वर्ग में आते हैं।

३. **रक्तक्षपण**– रक्तकणों को नष्ट करने वाले तथा रक्तधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'रक्तक्षपण' कहलाते हैं यथा सोमल, स्फुरक आदि (विषाक्त मात्रा में)।

४. **रक्तदूषण**– रक्त को दूषित (प्रकुपित) करने वाले द्रव्य 'रक्तदूषण' कहलाते हैं। रक्त आग्नेय होता है और पित्त भी आग्नेय होता है अतः पित्त को अत्यधिक दूषित करने वाले यथा कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, विदाही, उष्ण द्रव्यों का सेवन करने से रक्त भी दूषित हो जाता है।[३] रक्त में अग्नि के साथ-साथ जलांश

१. कषाययोगान् पयसा पुरा वा पीत्वाऽनु चाद्यात् पयसैव शालीन्।
कषाययोगैरथवा विपक्वमेतैः पिबेत् सर्पिरतिस्रुते च।। (च० चि० ४.८७)

२. व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्। (सु० सू० १४.४०)

३. तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः।।
तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते।। तद्योनित्वात्प्रपन्नञ्च वर्धते तत्प्रदूषयत्।।
(च० चि० ४.६-७)
विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च। रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ।।
(च० वि० ५.१४)

भी है अतः केवल पित्तप्रकोपक की अपेक्षा जब विरुद्ध संयोग (शीतोष्ण) होता है तब रक्त दूषण की अधिक सम्भावना रहती है। इसके उदाहरण शाक, लवण आदि हैं।

५. **रक्तप्रसादन**– रक्त के विकारों को दूर कर उसे शुद्ध बनाने वाले द्रव्यों को 'रक्तप्रसादन' या 'रक्तशोधन' कहते हैं यथा सारिवा, मञ्जिष्ठा आदि। ये द्रव्य अधिकांश तिक्तरस होते हैं जिसके कारण विदग्ध पित्त के विदाह को दूर कर तज्जन्य रक्त के विदाह को भी शान्त करते हैं। पित्तप्रकोप के कारण रक्त में अनेक वर्ण-विकार भी हो जाते हैं। ये द्रव्य इन वैकृत वर्णों को दूर कर रक्त को स्वच्छ बनाते हैं।[१]

मांस

१. **बृंहण**– शरीर को बढ़ाने वाले (पुष्ट-मोटा करने वाले) द्रव्य 'मांस बृंहण'[२] कहलाते हैं। शरीर में अधिक भाग मांस का होता है। अतः ये मांस धातु को विशेष रूप से बढ़ाते हैं और इनसे शरीर भार बढ़ता है। गुरु, स्निग्ध, सान्द्र, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर और श्लक्ष्णगुण तथा शीतवीर्य द्रव्य प्रायः बृंहण होते हैं।[३] मांस पार्थिव[४] होता है किन्तु पृथिवी में जलतत्त्व अनुप्रविष्ट होता है, अतः बृंहण द्रव्य में पृथिवी और जलतत्त्व का आधिक्य होता है।[५] बृंहणीय द्रव्यों में मांस सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।[६] इन द्रव्यों का प्रयोग क्षीण-कृश व्यक्तियों में शरीर की वृद्धि के लिए किया जाता है।[७]

२. **लङ्घन**– जो द्रव्य शरीर को दुबला (कृश) बनावे तथा शरीर में हलकापन लावे उसे 'लङ्घन' कहते हैं।[८] इसका नाम 'लेखन'[९] या 'कर्शन' भी है। ये द्रव्य वायु

१. प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति।। (च० सू० २४.२४)

२. बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्। (च० सू० २२.१०)

३. गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम्।
प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते।। (च० सू० २२.१३-)

४. मासं पार्थिवम्। (सु० सू० १५.८-चक्र०)

५. बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्। (सु० सू० ४१.६)

६. मांसं बृंहणीयानाम्। (च० सू० २५.४०)।
... मांसमाप्यायते मांसेन। (च० शा० ६.१०)
शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद्विशिष्यते। (च० सू० २७.८७-)
मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्। (च० चि० ८.१५५)

७. क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः।
स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः।। (च० सू० २२.२६)

८. यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लंघनं स्मृतम्। (च० सू० २२.९)

९. धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्।
लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः।। (शा० प्र० ४.१०-)

और अग्नि तत्त्वों से बने होते हैं[१] तथा लघु, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन गुणयुक्त एवं उष्णवीर्य होते हैं।[२] वायु और अग्नि तत्त्व दोनों ही शोषक होते हैं तथा पृथिवी और जल (मांसतत्त्व) के विपरीतगुण होने से विशेषरूप से मांसधातु को सुखाते हैं जिससे शरीर कृश होता है। इसके उदाहरण यव, वचा आदि हैं। बृहच्छरीर[३] और बली पुरुषों में इसका प्रयोग होता है।

३. **श्रमहर**– मांसपेशियों के श्रम (Fatigue) को दूर करने वाले द्रव्य 'श्रमहर' कहलाते हैं यथा द्राक्षा आदि। श्रम में वायु की वृद्धि होती है और ये द्रव्य मधुर-स्निग्ध होने से वात को शान्त करते हैं। नव्य दृष्टि से, पेशियों मे शर्करा के ज्वलन से शक्ति उत्पन्न होती है और तत्परिणाम स्वरूप उत्पन्न मल के कारण श्रम उत्पन्न होता है। मधुर, स्निग्ध द्रव्यों से शर्करा और स्नेह की प्राप्ति होती है जिससे नवीन शक्ति का सञ्चार होता है। अभ्यङ्ग[४] और स्नान[५] से श्रम के हेतुभूत मल के निःसरण में सहायता मिलती है। अतः ये श्रमहर हैं और स्वस्थवृत्त में प्रतिदिन इनके सेवन का विधान है।

४. **उत्सादन**– शुष्क, अल्प मांस वाले तथा गहरे व्रणों में मांस की वृद्धि कर उन्हें उठाने वाले द्रव्यों को 'उत्सादन' कहते हैं। ये मांसवर्धक हैं[६] यथा अश्वगन्धा आदि।

५. **अवसादन**– अधिक उभरे हुए व्रणों में मांस को घटाने वाले द्रव्य 'अवसादन' कहलाते हैं। ये द्रव्य मांस को सुखाने वाले अतः तीक्ष्ण और उष्ण वीर्य होते हैं यथा मनःशिला, तुत्थ आदि।

मेद

१. **मेदोवर्धन**– मेदोधातु को बढ़ाने वाले द्रव्य 'मेदोवर्धन' कहलाते हैं यथा घृत, वसा आदि।[७] मेद में जल और पृथिवी तत्त्व[८] की अधिकता होती है अतः

१. ... लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम्। (सु० सू० ४१.६)
२. लघूष्णं तीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्।
कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम्।। (च० सू० २२.१२-)
३. बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः। (च० सू० २२.१९)
४. खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः। सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात्।। (च० सू० ५.९०)
५. पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्। शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्।। (च० सू० ५.९४)
६. उत्सादनं मांसवर्धनम्। (ड०)
७. मेदो मेदसा। (च० शा० ६.१०)
८. मेदो जलपृथिव्यात्मकम्। (सु० सू० १५.८-चक्र०)

मेदोवर्धन द्रव्य जलीय-पार्थिव होते हैं। विशेषतः मधुर, स्निग्ध एवं बृंहण द्रव्य मेदोवर्धन होते हैं।[१] कृश व्यक्तियों में इनका प्रयोग होता है।

२. **मेदःक्षपण**– मेदोधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'मेदःक्षपण' या 'मेदोनाशन' कहलाते हैं। ये द्रव्य तीक्ष्ण, रूक्ष एवं लेखन तथा छेदन होते हैं।[२] तथा इनमें वायु और अग्नि तत्त्वों की प्रधानता होती है यथा गुग्गुलु, यव, चणक आदि। मेदोरोग में ये लाभकर हैं।

अस्थि

१. **अस्थिवर्धन**– जो द्रव्य अस्थिधातु को विशेष रूप से बढाते हैं वे 'अस्थिवर्धन' कहलाते हैं। अस्थि में पृथिवी और वायु महाभूतों[३] का आधिक्य रहता है तथा कठिन, स्थिर आदि गुण होते हैं, अतः इन गुणों से युक्त द्रव्य अस्थिवर्धन होते हैं यथा प्रवाल, मुक्ता आदि। चरक ने तरुणास्थि का विधान अस्थिवृद्धि के लिए किया है।[४] अस्थिक्षय में इन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

२. **अस्थिक्षपण**– अस्थिधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'अस्थिक्षपण' कहलाते हैं। सुधा तत्त्व (Calcium) से रहित आहार अस्थिक्षपण होते हैं।

३. **अस्थिसन्धानीय**– भग्न अस्थि को जोड़ने वाले द्रव्य 'अस्थिसन्धानीय' कहलाते हैं यथा अस्थिशृङ्खला। यह कर्म 'सन्धानीय' कर्म का ही एक विशिष्ट प्रकार है।

मज्जा

१. **मज्जवर्धन**– मज्जाधातु को बढ़ाने वाले द्रव्य 'मज्जवर्धन' कहलाते हैं यथा मज्जा।[५] मज्जा जलीय होता है[६] अतः स्निग्ध द्रव्य मज्जवर्धन होते हैं।

२. **मज्जक्षपण**– मज्जाधातु को क्षीण करने वाले द्रव्य 'मज्जक्षपण' कहलाते हैं। रूक्ष द्रव्य मज्जा को क्षीण करते हैं।

१. मधुराणामन्यासाञ्चौषधीनामुपयोगः...बृंहणबस्त्युपयोगश्च। (सु० सू० १५.३३)
२. ... विरूक्षणच्छेदनीयानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुपयोगो व्यायामो लेखनबस्त्युपयोगश्चेति। (सु० सू० १५.३२)
३. अस्थि पृथिव्यनिलात्मकम्। (सु० सू० १५.८-चक्र०)
४. अस्थि तरुणास्थ्नः। (च० शा० ६.१०)
५. मज्जा मज्ज्ञा। (च० शा० ६.१०)
बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धनः। मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने हितः।। (च० सू० १३.१७)
६. मज्जा चाप्यम्। (सु० सू० १५.८-चक्र०)

शुक्र

१. **शुक्रवर्धन**– जो द्रव्य शुक्र को बढ़ाते हैं वे 'शुक्रवर्धन' कहलाते हैं। इनका वर्णन 'शुक्रजनन' प्रकरण में देखें।

२. **शुक्रनाशन**– शुक्र को क्षीण बनाने वाले द्रव्य 'शुक्रनाशन' कहलाते हैं शुक्र आप्य[१] बतलाया गया है। जल के विपरीत गुण वाले द्रव्य यथा कटु, अम्ल, लवण रस, कटुविपाक, उष्णवीर्य तथा रूक्ष, तीक्ष्ण आदि गुण युक्त द्रव्य शुक्रनाशन होते हैं। इसके अतिरिक्त जरा, चिन्ता, व्याधि, अतिव्यायाम, उपवास, अतिमैथुन इनसे भी शुक्र क्षीण होता है।[२]

स्रोतों के कर्म

कुछ द्रव्य स्रोतों को साफ करने वाले तथा कुछ उनमें अवरोध उत्पन्न करने वाले होते हैं।

१. **अभिष्यन्दी**– जो द्रव्य क्लेदाधिक्य के कारण स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करे उसे 'अभिष्यन्दी'[३] कहते हैं। ये द्रव्य पिच्छिल,[४] गुरु एवं स्निग्ध होते हैं जिससे क्लेद को बढाकर स्रोतों में विशेषत: रसवह स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करते हैं। अभिष्यन्दी द्रव्यों में दधि, माष, आनूप मांस आदि प्रधान माने गये हैं।

२. **प्रमाथी**– जो द्रव्य अपनी तीक्ष्णता से स्रोतों के मल को (मथ कर) बाहर निकाल दे और इस प्रकार अवरोध दूर कर दे, उसे 'प्रमाथी'[५] कहते हैं यथा मरिच, वचा, मद्य आदि। ये द्रव्य कटु, उष्ण और तीक्ष्ण होते हैं।

*

१. शुक्रं चाप्यम्। (सु० सू० १५.८-चक्र०)

२. जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभि: कर्मकर्षणात्।
क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां चातिनिषेवणात्। (च० चि० २.४.४३)

३. अभिष्यन्दयति अवरुणद्धि क्लेदयति च स्रोतांसि इति अभिष्यन्दि।
अभिष्यन्दि दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम्। (सु० चि० ५.१७-ड०)

४. पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहा: सिरा:।
धत्ते यद् गौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा दधि। (शा० प्र० ४.२४-)

५. प्रकर्षेण मथितुं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयं निर्हर्तुं शीलं यस्य तत् प्रमाथि।
निजवीर्येण यद् द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम्।
निरस्यति प्रमाथि स्यात् तद्यथा मरिचं वचा।। (शा० प्र० ४.२३-)
मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम्। प्रमथ्य विवृणोत्याशु। (च० चि० ८.१६६)

त्रयोदश अध्याय

१३. दोषकर्म

दोष जीवन के सञ्चालक तत्त्व हैं। इनकी समस्थिति से स्वास्थ्य तथा विषमस्थिति से विकार उत्पन्न होते हैं। अत: स्वास्थ्य के लिए दोषों की वृद्धि तथा क्षय का प्रतिषेध एवं चिकित्सा में बढ़े हुए दोषों को घटाकर तथा क्षीण दोषों को बढ़ाकर उन्हें साम्यभाव में लाना होता है। इस सम्बन्ध में भी सामान्य-विशेष का ही नियम लागू होता है– समान गुण वाले द्रव्यों से दोषों की वृद्धि और विपरीत गुणयुक्त द्रव्यों से ह्रास।[१] द्रव्यों से दोषों के सभी गुणों की वृद्धि नहीं होती, द्रव्य में जिस गुण की प्रधानता होती है दोष के उसी गुण को वह बढ़ाता है यथा शीत और रूक्ष दोनों ही द्रव्य वातवर्धक हैं किन्तु शीत द्रव्य से वायु के शीतांश तथा रूक्ष द्रव्य से वायु के रूक्षांश की वृद्धि होगी। इस विचार को 'विकल्प' या 'अशांशकल्पना' कहते हैं। इसका उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

१. **वातकोपन**– वातदोष को प्रकुपित करने (बढ़ाने) वाले द्रव्य 'वातकोपन' कहलाते हैं। वायु में रूक्ष, लघु, शीत, खर, दारुण (कठिन) और विशद ये गुण होते हैं। अत: इन गुणों से युक्त द्रव्य वातकोपन होते हैं।[२] इसके अतिरिक्त, कटु, तिक्त और कषाय रस, कटुविपाक, शीतवीर्य द्रव्य वातकोपन होते हैं यथा जम्बू, शुष्क शाक आदि। स्वभावत: भोजन के जीर्ण होने पर सायंकाल, वृद्धावस्था तथा वर्षा ऋतु में वायु का प्रकोप होता है।

२. **वातशमन**– वातदोष को शान्त करने (घटाने) वाले द्रव्य 'वातशमन' कहलाते हैं। ये द्रव्य वातगुणों से विपरीत गुण (स्निग्ध, गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छिल) मधुराम्ललवणरस, मधुर विपाक एवं उष्णवीर्य होते हैं यथा देवदारु, कुष्ठ आदि।[३] संशोधन कर्मों में बस्ति का प्रयोग करते हैं।

३. **पित्तकोपन**– पित्त को बढ़ाने वाले द्रव्य 'पित्तकोपन' कहलाते हैं। पित्त आग्नेय (उष्ण) तथा तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर एवं कटु गुणों से युक्त है, अत:

१. सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धि:, विपर्ययाद्ध्रास:। (च० शा० ६.१०)

२. रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदा: षडिमे वातगुणा भवन्ति।.....स त्वेवङ्गुणैरेवंद्रव्यैरेवंप्रभावैश्च कर्मभिरभ्यस्यमानैर्वायु: प्रकोपमापद्यते। (च० सू० १२.४-५)

३. तस्यावजयनं– स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि। (च० वि० ६.१६)

पित्तकोपन द्रव्य में भी ये ही गुण होते हैं यथा सर्षप आदि।[१] स्वभावत: भोजन की पच्यमानावस्था, मध्याह्न, अर्धरात्र, युवावस्था एवं शरद् ऋतु में पित्त का आधिक्य रहता है।

४. **पित्तशमन**– पित्त को शान्त करने (घटाने) वाले द्रव्य 'पित्तशमन' कहलाते हैं यथा चन्दन आदि। पित्त के विपरीत गुण (मृदु, सान्द्र आदि), मधुर, तिक्त, कषाय रस, मधुरविपाक तथा शीतवीर्य द्रव्य पित्तशमन होते हैं। विरेचन द्वारा पित्त का संशोधन करते हैं।[२]

५. **कफकोपन**– कफ को प्रकुपित करने वाले द्रव्य 'कफकोपन' कहलाते हैं।[३] कफ जलीय-पार्थिव एवं गुरु, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल गुणयुक्त होता है अत: कफकोपन द्रव्य इन्हीं गुणों वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त, मधुर, अम्ल और लवण रस, मधुरविपाक तथा शीतवीर्य द्रव्य कफकोपन होते हैं यथा माष, गोधूम आदि। भोजन की आमावस्था, प्रात:काल, बाल्यावस्था एवं वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है।

६. **कफशमन**– कफ को शान्त करने वाले द्रव्य 'कफशमन' कहलाते हैं। उपर्युक्त गुणों से विपरीत गुण (लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष, सर, विशद) युक्त द्रव्य, कटु, तिक्त और कषाय रस, कटुविपाक तथा उष्णवीर्य द्रव्य कफशमन होते हैं[४] यथा कुष्ठ आदि। वमन कफसंशोधन के लिए श्रेष्ठ माना गया है।

७. **संशमन**– जो द्रव्य बढ़े हुए दोषों को बाहर नहीं निकाल कर भीतर ही भीतर शान्त करे उसे 'संशमन' कहते हैं यथा गुडूची आदि।[५] प्रत्येक दोष के लिए

१. सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु। विपरीतगुणै: पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।।
(च० सू० १.६०)

२. तस्यावजयनं– अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोग:।
(च० वि० ६.१७)

३. गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिला:। श्लेष्मण: प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणा:।।
(च० सू० १.६१)

४. तस्यावजयनं– विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षद्रव्याणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि। (च० वि० ६.१८)

५. न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनम्।।
(अ० हृ० सू० १४.६)

न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषाँस्तथोद्धतान्।
समीकरोति विषमाञ् शमनं तद्यथाऽमृता।। (शा० प्र० ४.२–)

पृथक्-पृथक् संशमन द्रव्य होते हैं जिनका वर्णन हो चुका है। संशमन द्रव्य आकाश-गुण-भूयिष्ठ होते हैं।[१]

संशमन और संशोधन ये दो कर्म दोषों के लिए प्रयुक्त होते हैं। संशमन द्रव्य कुपित दोष को पुन: समस्थिति में ले आता है और संशोधन द्रव्य मूलभूत दोषों को शरीर से बाहर निकालता है, यही दोनों में भेद है।

कर्मों का उपसंहार

यद्यपि दोषदूष्य की विविधता से चिकित्साकर्म भी अनेकविध होते हैं तथापि मूल कर्म छ: ही हैं-लङ्घन-बृंहण, रूक्षण-स्नेहन, स्वेदन-स्तम्भन। सभी कर्मों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार दोषों के असंख्य कल्पनादि होने पर भी उनका त्रित्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार कर्मों का भी षट्त्व नष्ट नहीं होता। यदि और संक्षेप किया जाय तो वस्तुत: कर्म दो ही प्रकार के हैं-लङ्घन और बृंहण। इन्हीं में सब कर्म समाविष्ट हो जाते हैं।[२]

*

१. आकाशगुणभूयिष्टं संशमनम्। (सु० सू० ४१.६)

२. दोषाणां बहुसंसर्गात् सङ्कीर्यन्ते ह्युपक्रमा:। षट्त्वं तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा।।
(च० सू० २२.४३)

चतुर्थ खण्ड

कल्प

PHARMACY

प्रथम अध्याय

द्रव्य-परिचय (Indentification of drugs)

लोक और शास्त्र में जितने द्रव्य प्रचलित हैं उन सबका सम्यक् परिचय प्राप्त करना एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यद्यपि शास्त्र में द्रव्यों के अनेक परिचय-ज्ञापक नाम भी निर्दिष्ट हैं जिनसे उनके परिचय में सहायता मिलती है तथापि समस्त द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त करना अतीव दुष्कर है। बिना प्रत्यक्ष परिचय के केवल शास्त्रीय वर्णन के आधार पर द्रव्यों का परिचय प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन है। महर्षियों ने उपदेश किया है कि जङ्गलों के जो निवासी हैं तथा गोपाल, तापस, व्याध आदि जो जङ्गलों में निरन्तर घूमने के कारण ओषधियों के निकट सम्पर्क में रहते हैं, उनसे ओषधियों का नाम एवं स्वरूप (परिचय) ज्ञात करना चाहिए।[१] धन्वन्तरि निघण्टु में कहा गया है कि द्रव्यों का परिचय तो उनके विशेषज्ञ वनवासियों से प्राप्त करना चाहिए किन्तु उनके गुणकर्म का निर्धारण अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग करने के बाद करना चाहिए।[२]

द्रव्यों के रूप-परिचय में नामज्ञान अत्यधिक सहायक होता है, अत एव प्राचीन आचार्यों ने द्रव्यों का परिचय पृथक् न लिख कर द्रव्यों के विभिन्न नामों के व्याज से उनका परिचय लिखा है। इसी कारण एक-एक द्रव्य के अनेक पर्यायवाचक शब्दों की सृष्टि हुई है। अतः द्रव्यों के नामकरण का आधार अवगत हो जाने पर द्रव्यों का परिचय बहुत कुछ सरल हो जायगा।

एक ही द्रव्य के अनेक संस्कृम नाम है और इनके अपभ्रंशरूप भी उसी के अनुसार विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रचलित हैं यथा वासा के संस्कृत नाम वासक और आटरूष हैं जिनके अपभ्रंशरूप 'बाकस' और 'अडूसा' क्रमशः भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों में प्रचलित हैं। उत्तर प्रदेश में भृङ्गराज का अपभ्रंश 'भाङ्गरा' तथा मध्यप्रदेश में 'मार्कव' का अपभ्रंश 'माका' प्रचलित है। दोनों एक

---

१. ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्याजपा वने। अविपाश्चैव [illegible]पाश्च ये चान्ये वनवासिनः।।
(च० सू० १.१२०)
गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः। मूलाह[illegible] ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते।
(सु० सू० ३६.१०)

२. तेभ्यः सकाशादुपलभ्य वैद्यः पश्चाच्च शास्त्रेषु विमृश[illegible]द्या।
विकल्पयेद् द्रव्यरसप्रभावान्विपाकवीर्याणि तथा प्रयो[illegible] (ध० नि० उप० ७)

ही वनस्पति के बोधक हैं। अत: द्रव्यों के स्थानीय नामों (जो शास्त्रीय संस्कृत नामों के ही अपभ्रंश होते हैं) से उनकी शास्त्रीय संज्ञाओं का निश्चय किया जाता है[१] यथा 'मयूरशिखा को आदिवासी 'माराजुट्टी' कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ होता है मयूरशिखा। इसी प्रकार वर्तमान युग में अनेक अज्ञात ओषधियों का स्वरूप निर्णय किया गया है यह ज्ञान तो और भी असन्दिग्ध और परिपुष्ट हो जाता है जब लोक में प्रचलित द्रव्य के प्रयोग शास्त्र में निर्दिष्ट प्रयोग से मिल जाते हैं।[२]

यह सब होने पर भी ये नाम इतने सामान्य लक्षणों पर आधारित हैं कि उनसे द्रव्यों के स्वरूप-निर्धारण एवं परिचय में बड़ा भ्रम उपस्थित हो जाता है यथा 'सदाफल' बिल्व, नारिकेल और उदुम्बर इन तीनों का नाम है अत: ऐसे स्थलों में विशिष्ट द्रव्य का ग्रहण करना अतीव कठिन हो जाता है यद्यपि प्रसङ्ग से कुछ सहायता मिल सकती है। अत: इनके परिचय का एक ठोस और स्थायी आधार होना चाहिए। आधुनिक वनस्पतिशास्त्र में सभी द्रव्यों को विभिन्न कुलों में बाँटकर उनका पृथक्-पृथक् रचनावैशिष्ट्य के आधार पर स्वरूप वर्णित किया गया है। उससे हमें आसानी से यह विदित हो जाता है कि अमुक द्रव्य इस कुल का है और इस द्रव्य का यह नाम है। आयुर्वेदीय द्रव्यों का भी बहुत कुछ निर्धारण इस आधार पर हो गया है, अत: द्रव्यों के परिचय के लिए उनकी वानस्पतिक विशेषताओं का भी अध्ययन अपेक्षित है। इससे द्रव्यपरिचय का कार्य सुकर और असन्दिग्ध हो जायगा। धन्वन्तरि निघण्टु में भी इसलिए 'जातिलिङ्गै:' शब्द पर विशेष बल दिया है। इसका अभिप्राय भी यही है कि जातिगत लक्षणों से द्रव्य-परिचय में सहायता लेनी चाहिए।

वास्तव में, वर्तमान युग में जब वानस्पतिक रचना का अध्ययन किया जाता है तब पर्यायों की उपयोगिता नहीं रह जाती प्रत्युत वे भ्रम ही उत्पन्न करते हैं। द्रव्यों की सन्दिग्धता बढ़ाने में पर्यायों की अहम भूमिका रही है। अत: प्रत्येक द्रव्य के लिए एक मूल संस्कृत नाम का प्रयोग होना चाहिए जैसे लैटिन नाम का होता है। ये दोनों ही विश्वजनीन स्तर के हैं यथा हरीतकी के परिचय के लिए 'हरीतकी' नाम ही पर्याप्त है। अभया आदि अनावश्यक हैं। 'टर्मिनेलिया चेबुला' से जैसे विश्व भर में जाना जाता है वैसे ही 'हरीतकी' नाम से। क्षेत्रीय

१. नाम श्रुतं केनचिदेकमेव तेनैव जानाति स भेषजं तु।
अन्यस्तथाऽन्येन तु वेत्ति नाम्ना तदेव चान्योऽथ परेण कश्चित्।।
बहून्यत: प्राकृतसंस्कृतानि नामानि विज्ञाय बहूँश्च पृष्ट्वा।
दृष्ट्वा च संस्पृश्य च जातिलिङ्गैर्विद्याद्भिषग्भेषजमादरेण।। (ध० नि० उप० १०-११)

२. वनौषधिशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् प्रो० बलवन्त सिंह जी ने इसी आधार पर अनेक सन्दिग्ध एवं अज्ञात ओषधियों का निर्णय किया है। प्रस्तुत लेखक ने भी इस शैली का अनुसरण कर अनेक द्रव्यों का निर्धारण किया है।

नामों में विभिन्नता हो सकती है किन्तु उपर्युक्त दोनों में नहीं। अत: सार्वभौम एकरूपता के लिए इन्हीं दो का प्रयोग वाञ्छनीय है।

देश-विभाग (Ecology)

ओषधि जिस देश में उत्पन्न होती है उसी के अनुसार गुणकर्म होते हैं, अत: द्रव्यों के परिचय तथा गुणकर्म-ज्ञान के लिए देश-विभाग का ज्ञान होना परमावश्यक है।[१] इससे ओषधि का उत्पत्तिस्थान (Place of origin), प्रचार (Distribution) और देशसात्म्य का ज्ञान होता है।

सामान्यत: देश के तीन विभाग किये गये हैं– आनूप, जाङ्गल और साधारण।[२]

आनूप देश

जिस देश में जल का आधिक्य हो, वृक्ष अधिक हों, वायु अधिक तीव्र न वहती हो तथा धूप भी कम और मृदु हो उसे 'आनूप देश' कहते हैं।[३] इस देश में रोग अधिक उत्पन्न होते हैं अत: यह निकृष्टतम माना गया है।[४] यहाँ पुरुष वातकफ-बहुल होते हैं और ओषधियाँ भी जलीय प्रदेश में होने वाली मिलती हैं यथा कदली आदि। रचना की दृष्टि से इसमें पत्तियों वाले वृक्ष होते हैं तथा वृक्षों की ऊंचाई अधिक नहीं होती।

जाङ्गल देश

जहाँ जल और वृक्ष कम हों, वायु अधिक तीव्र चलती हो, धूप भी अधिक तीक्ष्ण हो वह 'जाङ्गल देश' कहलाता है। इसमें वातपित्त-बहुल पुरुष होते हैं और वृक्ष भी धव, खदिर आदि कषायप्रधान मिलते हैं।[५] यहाँ रोग कम होते हैं अत:

१. तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा। (च० वि० ८.९३)
देश: पुन: स्थानं; स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे। (च० वि० १.२२(५)

२. त्रिविध: खलु देशो जाङ्गलोऽनूप:, साधारणश्चेति। (च० क० १.८)

३. प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातप:। अनूपो बहुदोषश्च।। (च० वि० ३.४८)
अथानूपो हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहन:... पवनकफप्रायो ज्ञेय:। (च० क० १.८)
....तत्र बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो ....कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूप:। (सु० सू० ३५.४२)

४. अनूपोऽहितदेशानाम्। (च० सू० २५.४०)

५. अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवात: प्रचुरातप:। ज्ञेय: स जाङ्गलो देश: स्वल्परोगतमोऽपि च।
(च० वि० ३.४७)
तत्र जाङ्गल: पर्याकाशभूयिष्ठ: ....वातपित्तबहुल:, स्थिरकठिनमनुष्यप्रायो ज्ञेय:।
(च० क० १.८)
आकाशसम: प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्राय: .... वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गल:।
(सु० सू० ३५.४२)

स्वास्थ्य की दृष्टि से यह देश सर्वोत्तम माना गया है।[१] रचना की दृष्टि से यहाँ वृक्ष ऐसे होते हैं जिनमें काँटे हों तथा पत्तियाँ कम और छोटी हों जिससे उनमें संचित जल का त्याग (Transpiration) न हो सके यथा बबूल, नागफनी आदि। वृक्षों की ऊँचाई भी अधिक होती है।

साधारण देश

जिस देश में जाङ्गल तथा आनूप दोनों देशों के लक्षण मिलते हों उसे साधारण कहते हैं। यहाँ वृक्ष दोनों देशों के होते हैं और पुरुष भी साधारण प्रकृति एवं स्वास्थ्य के होते हैं।[२]

संप्रति इन तीन भेदों को और उप-विभाजित कर देश के छः विभाग किये गये हैं–

१. जाङ्गल	(Forest)	-	वातप्रधान
२. पार्वत्य	(Hilly)	-	वातकफप्रधान
३. सैकत	(Arid)	-	वातपित्तप्रधान
४. सैन्धव	(Oceanic)	-	कफपित्तप्रधान
५. आनूप	(Sub-aquatic)	-	कफप्रधान
६. मध्य	(Central)	-	साधारण[३]

काल-विभाग

ओषधियाँ एक विशिष्ट काल में उत्पन्न होती हैं और विशिष्ट काल तक रहती हैं। उनका सङ्ग्रह भी विशिष्ट काल में किया जाता है अतः काल-विभाग का ज्ञान इस दृष्टि से आवश्यक है।

सुश्रुत ने काल का विभाग निम्नाङ्कित रूप में किया है[४]–

१. मरुभूमिरारोग्यदेशानाम्। (च० सू० २५.४०)

२. समः साधारणो मतः। (च० वि० ३.४८)
अनयोरेव द्वयोर्देशयोर्वीरुद्वनस्पतिवानस्पत्यशकुनिमृगगणयुतः स्थिरसुकुमारबलवर्ण-संहननोपपन्नसाधारणगुणयुक्तपुरुषः साधारणो ज्ञेयः। (च० क० २.८)
उभयदेशलक्षणः साधारण इति। (सु० सू० ३५.४२)

३. षोडशाङ्गहृदयम्। (१.९४-९६)

४. तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स द्विविधः–शुक्लः कृष्णश्च तौ मासः। तत्र माघादयो द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड्ऽतवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः। ...त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालप्रविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः; ... उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः। .... अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति। ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते। (सु० सू० ६.५-७,९)

१ अक्षिनिमेष = एक लघु अक्षर (अ आदि) के उच्चारण में जितना समय लगे-लगभग १/३ सेकण्ड
१५ अक्षिनिमेष = १ काष्ठा = लगभग ४।।। सेकण्ड
३० काष्ठा = १ कला = लगभग २ मिनट २२।। सेकण्ड
२० १/१० कला = १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट
३० मुहूर्त्त १ अहोरात्र (दिनरात) = २४ घण्टा = १४४० मिनट
१५ अहोरात्र = १ पक्ष; २ पक्ष = १ मास; २ मास = १ ऋतु;
३ ऋतु = १ अयन; २ अयन = १ वर्ष; ५ वर्ष = १ युग।

आधुनिक कालमान

६० सेकण्ड = १ मिनट २४ घण्टा = १ अहोरात्र
६० मिनट = १ घण्टा ३६५ अहोरात्र = १ वर्ष

ऋतुविभाग

सुश्रुत ने ऋतुओं का विभाग दो प्रकार से किया है– एक तो रसों और प्राणियों के बलाबल की दृष्टि से और दूसरा दोषों के प्रकोप और प्रशम की दृष्टि से। प्रथम ऋतुविभाग इस प्रकार किया गया है[१]–

मास	ऋतु	अयन
१. माघ-फाल्गुन	शिशिर	उत्तरायण
२. चैत्र-वैशाख	वसन्त	
३. ज्येष्ठ-आषाढ	ग्रीष्म	
४. श्रावण-भाद्रपद	वर्षा	दक्षिणायन
५. आश्विन-कार्तिक	शरत्	
६. मार्गशीर्ष-पौष	हेमन्त	

दूसरा ऋतु-विभाग निम्नाङ्कित प्रकार से किया है[२]–

१. .... षड्ऽतवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः; तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति। (सु० सू० ६.६)

२. इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऽतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तम्। ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः। तद्यथा–भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति। (सु० सू० ६.१०)

मास	ऋतु	मास	ऋतु
१. भाद्रपद-आश्विन	वर्षा	४. फाल्गुन-चैत्र	वसन्त
२. कार्त्तिक-मार्गशीर्ष	शरत्	५. वैशाख-ज्येष्ठ	ग्रीष्म
३. पौष-माघ	हेमन्त	६. आषाढ-श्रावण	प्रावृट्

शार्ङ्गधर ने सौर संक्रान्ति के अनुसार ऋतुओं का विभाग किया है[१]–

सौर राशि	ऋतु	सौर राशि	ऋतु
१. मेष-वृष	ग्रीष्म	४. तुला-वृश्चिक	शरत्
२. मिथुन-कर्क	प्रावृट्	५. धन-मकर	हेमन्त
३. सिंह-कन्या	वर्षा	६. कुम्भ-मीन	वसन्त

इसके अतिरिक्त, स्वरूप से भी ऋतुओं की पहचान होती है यथा असमय में भी होने वाली ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त ऋतुओं का निर्धारण क्रमशः उष्णता, वृष्टि और शैत्य से किया जाता है। वस्तुतः स्वरूप की दृष्टि से ऋतुओं के तीन ही विभाग हैं– शीत, उष्ण और वर्षा।[२] इन्हीं के दो-दो उपविभाग होकर छः ऋतुयें बनती हैं।

वृद्धवाग्भट का कथन है कि मास, राशि और स्वरूप ये ऋतुओं के जो तीन लक्षण निर्धारित किये गये हैं उनमें ऋतुचर्या की दृष्टि से उत्तरोत्तर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।[३]

रसानुसार ऋतुक्रम में शिशिर की गणना है जबकि दोषानुसार ऋतुक्रम में शिशिर को स्थान न देकर वर्षा के पूर्व प्रावृट् (प्रथमो वर्षाकालः) परिगणित है। इस सम्बन्ध में एक ऐसा भी विचार आया है कि भौगोलिक दृष्टि से जहाँ अधिक ठण्ढ होती है वहाँ शीत की दो ऋतुयें-हेमन्त और शिशिर और जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ वर्षा की दो ऋतुयें मानी गई हैं।[४] मेरे विचार से, ऋतुक्रम की जो उत्पत्ति रसानुसार और दोषानुसार की गई है वही युक्तियुक्त है। इनमें भी पहला सामान्य और दूसरा विशिष्ट प्रयोजन के लिए है।

*

१. ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तौ प्रावृण्मिथुनकर्कयोः। सिंहकन्ये स्मृता वर्षा तुलावृश्चिकयोः शरत्।। धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः। (शा० प्र० २.२५-२६)
२. शीतोष्णवर्षलक्षणाः (च० वि० ८.१२५; सु० सू० ६.७)
३. (अ० सं० सू० ४.६३)
४. (काश्यपसंहिता, उपोद्घात, पृ० ३७-३८)

द्वितीय अध्याय

द्रव्य का सङ्ग्रहण और भण्डारण

(Collection & storage of drugs)

संसार के सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं और आहार तथा औषध के रूप में उनका उपयोग भी पाञ्चभौतिक प्रयोजन को लक्ष्य में रख कर ही होता है इसलिए आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयोजनीय विषय नहीं है। ओषधियों (औद्भिद द्रव्यों) का उद्गम भूमि में होता है और उनका पोषण भी भूमिगत खनिज द्रव्यों से होता है, अतः उनकी जीवनचर्या और पाञ्चभौतिक विकास का साक्षात् सम्बन्ध भूमि से है। जाङ्गम द्रव्य भी जिन पशु-पक्षियों से प्राप्त किये जाते हैं वे भी अपने जीवन के लिए औद्भिद द्रव्यों पर निर्भर होते हैं, अतः उनका भी परम्परया भूमि से सम्बन्ध हो जाता है। भौम द्रव्य तो भूमि के अवयव ही हैं। इस प्रकार त्रिविध द्रव्यों का सम्बन्ध भूमि से होने के कारण उनका पाञ्चभौतिक सङ्घटन एवं गुणकर्म भूमि के पाञ्चभौतिक सङ्घटन पर आधारित होता है। अतः सर्वप्रथम इस दृष्टि से भूमि की परीक्षा आवश्यक है।

भूमि-परीक्षा

सभी द्रव्यों के समान भूमि भी पाञ्चभौतिक है किन्तु कहीं-कहीं पर किसी महाभूत का आधिक्य होता है और उसका व्यपदेश उसी के अनुसार होता है। इस प्रकार महाभूतों के उत्कर्ष के अनुसार भूमि पाँच प्रकार की होती है[१]–

१. **पार्थिव**– पथरीली, कड़ी और कृष्णवर्ण तथा मोटे वृक्षों और घासों से युक्त भूमि पार्थिव होती है।
२. **जलीय**– स्निग्ध, शीतल, जल के समीप, श्वेतवर्ण तथा स्निग्ध धान्य, तृण और कोमल वृक्षों से युक्त भूमि जलीय होती है।
३. **आग्नेय**– नानावर्ण, छोटे-छोटे पत्थरों वाली, अल्प, पाण्डुवर्ण वृक्ष और तृणों से युक्त भूमि आग्नेय होती है।

१. विशेषस्तु तत्र, अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽम्बुगुणभूयिष्ठा; नानावर्णा लघ्वश्मवति प्रविरलाल्पपाण्डुवृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा; रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनुवृक्षाऽल्परसकोटरवृक्षप्रायाऽनिलगुणभूयिष्ठा; मृद्वी समा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा। (सु० सू० ३६.४)

४. **वायव्य**– रूक्ष, भस्म या गदहे के रङ्ग की; पतले, रूक्ष, कोटरयुक्त तथा कम रसवाले वृक्षों से युक्त भूमि वायव्य होती है।

५. **आकाशीय**– मृदु, विषम, गढों से युक्त, फीके स्वाद के जल वाली, सर्वत्र साररहित वृक्षों से घिरी, महापर्वतयुक्त और श्यामवर्ण भूमि आकाशीय होती है।

पाञ्चभौतिक सङ्घटन के अतिरिक्त, द्रव्यों में रस की निष्पत्ति भी भूमि-सम्पर्क से ही होती है। ओषधियों का पोषण जल के द्वारा होता है। यह जल ओषधियों के मूल द्वारा भूमि से आकृष्ट होकर आता है और सिराओं वाला समस्त उद्भिद् में फैल जाता है। ओषधियों का मूल सदैव भूमि में स्थिर होकर एकाग्रभाव से जलपान का कार्य करता रहता है (इसलिए वृक्षों को 'पादप' कहा गया है)। जल में तो कोई रस व्यक्त नहीं होता किन्तु भूमि के सम्पर्क से उसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाती है[१] और वही रस उद्भिद् में सर्वांशत: व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार रस की दृष्टि से भूमि छ: प्रकार की होती है और इसी के अनुसार ओषधियों में छ: रसों का आधान होता है।[२]

प्रशस्त भूमि

सङ्ग्रहणीय ओषधियों के लिए प्रशस्त भूमि[३] कैसी होनी चाहिए इस पर भी आचार्यों ने विचार किया है।

बड़े गर्त्तों, कंकड़ों और वल्मीकों से रहित, समतल, श्मशान, वधस्थान, देवस्थान एवं बालुकाप्रदेश से दूर, क्षाररहित, आसानी से न टूटने वाली, जलाशय

१. अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निश्चयनिश्चितः। रसः स एव चाव्यक्तो व्यक्तो भूमिरसाद् भवेत्।। (सु० सू० ३६.१३)

२. गन्धवर्णरसोपेता षड्विधा भूमिरिष्यते। तस्माद् भूमिस्वभावेन बीजिनः षड्रसायुताः।। (सु० सू० ३६.१२)

३. श्वभ्रशर्कराश्मविषमवल्मीकश्मशानाघातनदेवतायतनसिकताभिरनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधग्रहणाय परिक्षेत। (सु० सू० ३६.३)
तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणोदके श्मशान-चैत्य-देवयजनागार-सभा-श्वभ्राराम-वल्मीकोषरविहरहिते कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते। (च० क० १.९)
धन्वे साधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ। श्मशानचैत्यायतनश्वभ्रवल्मीकवर्जिते।
मृदौ प्रदक्षिणजले कुशरोहिषसंस्तृते। अफालकृष्टेऽनाक्रान्ते पादपैर्बलवत्तरैः।
शस्यते भेषजं जातं, युक्तं वर्णरसादिभिः। (अ० ह० क० ६.१-२-)

के निकटवर्त्ती, स्निग्ध, तृणयुक्त, मृदु, स्थिर, कृष्ण, गौर या लाल वर्ण की भूमि प्रशस्त मानी गई है। चरक ने बतलाया है कि इस भूमि में हल नहीं चला हो (जोती न जाती हो) तथा ओषधियों के अतिरिक्त अन्य बड़े-बड़े वृक्ष न हों (जिससे उनके परिपाक मे बाधा पहुँचती हो)। यह भूमि साधारण या जाङ्गल देश की होनी चाहिए।

सङ्ग्रहणीय द्रव्य

सङ्ग्रहणीय द्रव्य का स्वरूप सामान्यत: इस प्रकार का होना चाहिए–

जो ओषधि कृमि, विष, शस्त्र, धूप, वायु, अग्नि तथा जल इनके सम्पर्क से विकृत न हो, अपवित्र और मलिन स्थान में उत्पन्न न हो, जिसकी जड़ मोटी तथा जमीन के भीतर गहरी गई हो, जो सम्पूर्ण रस, गुण, वर्ण, गन्ध और प्रमाण से युक्त हो, अनुकूल ऋतु में उत्पन्न हो तथा उत्तर दिशा में स्थित हो वही सङ्ग्रहणीय मानी गई है और उसी का प्रयोग चिकित्साकार्य में करना चाहिए।[१]

उत्तर दिशा में सम्भूत ओषधियाँ प्रशस्त मानी गई हैं इसके दो कारण हैं– एक तो यह कि आर्षग्रन्थों की रचना भारतवर्ष में हुई और इसके उत्तर में हिमालय पर्वत है जो ओषधि-भूमियों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है, अत: हिमालय में उत्पन्न ओषधियाँ अन्य भूमि में उत्पन्न ओषधियों की अपेक्षा उत्कृष्ट होती हैं। यहाँ उत्तर दिशा हिमालय की ओर सङ्केत करती है। दूसरा कारण उसका ज्योतिर्विद्या से सम्बन्ध रखता है। उत्तर दिशा के दिक्पाल चन्द्रमा बतलाये गये हैं जो ओषधियों के अधिपति माने गये हैं अत: उनके प्रदेश तथा संरक्षण में उत्पन्न ओषधियाँ अवश्य वीर्यवती होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सङ्ग्रह-विधि

ऐसी प्रशस्त भूमि में उत्पन्न प्रशस्त लक्षणों से युक्त द्रव्यों का सङ्ग्रह पवित्रता के साथ, श्वेत वस्त्र धारण कर, मङ्गलाचरण करके तथा देवता, अश्विनीकुमार, गौ एवं ब्राह्मणों का पूजन कर, शुद्ध मन से, श्रद्धापूर्वक पूर्व या

१. तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसम्बाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीत। (सु० सू० ३६.३)
तत्र यानि कालजातान्यागतसम्पूर्णप्रमाणरसवीर्यगन्धानि कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरसस्पर्शप्रभावाणि प्रत्यग्राण्युदीच्यां दिशि स्थितानि। (च० क० १.१०)
शस्यते भेषजं जातं, युक्तं वर्णरसादिभिः। जन्त्वजग्धं दवादग्धमविदग्धं च वैकृतैः।।
भूतैश्छायातपाम्ब्वाद्यैर्यथाकालं च सेवितम्। अवगाढमहामूलमुदीचीं दिशमाश्रितम्।।
(अ० ह० क० ६.३-४)

उत्तर की ओर मुँह करे।[१] यहाँ भी उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख ओषधियों के ग्रहण का जो विधान है उसमें भी उपर्युक्त रहस्य ही है। उत्तर दिशा के दिक्पाल चन्द्रमा तथा पूर्व दिशा के स्वामी सूर्य हैं जो ओषधियों में शक्तिसञ्चार करते हैं (सूर्यप्रकाश में ही उद्भिद् अपने भीतर शक्ति का सञ्चय करते हैं)। अधिकांश द्रव्यों का सङ्ग्रह, पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र में करने का निर्देश किया गया है, इसका रहस्य यह है कि चन्द्रमा ओषधीश हैं और पुष्य (कर्कराशि) तथा मृगशिरा के स्वामी होने के कारण उस काल में वह प्रबल रहते हैं अत: ओषधियों में रस का सञ्चार अधिक होता है। अश्विनीकुमार अश्विनी नक्षत्र के स्वामी हैं। अत: उसमें भी ओषधियाँ गुणवती होती हैं।

विशिष्ट सङ्ग्रह-काल

द्रव्यों के सङ्ग्रह के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जाता है–

(क) **प्रयोज्य अंग के अनुसार द्रव्य का सङ्ग्रह**– द्रव्यों के किस अङ्ग का संग्रह कब करना चाहिए इस विषय में सामान्य सिद्धान्त यही है कि जिस समय वह अङ्ग पूर्ण परिपक्व तथा विकास की चरम सीमा पर हो तभी उसका ग्रहण करना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से महर्षि चरक ने ओषधियों के अङ्गों का सङ्ग्रह विशिष्ट ऋतुओं में करने का उपदेश किया है[२] यथा–

अङ्ग	ऋतु
१. शाखा	वर्षा और वसन्त (जब विकास की प्रौढावस्था में हो)
२. पत्र	वर्षा और वसन्त (अतिजीर्ण नहीं– विशेषत: पुष्प खिलने और फल पकने के बीच में)
३. मूल	ग्रीष्म या शिशिर (जब पत्ते झड़ गये हों अथवा गिर कर नये निकले हों)
४. त्वक् ५. कन्द ६. क्षीर	शरद्

१. मङ्गलाचार: कल्याणवृत्त: शुचि: शुक्लवासा: सम्पूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवास: प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात्। (च० क० १.१०)
अथ कल्याणचरित: श्राद्ध: शुचिरुपोषित:।
गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत्।। (अ० हृ० क० ६.५)

२. तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षावसन्तयोर्ग्राह्यं, ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा शीर्णप्ररूढपर्णानां, शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि, हेमन्ते साराणि, यथर्तुपुष्पफलमिति। (च० क० १.१०)

७. सार (काण्ड का भीतरी ठोस भाग)	हेमन्त
८. पुष्प ९. फल	यथाऋतु (जिस ऋतु में पुष्प खिलें तथा फल परिपक्व हों उसमें)

राजनिघण्टुकार हेमन्त में कन्द, शिशिर में मूल, वसन्त में पुष्प, ग्रीष्म में पत्र एवं शरद् में पञ्चाङ्ग लेने का विधान करते हैं।[१] कुछ आचार्य प्रावृट्, वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमश: मूल, पत्र, त्वक्, क्षीर, सार और फल लेने का नियम करते हैं।[२]

इससे स्पष्ट है कि इस विषय में आचार्यों में ऐकमत्य नहीं था। इसका कारण यह है कि प्रत्येक ओषधि का उसकी प्रकृति और वीर्य की स्थिति के अनुसार सङ्ग्रह-काल भिन्न-भिन्न होता है। इसका ज्ञान गुरु-मुख से प्राप्त करना चाहिए और शेष का परीक्षण के द्वारा। चरक ने सामान्य परम्परा का प्रतिपादन किया है जिससे सामान्यत: व्यवहार होता है।

(ख) **वीर्य के अनुसार द्रव्य का सङ्ग्रह**– सुश्रुत ने वीर्य के अनुसार द्रव्यों के सङ्ग्रह का उपदेश किया है। उनका कथन है कि अङ्गों के अनुसार विभिन्न ऋतुओं में द्रव्य का सङ्ग्रह उचित नहीं क्योंकि सृष्टि अग्नीषोमीय है। कुछ द्रव्य तो आग्नेय (उष्णवीर्य) हैं और कुछ सौम्य (शीतवीर्य) हैं। इनका परिपाक और गुणाधान ऋतुओं पर उतना निर्भर नहीं जितना काल के आग्नेय और सौम्य स्वभाव पर निर्भर है। सौम्य द्रव्य के अङ्ग सौम्य होंगे और आग्नेय के आग्नेय होंगे, अत: उनके सङ्ग्रहकाल में भी भिन्नता होनी चाहिए। सारांश यह है कि सौम्य (शीतवीर्य) ओषधियाँ सौम्य ऋतुओं (विसर्गकाल) तथा सौम्य भूमि में उत्पन्न लेनी चाहिए। ऐसी लेने से इनमें मधुर, स्निग्ध, शीत आदि गुण विशिष्ट होते हैं। इस प्रकार आग्नेय (उष्णवीर्य) द्रव्य आग्नेय ऋतुओं (आदानकाल) में तथा आग्नेय भूमि में उत्पन्न लेने चाहिए। इससे उनमें कटु, रूक्ष, उष्ण आदि गुण अधिक होते हैं।[३] उष्णवीर्य द्रव्य विन्ध्यप्रदेश से तथा शीतवीर्य द्रव्य हिमालय प्रदेश से लेना चाहिए।[४]

१. कन्दं हिमर्तौ शिशिरे च मूलं पुष्पं वसन्ते फलदं वदन्ति।
प्रवालपत्राणि निदाघकाले स्यु: पञ्चजातानि शरत्प्रयोगे।। (रा० नि० भू० २.३४.४९)

२. अत्र केचिदाहुराचार्या:-प्रावृड्वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्-क्षीरसारफलान्याददीतेति। (सु० सू० ३६.५)

३. तत्तु न सम्यक्, कस्मात्? सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेयेषु, एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते। (सु० सू० ३६.५)

४. आग्नेया विन्ध्यशैलाद्या: सौम्यो हिमगिरिर्मत:। अतस्तदौषधानि स्युरनुरूपाणि हेतुभि:।।
(शा० प्र० १.५५)

(ग) **कर्म के अनुसार द्रव्य का सङ्ग्रह**– विरेचन द्रव्य पृथिवी-जल-भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न लेना चाहिए। इसी प्रकार वमन द्रव्य अग्नि-आकाश-वायु-भूयिष्ठ, उभयतो-भागहर उभयभूयिष्ठ तथा संशमन द्रव्य आकाश भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न लेना चाहिए। इससे उनका कर्म प्रबल होता है।[१]

शार्ङ्गधर का कथन है कि वमन और विरेचन के लिए द्रव्य वसन्त ऋतु के अन्त में लेने चाहिए। इनके अतिरिक्त अन्य कर्मों के लिए द्रव्यों का सङ्ग्रह शरद् ऋतु में और सरस अवस्था में करना चाहिए।[२]

विशिष्ट ओषधियों का सङ्ग्रह

कुछ द्रव्यों के सम्बन्ध में सङ्ग्रह की विशिष्ट विधि बतलाई गई है। उसका वर्णन द्रव्य-विवरण के प्रसङ्ग में यथास्थल देखें।

आहार-द्रव्यों का सङ्ग्रह

सुश्रुत ने अन्नपानविधि- अध्याय में कुछ आहारद्रव्यों के सङ्ग्रह का निर्देश किया है यथा–

१. **फल**– परिपक्व लेना चाहिए। यह देख लेना चाहिए कि वह न तो कच्चा हो और न अत्यधिक पक्व हो। बेल का फल इसका अपवाद है, वह कच्चे में ही अधिक गुणकारी एवं सङ्ग्रहणीय है। जो फल रुग्ण, कृमियुक्त, अकाल में उत्पन्न, शीत-अग्नि आदि से दूषित, दूषित भूमि में उत्पन्न हो वह ग्राह्य नहीं है।[३] सरस फल अधिक गुणकारी होते हैं किन्तु द्राक्षा, हरीतकी आदि का फल सूखा ही लिया जाता है।[४]

१. तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्याददीत, अग्न्याकाशमारुतगुण-भूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतो भागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं बलवत्तराणि भवन्ति। (सु० सू० ३६.६)

२. शरद्यखिलकार्यार्थं ग्राह्यं सरसमौषधम्। विरेकवमनार्थं च वसन्तान्ते समाहरेत्।।
(शा० प्र० १.५९)

३. फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम्। बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम्।।
व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकातीतमकालजम्। वर्जनीयं फलं सर्वमपर्याप्तमेव च।।
(सु० सू० ४६.२०९-२१०)
फलं हिमाग्निदुर्वातव्यालकीटादिदूषितम्। अकालजं कुभूमीजं पाकातीतं न भक्षयेत्।।
(भा० प्र० नि० आम्रा० १५३)

४. फलेषु सरसं यत्स्याद् गुणवत्तदुदाहृतम्। द्राक्षाबिल्वशिवाऽऽदीनां फलं शुष्कं गुणाधिकम्।।
(भा० प्र० नि० आम्रा० १५१-)

२. **शाक**– कड़ा, पुराना, कृमियुक्त, दूषित भूमि तथा अकाल में उत्पन्न, नीरस एवं शुष्क शाक (मूली को छोड़ कर) नहीं लेना चाहिए। इसके विपरीत लक्षणों से युक्त अर्थात् मृदु, ताजा, निर्दुष्ट, अनुकूल देशकाल में उत्पन्न, सरस शाक सङ्ग्रहणीय है।[१]

३. **कन्द**– कच्चा, अकालोत्पन्न, पुराना, रुग्ण, कृमियुक्त कन्द न लेना चाहिए। इसके विपरीत, परिपुष्ट, कालोत्पन्न, नया और निर्दुष्ट कन्द ग्राह्य है।[२]

४. **धान्य**– अतिशीत, अग्नि, उष्णता, दूषित वायु, सर्प-लाला आदि से दूषित, कृमियुक्त, जलमग्न, दूषित भूमि में उत्पन्न, अकाल में उत्पन्न, अन्य धान्य के साथ उत्पन्न, अति पुराना (हीनवीर्य) धान्य नहीं लेना चाहिए।[३] इसके विपरीत गुण वाला धान्य ग्राह्य है।

जाङ्गम द्रव्यों का सङ्ग्रह

जाङ्गम प्राणियों की प्रौढावस्था में उनके रक्त, रोम, नख आदि का सङ्ग्रह किया जाना चाहिए तथा उनका आहार जीर्ण होने पर (उदर रिक्त रहने पर) क्षीर, मूत्र एवं पुरीष का सङ्ग्रह करना चाहिए।[४]

द्रव्यों का भण्डारण (Storage)

द्रव्यों का सङ्ग्रह करने के अनन्तर उनका भण्डारण विधिपूर्वक होना चाहिए अन्यथा दूषित होने के कारण वे प्रयोग के योग्य नहीं रहेंगे। द्रव्यों को सङ्ग्रहीत करके उन्हें भेषजागार (Store-house) में जमीन से ऊपर किसी पात्र में अच्छी तरह ढँक कर रखना चाहिए जिससे अग्नि, जल, भाप, धुआँ, धूल तथा चूहे, चौपाये आदि जन्तुओं से उनका सम्पर्क न हो सके। पात्र ऐसे पदार्थ के बने होने चाहिए कि उनमें ओषध का रस, गुण आदि विकृत न होने पावे।[५]

१. कर्कशं परिजीर्णं च कृमिजुष्टमदेशजम्। वर्जयेत् पत्रशाकं तद्यदकालविरोहि च।।
(सु० सू० ४६.२९७)
त्यजेत्तथा पत्रशाकं रूक्षसिद्धमकोमलम्। असञ्जातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात्।।
(अ० सं० सू० ७.२०६)

२. बालं ह्यनार्तवं जीर्णं व्याधितं कृमिभक्षितम्। कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ् न रोहति।।
(सु० सू० ४६.३१२)

३. हिमानिलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम्। जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम्।।
अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽति च। धान्यं त्यजेत्। (अ० सु० सू० ७.२०४-२०५-)

४. जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम्। क्षीरमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारेषु संहरेत्।।
(सु० सू० ३६.१६)

५. गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्भाजने संस्थाप्यागारेषु प्रागुदग्द्वारेषु निवातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहारबलिकर्मवत्सु, अग्निसलिलोपस्वेदधूमरजोमूषिकचतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत्। (च० क० १.११)

भेषजागार (Store-house)

औषधद्रव्यों का भण्डारण भेषजागार में करने का विधान है, अत: भेषजागार का निर्माण इसी लक्ष्य के अनुरूप होना चाहिए। भेषजागार पवित्र स्वच्छ स्थान में, पूर्व या उत्तर की ओर द्वार वाला होना चाहिए। इसमें वायु का सञ्चार अनुकूल हो किन्तु अधिक झोंका न आता हो तथा निरन्तर पुष्पोपहार, गन्ध-धूप, बलिकर्म आदि से उसकी शुद्धि होती रहती हो। उसकी बनावट ऐसी हो कि अग्नि, धूप, वर्षा तथा जन्तुओं का उसमें प्रवेश न हो सके। उसमें वस्त्र के थैले, मिट्टी के भाण्ड, काष्ठफलक (काष्ठ के तख्ते) तथा शङ्कु (खूँटे) ओषध रखने के लिए बने होने चाहिए।[१]

भण्डारण की अवधि

सङ्ग्रहण, भण्डारण आदि में सतर्कता का प्रयोजन यही है कि द्रव्यों का कार्यकारी तत्त्व अधिक से अधिक सुरक्षित रहे और उसका अधिकाधिक कर्म पुरुष पर हो, किन्तु यह सब होने पर भी, सारी सतर्कता रखने पर भी, काल के प्रभाव से ओषधियों का कार्यकारी तत्त्व (वीर्य) नष्ट हो जाता है और उसके बाद उनके प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता। अत: द्रव्यों का भण्डारण कब तक करना चाहिए यह एक महत्त्वपूर्ण विचार है। सामान्यत: सुरक्षित ओषधि एक वर्ष तक कार्यकर होती है उसके बाद वीर्यहीन हो जाती है।[२] ओषधियों के विविध कल्प भी एक निश्चित अवधि के बाद निर्वीर्य हो जाते हैं, उसका वर्णन कल्पों के प्रकरण में देखें।

द्रव्यों के भण्डारण की सफलता वायु, ऋतु, पात्र एवं अवच्छादन (Packing) पर निर्भर होती है। सामान्यत: रूक्ष-शीत वायु, शीत ऋतु, अनुकूलपात्र एवं उत्तम अवच्छादन होने से ओषधियाँ चिरकाल तक वीर्यवती रहती हैं। इसके विपरीत, आर्द्र-उष्ण वायु, वर्षा ऋतु, अरक्षित पात्र एवं अवर अवच्छादन होने से ओषधि शीघ्र निर्वीर्य और विशीर्ण हो जाती है।

द्रव्यों का संरक्षण (Preservation)

भेषज-सङ्ग्रहालय के लिए औषधिद्रव्यों का संरक्षण करना पड़ता है जिससे वे चिरकाल तक वहाँ रक्खे और पहचाने जा सकें। इसकी दो विधियाँ हैं–

१. प्लोतमृद्भाण्डफलकशंकुविन्यस्तभेषजम्। प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते।।
(सु० सू० ३६.१७)
धूमवर्षानिलक्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते। ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौषधसङ्ग्रहम्।।
(सु० सू० ३८.८१)

२. गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम्। (शा० प्र० १.५१)

१. **शुष्क विधि** (Dry preservation)– इसमें औषधिद्रव्यों को सङ्ग्रहीत कर मसी-शोषक पत्रों के बीच दबा कर रक्खा जाता है जिससे उनका जलांश तो शोषित हो जाता है किन्तु उसका आकार ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि अच्छी तरह न सूखें तो थोड़ी धूप दिखा दें। सूख जाने पर उन्हें पृथक् चिकने कागजों पर लगा कर जिल्द बँधवा दें या शीशों में लगवा दें।

२. **आर्द्र विधि** (Wet preservation)– इसमें हरी ओषधि को पूर्णरूप में (पञ्चाङ्गसहित) फार्मेलिन के ५ से १० प्रतिशत विलयन में रख कर शीशे के आच्छादित पात्रों (Jars) में रख दिया जाता है। इससे द्रव्य वर्षों बिगड़ने नहीं पाते। बीच बीच में आवश्यकतानुसार विलयन बदलते रहें।

यह संरक्षण तो केवल प्रदर्शन के प्रयोजन को ही सिद्ध करता है क्योंकि इन ओषधियों का शरीर पर प्रयोग नहीं हो सकता। उपयोज्य हरी औषधियों का संरक्षण यदि करना हो तो उन्हें काञ्जी, मधु, तैल या घृत में रख देना चाहिए। आजकल फल, शाक आदि ताजे द्रव्य वायुशून्य (Air-tight) डब्बों में सुरक्षित आते हैं।

*

तृतीय अध्याय

मान-परिभाषा

१. **मान की निरुक्ति**– जिसके द्वारा तौला या मापा जाय उसे 'मान' (Weights & measures) कहते हैं।[१]

२. **मानज्ञान का प्रयोजन**– बिना मान के द्रव्यों का प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि व्याधि-पुरुष आदि के विचार से उनकी विभिन्न मात्राओं की कल्पना करनी पड़ती है। औषध के विविध कल्पों में द्रव्यों का जो संयोग होता है वह भी एक नियत मान में होता है। इसके अतिरिक्त, रस, दोष आदि के सम्बन्ध में भी मान का विचार किया जाता है। अत: चिकित्सा-कार्य में भेषजप्रयोग के लिए मान का ज्ञान अत्यावश्यक है।[२]

३. **मान के प्रकार**– प्राचीन ग्रन्थों में मान तीन प्रकार का बतलाया गया है[३]–

१. **पौतव मान**– पदार्थों के भार का मान जो तुला से लिया जाता है उसे 'पौतव मान' (Measures of weight) कहते हैं।

२. **द्रुवय मान**– ठोस या द्रवपदार्थों के आयतन का जो नाप किया जाता है उसे 'द्रुवय मान' (Measures of volume or capacity) कहते हैं।

३. **पाय्य मान**– पदार्थों की लम्बाई आदि के नाप को 'पाय्य मान' (Measures of length) कहते हैं।

व्यवहार में 'आकृतिमान' भी प्रचलित है यथा '५०० आमलक-फल लेना है' यह आकृतिमान हुआ और 'एक प्रस्थ आमलक लेना है' यह 'तुलामान' हुआ। 'आकृतिमान' और 'तुलामान' शब्दों का प्रयोग टीकाकारों ने बहुश: किया है।

१. मीयतेऽनेनेति मानम्। (अ० को०, २.९.८५-व्याख्यासुधा)

२. न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित्। अत: प्रयोगकार्यार्थं मानमत्रोच्यते मया।।
(शा० प्र० १.१४-)
रसद्रव्यदोषविकारभेषजदेशकालबलशरीरसाराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसां मानमवहितमनसा यथावज्ज्ञेयं भवति भिषजा, रसादिमानज्ञानायत्तत्वात् क्रियाया:। न ह्यमानज्ञो रसादीनां भिषग् व्याधिनिग्रहसमर्थो भवति। (च० वि० १.३)

३. पाय्यं हस्तादिभिर्मानं द्रुवयं कुडवादिभि:। पौतवं तुलया। (वैजयन्ती)
'पौतव' के लिए 'यौतव' भी आया है– यौतवं द्रुवयं पाय्यमिति मानार्थकं त्रयम्।
मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थै:। (अ० को० २.९.८५)

पौतव मान

इसे 'तुलामान' भी कहते हैं। इस मान से पदार्थों के भार का ज्ञान किया जाता है।

सुश्रुत के मत से पौतव मान

सुश्रुत के मत से पौतव मान निम्नाङ्कित रूप में हैं[१]–

मध्यम प्रमाण के १२ धान्यमाषों (उड़दों) का १ सुवर्णमाषक होता है। १६ सुवर्णमाषकों[२] का १ सुवर्ण होता है। अथवा मध्यम प्रमाण के १९ निष्पावों (शिम्बीबीजों) का १ धरण होता है। २.५ धरणों का १ कर्ष होता है। इसके बाद उत्तरोत्तर चौगुना बढ़ाते जाने से पल, कुडव, प्रस्थ, आढक और द्रोण होते हैं। १०० पल की १ तुला एवं २० तुला का १ भार होता है। यह शुष्क द्रव्यों का मान बतलाया गया है। आर्द्र द्रव्यों का मान इससे द्विगुण हो जाता है।

आधुनिक प्रचलित मान से समन्वय करने पर यह निम्नाङ्कित प्रकार का होता है–

१ धान्यमाष = ६२.५ मि० ग्रा०
१२ धान्यमाष = १ सुवर्णमाषक = ७५० मि० ग्रा०
१६ सुवर्णमाषक = १ सुवर्ण = १२ ग्राम

दूसरे प्रकार से–

१ निष्पाव = २५० मि० ग्रा०
१९ निष्पाव = १ धरण = ४.७५ ग्रा०
२.५ धरण = १ कर्ष = ११ ग्रा० ८७.५ मि० ग्रा०

इस प्रकार कर्ष ११ ग्रा० ८७.५ मि० ग्रा० और सुवर्ण १२ ग्रा० का होता है ऐसा प्रतीत होता है कि सुवर्ण आदि धातुओं को तौलने के लिए सुवर्णमान तथा अन्न या अन्य द्रव्यों को तौलने के लिए धरणमान का प्रयोग सुश्रुतकाल में होता था। इसके आगे का मान दोनों में समान है यथा–

१. पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्याम:-तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमा: सुवर्णमाषक:, ते षोडश सुवर्णम्; अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्ष:; ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्त: पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पुन: पलशतं, ता: पुनर्विंशतिर्भार:; शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति।
(सु० चि० ३१.७)

२. प्राचीनकाल में अन्न, रजत, सुवर्ण, हीरक आदि तौलने के लिए पृथक्-पृथक् मान थे। सुवर्णमाषक सोना तौलने का मान है। इसका विवरण 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में देखिये।

४ कर्ष = १ पल = ४८ ग्रा० ४ आढक = १ द्रोण = १२ कि० २८८ ग्रा०
४ पल = १ कुडव = १९२ ग्रा० १०० पल = १ तुला = ४ कि० ८०० ग्रा०
४ कुडव = १ प्रस्थ = ७६८ ग्रा० २० तुला = १ भार = ९६ कि० ग्रा०
४ प्रस्थ = १ आढक = ३ कि० ७२ ग्रा०

चरक के मत से पौतव मान

चरक का पौतव मान 'वंशी' या 'ध्वंशी' से प्रारम्भ होता है। खिड़कियों से आती हुई सूर्यकिरण में जो उड़ते हुये धूल के कण दिखाई देते हैं उसे 'वंशी' या 'ध्वंशी' कहते हैं।[१]

६ वंशी	= १ मरीचि		
६ मरीचि	= १ सर्षप		
८ सर्षप	= १ रक्त सर्षप या १ तण्डुल		
२ तण्डुल	= १ धान्यमाष		
२ धान्यमाष	= १ यव	= ६२.५ मि० ग्रा०	
४ यव	= १ अण्डिका	= २५० मि० ग्रा०	
४ अण्डिका	= १ माषक	= १ ग्रा०	
३ माषक	= १ शाण	= ३ ग्रा०	
२ शाण	= १ कोल	= ६ ग्रा०	
२ कोल	= १ कर्ष	= १२ ग्रा०	
२ कर्ष	= १ शुक्ति	= २४ ग्रा०	
२ शुक्ति	= १ पल	= ४८ ग्रा०	
२ पल	= १ प्रसृत	= ९६ ग्रा०	
२ प्रसृत	= १ कुडव	= १९२ ग्रा०	

१. जालान्तरगतैर्भानुकरैर्वंशी विलोक्यते। षड् ध्वंश्यस्तु मरीचिः स्यात् षण्मरीच्यस्तु सर्षपः।।
अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम्। धान्यमाषो भवेदेको धान्यमाषद्वयं यवः।।
अण्डिका ते तु चत्वारस्ताश्चतस्रस्तु माषकः। हेमश्च धान्यकश्चोक्तो भवेच्छाणस्तु ते त्रयः।।
शाणौ द्वौ द्रंक्षणं विद्यात् कोलं बदरमेव च। विद्याद् द्वौ द्रंक्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च।।
द्वे सुवर्णे पलार्धं स्याच्छुक्तिरष्टमिका तथा। द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका।।
बिल्वं षोडशिका चाम्रं द्वे पले प्रसृतं विदुः। अष्टमानं तु विज्ञेयं कुडवौ द्वौ तु मानिका।।
पलं चतुर्गुणं विद्यादञ्जलिं कुडवं तथा।। चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम्।।
कंसश्चतुर्गुणो द्रोणश्चार्मणं नल्वणं च तत्। घटस्तु द्विगुणः शूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च।।
गोणीं शूर्पद्वयं विद्यात् खारीं भारं तथैव च। द्वात्रिंशतं वियानीयद् वाहं शूर्पाणि बुद्धिमान्।।
तुलां शतपलं विद्यात् परिमाणविशारदः।। (च० क० १२.८७-९७)

२ कुडव = १ मानिका = ३८४ ग्रा०
२ मानिका = १ प्रस्थ = ७६८ ग्रा०
४ प्रस्थ = १ आढक = ३ कि० ७२ ग्रा०
४ आढक = १ द्रोण = १२ कि० २८८ ग्रा०
२ द्रोण = १ शूर्प = २४ कि० ५७६ ग्रा०
२ शूर्प = १ खारी = ४९ कि० १५२ ग्रा०
३२ शूर्प = १ वाह = ७८६ कि० ४३२ ग्रा०
१०० पल = १ तुला = ४ कि० ८०० ग्रा०

शार्ङ्गधर के मत से पौतव मान

शार्ङ्गधर ने परमाणु से मान का प्रारम्भ किया है। चरकोक्त वंशी का १/३० भाग 'परमाणु' कहलाता है।[१]

३० परमाणु	= १ वंशी (त्रसरेणु)		
६ वंशी	= १ मरीचि		
६ मरीचि	= १ राजिका		
३ राजिका	= १ सर्षप		
८ सर्षप	= १ यव		
४ यव	= १ गुञ्जा (रक्तिका)	१२५ मि० ग्रा०	
६ रक्तिका	= १ माषक	= ७५० मि० ग्रा०	
४ माषक	= १ शाण	= ३ ग्रा०	
२ शाण	= १ कोल	= ६ ग्रा०	
२ कोल	= १ कर्ष	= १२ ग्रा०	

१. त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः। त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते।।
जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स कथ्यते।।
जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते। षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिस्तु राजिका।।
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः। यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम्।।
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधान्यकौ। माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते।।
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते। कोलद्वयं च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिका।।
स्यात् कर्षाभ्यामर्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा। शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका।।
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते। प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्धशरावकः।।
अष्टमानं स विज्ञेयः, कुडवाभ्यां च मानिका। शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः।।
शरावाभ्यां भवेत् प्रस्थश्चतुःप्रस्थैस्तथाढकम्। चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोन्मानौ।।
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकाः। शूर्पाभ्यां च भवेद् द्रोणी वाही गोणी च सा स्मृता।।
द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः। पलानां द्विसहस्रं च भार एकः प्रकीर्त्तितः।।
तुला पलशतं ज्ञेया सर्वत्रैवैष निश्चयः। (शा० प्र० १.१५-३१-)

२ कर्ष = १ शुक्ति = २४ ग्रा०
२ शुक्ति = १ पल = ४८ ग्रा०
२ पल = १ प्रसृति = ९६ ग्रा०
२ प्रसृति = १ कुडव = १९२ ग्रा०
२ कुडव = १ मानिका (शराव) = ३८४ ग्रा०
२ शराव = १ प्रस्थ = ७६८ ग्रा०
४ प्रस्थ = १ आढक = ३ कि० ७२ ग्रा०
४ आढक = १ द्रोण = १२ कि० २८८ ग्रा०
२ द्रोण = १ शूर्प = २४ कि० ५७६ ग्रा०
२ शूर्प = १ द्रोणी = ४९ कि० १५२ ग्रा०
४ द्रोणी = १ खारी = १९६ कि० ६०८ ग्रा०
२००० पल = १ भार = ९६ कि०
१०० पल = १ तुला = ४ कि० ८०० ग्रा०

शार्ङ्गधर ने मानों के सुखस्मरणार्थ एक चतुर्गुण-सूत्र दिया है जो निम्नलिखित है[१]–

४ माष = १ टङ्क (शाण)
४ टङ्क = १ अक्ष (कर्ष)
४ अक्ष = १ बिल्व (पल)
४ बिल्व = १ कुडव
४ कुडव = प्रस्थ
४ प्रस्थ = १ आढक
४ आढक = १ राशि (द्रोण)
४ राशि = १ द्रोणी
४ द्रोणी = १ खारी

मागध और कालिङ्ग मान

शार्ङ्गधर ने दो प्रकार का मान बतलाया है एक मागध और दूसरा कालिङ्ग। सम्भवत: क्रमश: मगध और कलिङ्ग प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण इसके नाम 'मागध' और 'कालिङ्ग' पड़ गये। मागध मान तो ऊपर दिया गया है, कालिङ्ग मान[२] नीचे दिया जाता है–

१२ गौरसर्षप = १ यव
२ यव = १ गुञ्जा
३ गुञ्जा = १ वल्ल
८ गुञ्जा = १ माष

१. माषटङ्काक्षबिल्वानि कुडव: प्रस्थमाढकम्। राशिर्द्रोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणा:।। (शा० प्र० १.३२-)

२. यवो द्वादशभिर्गौरसर्षपै: प्रोच्यते बुधै:। यवद्वयेन गुञ्जा स्यात् त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते।।
माषो गुञ्जाभिरष्टाभि: सप्तभिर्वा भवेत् क्वचित्। स्याच्चतुर्माषकै: शाण: स निष्कश्चटङ्क एव च।।
गद्याणो माषकै: षड्भि: कर्ष: स्याद्दशमाषक:। चतुष्कर्षै: पलं प्रोक्तं दशशाणमितं बुधै:।
चतुष्पलैश्च कुडवं प्रस्थाद्या: पूर्ववन्मता:।। (शा० प्र० १.३९-४२)

४ माष = १ शाण
६ माष = १ गद्याण
१० माष = १ कर्ष
४ कर्ष = १ पल
४ पल = १ कुडव

इसके आगे मागध मान ही के समान है। सम्भवत: मगध राजधानी होने के कारण 'मागध मान' कालिङ्ग मान की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है।[१]

चरक, सुश्रुत और शार्ङ्गधर के मतों का आधुनिक मत से समन्वय

यद्यपि आपातत: तीनों आचार्यों की मान-परिभाषा में अन्तर प्रतीत होता है किन्तु वस्तुत: ये सभी मान समान हैं यथा सुश्रुत और शार्ङ्गधर ६ रत्ती (७५० मि० ग्रा०) का १ माशा मानते हैं। अत: उनके मत में शाण ४ माशे अर्थात् २४ रत्ती (३ ग्रा०) का होता है। चरक ८ रत्ती का १ माशा मानते हैं किन्तु शाण ३ माशे का ही मानते हैं अत: उनका शाण भी २४ रत्ती (३ ग्रा०) का ही हो जाता है। इस प्रकार शाण तीनों के मत में समान (२४ रत्ती = ३ ग्रा०) हो जाता है। इसी प्रकार सुश्रुत तथा शार्ङ्गधर कर्ष १६ माशे का और चरक १२ माशे का मानते हैं, अत: सुश्रुत और शार्ङ्गधर का कर्ष ९६ रत्ती (१२ ग्रा०) तथा चरक का कर्ष भी ९६ रत्ती (१२ ग्रा०) का होता है। इस प्रकार तीनों का कर्ष भी समान (९६ रत्ती = १२ ग्रा०) हो जाता है। कोल भी तीनों के मत में (४८ रत्ती = ६ ग्रा०) का होता है। इसके ऊपर के मान भी तीनों के समान हैं।

सुश्रुत में धान्यमाष के पहले का मान नहीं मिलता है। सम्भव है, उस समय इससे छोटे मान की आवश्यकता न पड़ती हो। आगे जैसे-जैसे शास्त्र का विकास हुआ वैसे-वैसे छोटे मानों का आविष्कार होता गया क्योंकि रसों-भस्मों का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में किया जाता है।

दाशमिक पौतव मान (Metric system)

१ ग्राम = १ माशा
१ डेसीग्राम = १/१० ग्राम
१ सेन्टीग्राम = १/१०० ग्राम
१ मिलीग्राम = १/१००० ग्राम
१ डेकाग्राम = १० ग्राम
१ हेक्टोग्राम = १०० ग्राम
१ किलोग्राम = १००० ग्राम

१. कालिङ्गं मागधं चेति द्विविधं मानमुच्यते। कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठं मानं मानविदो विदु:।। (शा० प्र० १.४३-)

द्रवय मान (Measures of capacity-volume)

आयुर्वेदीय द्रवय मान

१ बिन्दु = तर्जनी अङ्गुली के दो पर्वों को द्रव पदार्थ में डुबोकर ऊँचा उठाने से गिरी हुई एक बूँद।[१]

८ बिन्दु = १ शाण ३२ बिन्दु = १ शुक्ति ६४ बिन्दु = १ पाणिशुक्ति

द्रव पदार्थ के कुडव का मान शार्ङ्गधर ने इस प्रकार लिखा है–

चार अङ्गुल चौड़े और चार अङ्गुल ऊँचे मिट्टी, लकड़ी, बाँस या लोहे आदि के पात्र में जितना द्रव आवे उसे कुडव कहते हैं। यह १९२ मि० लि० के बराबर होता है।

दाशमिक द्रवयमान (Metric system)

१ डेसी लिटर	=	१/१० लिटर
१ सेन्टी लिटर	=	१/१०० लिटर
१ मिली लिटर	=	१/१००० लिटर
१ डेका लिटर	=	१० लिटर
१ हेक्टो लिटर	=	१०० लिटर
१ किलो लिटर	=	१००० लिटर

पाय्यमान (Measures of length)

आयुर्वेद में पाय्यमान अङ्गुलि-प्रमाण पर आधारित है।

भारतीय पाय्यमान

१ अङ्गुलि = ८ यवों के मध्यभाग में सुई पिरोने से जो लम्बाई होती है वह लगभग १८७.५ से०मी०

१२ अङ्गुलि	=	१ बितस्ति (बित्ता) = २२.५ से० मी०
२१ अङ्गुलि	=	१ अरत्नि = ४१.२५ से० मी०
२ बितस्ति	=	१ हस्त (हाथ) ४५ से० मी०
व्याम	=	४ हाथ (६ फीट) १ मी० ८० से० मी०

१. प्रदेशिन्यंङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात्। यावत् पतत्यसौ बिन्दुः। (अ० हृ० सू० २०.९-)
प्रदेशिन्या निमग्ने द्वे पर्वणी निर्गतस्ततः। नस्यादिषु तु विज्ञेयो भिषग्भिर्बिन्दुसंज्ञितः।।
बिन्दुभिश्चाष्टभिः शाणः प्रोक्तश्चैव भिषक्तमैः। द्वात्रिंशद्बिन्दुभिश्चात्र शुक्तिश्चैव निगद्यते।।
द्वे शुक्ती पाणिशुक्तिश्च नस्यकर्मणि पूजिता। (वृद्धहारीत)
तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृताः प्रमथा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः।
(सु० चि० ४०.२८)

दाशमिक पाय्यमान (Metric system)

१ मीटर = ३९.३८ इञ्च
१ मिली मीटर = १/१००० मीटर
१ डेसी मीटर = १/१० मीटर
१ सेन्टी मीटर = १/१०० मीटर
१ डेका मीटर = १० मीटर
१ हेक्टो मीटर = १०० मीटर
१ किलो मीटर = १००० मीटर

तुलनात्मक स्वरूप

संप्रति व्यवहार में दाशमिक प्रणाली ही प्रचलित हो रही है। पौतव मान में व्यवहार के लिए १ ग्राम को १ माशा और १० ग्राम को १ तोला मानना चाहिए।

१ रत्ती १२५ मि० ग्रा० होगी। इसी प्रकार द्रुवय मान में १० मिली लिटर को १ तोला मानना चाहिए।

*

चतुर्थ अध्याय

द्रव्यों की अशुद्धियाँ और उनका शोधन

(Impurities of drugs and their purification)

मुख्यत: द्रव्य की अशुद्धियाँ तीन प्रकार की होती हैं-

१. **भौतिक** (Physical)- उद्भव स्थान से द्रव्य का सङ्ग्रह करने पर उसमें मिट्टी, बालू आदि का प्रभूत सम्पर्क रहता है। बाजार में दुकानों पर अरक्षित रूप में रखने से भी वे दूषित हो जाते हैं। आजकल अधिक लाभ के लिए अपद्रव्यों का मिश्रण (Adulteration) भी कर दिया जाता है। ये सब द्रव्य भी भौतिक अशुद्धियाँ हैं। इन्हें 'मल' दोष भी कहा गया है।

२. **रासायनिक** (Chemical)- यह अशुद्धि विशेषत: पार्थिव (खनिज) द्रव्यों में होती है। खान से निकलने के कारण उसमें भूमिगत अनेक धातुओं एवं तत्त्वों का सम्पर्क रहता है। यह द्रव्य की रासायनिक अशुद्धि कहलाती है। इसे 'वह्नि' दोष भी कहते हैं।

३. **सहज** (Natural)- कुछ द्रव्य सहज रूप में शरीर के लिए हानिकर होते हैं यथा- विष आदि। यह इनकी सहज अशुद्धि है और इस रूप में वे शरीर के लिए हानिकर होते हैं। इसे 'विष' दोष भी कहते हैं।

शोधन

द्रव्यगत अशुद्धियों के निवारण के लिए जो कर्म किया जाता है उसे 'शोधन' कहते हैं।[१]

शोधन का प्रयोजन

शरीर पर अभीष्ट कर्म सम्पादन करने के लिए द्रव्यों का नितान्त शुद्ध होना आवश्यक है। मूलरूप में सङ्ग्रह करने पर द्रव्य में अनेक अशुद्धियाँ होती हैं। इन अशुद्धियों के निवारण के बाद ही द्रव्य प्रयोग के योग्य बनता है अन्यथा उससे लाभ के बदले हानि ही होती है। कुछ द्रव्य इतने तीक्ष्ण होते हैं कि दोषों पर प्रभाव करने के साथ-साथ वे धातुओं को भी आक्रान्त करते हैं अत: ऐसे द्रव्यों की तीक्ष्णता कम करने के लिए इनका शोधन किया जाता है। अनेक विषाक्त द्रव्य भी इसी कारण शोधन के बाद शरीर के लिए उपयोगी बन जाते हैं।

१. शोधनं कर्म विज्ञेयं द्रव्यदोषनिवारणम्। गुणोत्कर्षप्रदञ्चापि गुणान्तरकरन्तथा।। (स्व०)

शोधन एक संस्कार है। संस्कार को प्राय: 'गुणान्तराधान' कहा जाता है किन्तु वह इतना ही नहीं है। इसके द्वारा वस्तुत: तीन कार्य सम्पादित होते हैं-

१. दोषों का निराकरण
२. सहज गुणों का उत्कर्ष
३. गुणान्तर का आधान

सारांश यह कि द्रव्य के पूर्वोक्त त्रिविध दोषों को दूर कर उसे शरीर के लिए प्रयोग योग्य बनाना ही शोधन का उद्देश्य है।

शोधन की सामान्य विधियाँ (General methods of purification)

द्रव्यों के शोधन के लिए सामान्यत: निम्नाङ्कित विधियाँ प्रयुक्त होती हैं-

१. **प्रक्षालन** (Washing)- जल के द्वारा प्रक्षालन करने से द्रव्य की मिट्टी, बालू आदि भौतिक अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं।

२. **चालन** (Sifting)- चलनी के द्वारा मिट्टी आदि के कण द्रव्य से पृथक् कर लिए जाते हैं।

३. **विलायन** (Elutriation)- द्रव्य को चूर्ण कर जल में घोल देते हैं। अविलेय स्थूल कण नीचे बैठ जाते हैं और सूक्ष्म विलेय द्रव्य को जल के साथ पृथक् कर लेते हैं।

४. **क्षरण** (Lixiviation)- इसमें विलेय द्रव्य को जल के साथ अविलेय द्रव्य से पृथक् कर अन्य पात्र में गरम कर सुखा लेते हैं।

५. **परिस्रवण** (Percolation)- इसमें विलेय द्रव्यों को निस्यन्दन (Filtration) के द्वारा अविलेय द्रव्यों से पृथक् करते हैं।

६. **सुराविलयन** (Maceration)- सुरा में विलेय द्रव्यों को सुरासार में मिला कर रख देते हैं विलेय द्रव्य सुरासार में घुल जाता है और अविलेय द्रव्य पात्र के तल में 'जगल' (Marc) के रूप में बैठ जाता है।

७. **पृथक्करण** (Dialysis)- इसमें विशद (Crystalloids) और पिच्छिल (Colloids) द्रव्यों को जान्तव कला के द्वारा पृथक् कर दिया जाता है।

८. **निर्मलीकरण** (Despumation)- इससे सेन्द्रिय द्रव पदार्थ को उबाला जाता है और उसमें जो झाग ऊपर आते हैं उनको हटाते जाते हैं। इससे उसकी अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं। पानक आदि के निर्माण में यह विधि उपयुक्त होती है।

९. **विवर्णीकरण** (Decoloration)- द्रव्यों का सत्त्व निकालते समय उनके अन्य रञ्जक द्रव्य आदि सहचारी पदार्थों को पृथक् करना पड़ता है। सर्वप्रथम इसके

विलयन को उपशोषण (कोयला आदि) द्रव्यों के चूर्ण के सम्पर्क में रक्खा जाता है और बाद में फिर निस्यन्दन किया जाता है।

१०. **स्वेदन** (Boiling)– किसी द्रव पदार्थ (ओषधि-स्वरस, गोमूत्र आदि) में द्रव्य को डुबो कर कुछ देर तक उबाला जाता है, इसे 'स्वेदन' कहते हैं। इससे भौतिक, रासायनिक एवं सहज ये तीनों दोष दूर होते हैं। द्रव्यों के शोधन में यह विधि बहुशः प्रयुक्त होती है।

११. **मर्दन** (Rubbing)– द्रव्य को अकेले या कोई द्रव पदार्थ मिलाकर घोंटते हैं, इसे 'मर्दन' कहते हैं। इससे मुख्यतः रासायनिक और सहज दोष दूर होते हैं।

१२. **निर्वापण** (Dipping)– द्रव्य को आग में गरम कर किसी द्रव पदार्थ में बुझाते हैं। इससे सहसा भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होने से द्रव्य के अनेक भौतिक एवं रासायनिक मल पृथक् हो जाते हैं। यह विधि विशेषतः धातुओं के शोधन में काम आती है।

१३. **पातन** (Sublimation)– उड़नशील द्रव्यों को पातन के द्वारा अन्य द्रव्यों से पृथक् करते हैं। यह विधि पारद, कर्पूर, गन्धक आदि उड़नशील द्रव्यों के शोधन में प्रयुक्त होती है।

विशिष्ट द्रव्यों का शोधन

यहाँ कुछ विशिष्ट द्रव्यों की शोधन विधि बतलाई जाती है–

१. **गुग्गुलु**– गुग्गुलु जो बाजार में मिलता है। उसमें बालू, पत्थर तथा लकड़ी के टुकड़े मिले रहते हैं। सर्वप्रथम इनको चुनकर अलग कर लेना चाहिए। उसके बाद एक प्रहर तक चौगने गोदुग्ध में स्वेदन करे। इस विधि से गुग्गुलु में मृदुता आ जाती है तथा गोदुग्ध के सम्पर्क से उसकी उष्णता और तीक्ष्णता कम हो जाती है जिससे प्रयोग करने पर वह पित्त को नहीं बढ़ाता।

२. **वत्सनाभ**– वत्सनाभ के छोटे-छोटे चने के बराबर टुकड़े बनाकर किसी मिट्टी या पत्थर के पात्र में गोमूत्र भर कर उसमें डुबो दे और तीक्ष्ण धूप में रख, प्रतिदिन गोमूत्र बदलता रहे। इस प्रकार तीन दिन तक रखने के बाद (जब वह कोमल हो जावे) उसकी त्वचा अलग कर धूप में सुखा ले। इससे इसका विष प्रभाव कम हो जाता है। इसकी तीक्ष्णता दूर करने के लिए गोदुग्ध और बकरी के दूध में स्वेदन भी किया जाता है।

३. **कुपीलु**– कुचले के बीजों को पोटली में रख कर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करे। उसके बाद ऊपर का छिलका हटा कर घृत में भून ले और चूर्ण कर रख ले। गोदुग्ध और घृत के संस्कार से उसकी तीक्ष्णता दूर हो जाती है।

४. **अहिफेन**– अदरख के रस में इक्कीस भावना देने से अहिफेन शुद्ध हो जाता है। इसके पूर्व अफीम को पानी में घोल कर कपड़े से छान हलकी आँच पर गाढ़ा कर लेना चाहिए। इससे इसकी भौतिक अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं। इसके बाद भावना देनी चाहिए।

५. **जयपाल**– जयपाल के बीजों का छिलका हटा कर उन्हें फोड़ ले और भीतर दोनों दलों के बीच में स्थित हरितवर्ण जिह्वा-सदृश भाग को पृथक् कर ले। इसके बाद गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करे। इस प्रकार तीन बार स्वेदन करने से जयपाल शुद्ध हो जाता है।

६. **धत्तूर**– धत्तूर के बीज एक प्रहर तक गोदुग्ध में स्वेदन कर गरम जल से धोने के बाद शुद्ध हो जाते हैं।

७. **विजया**– भाँग के पत्तों की पानी से खूब धोकर गोघृत में हल्की आँच पर भूनने से शुद्धि हो जाती है।

८. **गुञ्जा**– गुञ्जा के बीजों का चूर्ण कर १-२ प्रहर तक गोदुग्ध या काञ्जी में स्वेदन करने से शोधन हो जाता है।

९. **भल्लातक**– भल्लातक अतितीक्ष्ण होता है। इसके स्पर्शमात्र से शरीर में दाह, शोथ एवं व्रण हो जाते हैं, अतः इसके सम्यक् शोधन पर ध्यान देना आवश्यक है।

भल्लातक के फलों के वृन्तभाग को काट कर ईंट के चूर्ण में गाड़ कर रख दे। सात दिनों के बाद निकाल कर खूब रगड़े और गरम पानी से धो दे। इस प्रकार भल्लातक शुद्ध हो जाता है। इस विधि से भल्लातक का कुछ तैलांश एवं तीक्ष्ण भाग ईंट के चूर्ण में शोषित हो जाता है जिससे हानिकर प्रभाव कम हो जाता है।

१०. **स्नुहीक्षीर**– दो पल (८० ग्रा०) स्नुहीक्षीर २० मि० ली० इमली के पत्रस्वरस में मिला कर धूप में रखे दे और सूखने पर इकट्ठा कर ले।

११. **रक्तचित्रक**– रक्तचित्रक के मूल को चूर्णोदक में डुबो कर धूप में सुखा ले। इससे शुद्ध हो जाता है।

१२. **हिंगु**– समभाग घी में भूनने से हींग शुद्ध हो जाती है। इससे हींग की उष्णता एवं विदाह कम हो जाता है।

१३. **पारद**– पारद को समान भाग चूने के साथ तीन दिनों तक मर्दन करे। तत्पश्चात् दोहरे वस्त्र से छान कर खरल में रक्खे और उसमें समान भाग निस्तुष (छिलके बिना) लशुन का कल्क और आधा भाग सैन्धव लवण देकर मर्दन करे। जब कल्क कृष्णवर्ण हो जाय तो उसे धोकर रख लेते हैं। कल्क को यदि ऊर्ध्वपातन यन्त्र में रख कर पारद को उड़ा दिया जाय तो उत्तम पारद प्राप्त होता है।

१४. **गन्धक**– एक कलछी में गन्धक के समान भाग घी लेकर गर्म करे, जब खूब गरम हो जाय तब उसमें गन्धक का चूर्ण डाल दे। गन्धक पिघलने पर उसे वस्त्राच्छादित दुग्ध से भरे पात्र पर डाल दे। गन्धक दुग्ध के तल में जम जायगा। इस प्रकार तीन बार करने से गन्धक शुद्ध हो जाता है। इस विधि से गन्धक की गन्ध भी दूर हो जाती है और तीक्ष्णता भी कम हो जाती है। डमरू-यन्त्र में गरम करने से ऊर्ध्व पातित गन्धक अत्युत्तम और दोषरहित होता है।

१५. **हिङ्गुल**– हिङ्गुल का महीन चूर्ण कर नींबू के रस से सात भावना दे और उसके बाद पानी से खूब धोकर धूप में सूखा दे। इससे हिङ्गुल शुद्ध हो जाता है।

१६. **शङ्खविष-शोधन**– करैले के रस में दो प्रहर तक स्वेदन करने से शंखिया शुद्ध हो जाता है।

१७. **धातुओं का सामान्य शोधन**– धातु के छोटे-छोटे टुकड़ों को आग में खूब तपा कर तिलतैल, तक्र, गोमूत्र, कुलत्थ-कषाय तथा काञ्जी में तीन-तीन बार बुझाने से शुद्धि हो जाती है।

१८. **रत्नों का सामान्य शोधन**– जयन्ती-पत्रस्वरस में एक प्रहर तक स्वेदन करने से रत्नों की शुद्धि हो जाती है।

*

पञ्चम अध्याय

भैषज्यकल्पना (Pharmacy)

द्रव्यों का एकल अथवा योगों के रूप में प्रयोग किया जाता है। रोगी एवं रोग की प्रकृति तथा बल आदि का विचार करते हुए उनका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में किया जाता है। द्रव्यों का यह रूपान्तरण भैषज्यकल्पना का विषय है। द्रव्यों के प्रयोग एवं गुणकर्माधान से इसका सम्बन्ध होने के कारण यह द्रव्यगुणशास्त्र का ही एक अङ्ग है।

भेषज-निर्माणशाला

निर्माणशाला ऐसे रम्य स्थान में होनी चाहिए जहाँ सभी ओषधियाँ सुविधा से प्राप्त हों, कूप आदि जल के साधन उपलब्ध हों तथा सभी प्रकार (वायु, वर्षा, अग्नि, जन्तु आदि) की बाधाओं से रहित हो। यह निवासस्थान के उत्तर, पूर्व या ईशान दिशा में स्थित हो तथा चारों ओर चहारदीवारी से घिरा हो। इसमें औषधनिर्माण के सब उपकरण भी प्रस्तुत हों।[१]

निर्माणशाला के उपकरण

अनेक प्रकार के खरल, शिला, मुशल, उलूखल, स्वेदन-पातन आदि विविध यन्त्र, विभिन्न पुट और मूषायें, चालनी, तुला, सरौता, चाकू, चम्मच, कलछी, मिट्टी एवं धातु के अनेक छोटे बड़े पात्र, चूल्हा, ईंधन, चिमटा, पङ्खा, हथौड़ा, कैंची आदि निर्माणशाला के मुख्य उपकरण हैं।[२]

---

१. रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिते। सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते।।
यक्षत्र्यक्षसहस्राक्षदिग्विभागे सुशोभने। नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम्।।
(र० र० स० ७.१-२)

२. पदार्थसङ्ग्रहः कार्यो रससाधनहेतुकः। सत्त्वपातनकोष्ठीं च सुराकोष्ठीं सुशोभनाम्।।
भूमिकोष्ठीं चलत्कोष्ठीं जलद्रोण्योऽप्यनेकशः। भस्त्रिकायुगलं तद्वन्नलिके वंशलोहयोः।।
स्वर्णायोघोषशुल्वाश्मकुंड्यश्चर्मकृतां तथा। करणानि विचित्राणि द्रव्याण्यपि समाहरेत्।।
कण्डणी पेषणी स्वल्पा द्रोणीरूपाश्च वर्तुलाः। आयसास्तप्तखल्वाश्च मर्दकाश्च तथाविधाः।।
सूक्ष्मच्छिद्रसहस्राढ्या द्रव्यगालनहेतवे। चालनी च कटत्राणि शलाका हि च कुण्डली।।
मूषामृत्तुषकार्पासवनोपलकपिष्टकम्। त्रिविधं भेषजं धातुजीवमूलमयं तथा।।
शिखित्रा गोवरं चैव शर्करा च सितोपला। काचायोमृद्वराटानां कूपिका चषकाणि च।।
(र० र० स० ७.५-१२)
चरकसंहिता के उपकल्पनीय (सू० १५) अध्याय में परिगणित उपकरणों में भी अनेक भैषज्यकल्पना में उपयोगी हैं।

कल्प (Pharmaceutical preparations)

जिन रूपों में द्रव्य का प्रयोग होता है उन्हें 'कल्प' कहते हैं। इन सब का परिगणन कर सकना सम्भव नहीं तथापि वर्णन की सुविधा के लिए उन्हें निम्नाङ्कित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

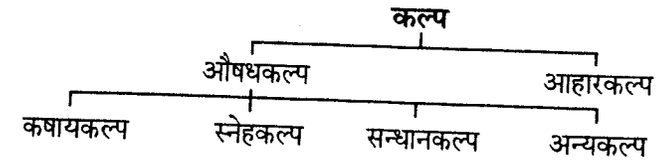

कषाय-कल्प

पाँच प्रकार के कषाय-कल्प बतलाये गये हैं-स्वरस, कल्क, शृत (क्वाथ), शीत (हिम) और फाण्ट।[१] ये पाँचों कषाय पाँच रसवाले द्रव्यों से बनते हैं जिन्हें 'कषाययोनि' कहते हैं। लवण रस को छोड़ कर बाकी पाँच रस कषाययोनि कहलाते हैं यथा मधुर कषाय, अम्ल कषाय, कटु कषाय, तिक्त कषाय और कषाय कषाय।[२] लवण रस से उपर्युक्त पाँच कल्पों में से कोई भी कल्प निष्पन्न नहीं हो सकता, अतः उसे कषाययोनि में नहीं रक्खा गया।

ये स्वरस आदि पाँच प्रकार के कल्प द्रव्यों के प्रधान और मौलिक कल्प हैं। स्नेह, सन्धान आदि अन्य कल्प इन्हीं के द्वारा बनते हैं। इन कषायकल्पों का उपयोग चिकित्सा में होता है किन्तु इनका सर्वत्र समान रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि इनके बल में अन्तर होता है। ये कल्प यथापूर्व (फाण्ट से शीत, शीत से क्वाथ इस प्रकार) बलवान् और गुरु होते हैं इसलिए इनका प्रयोग रोगी और रोग के बल आदि के अनुसार किया जाता है।[३] यदि रोगी बलवान्, रोग गम्भीर तथा रोगी की अग्नि ठीक है तब गुरु कल्पों का अन्यथा लघु कल्पों का प्रयोग करना चाहिए।

१. पञ्चविधं कषायकल्पनमिति, तद्यथा–स्वरसः, कल्कः, शृतः, शीतः, फाण्टः, कषाय इति। (च० सू० ४.७)

२. पञ्च कषाययोनय इति मधुरकषायः, अम्लकषायः, कटुकषायः, तिक्तकषायः, कषायकषायश्च इति तन्त्रे संज्ञा। (च० सू० ४.६)
कषाययोनयः पञ्च रसा लवणवर्जिताः। (अ० हृ० क० ६.८)

३. तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्; अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी; न त्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति। (च० सू० ४.७)
अथातः स्वरसः कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ। ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम्।। (शा० म० १.१)

द्रव्य के स्वरूप पर भी कल्पों का प्रकार निर्भर होता है। यदि द्रव्य आर्द्रावस्था में हो तो स्वरस अन्यथा क्वाथ आदि किया जाता है। कल्पों के चुनाव में द्रव्यगत वीर्य के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक होता है। यदि द्रव्य का वीर्य पार्थिवांश में अधिक है तो उसका चूर्ण, यदि पार्थिवांश और जलीयांश दोनों में है तो कल्क बनाया जाता है। यदि केवल उसके जलीयांश में है तो स्वरस लिया जाता है। कटु तथा सुगन्धि द्रव्य जिनका वीर्य वायव्य और तैजस अंश में रहता है, क्वाथ कल्प में प्रयुक्त होने पर कर्मकर नहीं होते कारण कि क्वाथ करते समय उनका वीर्य वायव्य और तैजस होने से उड़ जाता है। अतः ऐसे द्रव्यों का चूर्ण, कल्क, हिम, फाण्ट या अर्क बनाना चाहिए। कई द्रव्यों के गुणोत्कर्ष एवं दोषनिवारण के लिए उनका क्षीरपाक किया जाता है यथा अर्जुन के कषाय एवं रौक्ष्य और लशुन एवं भल्लातक की तीक्ष्णता को दूर करने के लिए उनका क्षीरपाक किया जाता है।

१. **स्वरस** (Expressed juice)

द्रव्य को किसी यन्त्र (या हाथ) के द्वारा (पीस और निचोड़ कर) जो रस निकाला जाता है वह 'स्वरस' कहलाता है।[१] स्वरस बनाने के लिए ताजी और उत्तम वनस्पति ली जाती है।[२] यदि द्रव्य सूखा हो तो द्रव्य को चूर्ण कर समान भाग जल में २४ घण्टे तक छोड़ देते हैं उसके बाद मसल-छानकर स्वरस के स्थान पर प्रयोग करते हैं।[३] वासा, नीम आदि कुछ द्रव्यों को यों ही पीसने से रस ठीक नहीं निकलता उनका स्वरस पुटपाक करके निकालते हैं। स्वरस-कल्प शीघ्र खराब हो जाता है।

स्वरस में प्रक्षेप-द्रव्यों का मान– स्वरस में आवश्यकतानुसार घृत, मधु आदि द्रव्य मिला कर प्रयोग किया जाता है। इन्हें २० मि० लि० स्वरस में ५ ग्रा० के मान में डाले। लवण, क्षार तथा द्रव्यों के चूर्ण रोग और रोगी का बलाबल देखकर डाले जाते हैं।

स्वरस की मात्रा– गुरु होने के कारण स्वरस की मात्रा आधा पल (२० मि० लि०) होनी चाहिए। सूखे द्रव्यों का जो स्वरस बनाया जाता है उसकी मात्रा

१. यन्त्रनिष्पीडिताद्द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते। (च० सू० ४.७)

२. अहतात् तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात् क्षुण्णात् समुद्धरेत्। वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते।। (शा० म० १.२)

३. स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः– चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत् प्रयोज्यम्। (च० चि० १.२.१२)

१ पल (४० मि० लि०) होनी चाहिए। तीक्ष्ण द्रव्यों के स्वरस की मात्रा और भी कम (५-१० मि० लि०) होनी चाहिए।[१]

स्वरस का प्रयोग– स्वरस गुरु एवं प्रबल होता है अत: इसका प्रयोग वहीं होता है जहाँ रोगी और रोग बलवान् हों। गुरु होने से इसका पाचन भी देर से होता है अत: अग्नि मन्द रहने पर इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

औषधों के गुणोत्कर्ष एवं दोषनिवारण के लिए भी स्वरस का प्रयोग भावना के रूप में किया जाता है।[२] अनुपान के रूप में भी स्वरस का प्रयोग होता है।

२. कल्क (Paste)

किसी द्रव पदार्थ में पीसे हुए द्रव्य के पिण्ड को 'कल्क' कहते हैं। आर्द्र द्रव्य तो स्वयं रसमय होने के कारण पिस जाते हैं किन्तु शुष्क द्रव्यों में जल आदि द्रवपदार्थ देने की आवश्यकता होती है।[३]

प्रक्षेप-मान– कल्क में यदि मधु, घृत या तेल मिलाना हो तो उससे द्विगुण मात्रा में मिलाना चाहिए। इसी प्रकार चीनी और गुड़ कल्क के समान भाग तथा द्रव पदार्थ चौगुना लेना चाहिए।[४]

मात्रा– सामान्यत: कल्क की मात्रा १० ग्रा० है किन्तु यदि औषध तीक्ष्णवीर्य हो तो २.५-५ ग्रा० लेनी चाहिए।[५]

चूर्ण (Powder)

अत्यन्त शुष्क द्रव्य को कूट-पीस कर धूल के समान जो कल्प बनाया जाता है उसे 'चूर्ण' कहते हैं। 'रज' और 'क्षोद' इसके पर्याय हैं। यह भी कल्क का ही एक प्रकार है।[६]

---

१. स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्द्धं प्रयोजयेत्। नि:शोषितं चापि सिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत्।। (प० प्र० २.७)

२. भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनै:। सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद् बहुकर्मकृत्।। (च० क० १२.४७)

३. य: पिण्डो रसपिष्टानां कल्क: स परिकीर्तित:। (च० सू० ४.७)।
द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्। प्रक्षेपावापकल्कास्ते। (शा० म० ५.१)

४. कल्के मधु घृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया। सितागुडौ समौ दद्याद् द्रवा देयाश्चतुर्गुणा:।। (शा० म० ५.२)

५. तन्मानं कर्षसंमितम्। (शा० म० ५.१)

६. शुष्कपिष्ट: सूक्ष्मतान्तवपटच्युतश्चूर्ण:। तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाप्लुतोपयोगाच्च कल्कादभेद:। (अ० सं० क० ८.१०)
अत्यन्तशुष्कं यद्द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम्। तत् स्याच्चूर्णं रज: क्षोद:। (शा० म० ६.१)

प्रक्षेप मान– चूर्ण में यदि प्रक्षेप का विधान हो तो गुड़ समान मात्रा; चीनी, घी, मधु और तैल द्विगुण मात्रा तथा जल आदि द्रवपदार्थ चतुर्गुण मात्रा में लेना चाहिए।[१]

मात्रा– चूर्ण की सामान्य मात्रा ५ ग्रा० की है। तीक्ष्ण-वीर्य औषधों का चूर्ण १.२५-२.५ ग्रा० की मात्रा में देना चाहिए।

भावना-विधि– यदि चूर्ण में किसी द्रव पदार्थ की भावना देनी हो तो उसमें इतना द्रव पदार्थ देना चाहिए जिसमें सारा चूर्ण गीला हो जाय।[२]

३. शृत या क्वाथ (Decoction)

द्रव्य को जल के साथ आग पर उबाल कर जो कल्प प्रस्तुत किया जाता है वह शृत (क्वाथ) कहलाता है।[३] द्रव्य के छोटे-छोटे टुकड़े कर कलई किये ताम्र, लौह या मिट्टी के बर्तन में यथेष्ट जल देकर मन्द आँच पर उबाले।[४]

जल का प्रमाण– क्वाथ बनाने के लिए किस द्रव्य में कितना जल दिया जाय और कितना अवशिष्ट रक्खा जाय इसका सामान्य सिद्धान्त तो यही है कि जितने जल में जितनी देर तक उबालने से द्रव्य का सम्पूर्ण सार भाग आ जाय (इसे वीर्यसंक्रान्ति कहते हैं)[५] उतना ही जल उसमें दिया जाय और उसी के अनुसार अवशिष्ट रक्खा जाय। अत: इसका निर्णय द्रव्य के स्वरूप एवं परिमाण पर निर्भर होता है। सामान्यत: मृदु और मध्यम द्रव्य में क्रमश: चार गुना और आठ गुना जल छोड़कर चतुर्थांश तथा कठिन द्रव्य में सोलहगुना जल छोड़कर अष्टमांश जल अवशिष्ट रखना चाहिए। यदि सब प्रकार के द्रव्य एकत्र मिले हों तो आठ गुना जल देकर चतुर्थांश जल अवशिष्ट रखना चाहिए। परिमाण की दृष्टि से, १० से

---

१. चूर्णे गुड: समो देय: शर्करा द्विगुणा भवेत्। लिह्याच्चूर्णं द्रवै: सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितै:।। पिबेच्चतुर्गुणैरेव चूर्णमालोडितं द्रवै:। (शा० म० ६.२-५)

२. द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत्। भावनाया: प्रमाणं तु चूर्णे प्रोक्तं भिषग्वरै:।। (शा० म० ६.६)

३. वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सका:। (च० सू० ४.७)

४. तत्रान्यतमपरिमाणसंमितानां...चतुर्भागावशिष्टं ..... निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायकल्प:। (सु० चि० ३१.८)
क्वाथो निर्यूह:। तत्र भेद्यान्यौषधान्यणुशो भेदयित्वा...मृदुना परित: समुपगच्छताऽनलेन साधयेत्। (अ० सं० क० ८.१०-११)

५. यह प्रक्रिया 'वीर्य संक्रान्ति' या 'वीर्यकृष्टि' कहलाती है। वीर्य निकल जाने के बाद द्रव्य 'गतरस' हो जाता है। गतरसत्व ही क्वाथ की अवधि है।

४० ग्रा० तक द्रव्य में १६ गुना, उसके बाद १६० ग्रा० तक ८ गुना और इसके ऊपर खारी (लगभग २ क्विण्टल) तक चार गुना जल दिया जाता है।[१]

प्रक्षेप-मान– क्वाथ में यदि चीनी डालनी हो तो वात, पित्त और कफ रोगों में क्रमशः चतुर्थांश, अष्टमांश और षोडशांश डालना चाहिए। इसके विपरीत, उन्हीं रोगों में मधु क्रमशः षोडशांश, अष्टमांश तथा चतुर्थांश देना चाहिए। जीरा, गुग्गुलु, क्षार, लवण, शिलाजतु, हींग, त्रिकटु तथा अन्य द्रव्यों का चूर्ण १.२५ ग्रा० की मात्रा में देना चाहिए। कल्क, घृत, तैल, गुड़ एवं गोमूत्र का प्रक्षेप १० ग्रा० की मात्रा में दिया जाता है।[२]

मात्रा– क्वाथ की मध्यम मात्रा १ पल (४० मि० लि०) है। सामान्यतः ४०-८० मि० लि० तक दिया जाता है।[३]

प्रयोग– दोषों के अनुसार क्वाथ उष्ण या शीत पिलाया जाता है। वात-कफरोगों में उष्ण तथा पित्तरोगों में शीत देना चाहिए।[४]

प्रमथ्या– ४० ग्रा० द्रव्य के कल्क को ३२० मि० लि० जल में उबाल कर चतुर्थांश[५] अवशिष्ट रहे उसे 'प्रमथ्या' कहते हैं। इसका प्रयोग अतिसार आदि में दीपन-पाचन के लिए किया जाता है।

क्षीरपाक– द्रव्य से आठ गुना दूध और दूध से चौगुना जल डालकर पाक करे जब केवल दूध रह जाय तो उतार कर छान ले। यही 'क्षीरपाक' की विधि है।[६]

---

१. मृदौ चतुर्गुणं देयं मध्यमेऽष्टगुणं तथा। द्रव्ये तु कठिने देयं बुधैः षोडशिकं जलम्।।
कर्षादितः पलं यावत् क्षिपेत् षोडशिकं जलम्। तदूर्ध्वं कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत्।।
तदूर्ध्वं प्रक्षिपेत्तोयं खारीं यावच्चतुर्गुणम्। (द्र० प० अ० २)

२. क्वाथे क्षिपेत् सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः। वातपित्तकफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम्।।
(शा० म० २.४)
जीरकं गुग्गुलं क्षारं लवणं च शिलाजतु। हिंगु त्रिकटुकं चूर्णं क्वाथे माषद्वयोन्मितम्।।
कल्कं घृतं गुडं तैलं मूत्रं च कर्षसंमितम्। (द्र० प० अ० २)

३. क्वाथस्य मध्यमा मात्रा पलमाना प्रकीर्तिता। (प० प्र०)
आहाररसपाके च सज्ञाते द्विपलोन्मितम्। वृद्धवैद्योपदेशेन पिबेत् क्वाथं सुपाचितम्।।
(शा० म० २.३)

४. अवतार्य च परिस्रुतं यथार्हस्पर्शं प्रयुञ्जीत। (अ० सं० क० ८.११)

५. प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्यपलात् कल्कीकृताच्छृतात्। तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम्।।
(शा० म० २.१५०)

६. द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः।।
(शा० म० २.१६१)

आचार्य यादव जी द्रव्य के १५ गुना दूध और दूध के समभाग जल लेते हैं।[१] वृद्धवाग्भट का कथन है कि पहले द्रव्य का जल में क्वाथ कर ले उसके बाद उस क्वाथ से दूध का पाक करे।[२]

प्रयोजन– क्षीरपाक के निम्नाङ्कित प्रयोजन हैं–

१. क्षीर के साथ पाक करने से द्रव्य के दोष (तीक्ष्णता, रूक्षता आदि) का परिहार हो जाता है।
२. क्षीर का दोष (कफवर्धन, गुरु आदि) भी तत्तत् औषधद्रव्यों के साथ पाक करने से नष्ट हो जाता है।
३. इस काल में आहार और औषध दोनों का संयोग हो जाता है। जल और स्नेह में विलेय औषध का वीर्य क्षीर में संक्रान्त हो जाता है।

क्षीरपाक भी एक प्रकार का क्वाथ ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें जल के स्थान पर दूध दिया जाता है।

४. शीत या हिम (Cold infusion)

द्रव्य को कूट कर गरम या ठण्ढे पानी में रात भर छोड़कर प्रातःकाल जो कषाय प्रस्तुत होता है उसे 'शीत' या 'हिम' कहते हैं।[३]

जल का मान– अर्धपल (२० मि० लि०) द्रव्य को तीन पल (१२० मि० लि०) जल में डालकर रात भर छोड़ देना चाहिए।[४]

प्रक्षेप-मान– इसमें प्रक्षेप द्रव्य क्वाथ के समान ही मिलाने चाहिए।[५]

मात्रा– शीतकषाय की मात्रा एक पल (४० मि० लि०) दी जाती है।[६]

प्रयोग– इसका प्रयोग पैत्तिक विकारों मे विशेषतः होता है।

तण्डुलोदक– १ पल (४० ग्रा०) चावल को ८ गुने जल में ३-६ घण्टे तक छोड़ दें। तदनन्तर कपड़े से छान कर जल को रख ले। इसे 'तण्डुलोदक'

---

१. क्षीरं तिथिगुणं द्रव्यात् क्षीराङ्गीरं समं मतम्। क्षीराविशेषं कर्त्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः।।
(द्र० प्र० प० प्र० २.७५ से कुछ भिन्न)

२. क्षीरादिसहितं च द्रव्यं न सम्यङ्मुक्तरसं भवतीति वारिक्वाथपूर्वकं क्षीराद्यैस्तदुपदेशेऽनुपदग्धं क्वाथयेत्। (अ० सं० क० ८.१२)

३. द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः।।
(च० सू० ४.७)
शीतसलिलाप्लुतस्तु निशापर्युषितपूतः शीतः। (अ० सं० क० ८.१३)

४. द्रव्यमर्धपलं क्षुण्णं त्रिभिर्नीरपलैः प्लुतम्। निशोषितं हिमः स स्यात्। (द्र० प० अ० २)

५. सितामधुगुडादींस्तु क्वाथवत् प्रक्षिपेद् भिषक्। (वही)

६. तस्य मात्रा प्लोन्मिता। (वही)

कहते हैं। इसका प्रयोग प्राय: स्तम्भन औषधों के साथ रक्तप्रदर आदि में किया जाता है।[१]

५. **फाण्ट** (Hot infusion)

द्रव्य को गरम जल में छोड़कर थोड़ी देर के बाद उसे मसल-छान कर जो कषाय बनाता है वह 'फाण्ट' कहलाता है।[२]

जल का मान– सामान्यत: ४० ग्रा० द्रव्य के चूर्ण में १६० मि० लि० जल देना चाहिए। यदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्य हो तो १०-२० ग्रा० द्रव्य में १६० मि० लि० जल मिलाना चाहिए।

प्रक्षेप-मान– फाण्ट में चीनी, गुड़ आदि का प्रक्षेप क्वाथ के समान करना चाहिए।

मात्रा– इसकी मात्रा दो पल (८० मि० लि०) है।[३]

स्नेह-कल्प (Fatty preparations)

घृत, तैल आदि स्नेहों के गुणाधान के लिए औषधद्रव्यों के साथ उनका पाक कर जो कल्प किया जाता है उसे 'स्नेहकल्प' कहते हैं।

जल आदि का मान– जहाँ कोई विशिष्ट निर्देश न हो वहाँ औषधद्रव्य से चतुर्गुण स्नेह और स्नेह से चतुर्गुण जल लेकर उसका पाक करना चाहिए।[४]

सिद्ध स्नेह का लक्षण– जब पकते हुए स्नेह में पानी का शब्द बन्द हो जाय, स्नेह कल्क से पृथक् साफ दीखने लगे, औषधद्रव्यों के गन्ध-वर्ण-रस आदि स्नेह में अच्छी तरह आ जाँय, कल्क अङ्गुलियों पर लगे नहीं और उसकी बत्ती बनने लगे तथा कल्क न अतिमृदु हो, न अतिकठिन हो, कल्क तथा स्नेह को आग पर डालने से चटचट शब्द न हो एवं तैल में फेन आने लगे और घृत में फेन आना बन्द हो जाय तब समझना चाहिए कि स्नेह सिद्ध हो गया और उसे उतार लेना चाहिए। जब ठण्ढा हो जाय तो छान कर पात्र में रख ले।[५]

१. कण्डितं तण्डुलपलं जलेऽष्टगुणिते क्षिपेत्। भावयित्वा पलं ग्राह्यं तण्डुलोदकमुच्यते।।
(द्र० प० आ० २)

२. क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत् फाण्टं परिकीर्तितम्। (च० सू० ४.७)

३. क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत्। मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत् पटात्।।
स स्याच्चूर्णद्रव: फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मितम्। सितामधुगुडादींश्च क्वाथवत् प्रक्षिपेद् भिषक्।।
(शा० म० ३.१-२)

४. जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम्। तत्र स्यादौषधात् स्नेह: स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम्।।
(च० क० १२.१०१)

५. तत्र यदा विरमति शब्द:, प्रसादमापद्यते स्नेह:, यथास्वं गन्धवर्णरसोत्पति:, भैषज्यमङ्गु:-क्रमश:.....

शार्ङ्गधर का कथन है कि स्नेह का पाक एक ही दिन में समाप्त न करे बल्कि मन्द अग्नि पर धीरे-धीरे कई दिनों में उसका पाक करना चाहिए। कई दिनों तक औषधद्रव्य के साहचर्य से उसमें विशेष गुणाधान होता है।[१]

त्रिविध स्नेहपाक– स्नेह का पाक तीन प्रकार का होता है। मृदु, मध्य और खर। जिसका कल्क कुछ द्रवांशयुक्त हो वह मृदु, जिसका द्रवांशरहित किन्तु कोमल हो और कलछे में नहीं लगे वह मध्य तथा जिसका कल्क पानी में देने से नीचे बैठ जाय और मसलने से बत्ती बन जाय उसे खर पाक कहते हैं।[२]

प्रयोग– मृदु पाक से सिद्ध स्नेह का प्रयोग नस्य के लिए, मध्यपाक से सिद्ध स्नेह का प्रयोग पान और बस्ति के लिए तथा खरपाक से सिद्ध स्नेह का प्रयोग अभ्यङ्ग के लिए किया जाता है।[३] सुश्रुत का मत है कि मृदुपाक का भोजन और पान के लिए, मध्यपाक का नस्य और अभ्यङ्ग के लिए तथा खरपाक का बस्ति और कर्णपूरण के लिए प्रयोग करना चाहिए।[४]

मृदुपाक से कम पाक होने पर स्नेह अपक्व और गुरु रहता है तथा औषध का गुणाधान भी उसमें नहीं होता इसलिए प्रयोग करने पर उससे अग्निमांद्य, आमविकार आदि उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार खरपाक से अधिक पाक करने पर स्नेह जल जाता है और उससे दाह आदि उत्पन्न होते हैं, अत: पाक के इस अयोग और अतियोग का परित्याग करना चाहिए।

तैल-मूर्च्छन– अनेक आचार्यों ने स्नेहपाक के पूर्व तैल आदि का मूर्च्छन कर लेने का विधान किया है, अत: यहाँ उसकी विधि बतलाई जाती है।

तैल को कड़ाह में डाल कर मन्द अग्नि पर पकावें। जब तैल का फेन शान्त हो जाय तब उतार कर ठण्ढा होने पर उसमें तैल का १/१६ भाग मञ्जीठ

लिप्यां मृद्यमानमतिमृद्वनतिदारुणमनङ्गुलिग्राहि च स्यात्, स कालस्तस्यावतरणाय। अपि च–
घृतस्य फेनोपशम:, तैलस्य तु तदुद्भव:। (अ० सं० क० ८-२३-)
वर्तिवत् स्नेहकल्क: स्याद्यदाऽङ्गुल्या विमर्दित:। शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्त: स्नेह: सिद्धो भवेत्तदा।।
(शा० म० ९.१२-)

१. घृततैलगुडादींश्च साधयेत्रैकवासरे। प्रकुर्वन्त्युषिता ह्येते विशेषाद् गुणसञ्चयम्।।
(शा० म० ९.१८-)

२. स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो मृदुर्मध्य: खरस्तथा। तुल्ये कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदु: स्मृत:।।
संयाव इव निर्यासे मध्यो दर्वीं विमुञ्चति। शीर्यमाणे तु निर्यासे वर्त्यमाने खरस्तथा।।
(च० क० १२.१०२-१०३)

३. खरोऽभ्यङ्गे स्मृत: पाको, मृदुर्नस्त:क्रियासु च। मध्यपाकं तु पानार्थे बस्तौ च विनियोजयेत्।।
(च० क० १२.१०४)

४. तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदु:, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यम:, बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति।।
(सु० चि० ३१.११)

का कल्क और मञ्जीठ का १/४ भाग हरें, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, हलदी, खस, लोध्र, केवड़े के फूल और बरोहर इनका कल्फ डाले। फिर तैल से चौगुना जल मिलाकर स्नेहपाक की विधि से पाक करे।

मूर्च्छन की विधि वस्तुत: द्रव्यों के शोधन के समान है और इससे तैलस्थित गन्ध आदि दोष निवृत्त हो जाते हैं।[१]

घृत-मूर्च्छन– १ प्रस्थ (६४० ग्रा०) घी को कड़ाह में डालकर मन्द आँच पर गरम करे। जब फेन और शब्द शान्त हो जाय तब उसमें हरें, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा और हल्दी के चूर्ण का बिजौरे के रस में पीसा हुआ कल्क १ कुडव (१६० ग्रा०) और जल १ आढक (२.५६ लि०) मिला कर स्नेहपाक विधि से पाक करे।

इससे घृत का आमदोष नष्ट हो जाता है तथा उसमें विशेष गुणाधान हो जाता है।[२]

सन्धान-कल्प (Fermentative preparations)

किसी द्रव्य को द्रवरूप में अकेले या गुड आदि अन्य द्रव्यों के साथ मिलाकर कुछ दिनों के लिए रख दिया जाता है इसे 'सन्धान' कहते हैं। इस अवधि में किण्वीकरण (Fermentation) की प्रक्रिया से वह द्रव्य मद्य (Alcohol) या शुक्त (Acid) में परिणत हो जाता है। आसव, अरिष्ट आदि मद्य में तथा काञ्जी आदि शुक्त में आते हैं।

अरिष्ट– द्रव्य का क्वाथ कर उसमें चीनी, गुड या मधु मिलाकर किसी भाण्ड में मुख बन्द करके लगभग एक मास तक रक्खा जाता है। उससे जो मद्य प्रस्तुत होता है उसे 'अरिष्ट' कहते हैं। संस्कारवश इसमें गुणाधान अधिक होता है[३] तथा

१. तैलं कृत्वा कटाहे दृढतरविमले मन्दमन्दानले तत्
पक्वं निष्फेनभावं गतमिह यदा शैत्यभावं समेत्य।
तैलस्येन्दुकलांशकेन विकसा ग्रह्या तु मूर्च्छाविधौ
ये चान्ये त्रिफलापयोदरजनीह्रीबेरलोध्रान्विता:।।
सूचीपुष्पवटावरोहनलिकास्तस्याश्च पादांशिका:।
पाच्यास्तैलजगन्धदोषहृतये कल्कीकृतास्तद्विदै:।। (भै० र० ५.१२८६-१२८७)

२. पथ्याधात्रीबिभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च
द्रव्यैरैतै: समस्तै: कुडवपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन।
आज्यप्रस्थं विफेनं परिचपलगतं मूर्च्छयेद्वैद्यवर्य-
स्तस्मादामोपदोषं त्यजति च सकलं वीर्यवत् सौख्यदायि।। (भै० र० ५.१२८५)

३. अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणै:। (सु० सू० ४५.१९४)

यह कल्प मद्य होने से बिगड़ने भी नहीं पाता। इसके अतिरिक्त, मद्य होने के कारण कुछ दीपन-पाचन तथा शक्तिवर्धक कर्म भी इसमें आते हैं।

आसव– द्रव्य का बिना क्वाथ किये जल आदि के साथ सन्धान कर देने पर भी मद्य बनता है उसे 'आसव' कहते हैं।[१] प्राचीन ग्रन्थों में आसव-अरिष्ट का ऐसा कोई विभेद नहीं है।

सुरा– चावल आदि के आँटे या पक्व अन्न के सन्धान से उत्पन्न मद्य को 'सुरा' कहते हैं।[२] सुरा का सबसे ऊपरी निर्मल भाग 'प्रसन्ना' उसके बाद कुछ गाढा भाग 'कादम्बरी', उसके नीचे का गाढा भाग 'जगल' तथा सबसे नीचे जमे अंश को 'मेदक' कहते हैं। सुरा को छान लेने पर जो मल भाग बचता है वह 'सुराबीज' या 'किण्व' कहलाता है।

वारुणी– ताल, खजूर आदि के रस (नीरे) से जो मद्य प्रस्तुत हो उसे 'वारुणी' कहते हैं।[३]

सीधु– इक्षुरस से जो मद्य बनता है उसे 'सीधु' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है-शीतरस और पक्वरस। अपक्व इक्षुरस से जो मद्य होता है वह 'शीतरस' तथा आग पर पकाये इक्षुरस से जो मद्य होता है वह 'पक्वरस' सीधु कहलाता है।[४]

शुक्त– सन्धान करने पर जब मद्य ठीक नहीं बनता तब उसमें अम्लता आ जाती है उसे 'शुक्त' कहते हैं। लोकभाषा में इसे सिरका (Vinegar) कहते हैं। ओषधियों के कन्द, मूल, फल आदि को राई और नमक मिलाकर जल में सन्धान करने से भी यह बनता है।

काञ्जिक– सिद्ध चावल (भात) को तीन गुने जल में एक सप्ताह तक सन्धान करने से जो अम्ल द्रव उत्पन्न होता है उसे 'काञ्जिक' (धान्याम्ल या आरनाल) कहते हैं।

तुषोदक– सतुष (छिलकों के सहित) यव को कूट कर बिना पाक किये चौगुने पानी में सन्धान करने से जो शुक्त बनता है उसे 'तुषोदक' कहते हैं।

सौवीर– निस्तुष (बिना छिलके) यव को कूट कर आठगुने जल में पका कर आधा अवशिष्ट रहने पर या बिना पकाये ही सन्धान करने से जो अम्ल प्राप्त होता है उसे 'सौवीर' कहते हैं।[५]

१. यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसव:। अरिष्ट: क्वाथसाध्य: स्यात्। (शा० म० १०.२)
२. शालिषष्टिकपिष्टाद्यै: कृतं मद्यं सुरा स्मृता। (भा० प्र० नि० सं० २३)
३. संहितैस्तालखर्जूररसैर्या साऽपि वारुणी। (भा० प्र० नि० सं० २३)
४. इक्षो: पक्वै: रसै: सिद्ध: सीधु: पक्वरसश्च स:। आमैस्तैरेव य: सीधु: स च शीतरस: स्मृत:। (भा० प्र० नि० सं० २५)
५. तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यव:। यवैस्तु निस्तुषै: पक्व: सौवीरं सन्धितं भवेत्।। (शा० म० १०.११)

सुरासव– सुरामण्ड में किसी द्रव्य का सन्धान करने से उसका सारभाग सुरा में आ जाता है इसे 'सुरासव' कहते हैं।[१]

अन्य कल्प

पूर्वोक्त कल्पों के अतिरिक्त द्रव्यों के कुछ अन्य विशिष्ट कल्प व्यवहार में प्रचलित हैं उनका उल्लेख नीचे किया जाता है–

अवलेह– जब क्वाथ आदि को अग्नि पर पका कर गाढा और लेहयोग्य कर लिया जाता है तब उसे 'अवलेह' कहते हैं। इसी को 'लेह' और 'रसक्रिया' भी कहते हैं। अवलेह की सान्द्रता के अनुसार तीन प्रकार किये गये हैं–

१. **फाणित**– (तनु-पतला) (Liquid extract)
२. **लेह**– (सान्द्र) (Confection or linctus)
३. **घन**– (अतिसान्द्र) (Solid extract)

शार्ङ्गधर ने इसकी मात्रा १ पल (४० ग्रा०) बतलाई है किन्तु व्यवहार में ५-१० ग्रा० तक दी जाती है।[२]

सुसिद्ध अवलेह मे तार बँधने लगते हैं, पानी में डालने पर वह डूब जाता है और एक जगह स्थिर रहता है, हाथ से दबाने पर उसमें चिह्न पड़ जाते हैं और द्रव्य के वर्ण-रस-गन्ध आदि उसमें आ जाते हैं।[३]

द्रव आदि का परिमाण– अवलेह में गुड, चूर्ण से दूना, चीनी चौगुनी और द्रव चौगुना देना चाहिए।[४]

गुडिका (Pills)– गुड, चीनी या गुग्गुलु को आग पर पका कर उसमें चूर्ण डालकर जो पिण्डाकार कल्प प्रस्तुत होता है उसे गुडिका, वटक, वटी, मोदक, वटिका, पिण्डी, गुड तथा वर्त्ति कहते हैं। कहीं गुग्गुलु को बिना पकाये भी वटी बनाते हैं तथा चूर्ण में कोई द्रव पदार्थ या मधु देकर भी गोली बनाई जाती हैं।[५] मेरे विचार से, वटकाकार चपटी टेबलेट (Tablet) के लिए 'वटिका' शब्द उपयुक्त है।

१. आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वा प्रस्तुतं पिबेत्। (च० क० २.८)
चक्रदत्त (२५. ७१-७३) में देखें रसोनसुरा।

२. क्वाथादीनां पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया। सोऽवलेहश्च लेह्यः स्यात्तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता।।
(शा० म० ८.१)

३. सुपक्वे तन्तुमत्वं स्यादवलेहोऽप्सु मज्जति। स्थिरत्वं पीडिते मुद्रागन्धवर्णरसोद्भवः।।
(शा० म० ८.३)

४. सिता चतुर्गुणा कार्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः। द्रवं चतुर्गुणं दद्यादिति सर्वत्र निश्चयः।।
(शा० म० ८.२)

५. वटकाश्चाथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी। मोदको वटिका पिण्डी गुडो वर्त्तिस्तथोच्यते।।

क्रमशः....

द्रव्यों का प्रमाण– गुडिका बनाने के लिए चूर्ण से चौगुनी चीनी, दुगुना गुड तथा सम भाग गुग्गुलु और मधु लेना चाहिए।[१]

मात्रा– रोगी के बलाबल के अनुसार १० ग्रा० तक की मात्रा दिन भर में देनी चाहिए।[२]

शार्करपानक (Syrup)– द्रव पदार्थ (जल, क्वाथ, फाण्ट आदि) में दूनी चीनी मिला कर मन्द आँच पर पाक करे और शीत होने पर छान ले। इस मधु-सदृश कल्प को 'शार्करपानक' कहते हैं।

लाक्षारस– लाख को ६ गुने जल में दोलायन्त्र में पाक करे। चतुर्थांश शेष रहने पर इक्कीस बार कपड़े से छान ले यही 'लाक्षारस' है।[३]

क्षार (Alkali)– जिस द्रव्य का क्षार निकालना हो उसका पञ्चाङ्ग जलाकर भस्म बना ले। फिर मिट्टी के पात्र में ६ गुना जल छोड़ कर उसमें डाल दे और रातभर पड़ा रहने दे। प्रातः ऊपरी साफ जल को दूसरे पात्र में पृथक् इक्कीस बार कपड़े से छान ले। इस प्रकार प्राप्त द्रव को फिर आग पर पकावे, जब जलांश सूख जाय तब पात्र को नीचे उतार क्षार को अलग कर ले।

गुडूचीसत्त्व– ताजी गुडूची को छोटे-छोटे टुकड़े कर ऊखल में कूट ले और उसमें चौगुना जल डाल कर खूब मर्दन करे। फिर उस जल को कपड़े से छान कर दूसरे पात्र में ढँक कर रात भर छोड़ दे। सबेरे ऊपर का जल अलग कर दे, तल में श्वेत वर्ण का सत्त्व मिलेगा। उसे सुखा कर रख ले।

चूर्णोदक (Lime water)– २५० मि०ग्रा० कली चूना ५० मि० लि० जल में एक रङ्गीन शीशी में ९ घण्टे तक छोड़ दे। बीच-बीच में शीशी को २-३ बार हिला दे। फिर इसे निस्यन्दनपत्र (Filter-paper) से छान कर दूसरी रङ्गीन शीशी में रख ले। यही 'चूर्णोदक' है।

आहार-कल्प

औषध के रूप में प्रयुक्त होने वाले विविध कल्पों का वर्णन किया गया। अब आहार के लिए उपयोगी कल्पों का उल्लेख किया जायगा।

लेहवत्साध्यते वह्नौ गुडो वा शर्करा तथा। गुग्गुलुर्वा क्षिपेत्तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी।।
कुर्यादवह्निसिद्धेन क्वचिद् गुग्गुलुना वटीम्। द्रवेण मधुना वापि गुटिकां कारयेद् बुधः।।
(शा० म० ७.१-३)

१. सिता चतुर्गुणा देया वटीषु द्विगुणो गुडः। चूर्णाच्चूर्णसमः कार्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम्।।
(शा० म० ७.४)

२. कर्षप्रमाणं तन्मानं बलं दृष्ट्वा प्रयुज्यते। (शा० म० ७.५)

३. षड्गुणेनाम्भसा लाक्षां दोलायन्त्रे विपाचयेत्। त्रिसप्तधा परिस्राव्य लाक्षारसमिमं विदुः।
(प० प्र० २.६९)

यूष– जल आदि द्रव पदार्थों में मूंग, मसूर आदि शिम्बीधान्यों या पटोल आदि शाकों को पका कर जो कल्प बनाया जाता है उसे 'यूष' कहते हैं। इसके निर्माण में कल्क-द्रव्य (अन्न) ४० ग्रा० तथा जल ६४० मि० लि० डाल कर पकावे। ऊपर से सोंठ और पीपर का चूर्ण भी ५ ग्रा० डाल दे। आधा या चौथाई अवशिष्ट रहने पर उतार कर कपड़े से छान ले।[१]

संस्कारभेद में यह दो प्रकार का होता है– कृत यूष और अकृत यूष। जिस यूष में नमक, स्नेहद्रव्य (घी-तैल) और कटुद्रव्य दिये जाँय वह कृत तथा जिसमें ये न दिये जाँय वह अकृत कहलाता है।[२]

यवागू– जल, क्वाथ आदि द्रव पदार्थों में चावल आदि शूकधान्यों को पका कर जो कल्प तैयार होता है उसे 'यवागू' कहते हैं।[३] यह तीन प्रकार की होती है–

१. **मण्ड**– जिसमें सिक्थ (ठोस) भाग छोड़ कर केवल द्रव भाग लिया जाय उसे 'मण्ड' कहते हैं। सामान्य आहार की मात्रा से १/४ भाग चावल लेकर उसके १४ गुना जल में पकावे। जब चावल बिलकुल सिद्ध हो जाय तब द्रव भाग पृथक् कर ले। यही मण्ड है।

२. **पेया**– जिसमें द्रव भाग अधिक किन्तु कुछ ठोस भाग भी हो वह 'पेया' कहलाती है। इसमें चावल मण्ड के समान ही किन्तु जल छः गुना लिया जाता है और जब चावल सिद्ध हो जाता है तब उतार लेते हैं।

३. **विलेपी**– इसमें ठोस भाग अधिक और द्रव भाग कम रहता है। इसमें चावल पूर्ववत् लेते हैं और उसे ४ गुने जल में पकाते हैं। जब चावल सिद्ध हो जाय तब उतार ले।[४]

कुछ लोग यवागू को चौथा प्रकार मानकर उसे छः गुने जल में सिद्ध बतलाते हैं।[५]

१. कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्धकार्षिकी। वारिप्रस्थेन विपचेत् स द्रवो यूष उच्यते।।
(शा० म० २.१५४)

२. अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम्।।
(सु० सू० ४६.३७९)

३. यवागूस्तण्डुलैः सह। (काश्यप)

४. यवागूस्त्रिविधा प्रोक्ता मण्डः पेया विलेप्यपि। सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।।
यवागूर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा।। (सु० सू० ४६.३४४-चक्र०)
विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां ततः। (सु० चि० ३९.८)

५. अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे। मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि।।
(प० प्र० २.५९)

मांसरस– जितने जल मे मांस समुचित रूप से पक्व हो जाय उतना जल देकर मांस पकावे। जब मांस सिद्ध हो जाय तो छान कर द्रव भाग अलग कर ले। यही 'मांसरस' है।

वेशवार– अस्थिरहित मांस को पीस कर गुड, घी, पीपल और मिर्च मिलाकर पकाया जाय उसे 'वेशवार' कहते हैं।[१]

वाट्यमण्ड– बिना छिलके के यवों को थोड़ा भून कर १४ गुने जल में पकावे। यव पक्व होने पर उसे छान ले। इस प्रकार प्राप्त द्रव को 'वाट्य-मण्ड' कहते हैं। बिना भूने यव से जो मण्ड बनाया जाय उसे 'यवमण्ड' कहते हैं।[२]

लाजमण्ड– धान के लावे को मण्ड की विधि से १४ गुने जल में पका कर छान लेते हैं। यही 'लाजमण्ड' है।

मन्थ– सत्तू में थोड़ा घी मिलाकर उसमें ठण्डा पानी इतना मिलावे जिससे वह न अधिक पतला रहे न अधिक गाढ़ा हो। अब थोड़ा मथ कर सब को खूब मिलावे। इसी को 'मन्थ' कहते हैं। तर्पण कर्म करने के कारण यह 'तर्पण' या 'सन्तर्पण' भी कहलाता है।[३]

तक्र– दही में आधा जल मिला कर मथानी से खूब मथे। जब मक्खन निकल जाय तब जो अवशिष्ट द्रव रहे वह 'तक्र' कहलाता है। स्नेह के प्रमाण के अनुसार इसके अनेक भेद होते हैं।[४]

पानक– अम्ल, मधुराम्ल या मधुर फलों को १६ गुने ठण्डे जल में खूब मर्दन कर छान ले। फिर उसमें यथारुचि मिश्री और मिर्च का चूर्ण मिलावे। इसे 'पानक' कहते हैं।

उष्णोदक– जल को मन्द आग पर उबाले। जब अष्टमांश, चतुर्थांश या आधा अवशिष्ट रहे तो उतार कर छान ले। यह 'उष्णोदक' कहलाता है।[५]

सिद्धोदक– जल को यदि औषधद्रव्य से सिद्ध करना हो तो १० ग्रा० औषधद्रव्य ६४० मि० लि० जल में पकावे। जब आधा अवशिष्ट रह जाय तब

१. निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडसमन्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः।।
(प० प्र० ३.१६५)

२. सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत्। (शा० म० २.१७२)

३. सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः। नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते।।
(सु० सू० ४६.३८५)

४. मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत्। नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे।।
यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते।। (सु० सू० ४५.८५)

५. अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत्।।
(शा० म० २.१५९)

उतार कर छान ले और ठण्डा होने पर रोगी को पिलावे। ज्वरोक्त षडङ्ग-पानीय आदि इसी विधि से बनाये जाते हैं।[१]

आहार-कल्पों का प्रयोजन

रोगी के बल को स्थिर रखने के लिए उसकी अग्नि के अनुसार आहारकल्पों का उपयोग किया जाता है। रोगी की रुचि को ठीक रखने के लिए भी द्रव्य के भिन्न-भिन्न कल्पों का प्रयोग करते रहना चाहिए।[२]

कल्पों का प्रयोग

चूर्ण दो मास तक कल्प प्रयोग के योग्य रहते हैं। उसके बाद वे निर्वीर्य हो जाते हैं। गुटिका और अवलेह एक वर्ष तब ठीक रहते हैं। स्नेह-कल्प (घृत-तैल) चार मास के बाद खराब हो जाते हैं। आसव आदि जितने ही पुराने होते हैं उतने ही गुणवान् होते जाते हैं।[३]

कल्प-परिभाषा

कल्पों के प्रसङ्ग में यदि किसी द्रव्य का परिमाण न लिखा हो तो समभाग समझना चाहिए। इसी प्रकार 'पात्र' से मिट्टी का पात्र, 'द्रव' से जल, 'तैल' से तिलतैल, 'लवण' से सैन्धव, 'सर्षप' से श्वेत सर्षप लेना चाहिए। जहाँ पर क्षीर, दधि, घृत, मूत्र और पुरीष का उल्लेख हो वहाँ गौ का लेना चाहिए। 'चन्दन' का जहाँ उल्लेख हो वहाँ चूर्ण, लेह, आसव और स्नेह के लिए श्वेत तथा कषाय और लेप के लिए रक्त चन्दन लेना चाहिए।[४]

*

१. यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि।
अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ। (प० प्र० २.५५-५६)

२. सातत्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्। कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः।।
(च० चि० ३०.३३१-)

३. मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात्। हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरात् परम्।।
हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकात्तथा। ओषध्यो लघुपाकाः स्युर्निर्वीर्या वत्सरात् परम्।।
पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः। (शा० प्र० १.५१-५३)

४. भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात् पात्रेऽनुक्ते तु मृण्मयम्। द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यं तैलेऽनुक्ते तिलोद्भवम्।।
सैन्धवं लवणे ग्राह्यं, सर्षपे श्वेतसर्षपः। क्षीरे दध्नि घृते मूत्रे पुरीषे गव्यमिष्यते।।
चूर्णलेहासवस्नेहाः साध्या धवलचन्दनैः। कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्।।
(शा० प्र० १.४८, ५०)

षष्ठ अध्याय

भेषज-प्रयोग

(Administration of drugs)

१. प्रशस्त भेषज (Ideal drug)

सर्वोत्तम औषध वही है जो रोग को दूर करे और आरोग्य को स्थिर करे।[१] महर्षि चरक ने भेषज के चार गुण बतलाये हैं[२]–

१. **बहुता**– द्रव्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए।

२. **योग्यता**– रोग और रोगी के बलाबल के विचार से उस द्रव्य में प्रयोग की योग्यता होनी चाहिए।

३. **अनेकविध कल्पना**– वह द्रव्य ऐसा होना चाहिए जिसकी स्वरस, फाण्ट आदि अनेक प्रकार की कल्पनायें सुविधा से प्रस्तुत हो सकें जिससे रोगी की रुचि एवं विकार की अवस्था के अनुसार उसका प्रयोग किया जा सके।

४. **सम्पत्**– द्रव्य अपने गुणों (रस-वीर्य आदि) एवं कर्मों (दीपन-पाचन आदि) से पूर्ण सम्पन्न होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि द्रव्य पुराना एवं सड़ा-गला न हो। इसीलिए द्रव्य ताजी अवस्था में ही लेने का विधान है क्योंकि उस समय उसमें गुण तथा कर्म की सम्पत्ति पूरी होती है। कुछ द्रव्य इसके अपवाद स्वरूप हैं जो पुराने होने पर ही शरीर के लिए लाभकर होते हैं यथा–घृत, गुड, मधु, धान्य, पीपर, विडङ्ग।[३]

१. तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते। स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्।।
(च० सू० १.१३४)

२. बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते।।
(च० सू० ९.७)

३. सर्वाण्येव चाभिनवानि, अन्यत्र मधु-घृत-गुडपिप्पलीविडङ्गेभ्यः।।
तेषामसम्पत्तानतिक्रान्तसंवत्सराणि।।
विगन्धेनापरामृष्टमविपन्नं रसादिभिः। नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेवं विनिर्दिशेत्।।
(सु० सू० ३६.७,९,१५)
नवान्येव हि योज्यानि द्रव्याण्यखिलकर्मसु। विना विडङ्गकृष्णाभ्यां गुडधान्याज्यमाक्षिकैः।।
(शा० प्र० १.४४)
प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्। युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम्।।
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते।।
(सु० सू० ३४.२२-२३)

सम्पत् में देश, काल, गुण एवं भाजन (पात्र) का विचार होता है। द्रव्य उत्तम देश में उत्पन्न, उपयुक्त काल में सङ्गृहीत, रसवीर्यादि गुणों से युक्त तथा उत्तम पात्र में निहित होना चाहिए क्योंकि इससे द्रव्य में उत्कृष्ट शक्ति होने से उसकी कार्मुकता अधिकतम होती है।[१]

२. प्रयोज्य अंग (Part used)

द्रव्य के जिस अङ्ग में वीर्य उत्कृष्ट होता है उसी अङ्ग का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है।[२] औद्भिद द्रव्यों के मूल, त्वक्, निर्यास, नाल, स्वरस, पल्लव, क्षार, क्षीर, फल, पुष्प, भस्म, तैल, कण्टक, पत्र, शुङ्ग, कन्द और प्ररोह- ये अङ्ग प्रयुक्त होते हैं।[३] जाङ्गम द्रव्यों के मधु, गोरस, पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मांस, पुरीष, मूत्र, चर्म, शुक्र, अस्थि, स्नायु, शृङ्ग, नख, खुर, केश, रोम और रोचना- ये अङ्ग प्रयोग में आते हैं।[४] गम्भारी, श्योनाक आदि के मूल, अर्जुन आदि की त्वक्, चन्दन आदि का सार, गुग्गुलु, हिंगु आदि का निर्यास, कमल आदि का नाल, खर्जूर आदि का स्वरस, जम्बू आदि का पल्लव, तालीश आदि का पत्र, अपामार्ग आदि का क्षार, स्नुही आदि का क्षीर, हरीतकी आदि का फल, धातकी आदि का पुष्प, अर्क आदि की भस्म, एरण्ड आदि का तैल, शाल्मली आदि का कण्टक, उदुम्बर आदि का शुङ्ग, सूरण आदि का कन्द तथा वट आदि का प्ररोह लिया जाता है।[५] यदि किसी द्रव्य के अङ्ग का निर्देश न किया हो तो वहाँ उसका मूल लेना चाहिए। मूल में भी यदि स्थूल हो (यथा गम्भारी आदि का) तो उसकी त्वचा और यदि सूक्ष्म हो (यथा शालपर्णी आदि) तो सम्पूर्ण लेना चाहिए।[६] सुश्रुत ने सूत्रस्थान के संशोधन-संशमनीय अध्याय (सू० ३९) में सब द्रव्यों के प्रयोज्य अङ्गों का निर्देश किया है यथा मदन आदि के फल, कोविदार आदि के मूल इत्यादि।[७]

१. तानि तु द्रव्याणि देशकालगुणभाजनसम्पद्वीर्यबलाधानात् क्रियासमर्थतमानि भवन्ति। (च० क० १.७)

२. यस्मिन्नङ्गे तु द्रव्याणां वीर्यं भवति चाधिकम्।
तदेवाङ्गं प्रयुञ्जीत मतं तत्त्वविदामिदम्। (प० प्र०)

३. मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः। क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः।।
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चोद्भिदो गणः। (च० सू० १.७३-)

४. मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जाऽसृगामिषम्। विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गनखाः खुराः।।
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः। (च० सू० १.६८-६९)

५. न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्याः सारः स्याद् बीजकादितः। तालीशादेश्च पत्राणि फलं स्यात् त्रिफलादितः।।
धातक्यादेश्च पुष्पाणि स्नुह्यादेः क्षीरमाहरेत्। शाखां गुडूचिकादेस्तु निर्यासं रामठादितः।। (शा० प्र० १.६१-)

६. अतिस्थूलजटा याः स्युस्तासां ग्राह्यास्त्वचो बुधैः। गृह्णीयात् सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान्।। (शा० प्र० १.६०)

७. तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि। (सु० सू० ३९.३)

३. संयोग (Combination) और विरोध (Incompatibility)

चिकित्सा में द्रव्यों का भी अकेले और कभी दूसरे द्रव्यों के साथ मिला कर प्रयोग किया जाता है। दो या अधिक द्रव्यों के इस प्रकार मिलने को 'संयोग' कहते हैं। संयोग के कारण भेषज में एक विशिष्ट गुण का प्रादुर्भाव होता है जो पृथक्-पृथक् द्रव्यों में देखने में नहीं आता यथा मधु और घृत एवं मधु, मत्स्य और दूध का संयोग।[१] चक्रपाणि संयोगशक्ति को अचिन्त्य कहते हैं।[२] कुछ संयोग तो शरीर के लिए हितकर और कुछ अहितकर होते हैं। अहितकर संयोग को 'विरोध' (Incompatibility) कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है-

१. **मान-विरोध** (Quantitative incompatibility)- जो द्रव्य एक निश्चित परिमाण में संयुक्त होने पर शरीर के लिए अहितकर होते हैं वे 'मान-विरुद्ध' कहलाते हैं यथा मधु और जल तथा मधु और घृत समभाग में लेने पर मान-विरुद्ध होते हैं।

२. **गुण-विरोध** (Physical & chemical incompatibility)- रस, वीर्य, विपाक आदि में परस्पर विरुद्ध द्रव्यों का संयोग गुण-विरुद्ध कहलाता है-

रसविरोध- यथा लवण और दुग्ध।

वीर्यविरोध- यथा मत्स्य और दुग्ध।

विपाकविरोध- यथा मूलक और दुग्ध।[३]

३. **कर्म-विरोध** (Pharmacological incompatibility or antagonism)- परस्पर विरुद्ध कर्म वाले द्रव्यों का संयोग कर्मविरुद्ध कहलाता है यथा धातकी और दन्ती। इसके विपरीत, जिस संयोग से द्रव्य का कर्म प्रबल हो जाता है उसे सहकार्य (Synergism) कहते हैं यथा पुनर्नवा और मण्डूर।

विरोध के अहितकर होने का कारण यह है कि एक द्रव्य के द्वारा शरीर के दोषों और मलों का जो उक्त्लेश होता है वह दूसरे द्रव्य के विरोधी तत्त्वों द्वारा दबा दिया जाता है और वह अनिर्हृत दोषमल शरीर में अनेक विकार उत्पन्न करते

१. संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः, स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते; तद्यथा-मधुसर्पिषोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः। (च० वि० १.२२(३)

२. ... संयोगशक्तेरचिन्त्यत्वात्। (च० चि० ४.४९-५१-चक्र०)

३. तत्र मधुराम्लौ रसवीर्यविरुद्धौ मधुरलवणौ च, मधुरकटुकौ च सर्वतः, मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्यां मधुरकषायौ च, अम्ललवणौ रसतः, अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम्, अम्लतिक्तावम्लकषायौ च सर्वतः, लवणकटुकौ रसविपाकाभ्यां, लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सर्वतः, कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्यां कटुकषायौ च तिक्तकषायौ रसतः। (सु० सू० २०.१६)

हैं।[१] विषाक्त प्रभाव होने के कारण वैरोधिक को चरक ने विष के साथ अगदतन्त्र में समाविष्ट किया है– 'विषगरवैरोधिकप्रशमनम्' (च० सू० ३०.२८)। विरोधी द्रव्यों से मुख्यत: क्लैब्य, अन्धत्व, विसर्प, जलोदर, विस्फोटक, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलरोग, पाण्डु, आमदोष, किलास, कुष्ठ, ग्रहणी, शोफ, अम्लपित्त, ज्वर, पीनस, सन्तानदोष एवं मृत्यु-ये उपद्रव होते हैं।[२]

संयोग के अतिरिक्त भी जो द्रव्य देहधातुओं के प्रत्यनीक (विरुद्ध) होते हैं वे विरोधी कहे जाते हैं।[३] महर्षि चरक ने यह विरोध निम्नाङ्कित प्रकार के बतलाये हैं[४] यथा–

१. **देश-विरोध**– जाङ्गल देश में रूक्ष, तीक्ष्ण आदि।
२. **काल-विरोध**– शीतकाल में शीत, रूक्ष आदि।
३. **अग्नि-विरोध**– मन्दाग्नि में गुरु द्रव्य।
४. **मात्रा-विरोध**– मधु और घृत सम मात्रा में।
५. **सात्म्य-विरोध**– उष्णसात्म्य के लिए शीत का प्रयोग।
६. **दोष-विरोध**– वातविकारों में रूक्ष, शीत आदि द्रव्य।
७. **संस्कार-विरोध**– एरण्ड की लकड़ी में लगा कर भूना हुआ मयूर-मांस।
८. **वीर्य-विरोध**– शीतवीर्य के साथ उष्णवीर्य का संयोग यथा दूध और मत्स्य।
९. **कोष्ठ-विरोध**– क्रूर कोष्ठ के लिए अत्यल्प, मन्दवीर्य तथा अभेदन द्रव्य।

१. यत् किञ्चिद् दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरति कायतः। आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते।।
(च० सू० २६.८५)
यत् किञ्चिद्दोषमुत्क्लिश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत्। रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते।।
(सु० सू० २०.२०)

२. षाण्ढ्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।
मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव।।
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां शोथाम्लपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम्।। (च० सू० २६.१०२-१०३)

३. It is presumed that this antagonism takes place either in the blood or in the tissues. (R. Ghosh-Materia Medica.)

४. यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः। संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि।। परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च। विरुद्धं तच्च न हितं ह्तसम्पद्विधिभिश्च यत्।।
(च० सू० २६.८६-८७)
देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते; परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् संयोगात्, संस्कारादपराणि, देशकालमात्रादिभिश्चापराणि, तथा स्वभावादपराणि।
(च० सू० २६.८१)

१०. **अवस्था-विरोध**– श्रान्त पुरुष के लिए वातकर एवं तन्द्रायुक्त के लिए कफकर द्रव्य।
११. **क्रम-विरोध**– बिना शौच एवं बुभुक्षा के भोजन।
१२. **परिहार-विरोध**– वराहमांस खाकर उष्णजल का सेवन।
१३. **उपचार-विरोध**– घृत आदि का पान कर शीत का सेवन।
१४. **पाक-विरोध**– अपक्व, दग्ध या अतिपक्व तण्डुल।
१५. **संयोग-विरोध**– दूध के साथ अम्ल।
१६. **हद्विरोध**– अरुचिकर द्रव्य का सेवन।
१७. **सम्पत्-विरोध**– नीरस, विकृतरस-द्रव्य का सेवन।
१८. **विधि-विरोध**– एकान्तस्थान में भोजन न करना।[१]

४. योग (Formulation)

कार्यकारी वीर्यवान् द्रव्यों के संयोग से अनेक विशिष्ट योग बनते हैं। इन योगों का नामकरण जो आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है वह नितान्त मौलिक है। मुख्यत: इनका नाम प्रधान द्रव्य के अनुसार होता है[२] यथा चित्रकादि वटी, वासावलेह आदि। इसके अतिरिक्त, आविष्कर्त्ता के नाम पर भी योग के नाम रक्खे जाते हैं यथा अगस्त्यहरीतकी और विशिष्ट रोगी के नाम पर भी यथा च्यवनप्राश आदि। किसी द्रव्य के सादृश्य पर भी नाम रक्खा जाता है यथा रसपर्पटी आदि। कुछ नाम योग के कर्म के सूचक होते हैं यथा विषम-ज्वरान्तक लौह और कुछ नाम शुभ सङ्केतमात्र होते हैं यथा लक्ष्मीविलास आदि। कतिपय योग देवताओं के नाम पर हैं यथा नारायण तैल, शिवा गुटिका आदि।

भेषजयोगों में एक मुख्य द्रव्य होता है, कुछ उसके सहकारी और कुछ सन्तुलक द्रव्य होते हैं। सहकारी द्रव्य प्रमुख द्रव्य के कर्म में सहायक होते हैं और सन्तुलक द्रव्य सम्भावित दोषों को दूर करते हैं। कुछ द्रव्य कल्प को एक विशिष्ट रूप देने में सहायक होते हैं यथा वासावलेह में वासा प्रधान द्रव्य है, पिप्पली उसके कर्म में सहायक है और घृत वासा की रूक्षता को शान्त करता है जिससे वात की वृद्धि नहीं होने पाती। मधु अवलेह के माधुर्य से उत्पन्न कफ को अभिभूत करता है और शर्करा तथा जल अवलेह-कल्प को स्वरूप प्रदान करता है तथा उसमें स्वाद लाता है। इसी प्रकार अन्य योगों में समझना चाहिए।

१. विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि।.....।
तदेवंविधमन्नं स्याद्विरुद्धमुपयोजितम्।। (च० सू० २६.८८-१०१)

२. यदौषधं तु प्रथमं यस्य योगस्य कथ्यते। तन्नाम्नैव स योगो हि कथ्यतेऽत्र विनिश्चयः।।
(शा० प्र० १.३६-)

५. **मात्रा** (Dosage or posology)

चिकित्सा-कार्य में औषध की मात्रा का निर्धारण एक महत्त्वपूर्ण विचार है। गम्भीर रोगों में तथा बलवान् रोगी में यदि अल्प मात्रा का प्रयोग किया जाय तो रोग पर अभीष्ट प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार क्षुद्ररोगों में तथा दुर्बल रोगी में यदि अधिक मात्रा का प्रयोग किया जाय तो अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी का जीवन ही सन्दिग्ध हो जाता है। अत: औषध की मात्रा इतनी (न अधिक और न कम) होनी चाहिए जो दोषों का सम्यक् रूप से संशोधन या संशमन करे किन्तु धातुओं पर कोई हानिकर प्रभाव न हो।[१] इसलिए आवश्यक है कि मात्रा का निर्धारण रोगी के बल एवं दोषों के प्रमाण के अनुसार किया जाय।[२]

मात्रा के निर्णय में निम्नाङ्कित बातों का विचार करना पड़ता है[३]–

१. **वय**– औषध की पूर्ण मात्रा मध्यवय[४] के लिए निश्चित की जाती है उससे कम और अधिक आयु के व्यक्तियों के लिए उसकी आंशिक मात्रा दी जाती है। शार्ङ्गधर ने आंशिक मात्रा का विधान इस रूप में किया है–

१ मास के बालक को १२५ मि० ग्रा० औषध देनी चाहिए। उसके बाद प्रतिमास १ वर्ष तक १२५ मि० ग्रा० बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार १ वर्ष के बालक के लिए १.५ ग्रा० मात्रा हुई। इसके बाद १६ वर्ष तक प्रति वर्ष १ ग्रा० की वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार १६ वर्ष के बालक के लिए १६ ग्रा० मात्रा होती है। यही मात्रा पूर्ण मध्यवय के लिए (१६ से ७० वर्ष तक) रहेगी। ७० वर्ष के बाद बालक के समान ही क्रमश: १ वर्ष में १ ग्रा० घटानी चाहिए। यह मात्रा कल्क और चूर्ण की है। क्वाथ की इससे चौगुनी होती है।[५]

१. नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम्। दोषवच्चातिमात्रं स्यात् सस्यस्यात्युदकं यथा।।
संप्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च। नैवातिबहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत्।।
(च० चि० ३०.३१३-३१४)
तत्र सर्वाण्येवौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात्। तत्र, व्याधिबलादधिक-मौषधमुपयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति; अग्निबलादधिकमजीर्णं विष्टभ्य वा पच्यते; पुरुषबलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनम् एवं संशोधनमतिपातयति। हीनमेभ्यो दत्तमकिञ्चित्करं भवति। तस्मात् सममेव विदध्यात्। (सु० सू० ३९.१०)

२. दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषजप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति। (च० वि० ८.९४)

३. मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वय:।
व्याधिं द्रव्यं च कोष्ठं च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत्।। (च० वि० ८)

४. द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तमस्मिन् मध्येषु तत् कोष्ठवयोबलेषु।
तन्मूलमालम्ब्य भवेद् विकल्प्यं तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभाव:।। (च० क० १२.८६)

५. बालस्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका।। अवलेहीकृतैकैव क्षीरक्षौद्रसिताघृतै:।।

क्रमश:....

आधुनिक विद्वानों ने १२ वर्ष के नीचे के बालकों की मात्रा निश्चित करने के लिए निम्नाङ्कित सूत्र बनाये हैं–

(क) **यङ्ग का सूत्र** (Young's formula)–

$$\text{बालक मात्रा} = \text{पूर्णमात्रा का } \frac{\text{आयु}}{\text{आयु} + १२}$$

इसके अनुसार १ वर्ष के बालक के लिए मात्रा होगी $\frac{१}{१ + १२} = १/१३$

(ख) **कॉलिङ्ग का नियम** (Cowling's rule)–

$$\text{पूर्णमात्रा} \times \frac{\text{आयु १ वर्ष आगे}}{२४}$$

इसके अनुसार १ वर्ष के बालक की मात्रा होगी = २/२४ = १/१२

(ग) **डिलिङ्ग का सूत्र** (Dilling's formula)–

$$\text{इसका सूत्र है} = \frac{\text{आयु}}{२०}$$

इससे मात्रा ग्रामों में निकलती है।

इसके अनुसार १ वर्ष के बालक की मात्रा होगी = १/२०

१२ से १६ वर्ष तक १/२ से २/३ तथा १७ से २० तक २/३ से ४/५ तक मात्रा होती है।

२. **बल**– बलवान् रोगी को अधिक मात्रा तथा दुर्बल रोगी को कम मात्रा दी जाती है।

३. **लिङ्ग**– पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अल्प मात्रा दी जाती है। स्त्रियों में आर्त्तव-काल का भी ध्यान रखना पड़ता है।

४. **अग्नि**– दीप्ताग्नि पुरुष को अधिक मात्रा तथा मन्दाग्नि पुरुष को अल्प-मात्रा दी जाती है।

५. **दोष**– अधिक प्रकुपित दोषों में अधिक मात्रा तथा अल्प प्रकुपित दोषों में अल्प मात्रा दी जाती है।

वर्धयेत्तावदेकैकां यावद् भवति वत्सर:। माषैर्वृद्धिस्तदूर्ध्वं स्याद्यावत् षोडशवत्सर:।।
तत: स्थिरा भवेत्तावद्यावद्वर्षाणि सप्तति:। ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनै: शनै:।।
मात्रेयं कल्कचूर्णानां कषायस्य चतुर्गुणा। (शा० प्र० ६.१४-१७)

६. **व्याधि**– गम्भीर व्याधि में अधिक मात्रा तथा सामान्य व्याधि में अल्प मात्रा दी जाती है। किसी किसी व्याधि में विशिष्ट द्रव्यों का प्रयोग अधिक मात्रा में भी किया जाता है यथा यकृत् और वृक्क-शूल में अहिफेन का तथा फिरङ्ग में पारद का।

७. **कोष्ठ**– क्रूरकोष्ठ पुरुषों में अधिक मात्रा तथा मृदुकोष्ठ पुरुषों में अल्पमात्रा देनी होती है। रिक्तकोष्ठ में अल्प तथा पूर्ण कोष्ठ में अधिक मात्रा दी जाती है।

८. **द्रव्य**– तीक्ष्णवीर्य द्रव्य की अल्प मात्रा एवं मृदुवीर्य द्रव्य की अधिक मात्रा दी जाती है।

इसके अतिरिक्त निम्नाङ्कित बातों का भी विचार किया जाता है–

९. **प्राकृतिक असहिष्णुता** (Idiosyncrasy)– कुछ व्यक्ति प्रकृतिवश कुछ द्रव्यों के प्रति असहिष्णु होते हैं तथा इन द्रव्यों की अल्प मात्रा को भी सहन नहीं कर सकते।

१०. **अभ्यास** (Habit)– कुछ द्रव्यों विशेषत: मादक और विषाक्त द्रव्यों (यथा अहिफेन, मद्य आदि) का निरन्तर सेवन करने से अभ्यास हो जाता है और उनकी क्रिया कम होने लगती है क्योंकि पुरुष उसके प्रति सहिष्णु (Tolerant) होता जाता है। अत: औषधीय कर्मों के लिए ऐसे व्यक्तियों में इनकी मात्रा अधिक देनी पड़ती है।

११. **शोषण और उत्सर्ग** (Absorption & excretion)– जिस द्रव्य का शोषण शीघ्र हो तथा उत्सर्ग देर से हो उसकी क्रिया अधिक होती है, अत: उसकी मात्रा भी कम देनी पड़ती है। इसी कारण मुख मार्ग से दिये गये द्रव्य की अपेक्षा सूचीवेध या गुदा द्वारा दी गई औषध की मात्रा कम होती है।

१२. **मानसिक स्थिति** (Mental condition)– रोगी की मानसिक स्थिति अनुकूल रहने पर औषध की कम मात्रा भी लाभकर होती है। इसीलिए रोगी का वैद्य के प्रति श्रद्धा और विश्वास तथा चिकित्सा में पूर्ण मनोयोग वाञ्छनीय है।

१३. **देश** (Climate)– शीत देशों में उष्णवीर्य द्रव्यों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जाता है इसी प्रकार उष्ण प्रदेशों में शीतवीर्य द्रव्यों का।

१४. **काल** (Time)– शीतकाल में उष्णवीर्य द्रव्यों की अधिक मात्रा भी दी जा सकती है। इसी प्रकार उष्णकाल में शीतवीर्य द्रव्यों की।

१५. **कल्प** (Preparations)– मात्रा में कल्पों का भी विचार करना पड़ता है। रसौषधियों की मात्रा कषायकल्पों की अपेक्षा कम होती है।

६. अनुपान

औषध को किसी द्रवपदार्थ में मिलाकर खाते हैं या उसके सेवन के बाद किसी द्रव पदार्थ का पान करते हैं। इसे 'अनुपान'[१] कहते हैं।

अनुपान का प्रयोजन यह है कि वह औषध को विलीन कर उसके संवहन एवं शोषण में सहायता प्रदान करता है[२] तथा औषध के कर्म में भी सहायक होता है। अनुपान का निर्णय रोगी की प्रकृति तथा दोषों के अनुसार किया जाता है। वातिक विकारों में स्निग्ध-उष्ण, पैत्तिक विकारों में मधुर-शीतल तथा श्लैष्मिक विकारों में रूक्ष-उष्ण अनुपान देना चाहिए।[३]

अनुपान के रूप में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य हैं– शीत तथा उष्णजल, आसव, मद्य, यूष, फलाम्ल, धान्याम्ल, दुग्ध, मांसरस, मधु, घृत आदि।[४] इनके अतिरिक्त औषध द्रव्यों के स्वरस, फाण्ट, क्वाथ, हिम, अर्क आदि भी अनुपान के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अनुपान में सर्वश्रेष्ठ माहेन्द्र जल माना गया है।

अनुपान का निर्धारण निम्नाङ्कित रूप से करते हैं–

१. औषध की दृष्टि से– यथा स्नेह का अनुपान उष्णोदक।
२. रोगी की दृष्टि से– यथा कृश के लिए सुरा और स्थूल के लिए मधूदक।
३. रोग की दृष्टि से– यथा रक्तपित्त में क्षीर, इक्षुरस एवं विष में शिरीषासव।

रोग के अनुसार अनुपान-भेद बहुत प्रसिद्ध है और रससिन्दूर, मकरध्वज आदि योगवाही औषधें इसी प्रकार अनुपान-भेद से अनेक विकारों में लाभकर होती हैं। यहाँ रोग के अनुसार अनुपान की एक सूची दी जाती है–

रोग	अनुपान	रोग	अनुपान
शूल	हिंगु और घृत	वमन	धान का लावा
जीर्णज्वर	पिप्पली और मधु	अतिसार	कुटज
वातव्याधि	रसोन और घृत	रक्तपित्त	वासा
श्वास	त्रिकटु और मधु	अर्श	चित्रकमूल

१. अनु सह पश्चाद् वा पीयते इति अनुपानम्।
२. यथा जलगतं तैलं क्षणेनैव प्रसर्पति। तथा भैषज्यमङ्गेषु प्रसर्पत्यनुपानत:।। (शा०)
३. स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं कफे रूक्षोष्णमिष्यते।
अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम्।। (सु० सू० ४६.४३०)
४. शीतोष्णतोयासवमद्ययूषफलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम्।
यस्यानुपानं तु हितं भवेद्यत्तस्मै प्रदेयं त्विह मात्रया तत्।। (सु० सू० ४६.४२०)
अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः। (शा०)

शीत	ताम्बूल और मरिच	कृमि	विडङ्ग
प्रमेह	त्रिफला और शर्करा	अजीर्ण	उष्णोदक
सन्निपात	आर्द्रक और मधु	क्षय	क्षीर, मांसरस
ज्वर	नागरमोथा और पित्तपापड़ा	पाण्डु	पुनर्नवा
ग्रहणी	तक्र	कास	वासा
विष	स्वर्णपत्र (सोने के वर्क)[१]		

७. भैषज्य-काल (Time of administration)

चिकित्सा में औषध का काल भी अतिशय महत्त्व रखता है क्योंकि औषध का प्रयोग समय के पूर्व या पश्चात् करने से लाभ नहीं होता।[२]

चरक ने औषध-सेवन के लिए निम्नाङ्कित काल बतलाये हैं[३]–

१. **प्रातःकाल-अभक्त**– खाली पेट प्रातःकाल जो औषध ली जाती है वह अभक्त कहलाती है। अन्न का संसर्ग नहीं होने से औषध का प्रभाव अतितीव्र होता है। अतः बलवान् पुरुष को इस काल में औषध देनी चाहिए।

२. **प्राग्भक्त (भोजन के पूर्व)**– भोजन के तुरन्त पहले औषध ली जाती है। अपान वायु के विकार में, अधःकाय के बलाधान, अधःकायगत रोगों के शमन तथा कृशीकरण के लिए इस काल में औषध देते हैं।

३. **मध्यभक्त (भोजन के मध्य में)**– समान वायु के विकार, कोष्ठगत रोग एवं पैत्तिक व्याधियों में मध्यमक्त औषध लेनी चाहिए।

४. **प्रातः पश्चाद्भक्त (भोजन के बाद)**– व्यान वायु के विकार में दिया जाता है। पूर्वकाय के बलाधान के लिए, पूर्वकायगत रोगों के शमनार्थ, कफ रोगों के निवारणार्थ एवं स्थूलीकरणार्थ इस समय में औषध देते हैं।

५. **सायं पश्चाद्भक्त**– उदान वायु के विकार में सायङ्काल भोजन के बाद औषध दी जाती है।

---

१. शूले हिगुघृतान्वितं, मधुयुता कृष्णा पुराणज्वरे,
वाते साज्यरसोनकः, श्वसनके क्षौद्रान्वितं त्र्यूषणम्।
शीते व्याललतादलं समरिचं मेहे वरा सोपला,
दोषाणां त्रितयेऽनुपानमुचितं सक्षौद्रमार्द्रोदकम्।।
घनपर्पटकं ज्वरे, ग्रहण्यां मथितं, हेम गरे, वमीषु लाजाः।
कटुजोऽतिसृतौ, वृषोऽस्रपित्ते,गुदकीलेष्वनलः, कृमौ कृमिघ्नः।।
(वै० जी० प० वि० १८-१९)

२. न ह्यप्राप्तातीतकालमौषधं यौगिकं भवति। (अ० सं० सू० २३.१२)

३. भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः। सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासग्रासान्तरे निशि।।
(च० चि० ३०.२९८)

६. **मुहुर्मुहुः (बार-बार)**– श्वास, कास, हिक्का, छर्दि, विष और पिपासा में बार-बार औषध दी जाती है।

७. **सामुद्ग (भोजन के आदि और अन्त में)**– हिक्का, कम्प, आक्षेपक तथा उर्ध्वाधोगत रोगों में लघु अन्न के आदि और अन्त में औषध देवे।

८. **सभक्त (भोजन के साथ)**– अरुचि में अम्ल आदि रोचन द्रव्यों को भोजन के साथ मिलाकर दिया जाता है। बालकों में, सुकुमार तथा औषधद्वेषी पुरुषों में एवं सर्वाङ्गगत विकारों में यह काल उत्तम माना गया है।

९. **सग्रास (कवल में मिलाकर)**– प्राण वायु दूषित होने पर यह देते हैं विशेषतः दीपन और वाजीकरण चूर्ण, लेह, वटी आदि का प्रयोग इसमें होता है। दीपनार्थ हिंग्वष्टक चूर्ण भोजन के प्रथम कवल में मिला कर देते हैं।

१०. **ग्रासान्तर (दो कवलों के बीच में)**– यह भी प्राण वायु के ही विकार में दिया जाता है। हृद्रोग में अधिक प्रयुक्त होता है।

११. **निशा**– ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों में वमन, धूम आदि रात में सोने के समय देते हैं।[१]

वृद्धवाग्भट ने निम्नाङ्कित ग्यारह काल बतलाये हैं जिनमें सब चरक के समान ही हैं केवल 'अन्तरभक्त' विशिष्ट है[२]–

१. अभक्त
२. प्राग्भक्त
३. मध्यभक्त
४. अधोभक्त (पश्चाद्भक्त)
५. समभक्त
६. अन्तरभक्त– पूर्वाह्ण में किये भोजन के पच जाने पर मध्याह्न में औषध दी जाय और उसके जीर्ण होने पर पुनः अपराह्ण में भोजन किया जाय इसे 'अन्तरभक्त' कहते हैं। दीप्ताग्नि पुरुषों के व्यानवायुजन्य विकारों में इस काल में औषध दी जाती है।

---

१. अपाने विगुणे पूर्वं, समाने मध्यभोजनम्। व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य ह्युदाने भोजनोत्तरम्।।
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते। श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः।।
सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम्। सम्भोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैरुचौ हितम्।।
(च० चि० ३०.२९९-३०१)
ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते। (च० चि० ३०)

२. तस्य तु एकादशधाऽवचारणम्–तद्यथा–अभक्तं प्राग्भक्तं मध्यभक्तमधोभक्तं सभक्त-मनन्तरभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः सग्रासं ग्रासान्तरं निशि च। (अ० सं० सू० २३.१२)

७. सामुद्र
८. मुहुर्मुहुः
९. सग्रास
१०. ग्रासान्तर
११. निशा[१]

शार्ङ्गधर ने इन कालों को पाँच भागों में विभक्त किया है[२]–

१. **सूर्योदय (प्रभात)**– वमन, विरेचन एवं लेखन औषध इस काल में दी जाती है। यह अभक्त काल है।[३]

२. **दिवस-भोजन**– इसी में प्राग्भक्त, सभक्त, मध्यभक्त, पश्चाद्भक्त और सामुद्र का ग्रहण किया है।[४]

---

१. तत्राभक्तं नाम केवलमेवौषधम्। तन्निरन्नोपयोगादतिवीर्यम्। कफोद्रेके विमुक्तामाशयस्रोताः प्रातर्बलवानुपयुञ्जीत। इतरस्तु प्राग्भक्तादिकम्। अन्नसंसर्गेण हितं नातिग्लानिकरं भवति।
प्राग्भक्तं नाम यदनन्तरभक्तम्। तदपानानिलविकृतावधःकायस्य च बलाधानार्थं तद्रतेषु च व्याधिषु प्रशमनाय कृशीकरणार्थञ्च योज्यम्।
मध्यभक्तं मध्ये भक्तस्य तत्समानानिलविकृतौ। कोष्ठगतेषु च व्याधिषु पैत्तिकेषु च।
अधोभक्तं भक्तादनन्तरम्। तत्तु व्यानविकृतौ प्रातराशान्तमुदानविकृतौ पुनः सायमाशान्तम्। पूर्वकायस्य च बलाधानार्थं तद्रतेषु व्याधिषु च श्लैष्मिकेषु च प्रशमाय स्थूलीकरणार्थञ्च।
समभक्तं यदन्नेन समं साधितं पश्चाद्वा समालोडितम्। तद्बालेषु सुकुमारेष्वौषधद्वेषिष्वरुचौ सर्वाङ्गेषु च रोगेषु।
अन्तरभक्तं यत् पूर्वाह्नभक्ते जीर्णे मध्याह्ने भेषजमुपयुज्यते। तस्मिंश्च जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम्। एतेन रात्रिर्व्याख्याता। तद्दीप्ताग्नेर्व्यानजेष्वामयेषु।
सामुद्रं यदादावन्ते च भुक्तस्य। तत्तु लघ्वल्पान्नयुक्तं पाचनावलेहचूर्णादि हिध्मायां कम्पाक्षेपकयोरूर्ध्वाधः संश्रये च दोषे।
मुहुर्मुहुस्तु पुनः पुनर्भुक्ते यदभुक्ते वा। तच्छ्वासकासहिध्मातृट्छर्दिषु विषनिमित्तेषु च विकारेषु।
सग्रासं यत् ग्राससंपृक्तम्। ग्रासान्तरं यत् ग्रासयोर्ग्रासयोर्मध्ये द्वयमप्येतत्प्राणानिलविकृतौ। तथा सग्रासं चूर्णलेहवटकादिकमग्निदीपनवाजीकरणानि चोपयुञ्जीत। ग्रासान्तरं हृद्रोगे। वमनं धूमं च जत्रूर्ध्वामयेषु निशायाम्। (अ० सं० सू० २३.१३-२१)

२. ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम्। किंचित् सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने। सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि। (शा० प्र० २.२-)

३. प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः। लेखनार्थं च भैषज्यं प्रभाते तत् समाहरेत्।।
एवं स्यात् प्रथमः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम्। (शा० प्र० २.३-४)

४. भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते। अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत्।।
समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावग्निदीपनम्। दद्याद्भोजनमध्ये च भैषज्यं कुशलो भिषक्।।
व्यानकोपे च भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत्। हिक्काक्षेपककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात्।।
एवं द्वितीयकालश्च प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि। (शा० प्र० २.८-९-)

३. **सायंभोजन**– ग्रास, ग्रासान्तर और अधोभक्त ये सायं भोजनकाल में अन्तर्भूत हैं।[१]

४. **मुहुर्मुहुः**[२]

५. **निशाकाल**[३]

इस प्रकार चरक और वृद्धवाग्भट के ग्यारह काल इन पाँच कालों में अन्तर्भूत हो गये हैं।

विशिष्ट औषधद्रव्यों की दृष्टि से उनका सेवन विशिष्ट कालों में करने का विधान है यथा–

१. खनिज अम्ल प्रायः भोजन के पूर्व देते हैं।
२. क्षार अम्ल को उदासीन करने के लिए यदि देना हो तो भोजन के बाद तुरन्त देना चाहिए और यदि रक्तगत क्षारीयता की दुष्टि के लिए देना हो तो अन्तरभक्त देना चाहिए।
३. आमाशय के लिए शामक द्रव्य रिक्त कोष्ठ में प्रातः देना चाहिए।
४. दीपन औषध भोजन के पूर्व देनी चाहिए।
५. पाचन औषध भोजन के बाद देनी चाहिए।
६. आन्त्रिक पाचन के लिए अनुलोमन आदि औषध भोजन के एक-दो घण्टे बाद देना चाहिए।
७. आसव-अरिष्ट भोजन के बाद देते हैं।
८. लौह के योग भोजन के बाद देने चाहिए।
९. शंखिया के योग भी भोजनोत्तर देवे।
१०. तीव्रता से कार्य करने वाले रेचन द्रव्य यथा एरण्डतैल, लवण आदि प्रातः काल तथा मन्द कार्य करने वाले सनाय आदि सोते समय रात में देवे।
११. आत्तर्वजनन औषध काल के एक सप्ताह पूर्व से लेनी चाहिए।
१२. निद्राजनन औषध निद्राकाल के आधे घण्टे पूर्व देवे।
१३. परिणामशूल में औषध भोजन के पूर्व तथा बाद (सामुद्र) देनी चाहिए।

---

१. उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकर्मणि। ग्रासे ग्रासान्तरे देयं भैषज्यं सान्ध्यभोजने।।
प्राणे प्रदुष्टे सान्ध्यस्य भुक्तस्यान्ते च दीयते। औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात्तृतीयकः।।
(शा० प्र० २.८-९-)

२. मुहुर्मुहुश्च तृट्छर्दिहिक्काश्वासगरेषु च। सान्नं च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः।।
(शा० प्र० २.१०-)

३. ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा। पाचनं शमनं देयमनन्नं भेषजं निशि।।
इति पञ्चमकालश्च प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि। (शा० प्र० २.११-१२)

८. **भैषज्य-मार्ग** (Channels of administration)

दोषों के अधिष्ठान के अनुसार औषध का प्रयोग शरीर के विभिन्न स्रोतों द्वारा होता है। शरीर में नव स्रोत हैं– मुख, नासा, नेत्र, कर्ण, गुदा और मूत्रमार्ग। इन सभी से औषध का प्रयोग होता है।

१. **मुख**– मुखमार्ग से औषध निम्नाङ्कित कार्यों के लिए दी जाती है[१]–

(क) मुखगह्वर तथा गले में स्थानिक कर्म के लिए– यथा गण्डूष, कवल, प्रतिसारण आदि।

(ख) पाचनसंस्थान पर कर्म करने के लिए– यथा दीपन, पाचन, वमन, विरेचन आदि।

(ग) श्वसनसंस्थान पर कर्म के लिए– यथा धूमपान आदि।

(घ) सार्वदेहिक कर्म के लिए– प्राय: अधिकांश औषधें मुखमार्ग से दी जाती हैं जो आमाशय और आन्त्र में पाचित-शोषित होकर शरीर के विभिन्न दोष-धातु-मलों पर अपना कर्म करती हैं।

२. **नासा**– इस मार्ग से औषधियों का प्रयोग निम्नाङ्कित कर्मों के लिए होता है–

(क) स्थानिक कर्म के लिए– यथा नस्य

(ख) फुफ्फुस पर कर्म के लिए– यथा धूमपान

(ग) शिर पर कर्म के लिए– यथा शिरोविरेचन

३. **नेत्र**– नेत्र पर स्थानिक कर्म के लिए सेक, आश्च्योतन, पिण्डी, बिडाल, तर्पण, पुटपाक और अञ्जन इन रूपों में औषध दी जाती है।[२]

४. **कर्ण**– कर्णधावन, कर्णधूपन एवं कर्णपूरण आदि औषधियों का प्रयोग कर्ण के द्वारा होता है।

५. **गुदा**– इस मार्ग से आस्थापन एवं अनुवासन बस्तियों का प्रयोग होता है। पुरीषानुलोमन के लिए मलाशय पर स्थानिक क्रिया के उद्देश्य से फलवर्ति आदि का प्रयोग भी इस मार्ग से होता है। इस प्रकार इस मार्ग से स्थानिक और सार्वदेहिक दोनों कर्म होते हैं।

६. **मूत्रमार्ग**– इस स्रोत से उत्तरबस्ति देते हैं।

१. आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तः शिरोगतान्। गुदात् पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु दत्तमौषधम्।। (च० चि० ३०.२९४)

२. सेक आश्चोतनं पिण्डी बिडालस्तर्पणं तथा। पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत्।। (शा० उ० १३.१)

७. **यौनिमार्ग**– स्त्रियों को योनिमार्ग से योनिधूपन, फलवर्ति, तैलपिचु, योनिपूरण, योनिधावन आदि किये जाते हैं।

८. **त्वचा**– स्नेहन, स्वेदन, अभ्यङ्ग आदि बहि:परिमार्जन औषध का प्रयोग त्वचा से होता है।[१] त्वचा पर प्रयुक्त अभ्यङ्ग, आलेप आदि का शोषण भ्राजक पित्त के द्वारा होता है।[२] व्रणों पर औषध का प्रयोग भी त्वचा के द्वारा ही होता है। मुखलेप, मूर्धतैल आदि का प्रयोग भी त्वचा के द्वारा ही किया जाता है। आजकल सूची के द्वारा त्वचा को भेद कर अधस्त्वक् धातु में, मांसपेशी में या सिरा में औषध का प्रयोग किया जाता है।

९. **औषध-व्यवस्था**– रोग-निर्णय के पश्चात् रोग के लिए प्रकृति, दोष, बल, वय आदि दश परीक्ष्य भावों का विचार कर तदनुसार दोषप्रत्यनीक, व्याधिप्रत्यनीक या उभयप्रत्यनीक औषध की व्यवस्था करनी चाहिए। रोगी को जो सात्म्य हो उसी के अनुकूल औषध देनी चाहिए।[३] विशेषत: बालकों में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि औषध मृदुवीर्य, कषाय-मधुर और सक्षीर हो तथा उसका प्रयोग अल्प मात्रा में किया जाय। बालकों के लिए अतिस्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, अम्ल, कटुविपाक तथा गुरु औषध-पान-अन्न की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।[४] क्षीरप बालकों के विकारों में, विशेषत: स्तन्यदोष के निवारण के लिए धात्री को औषध दी जाती है और स्तन पर लेप भी किया जाता है।[५] अनेक औषधों का निर्हरण

१. शरीरावयवोत्थेषु वीसर्पपिडकादिषु। यथादोषं प्रदेहादि शमनं स्याद् विशेषतः।। (च० चि० ३०.२९५)

२. ..... यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः। (सु० सू० २१.१०)

३. योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति। वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः।। (च० चि० ३०.३२०-)

तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः। कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्।। (च० चि० ३.३२६-)

तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भैषज्यान्यवचारयेत्। (च० चि० ३०.३१९)

४. निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम्। वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित्। भेषजं स्वल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत्। मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च।। प्रयोजयेद् भिषग् बाले मतिमानप्रमादतः। अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटुविपाकि च।। गुरु चौषधपानान्नमेतद्बालेषु गर्हितम्। (च० चि० ३०.२८३-२८६)

५. यस्तु स्यात् क्षीरपो बालः कषायं पातुमक्षमः। तदा भिषक् कुमारस्य तस्य धानीञ्च पाययेत्।। ये गदानां च ये योगाः प्रोक्ताः स्वे स्वे चिकित्सिते। तेषां कल्केन संलिप्तौ कुमारं पाययेत् स्तनौ।। (प० प्र० ३.११०-१११)

स्तन्य के द्वारा होता है इसलिए बालक पर भी उसका प्रभाव हो जाता है। स्त्रियों की औषध-व्यवस्था में आर्त्तवकाल, गर्भावस्था आदि का विचार कर लेना चाहिए।

उपसंहार

नामरूपज्ञान, गुणकर्मज्ञान तथा प्रयोगज्ञान– ये तीन द्रव्यगुणविज्ञान के तीन क्रमिक सोपान हैं।[१] द्रव्यज्ञान की परिणति प्रयोगज्ञान में होती है क्योंकि वह तभी सार्थक होता है जब युक्तियुक्त प्रयोग के द्वारा आयुर्वेद के उद्देश्य स्वस्थ्यरक्षा और रोगनिवारण की पूर्ति में साधन नहीं बन जाता। इस ग्रन्थ में इन सभी का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थोऽयं ग्रथितः सूत्रैर्नवैः गूढार्थबोधकैः।
शास्त्रज्ञाने सहायः स्यादित्याशास्त्रे प्रियव्रतः।।

*

१. चरक के 'योगवित्रामरूपज्ञः' में गुणकर्म योग में अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार 'नामरूपगुणैस्त्रिभिः' में कर्म और प्रयोग गुण में अन्तर्भूत हैं।

परिशिष्ट–१

कुलानुसार प्रमुख वानस्पतिक द्रव्यों की सूची

१. वत्सनाभ-कुल (Ranunculaceae)

कुललक्षण– पर्णविन्यास मूलोद्भव, अधिकांश एकान्तर और संयुक्त; पुष्प पूर्ण और प्रायः द्विलिंगी; पङ्खड़ियाँ प्रायः पाँच और रङ्गीन, पुङ्केशर अनियत, स्त्रीकेशर तीन या अनेक, बीजीभव एक या अनेक; मूल प्रायः कन्द क्वचित् सूत्रवत्। इस कुल में प्रायः वर्षायु या बहुवर्षीय क्षुप, गुल्म और कहीं लतायें होती हैं।

१. वत्सनाभ– Aconitum ferox Wall.
२. शृङ्गी विष– Aconitum chasmanthum Stapf ex Holmes.
३. अतिविषा– Aconitum heterophyllum Wall.
४. प्रतिविषा– Aconitum bisma (Ham.) Rapaics; syn.-Aconitum palmatum D. Don.
५. ममीरा– Coptis teeta Wall.
६. पियाराँगा (ममीरी)– Thalictrum foliolosum DG.
७. उपकुञ्चिका– Nigella sativa Linn.
८. ऊदसलीब– Paeonia emodi Wall.
९. अगेली– Anemone abtusiloba D. Don.
१०. वेलकुम (मूर्वा?)– Clematis gouriana Roxb.
११. काण्डीर (देवकाण्डर)– Ranunculus sceleratus Linn.

२. भव्य-कुल (Dilleniaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर सादे, बड़े, चर्मसदृश; पुष्पबाह्यकोश के दल तीन से पाँच, स्थायी; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५, पुङ्केशर संख्या अनियमित; स्त्रीकेशर एक या अनियत, स्वतंत्र या किंचित् संयुक्त; फल-एकसेवनीय या बीजिमांसल। इस कुल में वृक्ष, गुल्म या लतायें होती हैं।

१२. भव्य– Dillenia indica Linn.

३. चम्पक-कुल (Magnoliaceae)

कुललक्षण– पत्र अखण्ड और एकान्तर, पुष्प सुगंधि, नियमित, बड़े और सुन्दरः, प्रायः एकल, द्विलिंगी, शाखाग्रोद्भूत या पत्रकोणोद्भूत, बाह्यदल प्रायः तीन; अन्तर्दल छः या अनेक; पुङ्केशर तथा स्त्रीकेशर अनेक; फल गुच्छों में एकसेवनीय, सपक्ष या बीजिमांसल। वृक्ष या गुल्म।

१३. चम्पक– Michelia champaca Linn.

११. **वरुण-कुल** (Capparidaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सरल संयुक्त; पुष्पव्यूह प्राय: एकवर्ध्यक्ष, पुष्प द्विलिङ्ग या एकलिङ्ग, नियमित या अनियमित, बाह्यदल प्राय: ४, अन्तर्दल ४ या अधिक या शून्य, कुक्षिवृन्त १; फल सामान्य स्फोटी, बीजिमांसल या कठिनकोश; क्षुप, गुल्म या वृक्ष।

४२. वरुण– Crataeva nurvala Buch.-Ham.

४३. तिलपर्णी श्वेतपुष्पा– Gynandropsis gynendra (Linn.) Briquet.
पीतपुष्पा– Cleome viscosa Linn.

४४. करीर– Capparis decidua Edgew.

४५. हिंस्रा– Capparis sepiaria Linn.

४६. व्याघ्रनखी (हिंस्राभेद)– Capparis zeylanica Linn.

४७. मोरट (मुरहरी)– Maerua arenaria Hook. f. Th.

१२. **वनफ्शा-कुल** (Violaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, सरल, वृक्काकार; पुष्प रङ्गीन, सुगंधि, अनियमित, बाह्यदल ५, अन्तर्दल ५ छोटे-बड़े, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर ३ संयुक्त; फल सामान्य स्फोटी; वर्षायु या प्राय: बहुवर्षायु क्षुप या गुल्म, कोई कोई लता।

४८. बनफ्शा– Viola odorata Linn.

१३. **तुवरक-कुल** (Flacourtiaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, चर्मवत्, सरल और उपपक्षयुक्त; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प नियमित, बाह्यदल २-१५, अन्तर्दल २-१५ (या नहीं), पुङ्केशर अनेक, स्त्रीकेशर २-१०, संयुक्त, ऊर्ध्वस्थ या अध:स्थ; फल सामान्य स्फोटी या बीजिमांसल, वृक्ष, गुल्म या कभी-कभी लता।

४९. तुवरक– (i) Hydnocarpus wightiana Blume
(ii) Hydnocarpus kurzii (King) Warb.

५०. प्राचीनामलक– Flacourtia jangomas Raeusch.

५१. विकंकत– Flacourtia indica (Burm.f.) Merr.

१४. **नीलकण्ठी-कुल** (Polygalaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सरल; पुष्पव्यूह एकवर्ध्यक्ष या अवृन्तकाण्डज या एकल पुष्प, पुष्प अनियमित द्विलिङ्ग, बाह्यदल ५ भीतरी २ प्राय: बड़े और अन्तर्दलवत्, अन्तर्दल प्राय: ३, पुङ्केशर ३-१०, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्य स्फोटी, कठिनकोश, सपक्षफल या अष्ठिफल; क्षुप, गुल्म या वृक्ष कभी-कभी वल्ली।

५२. नीलकण्ठी– Polygala crotalarioides Buch.-Ham.

१५. **लोणिका-कुल** (Portulacaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, प्राय: मांसल, सरल और प्राय: उपपक्षयुक्त; पुष्पव्यूह एकवर्ध्यक्ष, बहुवर्ध्यक्ष या एकल पुष्प, पुष्प द्विलिङ्ग, नियमित, सुन्दर, बाह्यदल २, अन्तर्दल ४-६, पुङ्केशर अन्तर्दल के समान संख्या में या २-४ गुना, स्त्रीकेशर २-३; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल-सामान्य स्फोटी; वर्षायु या बहुवर्षायु क्षुप।

५३. लोणिका-बृहत्– Portulaca oleracca Linn.

५४. लोणिका-लघु– Portulaca quadrifida Linn.

१६. **झाबुक-कुल** (Tamaricaceae)

कुललक्षण– सपुष्प, द्विबीजपर्ण, पत्र एकान्तर, अवृन्त, अखण्ड और छोटे; पुष्प छोटे और नियमित, बाह्यदल तथा अन्तर्दल ४-५, पुङ्केशर ४-५, ८-१० या अनेक, स्त्रीकेशर, २, ४ या ५ संयुक्त; झाड़ीनुमा।

५५. झाबुक– (i) Tamarix gallica Linn.
(ii) Tamarix Articulata Vahl

१७. **नागकेशर-कुल** (Clusiaceae-Guttiferae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, कभी-कभी एकान्तर, सादे अखण्ड; पुष्पव्यूह एकल या बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प नियमित एकलिङ्ग या द्विलिङ्ग; बाह्यदल २-१०, अन्तर्दल ४-१२, पुङ्केशर अनियमित प्राय: गुच्छों में, स्त्रीकेशर ३-५ संयुक्त; फल सामान्य स्फोटी, बीजिमांसल या अष्ठिफल; वृक्ष, गुल्म या क्षुप रालयुक्त निर्यास से पूर्ण होते हैं।

५६. नागकेशर– Mesua ferrea Linn.

५७. पुन्नाग– Calophyllum inophyllum Linn.

५८. सुरपुन्नाग– Mammea longifolia Planch. & Triana; syn.- Ochrocarpus longifolius Benth. and HooK.f.

५९. वृक्षाम्ल– Garcinia indica Choisy

६०. तमाल– Garcinia morella Desr.

१८. **शाल-कुल** (Dipterocarpaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे, सदाहरित तथा मांसल; पुष्पव्यूह- एकवर्ध्यक्ष:, पुष्प पूर्ण, नियमित, बाह्यदल ५; अर्न्तदल ५; पुङ्केशर ५, १०, १५ या अधिक; स्त्रीकेशर ३ संयुक्त; फल एकबीजी कठिनकोश। इसमें बड़े अल्पशाख वृक्ष होते हैं।

६१. शाल– Shorea robusta Gaertn.f.

६२. सर्ज– Vateria indica Linn.
६३. गर्जन– Dipterocarpus alatus Roxb.
६४. भीमसेनी कपूर– Dryobalanops aromatica Gaertn. f.

१९. कार्पास-कुल (Malvaceae)

कुललक्षण– पत्र सरल उपपत्रयुक्त, एकान्तर; पुष्प सुन्दर नियमित और शाखाग्रोद्भूत या बहुवर्ध्यक्ष, बाह्यदल ५, अन्तर्दल ५, पुङ्केशर अनेक अधोभाग में मिलकर नलिकाकार, स्त्रीकेशर १ से अधिक, प्राय: ५, संयुक्त; फल-सामान्य स्फोटी या बीजिमांसल या बद्धविदारी, क्षुप, गुल्म या वृक्ष।

६५. कार्पास– Gossypium herbaceum Linn.
६६. अरण्यकार्पास (भारद्वाजी)– Thespesia lampas (Cav.) Dalz. and Gibs.
६७. जपा– Hibiscus rosa-sinensis Linn.
६८. लताकस्तूरी– Hibiscus abelmoschus Linn.
६९. खत्मी– Althaea officinalis Linn.
७०. पारीश– Thespesia papulnea Soland.ex Correa
७१. बला– Sida cordifolia Linn.
७२. अतिबला– Abutilon indicum (Linn.) Sweet
७३. राजबला (प्रसारणी)– Sida veronicaefolia Lam.
७४. महाबला– Sida rhombifolia Linn.
७५. सुवर्चला (सोंचल)– Malva rotundifolia Linn.

२०. शाल्मली-कुल (Bombacaceae)

कुललक्षण– बीजकोश ऊर्ध्वस्थ; पत्र एकान्तर, वर्षजीवी, सादे या संयुक्त, उपपत्रयुक्त; पुष्प सम्पूर्ण, प्राय: बड़े एवं नियमित, बाह्यदल ५, संयुक्त, अन्तर्दल ५, पुङ्केशर ५ से अनेक, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; फल-सामान्य स्फोटी; बीज प्राय: रोम से आवृत; इसमें प्राय: बड़े और सारवान वृक्ष होते हैं।

७६. शाल्मलि (रक्तपुष्प)– Salmalia malabarica (DC.) Schott and Endl.
७७. कूटशाल्मलि (श्वेतपुष्प)– Ceiba pentandra (Linn.) Gaertn.

२१. पिशाचकार्पास-कुल (Sterculiaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे और उपपत्रयुक्त; पुष्पव्यूह अनेकविध प्राय: फल पुष्प; पुष्प पूर्ण, नियमित, बाह्यदल ५, संयुक्त, अन्तर्दल ५ प्राय: छोटे या अनुपस्थित, पुङ्केशर १० संयुक्त होकर एक नलिकाकार, स्त्रीकेशर ५ संयुक्त; फल-चर्मवत्, मांसल और काष्ठीय; वृक्ष, क्षुप या गुल्म।

७८. पिशाचकार्पास (उलटकंबल)– Abroma augusta Linn. f.
७९. आवर्तनी (मरोड़फली)– Helicteres isora Linn.

८०. कतीरा– Sterculia urens Roxb.
८१. कनकचम्पा– Pterospermum suberifolium Lam.
८२. मुचकुन्द– Pterospermum acerifolium Willd.
८३. बन्धुजीव (दुपहरिया)– Pentapetes phoenicea Linn.

२२. परूषक-कुल (Tiliaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: सादे, एकान्तर, उपपत्रयुक्त और तिरछे; पुष्प नियमित बाह्यदल तथा अन्तर्दल ५, पुङ्केशर अनेक तथा असंयुक्त, स्त्रीकेशर २ से अधिक; फल सामान्य स्फोटी, बीजिमांसल, अष्ठिफल या कठिनकोश, वृक्ष या गुल्म, क्षुप कादाचित्क।

८४. परूषक– Grewia asiatica Linn.
८५. धन्वन– Grewia tiliaefolia Vahl
८६. गांगेरुकी– Grewia populifolia Vahl
८७. नागबला (गुलशर्करा)– Grewia hirsuta Vahl
८८. झिञ्झिरीटा– Triumfetta bartramia Linn.

२३. अतसी-कुल (Linaceae)

कुललक्षण– पत्र एकाकी, छोटे, अखण्ड, एकान्तर; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प नियताकार, बाह्य और अन्तर्दल ५-५, पुङ्केशर ५, १० या अधिक, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्य स्फोटी या अष्ठिफल; क्षुप और गुल्म, कभी-कभी लता।

८९. अतसी– Linum usitatissimum Linn.

२४. गोक्षुर-कुल (Zygophyllaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, प्राय: मांसल या चर्मवत्, संयुक्त, उपपत्रयुक्त; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष या एकल पुष्प, पुष्प पूर्ण, नियमित, बाह्य और अन्तर्दल प्राय: ५, पुङ्केशर ५, १० या १५, स्त्रीकेशर ४-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फलसामान्य स्फोटी या बीजिमांसल। बहुवर्षायु क्षुप या गुल्म।

९०. गोक्षुर– Tribulus terrestris Linn.
९१. धन्यवास– Fagonia cretica Linn.

२५. चाङ्गेरी-कुल (Geraniaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, एकाकी या संयुक्त; पुष्प पूर्ण नियमित या अनियमित, बाह्य तथा अन्तर्दल ५-५, पुङ्केशर १०, स्त्रीकेशर ३-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्य स्फोटी या बद्धविदारी; प्राय: क्षुप, कभी-कभी गुल्म।

९२. चाङ्गेरी– Oxalis corniculata Linn.
९३. कर्मरङ्ग– Averrhoa carambola Linn.

२६. निम्बुक-कुल (Rutaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: संयुक्त, ग्रन्थिमय बिन्दुयुक्त, सुगन्धि, उपपत्ररहित; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प पूर्ण, नियमित या अनियमित, बाह्य और अन्तर्दल ४-५, अन्तर्दल कभी अनुपस्थित, पुङ्केशर ३-१० या अनियत, स्त्रीकेशर ४-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्य स्फोटी, बद्धविदारी, बीजिमांसल, अष्ठिफल या सपक्ष; क्षुप, गुल्म और वृक्ष।

९४. हरमल– Peganum harmala Linn.
९५. सुदाब– Ruta graveolens Linn.
९६. बीजपूर– Citrus medica Linn.
९७. मधुकर्कटी (चकोतरा)– Citrus maxima (Burm.) Merr.
९८. जम्बीर (जमीरी नींबू)– Citrus limon (Linn.) Burm.f.
९९. निम्बुक (कागजी नींबू)– Citrus aurantifolia (Christm.) Swingle
१००. मिष्ट निम्बु (मीठा नींबू)– Citrus limettoides Tanaka.
१०१. नारङ्ग (नारङ्गी, सन्तरा)– Citrus reticulata Blanco.
१०२. बिल्व– Aegle marmelos Correa
१०३. कपित्थ– Feronia limonia (Linn.) Swingle
१०४. तेजबल– Zanthoxylum alatum Roxb.
१०५. कञ्ज (काञ्चनफल)– Toddalia asiatica (Linn.) Lam.
१०६. कस्तूरीपत्र– Skimmia laureola Hook.f. in part, non Sieb. and Zucc.
१०७. मीठी नीम– Murraya koenigii (Linn.) Spreng.
१०८. वेली (झरसी, सुरसी?)– Limonia crenulata Roxb.
१०९. कामिनी– Murraya paniculata (Linn.) Jack.

२७. इङ्गुदी-कुल (Balanitaceae-Simaroubaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, पुष्प छोटे, नियमित, बाह्य और अन्तर्दल ३-७, पुङ्केशर दलों से दुगुने, स्त्रीकेशर ४-५ संयुक्त, फल मांसल और अविदारी। इस वर्ग के वृक्ष उष्ण प्रदेश में होते हैं।

११०. इङ्गुदी– Balanites aegyptiaca (Linn.) Delile
१११. अरलु– Ailanthus excelsa Roxb.

२८. गुग्गुलु-कुल (Burseraceae)

कुललक्षण– ऊर्ध्वस्थ गर्भाशय; पत्र एकान्तर, प्राय: संयुक्त; बाह्य और अन्तर्दल ३-५, पुङ्केशर दल के बराबर, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; फल अष्ठिल या सामान्य स्फोटी। इस वर्ग के वृक्षों या गुल्मों से सुगन्धि निर्यास निकलता है जो औषध या धूप के काम आता है।

११२. गुग्गुलु– Commiphora wightii (Arn.) Bhand.; syn.- Commiphora mukul (Hook. ex stocks.) Engl.
११३. बोल– Commiphora myrrha (Nees.) Engl.
११४. शल्लकी– Boswellia serrata Roxb. ex Coleb

२९. निम्ब-कुल (Meliaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: एकान्तर, संयुक्त, उपपत्ररहित; बाह्यदल और अन्तर्दल ४-५, पुङ्केशर ८-२० केशरसूत्र नीचे मिलकर नलिकाकार, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल बीजिमांसल, सामान्य स्फोटी या अष्ठिफल; वृक्ष या गुल्म प्राय: सुगंधित काष्ठयुक्त।

११५. निम्ब– Azadirachta indica A. Juss.
११६. महानिम्ब (बकायन)– Melia azedarach Linn.
११७. रोहितक?– Aphanamixis polystachya (Wall.) parker
११८. मांसरोहिणी– Soymida febrifuga A. Juss.
११९. तून– Cedrela toona Roxb.
१२०. प्रियङ्गु (?)– Aglaia roxburghiana Miq.

३०. ज्योतिष्मती-कुल (Celastraceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, क्वचित् अभिमुख, एकाकी सरल, स्थायी या वर्षजीवी; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प छोटे, नियमित, प्राय: पूर्ण, बाह्यदल-४-५ स्वतंत्र या संयुक्त, अन्तर्दल ४-५, पुङ्केशर ४-५, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; फल सामान्य स्फोटी, सपक्ष, अष्ठिल या बीजिमांसल; बीज प्राय: चमकीले रङ्गीन; वृक्ष और गुल्म प्राय: आरोही।

१२१. ज्योतिष्मती– Celastrus paniculatus Willd.
१२२. कृष्ण मुष्कक– Elaeodendron glaucum Pers.
१२३. सप्तचक्रा (सप्तरङ्गी)– (i) Salacia prinoides DC.
(ii) S. macroperma Wight

३१. बदर-कुल (Rhamnaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: एकान्तर, सादे उपपत्रयुक्त; बाह्य और अन्तर्दल ४-५, पुङ्केशर ४-५, स्त्रीकेशर २-४ संयुक्त; फल सामान्य स्फोटी, सपक्ष या अष्ठिल; वृक्ष या गुल्म कभी-कभी आरोह।

१२४. सौवीर (राजबदर या उन्नाव)– Ziziphus jujuba Mill.
१२५. बदर– Ziziphus mauritiana Lam.
१२६. कर्कन्धु– Ziziphus nummularia (Burm. f.) W. & A.
१२७. घोण्टा– Ziziphus xylopyra Willd.

३२. द्राक्षा-कुल (Vitaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सरल, क्वचित् संयुक्त; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प नियमित, छोटे पूर्ण या अपूर्ण, बाह्यदल ४-५, संयुक्त, छोटे, अन्तर्दल ४-५ प्राय: अग्रभाग पर संयुक्त होकर फणाकार, पुङ्केशर ४-५, स्त्रीकेशर २ संयुक्त; फल बीजिमांसल; आरोही, क्वचित् गुल्म।

१२८. द्राक्षा– Vitis vinifera Linn.
१२९. अस्थिशृङ्खला– Cissus quadrangularis Linn.
१३०. काकजङ्घा– Leea aequata Linn.

३३. अरिष्टक-कुल (Sapindaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर सरल या संयुक्त; पुष्प द्विलिङ्ग या एकलिङ्ग, नियमित या अनियमित, बाह्यदल और अन्तर्दल ५, पुङ्केशर ४-१० या अनेक, स्त्रीकेशर प्राय: ३ संयुक्त; फल सामान्य स्फोटी, कठिनकोश, बीजिमांसल, अष्ठिल, बहुविदारी या सपक्ष; वृक्ष या गुल्म, क्वचित् लतायें।

१३१. अरिष्टक– (i) Sapindus trifoliatus Linn.
(ii) Sapindus mukorossi Gaertn.
१३२. काकादनी (शक्रलता)– Cardiospermum halicacabum Linn.
१३३. कोशाम्र– Schleichera oleosa (Lour.) Oken

३४. आम्र-कुल (Anacardiaceae)

कुललक्षण– पत्रक्रम एकान्तर, पत्र सरल या संयुक्त, उपपत्ररहित; बाह्य तथा अन्तर्दल ५, पुङ्केशर १०, स्त्रीकेशर १-३, संयुक्त; फल प्राय: अष्ठिल; वृक्ष या गुल्म जो दुग्धवत् निर्यास से युक्त होते हैं।

१३४. आम्र– Mangifera indica Linn.
१३५. भल्लातक– Semecarpus anacardium Linn. f.
१३६. कर्कटशृङ्गी– Pistacia integerrima Stewart ex Brandis
१३७. तिन्तिडीक– Rhus parviflora Roxb.
१३८. काजूतक (काजू)– Anacardium occidentale Linn.
१३९. मुकूलक (पिश्ता)– Pistacia vera Linn.
१४०. प्रियाल (चिरौंजी)– Buchanania lanzan Spreng.
१४१. रूमी मस्तगी– Pistacia lentiscus Linn.
१४२. जिंगिणी– Lannea grandis (Dennst) Engl.

३५. शोभाञ्जन-कुल (Moringaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, संयुक्त; बाह्य और अन्तर्दल ५, पुङ्केशर अनियत, स्त्रीकेशर १; फल लम्बी सेम की तरह, तीन स्थानों पर फटने वाला; बीज प्रभूततैलयुक्त।

१४३. शोभाञ्जन– Moringa oleifera Lam.
१४४. रक्तशिग्रु– Moringa concanensis Nimmo

३६. अपराजिता-कुल (Papilionaceae-Fabaceae-Leguminosae)

कुललक्षण– पत्र-एकान्तर, उपपत्रयुक्त, कभी-कभी सूत्र (Tendril) में परिवर्तित, निर्मोकयुक्त, जालिकावत् सिराविन्यास; पुष्प पूर्णतया अनियमित, नौकाकार, बाह्य दल ५, आधार भाग पर संलग्न, कोरस्पर्शी (valvate) विन्यास, पुष्पक्रम एकल कक्षीय या रेसीमोस।

१४५. अपराजिता– Clitoria ternatea Linn.
१४६. पलाश– Butea monosperma (Lam.) Kuntze.
१४७. लतापलाश– Butea superba Roxb.
१४८. यष्टीमधुक– Glycyrrhiza glabra Linn.
१४९. गुञ्जा– Abrus precatorius Linn.
१५०. अगस्त्य– Sesbania grandiflora (Linn.) Pers.
१५१. नीलिनी– Indigofera tinctoria Linn.
१५२. जयन्ती– Sesbania sesban (Linn.) Merr.
१५३. शालपर्णी– Desmodium gangeticum DC.
१५४. पृश्निपर्णी– Uraria picta Desv.
१५५. यवासा– Alhagi camelorum Fisch.; syn.-Alhagi pseudalhagi (Bieb.) Desv.
१५६. मेथिका– Trigonella foenum-graecum Linn.
१५७. रक्तचन्दन– Pterocarpus santalinus Linn. f.
१५८. बीजक– Pterocarpus marsupium Roxb.
१५९. करञ्ज– Pongamia pinnata (Linn.) Pierre
१६०. कपिकच्छु– Mucuna monosperma DC.; syn.-Mucuna pruriens DC.
१६१. पारिभद्र– Erythrina indica Linn.
१६२. शरपुङ्खा– Tephrosia purpurea (Linn.) Pers.
१६३. शरपुङ्खा (श्वेत)– Tephrosia villosa Pers.
१६४. बाकुची– Psoralea corylifolia Linn.
१६५. मुद्ग– Vigna radiata (Linn.) Wilezek; syn.-Phaseolus radiatus Linn.
१६६. मुद्गपर्णी– Phaseolus trilobus Ait.
१६७. माष– Vigna mungo (Linn.) Hepper; syn.-Phaseolus mungo Linn.
१६८. माषपर्णी– Teramnus labialis Spreng.
१६९. शिंशपा– Dalbergia sissoo Roxb.

१७०. गोरक्ष– Dalbergia lanceolaria Linn. f.
१७१. तिनिश– Ougeinia oojeinensis (Roxb.) Hochr.
१७२. विदारी– Pueraria tuberosa DC.
१७३. कुलत्थ– Dolichos biflorus Linn.
१७४. शिम्बी– Dolichos lablab Linn.
१७५. सोयावीन– Glycine max Merrill

३७. लताकरञ्ज-कुल (Caesalpiniaceae-Leguminosae)

कुललक्षण– संयुक्त या सरल, उपपत्रयुक्त, सवृन्त; पुष्प लगभग अनियमित, नौकाकार नहीं होकर मञ्जरीयुक्त, बाह्य दल ५, आरोही विन्यास, दलपुञ्ज, कोरच्छादी पृथक् दल; पुष्पक्रम-पुष्पछत्र या एकल।

१७६. लताकरञ्ज– Caesalpinia bunduc (Linn.) Roxb.; syn.-Caesalpinia crista Linn.
१७७. पतङ्ग– Caesalpinia sappan Linn.
१७८. काञ्चनार– Bauhinia variegata Linn.
१७९. कोविदार– Bauhinia purpurea Linn.
१८०. कठमहुली– Bauhinia racemosa Lam.
१८१. मालझन– Bauhinia vahlii W. & A.
१८२. अशोक– Saraca asoca (Roxb.) De Wilde; syn.-Saraca indica auct. non Linn.
१८३. आरग्वध– Cassia fistula Linn.
१८४. चक्रमर्द– Cassia tora Linn.
१८५. कासमर्द– Cassia occidentalis Linn.
१८६. आवर्तकी (तरवड)– Cassia auriculata Linn.
१८७. स्वर्णपत्री– Cassia angustifolia Vahl.
१८८. चक्षुष्या– Cassia absus Linn.
१८९. शमी– Prosopis specigera Linn.
१९०. अम्लिका– Tamarindus indica Linn.

३८. बब्बूल-कुल (Mimosaceae-Leguminosae)

कुललक्षण– पत्र संयुक्त या सरल, क्वचित् गति या संवेदनायुक्त (स्पर्श); पुष्प लगभग नियमित, कन्दुकाकार सूक्ष्म, समूहबद्ध, बाह्य दल ५ संयुक्त आरोही विन्यास, दलपुञ्ज ५, संयुक्त या पृथक्, पुष्पक्रम-कन्दुक अग्राभिसारी क्रम में।

१९१. बब्बूल– Acacia nilotica Delile & ssp. indica (Benth.) Brenan.; syn.-Acacia arabica Willd.
१९२. खदिर– Acacia catechu Willd.

१९३. श्वेतखदिर (कदर)– Acacia polycantha Willd.; syn.-Acacia suma Buch.-Ham.
१९४. विट्खदिर (अरिमेद)– Acacia farnesiana Willd.
१९५. शिकाकाई– Acacia concinna DC.
१९६. शिरीष– Albizzia lebbeck Benth.
१९७. श्वेत शिरीष (किणिही)– A. procera Benth.
१९८. लज्जालु– Mimosa pudica Linn.
१९९. वीरतरु– Dichrostachys cinerea W. & A.

३९. तरुणी-कुल (Rosaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सरल या संयुक्त, उपपत्रयुक्त; पुष्पव्यूह-विविध, एकल पुष्पों से लेकर गुच्छों तक, पुष्प द्विलिङ्ग, नियमित, बाह्यदल ५ मूलभाग पर नग्न, अन्तर्दल ५, पुङ्केशर अनेक (हरित ५-१०), स्त्रीकेशर अनेक और विभक्त या २-५ स्त्रीकेशर एक संयुक्त कुक्षिवृन्त में संयुक्त; फल अनेकविध; इसमें क्षुप, गुल्म और वृक्ष होते हैं।

२००. तरुणी (गुलाब)– Rosa centifolia Linn.
२०१. वाताद– Prunus amygdalus Batsch
२०२. पद्मक– Prunus cerasoides D. Don.
२०३. आरुक (आड़ू)– Prunus persica Batsch
२०४. आलुबुखारा– Prunus domestica Linn.
२०५. एलवालुक– Prunus cerasus Linn.
२०६. आलूचा– Prunus aloocha Royle
२०७. उरुमाण (खुबानी, जर्दालु)– Prunus armeniaca Linn.
२०८. सिम्बितिका (सेव)– Malus sylvestris (Linn.) Mill.
२०९. टङ्क (नासपाती)– Pyrus communis Linn.
२१०. बिही– Cydonia oblonga Mill.
२११. गन्धप्रियङ्गु (?)– Prunus mahaleb Linn.
२१२. हिंसालु– Rubus ellipticus Sm.
२१३. वज्रदन्ती– (i) Potentilla argyrophylla Wall. & Lehm.
(ii) Potentilla fragarioides Linn.
(iii) Potentilla leschenaultiana Ser.
२१४. लतागुलाब (कुब्जक)– Rosa moschata Hook.f., non Mill., nec Herrm.
२१५. सेवती गुलाब– Rosa alba Linn.

४०. पाषाणभेद-कुल (Saxifragaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, सरल या संयुक्त, प्रायः वर्षायु; पुष्प

द्विलिङ्ग, नियमित, बाह्य दल ४-५, अन्तर्दल ४-५, क्वचित् अनुपस्थित, पुङ्केशर ४-५, वा दूने; मधुकोष प्राय: उपस्थित, स्त्रीकेशर २-५; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ या अध:स्थ; फल सामान्य स्फोटी या बीजिमांसल; क्षुप, गुल्म या वृक्षक।

२१६. पाषाणभेद– Bergenia ciliata Starnb.; syn.-Bergenia ligulata (Wall.) Engle.

४१. पर्णबीज-कुल (Crassulaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, सरल, अखण्ड, मांसल; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प द्विलिङ्ग, नियमित, बाह्य दल ४-३०, अन्तर्दल भी इतने ही, पुङ्केशर इतने या दूने, स्त्रीकेशर भी अन्तर्दल की संख्या में, विभक्त या मूललग्न; फल एकसेवनीक; वर्षायु या बहुवर्षायु क्षुप या गुल्म।

२१७. पर्णबीज– Bryophyllum pinnatum (Lam.) Kurz; syn.-Bryophyllum calycinum Salisb.

४२. सिल्हक-कुल (Hamamelidaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सरल और उपपत्रयुक्त; पुष्प द्विलिङ्ग या एकलिङ्ग, नियमित या अनियमित, बाह्यदल ४-५ मूललग्न, अन्तर्दल ४-४ विभक्त, पुङ्केशर २-८, २ संयुक्त स्त्रीकेशरों का कुक्षिवृन्त, अर्ध-अध:स्थ या अध:स्थ अण्डाशय; फल सामान्य स्फोटी, प्राय: काष्ठीय या चर्मवत्; वृक्ष या गुल्म।

२१८. सिल्हक (तुरुस्क)– Liquidambar orientalis Miller.

४३. हरीतकी-कुल (Combretaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, सादे, अखण्ड; पुष्प छोटे, बाह्य दल ४-८, अन्तर्दल ४-८ या सर्वथा नहीं, पुङ्केशर प्राय: २-५, स्त्रीकेशर १; गर्भाशय अध:स्थ; फल चर्मवत्, एकबीजयुक्त, कोणों पर सपक्ष; वृक्ष या गुल्म।

२१९. हरीतकी– Terminalia chebula Retz.

२२०. बिभीतक– Terminalia bellirica Roxb.

२२१. अर्जुन– Terminalia arjuna (Roxb.) W. & A.

२२२. शालभेद– Terminalia tomentosa W. & A.

२२३. क्षुद्रबदाम (देशी बादाम)– Terminalia catappa Linn.

२२४. धव– Anogeissus latifolia Wall.

४४. लवङ्ग-कुल (Myrtaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: अभिमुख, सादे अखण्ड, बिन्दुमय, चर्मवत्, उपपत्ररहित; पुष्पपत्रकोणोद्भूत या शाखाग्रोद्भूत, बाह्य तथा अन्तर्दल ४-५, पुङ्केशर अनेक, स्त्रीकेशर ३ या अधिक; अण्डाशय अध:स्थ; फल बीजिमांसल, अष्ठिल, कठिनकोश या सामान्य स्फोटी; गुल्म या वृक्ष।

२२५. लवङ्ग– Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & Perry

२२६. जम्बू– Syzygium cuminii (Linn.) Skeels

२२७. गुलाबजामुन– Syzygium jambos (Linn.) Alston

२२८. युकेलिप्टस– Eucalyptus globulus Labill.

४५. हिज्जल-कुल (Lecythidaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे, उपपत्ररहित, शाखाग्र के समीप गुच्छित; पुष्प सम्पूर्ण, बाह्य दल ४-६, अन्तर्दल ४-६, पुङ्केशर अनेक एवं स्वतन्त्र, स्त्रीकेशर २-६ (या अधिक) संयुक्त; बीजकोश अधस्थ; फल प्राय: काष्ठीय सामान्य स्फोटी।

२२९. हिज्जल– Barringtonia acutangula (Linn.) Gaertn.

२३०. कुम्भी– Careya arborea Roxb.

४६. दाडिम-कुल (Punicaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, सादे; पुष्प शाखाग्रोद्भूत अकेला या गुच्छों में, पुष्पबाह्यकोश रङ्गीन नलिकाकार, बाह्य एवं अन्तर्दल ५-८, पुङ्केशर अनेक, स्त्रीकेशर प्राय: ८-१२; फल गोलाकार बहुबीजयुक्त।

२३१. दाडिम– Punica granatum Linn.

४७. मदयन्तिका-कुल (Lythraceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: अभिमुख, सरल और अखण्ड; पुष्पव्यूह एकल या गुच्छों में, पुष्प पूर्ण, नियमित या अनियमित, बाह्य दल ४,६ या ८, अन्तर्दल उसी संख्या में या अनुपस्थित, पुङ्केशर इससे दूने, स्त्रीकेशर प्राय: २-६ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्य स्फोटी।

२३२. मदयन्तिका (मेंहदी)– Lawsonia inermis Linn.

२३३. धातकी– Woodfordia fruticosa Kurz.

२३४. सिद्धक या सिद्ध्रक– Lagerstroemia indica Linn.; syn.-Lagerstroemia parviflora Roxb.

२३५. सिद्ध्रकभेद (जारुल)– Lagerstroemia speciosa Pers.; syn.-Lagerstroemia flos-reginae Ratz.

४८. शृङ्गाटक-कुल (Trapaceae-Onagraceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख या एकान्तर, सादे; पुष्प पत्रकोण या शाखाग्र से उद्भूत, बाह्य दल प्राय: ४, स्थायी या वर्षजीवी, अन्तर्दल प्राय: ४ क्वचित् नहीं, पुङ्केशर अन्तर्दलों की संख्या के बराबर या उसके दूने, स्त्रीकेशर ४; अण्डाशय अध:स्थल; फल सामान्य स्फोटी, बीजिमांसल या कठिनकोश।

२३६. शृङ्गाटक– Trapa natans Linn.; syn.-Trapa bispinosa Roxb.

४९. चिह्लक-कुल (Samydaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तरे, सादे, जामुन के समान किन्तु कुछ बड़े, पारदर्शक

गोल या रेखाकृति ग्रन्थियों से युक्त।

२३७. चिह्लक- Casearia tomentosa Roxb.

५०. एरण्डकर्कटी-कुल (Caricaceae)

कुललक्षण- पत्र एकान्तर, दीर्घवृन्त, बडे, पाणिवत् खंडित; पुष्प एकलिङ्ग या द्विलिङ्ग, बाह्य दल-५, बहुत छोटे, अन्तर्दल ५, पुङ्केशर १०, स्त्रीकेशर ५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल बड़ा, बीजिमांशल; वृक्षक, कोमलसार, दुग्धयुक्त।

२३८. एरण्डकर्कटी (पपीता)- Carica papaya Linn.

५१. कोशातकी-कुल (Cucurbitaceae)

कुललक्षण- पत्र एकान्तर, प्रायः खर, अखण्ड या खंडित; पुष्प अपूर्ण क्वचित् पूर्ण, बाह्य और अन्तर्दल ५, प्रायः परस्पर मिले हुए, पुङ्केशर ५ परस्पर मिले, स्त्रीकेशर १-१० प्रायः ३ संयुक्त; अण्डाशय अधःस्थ; फलमांसल, बीजिमांसलवत् या शुष्क क्वचित एकबीजी।

२३९. कोशातकी- Luffa acutangula (Linn.) Roxb.

२४०. धामार्गव- Luffa cylindrica (Linn.) M. J. Roem.

२४१. जीमूतक- Luffa echinata Roxb.

२४२. इन्द्रवारुणी- Citrullus colocynthis Schrad.

२४३. अलाबू- Lagenaria siceraria (Mol.) Standl.; syn.-Lagenaria vulgaris Ser.

२४४. पटोल- Trichosanthes dioica Roxb.

२४५. विशाला- Trichosanthes bracteata (Lam.) Voigt

२४६. कूष्माण्ड- Benincasa hispida (Thunb.) Cogn.; syn.- Benincasa cerifera Savi.

२४७. चिचिण्ड- Trichosanthes anguina Linn.

२४८. लिङ्गिनी (शिवलिङ्गी)- Bryonopsis laciniosa (Linn.) Naud.

१४९. बिम्बी- Coccinia grandis (Linn.) Voigt.; syn.-Coccinia indica W. & A.

२५०. कारवेल्लक- Momordica charantia Linn.

२५१. कर्कोटक- Momordica cochinchinensis Spreng.

२५२. कालिन्द (तरबूज)- Citrullus vulgaris Schrad.

२५३. खरबूज- Cucumis melo Linn.

२५४. त्रपुष- Cucumis sativus Linn.

२५५. काशीफल (कोंहड़ा)- Cucurbita maxima Duchesne

५२. मण्डूकपर्णी-कुल (Apiaceae-Umbelliferae)

कुललक्षण- पुष्पविन्यास छत्राकार, पुष्प पूर्ण, नियमित, बाह्य दल ५ बहुत छोटे, अन्तर्दल ५, श्वेत या पीले, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर २ संयुक्त; अण्डाशय अधःस्थ; फल शुष्क बद्धविदारी; प्रायः द्विवर्षायु या बहुवर्षायु क्षुप, क्वचित् गुल्म, काण्ड प्रायः दृढ़, पीले, अन्तर्ग्रन्थियों से युक्त।

२५६. मण्डूकपर्णी- Centella asiatica (Linn.) Urban

२५७. हिंगु- Ferula narthex Boiss.; syn.-Forula foetida Regel

२५८. मधुरिका (सौंफ)- Foeniculum vulgare Mill.

२५९. शतपुष्पा (सोया)- Anethum graveolens Linn.; syn.-Anethum sowa Kurr.

२६०. जीरक- Cuminum cyminum Linn.

२६१. कृष्णजीरक- Carum carvi Linn.

२६२. यवानी- Trachyspermum ammi (Linn.) Sprague

२६३. अजमोदा- Trachyspermum roxburghianum (DC.) Craib

२६४. धान्यक- Coriandrum sativum Linn.

२६५. गर्जर- Daucus carota Linn. Var. sativa DC.

२६६. चोरक- Angelica glauca Edgew.

५३. मञ्जिष्ठा-कुल (Rubiaceae)

कुललक्षण- पत्र अभिमुख, सादे, अखण्डित; बाह्य और अन्तर्दल ४-५, पुङ्केशर ४-५, स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय अधस्थ; फल सामान्य स्फोटी, बीजिमांसल या वद्धविदारी।

२६७. मञ्जिष्ठा- Rubia cordifola Linn.

२६८. क्षेत्रपर्पट- Oldenlandia corymbosa Linn.

२६९. मदनफल- Catunaregum spinosa (Thunb.) Tiruv.; syn.- Randia dumetorum Lam.

२७०. नाडीहिंगु- Gardenia gummifera Linn. f.

२७१. कॉफी- Coffea arabica Linn.

२७२. सिनकोना- Cinchona officinalis Linn.

२७३. कदम्ब- Anthocephalus chinensis (Lamk.); A. Rich. ex Walp.; syn.-Anthocephalus indicus A. Rich.

२७४. गन्धप्रसारणी- Paederia foetida Linn.

२७५. भ्रमरच्छली- Hymenodictyon excelsum Wall.

२७६. हरिद्रु- Adina cordifolia Benth. & Hook. f.

२७७. थनैला (पिण्डीतक)- Gardenia turgida Roxb.

२७८. इपीकाक- Caphaelis ipecacuanha (Brot.) A. Rich.

२७९. तिलक- Wendlandia exerta DC.

५४. मांसी-कुल (Valerianaceae)

कुललक्षण– पत्र मूललग्न या अभिमुख, उपपत्ररहित; पुष्प-गुच्छों में शाखाग्रोद्भूत।

२८०. जटामांसी– Nardostachys grandiflora DC.; syn.-Nardostachys jatamansi DC.

२८१. तगर (सुगन्धबाला)– Valeriana wallichii DC.

५५. तिल्वक-कुल (Caprifoliaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, प्राय: सरल, उपपत्ररहित; बाह्यदल, अन्तर्दल ५, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; अण्डाशय अधस्थ; फल बीजिमांसल, अष्ठिल या सामान्य स्फोटी।

२८२. तिल्वक– Viburnum nervosum D. Don.

५६. भृङ्गराज-कुल (Asteraceae-Compositae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर क्वचित् अभिमुख, उपपत्ररहित, पुष्परचना स्तबकाकार, कंदुकाकार या प्यालाकार; अन्तर्दल ५, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर २ संयुक्त; अण्डाशय अध:स्थ; फल चर्मल; प्राय: क्षुप: गुल्म भी, क्वचित् वृक्ष।

२८३. भृङ्गराज– Eclipta prostata Linn.; syn.-Eclipta alba (Linn.) Hassk.

२८४. केशराज (पीत भृङ्गराज)– Wedelia chinensis Merrill.; syn.-Wedelia calendulacea Less., non Rich.

२८५. अरण्यजीरक– Vernonia anthelmintica (Linn.) Willd.; syn.-Centratherum anthelminticum, Kuntze

२८६. सहदेवी– Vernonia cinerea Less.

२८७. कुष्ठ– Saussurea costus (Fale) Lipsch; syn.-Saussurea lappa C.B. Clarke

२८८. पुष्करमूल– Inula racemosa Hook. f.

२८९. दमनक– Artemisia absinthium Linn.

२९०. अफसन्तीन– Artemisia absinthium Linn.

२९१. कीटमारी यवानी– Artemisia maritima Linn.

२९२. मुण्डितिका (मुण्डी)– Sphaeranthus indicus Linn.

२९३. दुग्धफेनी– Taraxacum officinale Weber ex Wiggers

२९४. आकारकरभ– Anacyclus pyrethrum DC.

२९५. आयापान– Eupatorium triplinerve Vahl.

२९६. झण्डु (गेंदा)– Tagetes erecta Linn.

२९७. रास्ना– Pluchea lanceolata Oliver & Hiern.

२९८. कुसुम्भ– Carthamus tinctorius Linn.

२९९. कासनी ग्राम्य– Cichorium intybus Linn.
वन्य– Cichorium endivia Linn.

३००. कुकुन्दर (कुकरौंधा)– Blumea lacera DC.

३०१. हिलमोचिका– Enhydra fluctuans Lour.

३०२. गोजिह्वा (वनगोभी)– Launea nudicaulis Hook. f.; syn.-Microrhynchus nudicaulis Less.

३०३. सूर्यकान्ता (सूर्यमुखी)– Helianthus annuus Linn.

३०४. बाबूना– Matricaria chamomilla Linn.

३०५. छिक्किका– Centipeda minima (Linn.) A. Br. & Aschers

३०६. आर्तगल– Xanthium strumarium Linn.

३०७. उष्ट्रकण्टक– Echinops echinatus Roxb.

५७. पुल्लास-कुल (Ericaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर क्वचित् अभिमुख, उपपत्ररहित; पुष्प एकाकी या गुच्छों में, बाह्य दल ४-५, संयुक्त, अन्तर्दल ४-७, पुङ्केशर ८-१०, स्त्रीकेशर ४-५ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ या अध:स्थ।

३०८. पुल्लास (कुरवक?)– Rhododendron arboreum Sm.

५८. चित्रक-कुल (Plumbaginaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे; बाह्य दल ५, नीचे से जुड़कर नलिकाकार बने हुए, अन्तर्दल ५, स्त्रीकेशर ५, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ।

३०९. चित्रक-श्वेत– Plumbago zeylanica Linn.

३१०. चित्रक-रक्त– Plumbago rosea Linn.

३११. चित्रक-नील– Plumbago capansis Thunb.

५९. विडङ्ग-कुल (Myrsinaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे; बाह्य और अन्तर्दल ४-६, पुङ्केशर और स्त्रीकेशर ४-६; अण्डाशय प्राय: ऊर्ध्वस्थ; फल-अष्ठिल।

३१२. विडङ्ग– Embelia ribes Burm. f.
प्रजाति– Embelia tsjeriam-cottam A. DC.; syn.-Embelia robusta C. B. Clarke

६०. मधूक-कुल (Sapotaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे, अखण्ड, चर्मसदृश; पुष्पव्यूह बहुवर्ध्यक्ष या एकल पुष्प, बाह्य दल और अन्तर्दल ४-१२, संयुक्त, पुङ्केशर २ या तीन पंक्तियों में, स्त्रीकेशर ४ या ५; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल-बीजिमांसल; प्राय: वृक्ष, कुछ गुल्म, दुग्धवत् रसयुक्त।

३१३. मधूक– Madhuca indica J.F. Gmel.

३१४. बकुल– Mimusops elengi Linn.

३१५. क्षीरिणी (खिरनी)– Manilkara hexandra (Roxb.) Dubard; syn.-Mimusops hexandra Roxb.

६१. लोध्र-कुल (Symplocaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे, चर्मवत्, उपपत्ररहित; पुष्प-गुच्छों में, बाह्य दल ५, अन्तर्दल ५-१०, पुङ्केशर ५, १०, १५ या अधिक, स्त्रीकेशर २-५ संयुक्त; अण्डाशय अध:स्थ; फल-बीजिमांसल या अष्ठिल; गुल्म या वृक्ष।

३१६. लोध्र– Symplocos racemosa Roxb.

अन्य प्रजाति– Symplocos paniculata Miq.

६२. पारिजात-कुल (Oleaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, उपपत्रयुक्त; बाह्य और अन्तर्दल ४, पुङ्केशर प्राय: २, स्त्रीकेशर २; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल-बीजिमांसल, अष्ठिल सामान्यस्फोटी या सपक्ष।

३१७. पारिजात– Nyctanthes arbor-tristis Linn.

३१८. मल्लिका (बेला)– Jasminum sambac Ait.

३१९. जाती (चमेली)– Jasminum grandiflorum Linn.

३२०. यूथिका (जूही)– Jasminum auriculatum Vahl

३२१. कुन्द– Jasminum multiflorum (Burm.f.) Andr.

३२२. नवमालिक (नेवारी)– Jasminum arborescens Roxb.

३२३. मुष्कक– Schrebera swietenioides Roxb.

६३. पीलु-कुल (Salvadoraceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, अखण्ड, चर्मसदृश; पुष्प छोटे, श्वेत या पीत, बाह्य दल ३-५, अन्तर्दल ४, पुङ्केशर ४, स्त्रीकेशर १; फल मांसल।

३२४. पीलु– Salvadora persica Linn.

अन्य प्रजाति– Salvadora oleoides Decne

६४. तिन्दुक-कुल (Ebenaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, चर्मवत्; बाह्य दल ३-७, अन्तर्दल ३-७, पुङ्केशर अन्तर्दल की संख्या के बराबर या उनसे २-३ गुने, स्त्रीकेशर २-१६, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ:; फल-बीजिमांसल। इसमें वृक्ष या गुल्म बिना निर्यास के होते हैं तथा इनका सारभाग कृष्णवर्ग होता है।

३२५. तिन्दुक– Diospyros peregrina (Gaertn.) Gurke

६५. कुटज-कुल (Apocynaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख या एकान्तर या चक्राकार, सादे, अखण्ड, उपपत्ररहित; बाह्यदल और अन्तर्दल ५, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर २ संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ या अर्ध अधस्थ; फल सामान्य स्फोटी, एकसेवनीक, बीजिमांसल या अष्ठिल। वृक्ष, गुल्म या क्षुप जिनमें दुग्धवत् रस होता है।

३२६. कुटज-श्वेत– Holarrhena antidysenterica (Linn.) Wall.

३२७. कुटज-कृष्ण– (i) Wrightia tintoria R. Br.
(ii) Wrightia tomentosa Roem. & Schult.

३२८. सप्तपर्ण– Alstonia scholaris R. Br.

३२९. करवीर (श्वेत-रक्त)– Nerium oleander Linn.; syn.-Nerium indicum Mill.

३३०. करवीर (पीत)– Thevetia neriifolia Juss. ex Steud.

३३१. सर्पगन्धा– Rauvolfia serpentina Benth. ex Kurz

३३२. दुग्धवल्ली (दुधलत)– Ichnocarpus frutescens R. Br.

३३३. गन्धमालती– Myrtus communis Linn.; syn.-Aganosma dichotoma (Roth) K. Schum.

३३४. क्षीरचम्पक (गुलाचीन)– Plumeria acutifolia Poir.

३३५. तगर (चाँदनी)– Tervatamia coronaria Stapf.

३३६. करमर्द– Carissa carandas Linn.

३३७. मुहुरसी– Chonemorpha macrophylla (Roxb.) G. Don.

६६. अर्क-कुल (Asclepiadaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, अखण्ड, मोटे, उपपत्ररहित; बाह्य दल, अन्तर्दल और पुङ्केशर ५-५, स्त्रीकेशर २; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल एकसेवनीक, बीज लम्बे रेशमी रोमों से आवृत। बहुवर्षायु क्षुप, गुल्म, क्वचित् वृक्ष जिनमें दुग्धवत् रस होता है।

३३८. अर्क– Calotropis procera (Ait.) R. Br.

३३९. राजार्क (अलर्क)– Calotropis gigantea (Linn.) R. Br. ex Ait.

३४०. सारिवा-श्वेत– Hemidesmus indicus R. Br.

३४१. सारिवा (कृष्ण)– Cryptolepis buchanani Roem. & Schult.

३४२. जीवन्ती– Leptadenia reticulata W. & A.

३४३. लाखन (शाङ्गेष्टा?)– Wattakaka volubilis (Linn.f.) Stapf; syn.-Dregea volubilis (Linn.f.) Benth. ex Hook. f.

३४४. मूर्वा– Marsdenia tenacissima W. & A.

३४५. काकतुण्डी– Asclepias curassavica Linn.

३४६. गुड़मार (मेषशृङ्गी?)– Gymnema sylvestre R. Br.

३४७. वृश्चिकाली– Pergularia extensa N.E. Br.

६७. कारस्कर-कुल (Loganiaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, क्वचित् एकान्तर या चक्राकार, अखण्ड, उपपत्रयुक्त; पुष्पव्यूह प्राय: बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प प्राय: नियमित, बाह्य दल और अन्तर्दल ४-५ संयुक्त, पुङ्केशर ४-५, स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल-सामान्य स्फोटी, बीजिमांसल या अष्ठिल।

३४८. कुपीलु– Strychnos nux-vomica Linn. f.

३४९. निर्मली– Strychnos potatorum Linn.

६८. भूनिम्ब-कुल (Gentianaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, सादे, अखंड, उपपत्ररहित; बाह्य दल और अन्तर्दल तथा पुङ्केशर ५-५, स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल-सामान्यस्फोटी; क्षुप क्वचित् गुल्म।

३५०. किराततिक्त– Swertia chirata Buch.-Ham. ex C.B. Clarke

३५१. त्रायमाणा– Gentiana Kurroo Royle

६९. श्लेष्मातक-कुल (Boraginaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, अखण्ड, मोटे प्राय: खर लोमयुक्त, उपपत्ररहित; बाह्य दल, अन्तर्दल और पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल-चतु:कोष्ठमय और प्रत्येक कोष्ठ एकबीजयुक्त अस्थि; क्वचित् अष्ठिफल।

३५२. श्लेष्मातक– Cordia myxa Roxb.

३५३. गोजी (गावजवाँ)– Onosma bracteatum Wall.

३५४. हस्तिशुण्डी– Heliotropium indicum Linn.

७०. त्रिवृता-कुल (Convolvulaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सरल, उपपत्ररहित; पुष्प पत्रकोणोद्भूत, बड़ा, फनेल के आकार का, बाह्य दल,अन्तर्दल और पुङ्केशर ४, स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल बीजिमांसल, कठिनकोश या सामान्यस्फोटी; क्षुप, गुल्म या वृक्ष; प्राय: वल्ली; कुछ कण्टकमय; दुग्धवत् रस।

३५५. त्रिवृता– Operculina tupethum. (Linn.) Silva Manso

३५६. कृष्णबीज– Ipomoea hederacea (Linn.) Jacq.

३५७. क्षीरविदारी– Ipomoea digitata Linn.; syn.-Ipomoea paniculata R. Br.

३५८. शङ्खपुष्पी– Convolvulus microphyllus Sieb ex Spreng; syn.-Convolvulus pluricaulis choisy, Convolvulus ferrogineus Wall.

३५९. घावपत्ता (वृद्धदारुक)– Argyreia nervosa (Burm.f.) Boj.; syn.-Argyreia speciosa Sweet

३६०. अमरबेल– Cassytha filiformis Linn.; syn.-Cuscuta reflexa Roxb.

३६१. कलमी शाक– Ipomoea reptans (Linn.) Poir.

३६२. जलापा– Exogonium purga Benth.

३६३. मूषाकर्णी– Ipomoea reniformis choisy

३६४. सकरकन्द– Ipomoea batatas (Linn.) Lam.

३६५. रुद्रवन्ती– (i) Cressa cretica Linn.
(ii) Capparis moonii Wight.

७१. कण्टकारी-कुल (Solanaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, सादे, उपपत्ररहित; पुष्प पत्रकोण या शाखाग्र से उद्भूत, बाह्य दल ५, अन्तर्दल ५, परस्पर मिले हुए पीकाकार, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर प्राय: २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्य स्फोटी या बीजिमांसल।

३६६. कण्टकारी– Solanum surattense Burm.f.

३६७. बृहती– Solanum indicum Linn.

३६८. बृहती (श्वेत)– Solanum torvum Sw.

३६९. वृन्ताक– Solanum melongena Linn.

३७०. काकमाची– Solanum nigrum Linn.

३७१. अश्वगन्धा– Withania somnifera Dunal

३७२. पर्पोटिका– Physalis minima Linn.

३७३. धतूर-श्वेत– Datura metel Linn.

३७४. धतूर-भेद– Datura innoxia Mill.

३७५. राजधतूर– Datura stramonium Linn.

३७६. पारसीक यवानी– Hyoscyamus niger Linn.

३७७. सूची– Atropa belladonna Linn.

३७८. लङ्का– Capsicum annuum Linn.

३७९. तम्बाकू– Nicotiana tabacum Linn.

७२. कटुका-कुल (Scrophulariaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या चक्रकार या अभिमुख, सरल, उपपत्ररहित; बहिर्दल और अन्तर्दल संयुक्त पाँच भाग वाले, पुङ्केशर ५ या ४ (दो बड़े और दो छोटे), स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ।

३८०. कटुका– Picrorhiza kurroa Royle ex Benth.

३८१. हत्पत्री– Digitalis Purpurea Linn.

३८२. ऐन्द्री– Bacopa monnieri (Linn.) Pennel

३८३. भित्तिलग्ना (भीतचट्टी)– Lindenbergia muraria (Roxb. ex D. Don) Bruhl.; syn.-Lindenbergia urticaefolia Lehm.

७३. श्योनाक-कुल (Bignoniaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, सरल या संयुक्त, बड़े, उपपत्ररहित; पुष्प बिगुल के आकार का, पुष्पबाह्यकोष घण्टाकार ४ दलों का, पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५ नीचे से जुड़े हुए, पुङ्केशर ४ (दो छोटे, दो बड़े); फल लम्बा-चपटा सेमवत्; बीज चपटे, पतले और पंखयुक्त।

३८४. श्योनाक– Oroxylum indicum Vent.

३८५. पाटला– Stereospermum suaveolens DC.

पाटलाभेद– Stereospermum tetragonum A. DC.

३८६. रोहीतक– Tecoma undulata G. Don.; syn.-Tecomella undulata (Sm.) Seem.

३८७. आकाशनिम्ब– Millingtonia hortensis Linn. f.

७४. तिल-कुल (Pedaliaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, अखण्ड, ग्रन्थिमय, रोमयुक्त, उपपत्ररहित; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५, नीचे से जुड़कर नलिकाकार, पुङ्केशर ४ (दो छोटे, दो बड़े), स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्यस्फोटी या कठिनकोश, क्वचित् कण्टकी, सपक्ष या बडिशयुक्त; क्षुप, क्वचित् गुल्म।

३८८. तिल– Sesamum orientale Linn.; syn.-Sesamum indicum Linn.

३८९. बृहद् गोक्षुर– Pedalium murex Linn.

३९०. बिछुआ (काकनासा?)– Martynia annua Linn.

७५. वासा-कुल (Acanthaceae)

कुललक्षण– पत्र अभिमुख, सरल, उपपत्ररहित; पुष्प व्याघ्रमुख के समान,[१] पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ४-५, पुङ्केशर प्रायः ४; अण्डाशय दो खण्डों वाला, ऊर्ध्वस्थ।

३९१. वासा– Adhatoda zeylanica Medic.; syn.-Adhatoda vasica Nees.

३९२. इक्षुरक– Asteracantha longifolia Nees

३९३. कालमेघ– Andrographis paniculata Nees

३९४. सैरेयक नील (बाण)– Barleria strigosa Willd.

३९५. सैरेयक पीत– Barleria prionitis Linn.

३९६. सैरेयक श्वेत, रक्त– Barleria cristata Linn.

३९७. काकनासा (?)– Thunbergia alata Bojer ex Sims

३९८. पर्पट (?)– Justicia diffusa Willd.

३९९. उटङ्गन– Blepharis edulis Pers.

१. सिंहास्यो वाजिदन्ता स्यादाटरूषोऽटरूषकः। (भा० प्र० नि० गु० ८८)

७६. निर्गुण्डी-कुल (Verbenaceae)

कुललक्षण– पत्र प्रायः अभिमुख, सरल या संयुक्त, उपपत्ररहित; पुष्पव्यूह एकवर्ध्यक्ष या बहुवर्ध्यक्ष, पुष्प पूर्ण प्रायः अनियमित, बाह्यकोश तथा आभ्यन्तर कोश ५ दलों का, पुङ्केशर प्रायः ४ (दो बड़े और दो छोटे), स्त्रीकेशर २, संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; फल सामान्यस्फोटी, अष्ठिल या बद्धविदारी।

४००. निर्गुण्डी– Vitex negundo Linn.

४०१. शाक– Tectona grandis Linn. f.

४०२. तर्कारी– Clerodendrum multiflorum (Burm.f.) O.Ktze.; syn.-Clerodendrum phlomidis Linn. f.

४०३. अग्निमथ– Premna mucronata Roxb.

४०४. भार्ङ्गी– Clerodendrum serratum (Linn.) Moon

४०५. गम्भारी– Gmelina arborea Roxb.

४०६. भाण्डीर (भटेस)– Clerodendrum infortunatum Linn.

४०७. प्रियङ्गु– Callicarpa macrophylla Vahl.

४०८. जलपिप्पली– Phyla nodiflora (Linn.) Green; syn.-Lippia nodiflora (Linn.) A. Rich

७७. तुलसी-कुल (Lamiaceae-Labiatae)

कुललक्षण– चतुष्कोण, पत्र-अभिमुख, सरल, उपपत्ररहित, सुगंधि, पुङ्केशर ४ (दो छोटे, दो बड़े); अण्डाशय ४ खण्डवाला, प्रतिखण्ड १ बीज, बीजों को जल में भिगोने से लुआब होता है।

४०९. तुलसी– Ocimum tenuiflorum Linn.; syn.-Ocimum sanctum Linn.

४१०. रामतुलसी– Ocimum gratissimum Linn.

४११. वर्वरी– Ocimum basilicum Linn.

४१२. मरुवक– Origanum majorana Linn.

४१३. अर्जक– Orthosiphon pallidus Royle

४१४. पूतिहा (पुदीना)– Mentha spicata Linn.

४१५. पिपरमिण्ट– Mentha piperita Linn.

४१६. पर्णयवानी– Coleus amboinicus Lour.

४१७. उस्तखुद्दूस– Lavandula staechas Linn.

४१८. द्रोणपुष्पी– Leucas cephalotes Spreng.

४१९. जूफा– Hyssopus officinalis Linn.

४२०. वनयवानी (हाशा)– Thymus serpyllum Linn.

४२१. तुख्मे बालङ्गू (तुतमलङ्गा)– Lallemantia royleana Benth.

७८. अश्वगोल-कुल (Plantaginaceae)

कुललक्षण– पुष्प बाह्यदल और अभ्यन्तर दल ४-४, पुङ्केशर ४, फल-विदारी बहुबीज, बीज पानी में डालने से लुआब होता है।

४२२. अश्वगोल (इसबगोल)– Plantago ovata Forsk.

७९. पुनर्नवा-कुल (Nyctaginaceae)

कुललक्षण– ५ संयुक्त अन्तर्दलवत् बाह्यदलों का परिपुष्प; पत्र प्रायः अभिमुख, सादे उपपत्ररहित, पत्र के जोड़ों में एक मोटा और एक छोटा, पुङ्केशर १-३ (प्रायः ५); अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, एक खण्डवाला; फल पतली त्वचावाला और कोशनलिका के भीतर आवृत।

४२३. पुनर्नवा (रक्त)– Boerhaavia diffusa Linn.
(श्वेत)– Boerhaavia verticillata Poir.

८०. अपामार्ग-कुल (Amaranthaceae)

कुललक्षण– पत्र सादे, उपपत्ररहित, अभिमुख या एकान्तर; पुष्प गुच्छों में शाखाग्र या पत्रकोण से उद्भूत; फल शुष्क स्थायी और कोश के भीतर आवृत।

४२४. अपामार्ग– Achyranthes aspera Linn.
४२५. मारिष– Amaranthus blitum Linn. var. oleracea Duthie
४२६. तण्डुलीयक– Amaranthus spinosus Linn.
४२७. मत्स्याक्षी– Alternanthera sessilis (Linn.) R. Br.
४२८. गोरक्षगञ्जा– Aerva lanata Juss.
४२९. शितिवार– Celosia argentea Linn.
४३०. पत्तूर (इन्दीवर-जटाधारी)– Celosia argentea Linn. var. cristata Voss.

८१. चुक्र-कुल (Polygonaceae)

कुललक्षण– काण्ड-गोल, ग्रन्थियुक्त; पत्र-एकान्तर, पत्रवृन्त मूलभाग में कोशाकार; पुङ्केशर ६-९, एक या दो चक्रों में; अण्डाशय २-४ खण्डों वाला, ऊर्ध्वस्थ।

४३१. चुक्र– Rumex vesicarius Linn.
४३२. अङ्गवार– Polygonum viviparum Linn.
४३३. अम्लपर्णी (रेवन्दचीनी)– Rheum emodi Wall. ex Meissn.
४३४. वनपालक– Rumex maritimus Linn.

८२. ईश्वरी-कुल (Aristolochiaceae)

कुललक्षण– पत्र सादे, एकान्तर, अवृन्त, उपपत्ररहित; पुङ्केशर ६-३६ कुक्षिवृन्त के नीचे चक्राकार में लगे, स्त्रीकेशर ४-६; फल नीरस, ६ खण्डों वाला, प्रत्येक खण्ड में अनेक बीज; निम्न क्षुप, प्रायः आरोही गुल्म।

४३५. ईश्वरी– Aristolochia indica Linn.
४३६. कीटमारी– Aristolochia bracteata Ritz.

८३. वास्तूक-कुल (Chenopodiaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर कभी-कभी अभिमुख, उपपत्ररहित; पुष्प छोटे, पुंकेशर ५; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ या अधःस्थ; फल कठिनकोश वा चर्मल।

४३७. वास्तूक– Chenopodium album Linn.
४३८. सुगन्धवास्तूक– Chenopodium ambrosioides Linn. var. anthelminticum Gray.
४३९. उपोदिका– Basella rubra Linn.
४४०. पालक– Spinacia oleracea Linn.

८४. पिप्पली-कुल (Piperaceae)

कुललक्षण– काण्ड मुड़ने वाला, ग्रन्थियुक्त, आधार मिलने पर आरोही, पत्र अखण्ड, एकान्तर, क्वचित् अभिमुख या चक्राकार हृदयाकृति; प्रायः कटुरस; पुष्प छोटे, काण्ड पर एक स्थान पर जमे हुए, पक्षकोण या पत्र के सामने से निकलते हैं। फल एक, छोटा, अष्ठिल, एकबीजयुक्त।

४४१. पिप्पली– Piper longum Linn.
४४२. नागवल्ली (ताम्बूल)– Piper betle Linn.
४४३. मरिच– Piper nigrum Linn.
४४४. कंकोल– Piper cubeba Linn. f.
४४५. चव्य– Piper chaba Hunter

८५. जातीफल-कुल (Myristicaceae)

कुललक्षण– पत्र अखण्ड, सदाहरित, तैलयुक्त; पुष्प, पुष्पबाह्यकोश के दल ३, पुङ्केशर ३-८; अण्डाशय १ खण्डवाला; फल मांसल, बीज बड़े और प्रभूत तैलयुक्त।

४४६. जातीफल– Myristica fragrans Houtt.

८६. कर्पूर-कुल (Lauraceae)

कुललक्षण– पत्र उपपत्ररहित सादे, तैलग्रन्थियुक्त, सदाहरित; पुष्प शाखाग्रोद्भूत, पुङ्केशर चार दण्डों में प्रत्येक में तीन, स्त्रीकेशर १ ऊर्ध्वस्थ; फल अष्ठिल या बीजिमांसल।

४४७. कर्पूर– Cinnamomum camphora Nees & Eberm.
४४८. त्वक् (दारुसिता)– Cinnamomum zeylanicum Blume.
४४९. पत्र– Cinnamomum tamala Nees & Eberm.
४५०. मेदासक (मैदालकड़ी)– Litsea chinensis Lam.

८७. अगुरु-कुल (Thymelaeaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, सरल, उपपत्ररहित; पुष्प पूर्ण नियमित, बाह्य दल ४-५, अन्तर्दल ४-१२ (या नहीं), पुङ्केशर ४-५, ८-१० या २, स्त्रीकेशर १; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; प्राय: गुल्म या वृक्ष, क्वचित् क्षुप।

४५१. अगुरु– Aquilaria agallocha Roxb.

८८. वन्दाक-कुल (Loranthaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: अभिमुख या चक्राकार, मांसल, अखण्ड, उपपत्ररहित; पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल विभक्त या संयुक्त, पुङ्केशर ४-६; अध:स्थ अण्डाशय; फल मांसल, २-३ बीजयुक्त; बीज पिच्छिलपदार्थयुक्त; इस वर्ग के पौधे पराश्रयी होते हैं।

४५२. वन्दाक– Loranthus longiflorus Desr.

८९. चन्दन-कुल (Santalaceae)

कुललक्षण– पत्र सरल, प्राय: अभिमुख, उपपत्रयुक्त; पुष्पबाह्यकोश के दल ४-५, पुङ्केशर ४-५; अण्डाशय अध:स्थ।

४५३. चन्दन– Santalum album Linn.

९०. एरण्ड-कुल (Euphorbiaceae)

कुलक्षण– पत्र प्राय: एकान्तर, उपपत्रयुक्त, प्राय: सादे, क्वचित् खंडित; पुष्प एकलिङ्गी; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, तीन कोष्ठ वाला, बीज चिकने, चमकीले, चित्रित और लम्बगोल। इस वर्ग के पौधों को तोड़ने से प्राय: दूध निकलता है।

४५४. एरण्ड– Ricinus communis Linn.

४५५. स्नुही (वृत्त)– Euphorbia neriifolia Linn.

४५६. स्नुही (त्रिधार)– Euphorbia antiqorum Linn.

४५७. स्नुही (पञ्चधार)– Euphorbia royleana Boiss.

४५८. स्नुही (छीमिया)– Euphorbia tirucalli Linn.

४५९. शंखिनी– Euphorbia dracunculoides Lam.

४६०. सप्तला– Euphorbia pilosa Linn.

४६१. महावृक्ष (स्नुहीभेद)– Euphorbia nivulia Buch.-Ham.

४६२. स्वर्णक्षीरी (संहितोक्त)– Euphorbia thomsoniana Boiss.

४६३. दुग्धिका (बड़ी)– Euphorbia hirta Linn.

४६४. दुग्धिका (छोटी)– (i) Euphorbia thymifolia Linn.
(ii) Euphorbia prostrata W. Ait.

४६५. अधोगुडा (वनमूली)– Euphorbia acaulis Roxb.

४६६. आमलकी– Emblica officinalis Gaertn.

४६७. भूम्यामलकी– (i) Phyllanthus amarus Schum. & Thonn.; syn.- P. niruri auct. non L.; P. fraternus Webster
(ii) Phyllanthus urinaria Linn.

४६८. व्याघ्रैरण्ड– Jatropha curcas Linn.

४६९. पुत्रजीवक– Drypetes roxburghii (Wall.) Hurusawa; syn.- Putranjiva roxburghii Wall.

४७०. कम्पिल्लक– Mallotus philippinensis Muell. Arg.

४७१. दन्ती– Baliospermum montanum Muell. Arg.

४७२. जयपाल– Croton tiglium Linn.

४७३. नागदन्ती– Croton oblongifolius Roxb.

४७४. लवली– Cicca acida (Linn.) Merrill.

४७५. कुम्हार– Trewia nudiflora Linn.

९१. वट-कुल (Moraceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या अभिमुख, उपपत्रयुक्त, क्वचित् रोमश; पुष्प छोटे और कर्णिका भीतर एकत्र; अण्डाशय एककोषीय ऊर्ध्वस्थ या अध:स्थ; फल चर्मल या अष्ठिल सूत्रमय; क्षुप, गुल्म, बड़े वृक्ष या वृक्षक।

४७६. वट– Ficus benghalensis Linn.

४७७. अश्वत्थ– Ficus religiosa Linn.

४७८. प्लक्ष– Ficus lacor Buch.-Ham.

४७९. उदुम्बर– Ficus racemosa Linn.

४८०. काकोदुम्बर– Ficus hispida Linn.

४८१. अञ्जीर– Ficus carica Linn.

४८२. पिलखन– Ficus rumphii Blume.

४८३. पारीश– Thespesia populnea Soland ex Correa

४८४. तूद– Morus alba Linn.

४८५. पनस– Artocarpus integrifolia Linn.f.; syn.-Artocarpus heterophyllus Lam.

४८६. लकुच– Artocarpus lakoocha Roxb.

९२. चिरबिल्व-कुल (Ulmaceae)

कुललक्षण– अपूर्णपुष्प; पत्र-सादे, एकान्तर, उपपत्रयुक्त, प्राय: आधार पर तिर्यक्; पुष्प द्विलिङ्ग या एकलिङ्ग (उद्भिद द्विलिङ्गी), परिपुष्प ४-८; रस दुग्धवत्; फल सपक्ष।

४८७. चिरबिल्व– Holoptelia integrifolia Planch.

९३. भङ्गा-कुल (Cannabinaceae)

कुललक्षण– अपूर्णपुष्प; पत्र खण्डित; पुष्प, एकलिङ्गी, दलपत्र-५, पुङ्केशर ५, स्त्रीकेशर संयुक्त २; पौधे प्राय: गन्धयुक्त एवं रेशेदार; फल चर्मल।

४८८. भङ्गा– Cannabis sativa Linn.

९४. वृश्चिका-कुल (Urticaceae)

कुललक्षण– अपूर्णपुष्प; पत्र क्वचित् चुभने वाले रोमों से युक्त; पुष्प सूक्ष्म, एकलिङ्ग, पुङ्केशर प्राय: ४, स्त्रीकेशर १; फल चर्मल; पौधे गन्धहीन।

४८९. वृश्चिका (बिच्छू बूटी)– Girardinia heterophylla Decne

९५. अक्षोट-कुल (Juglandaceae)

कुललक्षण– प्राय: बड़े वृक्ष; पत्र एकान्तर, सुगंधि, उपपत्ररहित; पुष्प एकलिङ्गी, पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल अनुपस्थित या सूक्ष्म; फल कठिन कवचयुक्त।

४९०. अक्षोट– Juglans regia Linn.

९६. कट्फल-कुल (Myricaceae)

कुललक्षण– पुष्प-एकलिङ्गी, पुङ्केशर २-२० संयुक्त; स्त्रीकेशर २ संयुक्त; फल-छोटा, अष्ठिल एक श्वेत मोमदार आवरण से युक्त। सुगंधित गुल्म या वृक्ष।

४९१. कट्फल– Myrica esculenta Buch.-Ham.; syn.-Myrica nagi Hook.f. in part, non Thunb.

९७. मायाफल-कुल (Fagaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, पक्षाकार; पुङ्केशर ४-४०; अण्डाशय अध:स्थ; फल कवचयुक्त, बीज १।

४९२. मायाफल– Quercus infectoria Oliv.

९८. भूर्ज-कुल (Betulaceae)

कुललक्षण– अपूर्णपुष्प; पत्र एकान्तर, सादे, उद्भिद् द्विलिङ्गी, स्त्रीपुष्प एवं पुंपुष्प अवृन्त काण्डज लटके हुए पुष्पव्यूह में, पुङ्केशर १-४, स्त्रीकेशर २; फल काष्ठफल या सपक्ष।

४९३. भूर्ज (भोजपत्र)– Betula utilis D. Don.

९९. वेतस-कुल (Salicaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, एकखण्डवाला; बीज अनेक, रोमयुक्त।

४९४. वेतस– Salix caprea Linn.

४९५. जलवेतस– Salix tetrasperma Roxb.

१००. रास्ना-कुल (Orchidaceae)

कुललक्षण– पत्र सादे, अखण्ड; पुष्प-बाह्यदल ६ (तीन-तीन के दो चक्रों में); पुङ्केशर १ (क्वचित् २); अण्डाशय अधस्थ, त्रिकोष्ठी; मूल-कन्दमय।

४९६. वन्दाक रास्ना– Vanda roxburghii R. Br.

४९७. मुञ्जातक– (i) Orchis latifolia Linn.
(ii) Eulophia campestris Wall.

४९८. स्वर्णजयन्ती– Desmotrichum fimbriatum Blume; syn.-Dendrobium macraci Lindl.

४९९. ऋद्धि– (i) Habenaria edgeworthii Hook.f. ex Collett.
(ii) Eulophia nuda Lindl.

५००. वृद्धि– Habenaria intermedia D. Don

१०१. सोम-कुल (Gnetaceae)

कुललक्षण– नलिकाकार परिपुष्प, पुङ्केशर १, बीजीभव १; गुल्म और काष्ठीय लतायें।

५०१. सोम (टुटगण्ठा)– Ephedra gerardiana Wall.

१०२. देवदारु-कुल (Pinaceae)

कुललक्षण– नग्नबीज, सपुष्प; शाखायें चक्रिक या विपरीत क्रम में; पत्र स्थायी, क्वचित् वर्षजीवी एवं कुन्तल क्रम में, पतले, नोकदार; पुष्प द्विलिङ्गी, पुङ्केशर छोटे शंकुओं में किंतु स्त्रीकेशर के शंकु परिपक्व होने पर काष्ठीय; प्रत्येक स्त्रीकेशर २ बीजीभव युक्त, चिपटे एवं आधारीय कोणपुष्पक से अलग एवं छोटे; बीज सपक्ष।

५०२. देवदारु– Cedrus deodara (Roxb.) Loud.

५०३. सरल– Pinus roxburghii Sargent

५०४. निकोचक– Pinus gerardiana Wall.

५०५. तालीश– Abies spectabilis G. Don; syn.-Abies webbiana Lindl.

१०३. स्थौणेयक-कुल (Taxaceae)

कुललक्षण– नग्नबीज, सपुष्प; पत्र स्थायी, एकान्तर, कुछ-कुछ दो कतारों में, रेखाकार या भालाकार एवं अधस्तल पर हलकी हरी या क्षोदलिप्त रेखांकित; द्विलिङ्गी या एकलिङ्गी, पुङ्केशर एकाकी या ३-१४ मिलकर शंक्वाकार; बीजीभव एकाकी, बीज शुष्क, काष्ठीय एवं रङ्गीन तथा मांसल आवरण से युक्त।

५०६. स्थौणेयक– Taxus baccata Linn.

१०४. हपुषा-कुल (Cupressaceae)

कुललक्षण– नग्नबीज, सपुष्प, द्विलिङ्गी, कुछ में एकलिङ्गी; पत्र अभिमुख या चक्रिक, सूच्याकार या शल्कसम; पक्व शंकु शुष्क एवं काष्ठीय या मांसल।

५०७. हपुषा– Juniperus communis Linn.

१०५. हरिद्रा-कुल (Zingiberaceae-Scitaminae)

कुललक्षण– सपुष्प, एकबीजपत्र; पत्र एकान्तर काण्ड को परिवेष्टित करने वाला; पुष्पबाह्यकोश और पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ३-३, पुङ्केशर २ चक्रों में, बाह्यचक्र का एक पुङ्केशर अनुपस्थित, अन्य दो अनुपस्थित या क्लीबकेशर, आभ्यन्तरदलसदृश, अन्तश्चक्र में एक पुङ्केशर प्रजननक्षम एवं अन्य दो मिलकर पुष्प का सबसे आकर्षक अङ्ग (अन्तर्दल सदृश) बनाते हैं, स्त्रीकेशर ३; बीजकोश अध:स्थ और त्रिकोष्ठी।

५०८. हरिद्रा– Curcuma longa Linn.
५०९. कर्चूर– Curcuma zedoaria Rosc.
५१०. शटी– Hedychium spicatum Ham. ex Smith.
५११. वनहरिद्रा– Curcuma aromatica Salisb.
५१२. आम्रगन्धिहरिद्रा– Curcuma amada Roxb.
५१३. तवक्षीर– Curcuma angustifolia Roxb.
५१४. आर्द्रक– Zingiber officinale Rosc.
५१५. कुलञ्जन (मलयवचा)– Alpinia galanga Willd.
५१६. केबुक– Costus speciosus (Koen.) Sm.
५१७. एला (सूक्ष्म)– Elettaria cardamomum Maton.
५१८. एला (बृहत्)– Amomum subulatum Roxb.
५१९. काकोली[१]– Roscoea procera Wall.
५२०. क्षीरकाकोली[१]– Roscoea sp.

१०६. कदली-कुल (Musaceae)

कुललक्षण– सपुष्प, एकबीजपत्र, पत्र बडे, प्राय: विशाल; पुष्प द्विलिङ्ग या एकलिङ्ग (पुंपुष्प ऊपर, स्त्रीपुष्प नीचे), अनियमित, परिपुष्प खण्ड ६ आभ्यन्तर दल सदृश, पुङ्केशर ५ एवं एक क्लीबकेशर, स्त्रीकेशर ३, संयुक्त; बीजकोश अधस्थ, प्रत्येक कोष्ठ में अनेक बीजीभव।

५२१. कदली– Musa paradisiaca Linn.

१०७. नागदमन-कुल (Haemodoraceae)

कुललक्षण– बहुवर्षायु क्षुप, मूल कन्दाकर, सूत्रयुक्त, रक्तवर्ण; पत्र मूलोद्भूत, नाडियाँ समानान्तर; पुष्प-पुङ्केशर ६; अण्डाशय त्रिकोष्ठी, मूल से प्राय: लाल रङ्ग निकलता है।

५२२. नागदमन– Sansevieria roxburghiana Schult. f.

१०८. अनानास-कुल (Bromeliaceae)

कुललक्षण– पत्र प्राय: मूललग्न, मांसल; प्राय: घड़े की तरह रचनावाले जो

१. इन नामों से प्रचलित अन्य द्रव्यों को रसोन-कुल में देखें।

अंशत: जल से भरे होते हैं; पुष्प द्विलिङ्गी, अन्तर्दल ३ प्राय: चमकीले रङ्गीन; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ या अध:स्थ; फल बीजिमांसल, सामान्यस्फोटी, कभी-कभी संयुक्त फल।

५२३. अनानास– Ananas comosus (Linn.) Merr.

१०९. केशर-कुल (Iridaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर, पतले; लम्बे पुष्प विविध रङ्ग के, पुष्प बाह्य कोश के दल ६, पुङ्केशर ३; अण्डाशय त्रिकोष्ठी और अध:स्थ।

५२४. केशर– Crocus sativus Linn.
५२५. हैमवती (बालवच)– Iris insata Thunb.
अन्य प्रजाति– Iris nepalensis D. Don
विदेशी प्रजाति– Iris germanica Linn.

११०. तालमूली-कुल (Amaryllidaceae)

कुललक्षण– पत्र पतले, नुकीले; पुष्प बाह्यकोश के दल ६, पुङ्केशर ६; अण्डाशय त्रिकोष्ठी अध:स्थ।

५२६. तालमूली– Curculigo orchioides Gaertn.

१११. वाराही-कुल (Dioscoreaceae)

कुललक्षण– प्राय: आरोही, लम्बे क्षुप; मूल बड़े, स्थूल, कन्दाकार; पत्र एकान्तर या अभिमुख; पुष्प छोटे एकलिङ्गी, पुङ्केशर ३-६; अण्डाशय त्रिकोष्ठीय अध:स्थ।

५२७. वाराही– Dioscorea bulbifera Linn.

११२. रसोन-कुल (Alliaceae-Liliaceae)

कुललक्षण– पत्र एकान्तर या चक्राकार, सादे, अवृन्त; पुष्प मध्यदण्ड के सिरे पर लगे हुए, पुङ्केशर ३, संयुक्त।

५२८. रसोन– Allium sativum Linn.
५२९. पलाण्डु– Allium cepa Linn.
५३०. कुमारी– Aloe barbadensis Mill.; syn.-Aloe vera Tourn. ex Linn.
५३१. वनपलाण्डु– Urginea Indica Kunth.
५३२. लाङ्गली– Gloriosa superba Linn.
५३३. चोपचीनी– Smilax china Linn.
भारतीय प्रतिनिधि– Smilax glabra Roxb.
५३४. उशवा (जङ्गली)– Smilax zeylanica Linn.
५३५. सुरञ्जान– Colchicum luteum Baker.

५३६. हैमवती (देहरादून)– Paris polyphylla Sm.
५३७. शतावरी– Asparagus racemosus Willd.
५३८. मुशली– Asparagus adscendens Roxb.
५३९. शतावरी (अकण्टक)– Asparagus filicinus Buch.-Ham.
५४०. जीवक– Microstylis wallichii Lindl.
५४१. ऋषभक– Microstylis mucifera Ridley.
५४२. महामेदा– Polygonatum cirrhifolium Royle
५४३. मेदा– Polygonatum Verticillatum All.
५४४. काकोली– (i) Nomocharis cxypetala Royle
(ii) Fritillaria roylei Hook.f.
५४५. काकोली, क्षीरकाकोली– Lilium polyphyllum D. Don

११३. नारिकेल-कुल (Aracaceae-Palmae)

कुललक्षण– वृक्ष मध्यमाकार या बड़े, अकेले या झुण्डों में, काण्ड सीधे, शाखायें प्रायः नहीं, पत्र काण्ड के अग्रभाग में सम्बद्ध; पुष्पव्यूह बड़ा, पुङ्केशर प्रायः ६, स्त्रीकेशर ३ स्वतंत्र या संयुक्त; फल कठिन कवचयुक्त।

५४६. नारिकेल– Cocos nucifera Linn.
५४७. रक्तनिर्यास (खूनखराबा)– Daemonorops draco Blime
५४८. ताल– Borassus flabellifera Linn.
५४९. पिण्डखर्जूर– Phoenix sylvestris Roxb.
५५०. गोस्तन खर्जूर (छुहाड़ा)– Phoenix dactylifera Linn.
५५१. भूखर्जूर– (i) Phoenix acaulis Roxb.
(ii) Phoenix humilis Royle
५५२. वेत्र– Calamus tenuis Roxb.
५५३. पूग– Areca catechu Linn.

११४. केतकी-कुल (Pandanaceae)

कुललक्षण– काण्ड अनेक अनियमित मूलों से युक्त; पत्र पतले वृन्तरहित, किनारे कण्टकित, पुष्प छोटे गुच्छों में, पुङ्केशर अनेक; फल संयुक्त।

५५४. केतक– Pandanus odoratissimus Linn.

११५. एरका-कुल (Typhaceae)

कुललक्षण– बहुवर्षायु क्षुप, पत्र पतले, सीधे; पुष्प छोटे, रोमावृत, पुङ्केशर २-५, स्त्रीकेशर १; फल छोटा, चर्मल रोमयुक्त।

५५५. एरका (पटेरा)– Typha elephantina Roxb.

११६. सूरण-कुल (Araceae)

कुललक्षण– पत्र विभिन्न प्रकार के, प्रायः सादे क्वचित् विभक्त; पुष्प द्विलिङ्ग या एकलिङ्ग, छोटे, पुङ्केशर २,४ या ८, स्त्रीकेशर प्रायः १; फल मांसल, सरस, अनेकबीज।

५५६. सूरण– Amorphophallus paeoniifolius (Dennst.) Nicolson var. campanulatus (Bl. ex Decne) Sivad.; syn.- Amorphophallus campanulatus Bl. ex Decne
५५७. माणक– Alocasia indica (Roxb.) Schott
५५८. वचा– Acorus calamus Linn.
५५९. पोरियाबेल (गजपिप्पली?)– Scindapsus officinalis Schott
५६०. सर्पा– Arisaema speciosum Mart.
५६१. जलकुम्भी– Pistia stratiotes Linn.

११७. मुस्तक-कुल (Cyperaceae)

कुललक्षण– क्षुप तृणसदृश, काण्ड त्रिकोण, पर्वरहित; पत्र अवृन्त; पुष्प-छोटे, काण्डाग्र में गुच्छों में लगे हुये, पुङ्केशर १-६; मूल सौत्रिक या कन्दसम; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ।

५६२. मुस्तक– (i) Cyperus rotundus Linn.
(ii) Cyperus scariosus R. Br.
५६३. कशेरुक– (i) Scirpus grossus Linn.
(ii) Scirpus kysoor Roxb.

११८. यव-कुल (Poaceae-Graminae)

कुललक्षण– अखण्ड, पुष्प वल्कलसदृश, पुङ्केशर ३ (क्वचित् ६); अण्डाशय पक्षाकार दो रजोवह-नलिकाओं से आवृत; बीज मांसल।

५६४. यव– Hordeum vulgare Linn.
५६५. इक्षु– Saccharum officinarum Linn.
५६६. वंश– Bambusa arundinacea Willd.; syn.-Bambusa bambos Druce
५६७. दूर्वा– Cynodon dactylon (Linn.) Pers
५६८. कुश– Desmostachya bipinnata Stapf.
५६९. दर्भ– Imperata cylindrica Beauv.
५७०. काश– Saccharum spontaneum Linn.
५७१. शर– Saccharum munja Roxb.
५७२. उशीर– Vetiveria zizanioides (Linn.) Nash.
५७३. रोहिष– Cymbopogon martini (Roxb.) Wats.

५७४. जम्बीरतृण– Cymbopogon citratus (DC.) Stapf.
५७५. भूतृण– Cymbopogon jwarancusa Schult.
५७६. नल– Arundo donax Linn.
५७७. महानल– Phragmites Karka Trin. ex Steud.; syn.-Phragmites maxima Blatter & Maccann in part
५७८. शालि– Oryza sativa Linn.
५७९. गोधूम– Triticum aestivum Linn.

११९. हंसराज-कुल (Polypodiaceae)

कुललक्षण– अपुष्प, संयुक्त पत्र भौमकाण्डों से निर्गत।
५८०. हंसराज– Adiantum lunulatum Burn.
५८१. मयूरशिखा– Adiantum caudatum Linn.

१२०. शैलेय-कुल (Parmeliaceae)

कुललक्षण– अपुष्प।
५८२. शैलेय– Parmelia perlata Ach.

१२१. छत्रक-कुल (Agaricaceae)

५८३. छत्रक– Agaricus campestris Linn.
५८४. सोम (?)– Amanita muscaria Linn.

१२२. अन्नामय-कुल (Hypocreaceae)

५८५. अन्नामय (अर्गट)– Claviceps purpurea (Fr.) Tul.

१२३. अम्लवेतस-कुल (Elaeognaceae)

५८६. अम्लवेतक– Hippophae rhamnoides Linn.

*

परिशिष्ट–२

आयुर्वेदोक्त प्रमुख ओषधियाँ[१]

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
अगस्त्य	अगस्त	Sesbania grandiflora Pers.
अगुरु	अगर	Aquilaria agallocha Roxb.
अग्निमन्थ	अरनी, गनियार, अगेथू	Premna mucronata Roxb.
अङ्कोट	अंकोल, ढेरा	Alangium salvifolium (Linn.f.) Wang.
अजमोदा	अजमोद	Carum Roxburghianum (DC.) Craib.
अतसी	तीसी, अलसी	Linum usitatissimum Linn.
अतिबला	कंघी, ककही	Abutilon indicum (Linn.) Sw.
अतिबला	बड़ी कंघी	Abutilon hirtum G. Don.
अतिविषा	अतीस	Aconitum heterophylum Wall.
अध:पुष्पी	अन्धाहुली	Trichodesma indicum R. Br.
अपामार्ग	चिडचिड़ी, लटजीरा, चिचड़ा	Achyranthes aspera Linn.
अम्लपर्णी	रेवंदचीनी	Rheum emodi Wall.
अम्लवेतस	अमलवेत	Garcinia pedunculata Roxb.
अरण्यजीरक	कालीजीरी, सोइराई	Centratherum anthelminticum Kuntze.
अरलु	अडू, घोड़ानीम, घोड़करञ्ज	Ailanthus excelsa Roxb.
अरिष्टक	रीठा	Sapindus trifoliatus Linn.
अर्क	आक, मदार	Calotropis procera (Ait) R. Br.
अर्जुन	अर्जुन, काहू, कहुआ	Terminalia arjuna (Roxb.) W.&A.
अलर्क		Calotropis gigantia (Linn.) R.Br. ex Ait
अशोक	अशोक	Saraca asoca (Roxb.) De Wilde.

१. इन द्रव्यों का विवरण द्रव्यगुण विज्ञान द्वितीय भाग में देखें।

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
अश्वगंधा	असगंध	Withania somnifera (Linn.) Dunal
अश्वगोल	इसबगोल	Plantago ovata Forsk.
अश्वत्थ	पीपल	Ficus religiosa Linn.
अश्मन्तक	गजना	Ficus rumphii Blume.
अश्वबला		Medicago sativa Linn.
अस्थिशृंखला	हड़जोड़	Cissus quadrangularis Linn.
अहिफेन	अफीम	Papaver somniferum Linn.
आकारकरभ	अकरकरा	Anacyclus pyrethrum DC.
आकाशवल्ली	अमरबेल	Cuscuta reflexa Roxb.
आखुकर्णी	मूसाकानी	Merremia emarginata Burm. f. Hallier f.
आमलकी	आँवला	Emblica officinalis Gaertn.
आम्र	आम	Mangifera indica Linn.
आम्रगन्धि हरिद्रा	आमा हलदी	Curcuma amada Roxb.
आरग्वध	अमलतास, सियरलाठी	Cassia fistula Linn.
आवर्त्तकी	तरवर	Cassia auriculata Linn.
आवर्त्तनी	मरोड़फली	Helicteres isora Linn.
इक्षु	ईख, गन्ना	Saccharum officinarum Linn.
इङ्गुदी	इङ्गुन, हिंगुआ, हिङ्गोट	Balanites aegyptiaca (Linn.) Delile.
इन्द्रवारुणी	इन्द्रायण	Citrullus colocynthis Schrad
इक्ष्वाकु	तितलौकी, कड़वी लौकी	Lagenaria siceraria (Mol.) Standl.
ईश्वरी	ईश्वरमूल, इसरमूल, इसरॉल	Aristolochia indica Linn.
उटङ्गन	उतञ्जन	Blepharis edulis Pers.
उत्पल	कुई	Nymphaea stellata Willd.
उदुम्बर	गूलर	Ficus glomerata Roxb.
उशीर	खस	Vetiveria zizanioides (Linn.) Nash.
एरण्ड	रेड़ी, अंडी	Ricinus communis Linn.
एरण्डकर्कटी	पपीता	Carica payaya Linn.
एला	छोटी इलायची	Elettaria cardamomum Maton.
ऐन्द्री	बरमी, जलनीम	Bacopa monnieri (Linn.) Pennell.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
कंकोल	कबाबचीनी, शीतलचीनी	Piper cubeba Linn. f.
कटुका	कटुका	Picrorhiza kurroa Royle ex Benth.
कट्फल	कायफल	Myrica esculenta Buch.-Ham.
कण्टकारी	छोटी कटेरी	Solanum surattense Burm. f.
कण्टकी करञ्ज	कँटकरेज, करञ्जुवा	Caesalpinia crista Linn.
कतक	निर्मली	Strychnos potatorum Linn.
कदम्ब	कदम	Anthocephalus indicus Miq.
कदर (सोमवल्क)		Acacia suma buch.-Ham.
इरिमेद (विट्खदिर)	गुहिया बबूल	Acacia farnisiana Willd.
कन्दली	बिसकुनरी	Crinum defixum Ker-Gawl
कपिकच्छू	केवाँच, कौंच	Mucuna prurita Hook.
कमल	कमल, पुरइन	Nelumbo nucifera Gaertn.
कम्पिल्लक	कबीला	Mallotus philippinensis Muell.-Arg.
करञ्ज	डिठौरी, करुअइनी	Pongamia pinnata Pierre.
करवीर	कनेर	Nerium indicum Mill.
करीर	करील	Capparis decidua Edgew.
कर्कटशृङ्गी	काकड़ासिङ्गी	Pistacia integerrima Stew ex Brandis
कर्चूर	कचूर	Curcuma zedoaria Rosc.
कर्पूर	कपूर	Cinnamomum camphora Nees & Eberm
कशेरुक	कसेरू	Scirpus grossus Linn. f.
काकमाची	मकोय	Solanum nigrum Linn.
काकोदुम्बर	कठूमर	Ficus hispida Linn. f.
काञ्चनार	कचनार	Bauhinia variegata Linn.
काण्डीर	जलधनिया, देवकांडर	Ranunculus sceleratus Linn.
कारवेल्लक	करेला	Momordica charantia Linn.
कार्पास	कपास	Gossypium herbaceum Linn.
कालमेघ	कालमेघ	Andrographis paniculata Nees
कालाजाजी	कलौंजी, मंगरैल	Nigella sativa Linn.
काश	कास	Saccharum spontaneum Linn.
कासनी	कासनी	Cichorium intybus Linn.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
कासमर्द	कसौंदी	Cassia occidentalis Linn.
किराततिक्त	चिरायता	Swertia chirayita (Roxb. ex Flem.) Karst.
कुकुन्दर	कुकरौंधा	Blumea lacera DC.
कुङ्कुम	केसर	Crocus sativus Linn.
कुटज	कुड़ा, कुडैया	Holarrhena antidysenterica (Linn.) Wall.
कुपीलु	कुचला	Strychnos nuxvomica Linn. f.
कुमारी	घीकुआँर	Aloe vera Tourn. ex Linn.
कुमुद	कुई, कोई, भेट	Nymphaea nouchali Burm. f.
कुलत्थ	कुलथी	Dolichos biflorus Linn.
कुश	कुश	Desmostachya bipinnata Stapf.
कुष्ठ	कूठ	Saussurea lappa C.B. Clarke
कूष्माण्ड	पेठा, भतुआ	Benincasa hispida Thunb.
कृतवेधन	तरोई	Luffa acutangula (Linn.) Roxb.
कृष्णाजीरक	स्याहजीरा	Carum bulbocastanum W. Koch
कृष्णधत्तूर	कालाधतूरा	Datura stramonium Linn.
कृष्णबीज	काला दाना, झारमरिच	Ipomoea nil (Linn.) Roth
केतक	केवड़ा	Pandanus odorotissimus Linn.
केबुक	केबु, पेऊँ	Costus speciosus (Koeing) Sm.
कोकिलाक्ष	तालमखाना	Asteracantha longifolia Nees
कोविदार	कोइलार	Bauhinia purpurea Linn.
कोशाम्र	कुसुम	Schleichera oleosa (Lour) Oken.
क्षवक	नकछिकनी	Centipeda minima Linn.
क्षीरविदारी	भुईं कोहड़ा	Ipomoea digitata Linn.
खदिर	खैर	Acacia catechu Willd.
खर्जूर	खजूर	Phoenix sylvestris Roxb.
गन्धप्रसारिणी	पसरन, गन्धप्रसारनो	Paederia foetida Linn.
गम्भारी	गँभार	Gmelina arborea Linn.
गांगेरुकी	गंगेरन	Grewia tenax (Forsk.) Aschers. & Schwf.
गुग्गुलु	गूगल, गुग्गुल़	Commiphora mukul (Hook ex Stocks) Engle.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
गुञ्जा	रत्ती, घुंघची	Abrus precatorius Linn.
गुडूची	गिलोय	Tinospora cordifolia (Willd.) Miers ex Hook. f. & thoms.
गृञ्जन	गन्दन	Allium ascalonium Linn.
गोक्षुर	गोखरू	Tribulus terrestris Linn.
गोरक्ष	गौरख	Dalbergia lanceolaria Linn. f.
गोरक्षगञ्जा	गोरखगाँजा, ठिकरीतोड़	Aerva lanata Juss.
चक्रमर्द	चकवड़, पवाँड़	Cassia tora Linn.
चक्षुष्या	चाकसू, बनकुलथी	Cassia absus Linn.
चन्दन	सफेद चन्दन	Santalum album Linn.
चन्द्रशूर	चनसुर, हालिम	Lepidium sativum Linn.
चम्पक	चम्पा	Michelia champaca Linn.
चव्य	चाभ	Piper retrofractum Vahl.
चांगेरी	तिनपतिया	Oxalis corniculata Linn.
चित्रक	चीता	Plumbago zeylanica Linn.
चिरबिल्व	चिलबिल	Holoptelea integrifolia Planch.
चोपचीनी	चोपचीनी	Smilax china Linn.
चोरक	चोरा	Angelica glauca Edgew.
चौहार	किरमानी अजवाइन, किरमाला	Artemisia maritima Linn.
छत्रक	खुमी, गुच्छी	Agaricus campestris Linn.
छिलहिण्ट	पातालगरुड़ी, जलजमनी	Cocculus hirsutus (Linn.) Diels
जटामांसी	बालछड़	Nardostachys jatamansi DC.
जपा	ओड़हुल, गुड़हल, जपा	Hibiscus rosa-sinensis Linn.
जम्बीर	जंबीरी नींबू	Citrus Limon (Linn.) Burm. f.
जम्बू	जामुन	Syzygium cumini (Linn.) Skeels.
जयन्ती	जैंत	Sesbania sesban Merrill
जलकुम्भी	जलकुम्भी	Pistia stratiotes Linn.
जलवेतस	वेत	Salix tetrasperma Roxb.
जाती	चमेली	Jasminum officinale Linn. forma. grandiflorum (Linn.) Kobuski
जातीफल	जायफल	Myristica fragrans Houtt.
जीरक	जीरा	Cuminum cyminum Linn.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
जीवन्ती	डोडी शाक	Leptadenia reticulata W. &A.
ज्योतिष्मती	मालकांगनी	Celastrus panniculatus Willd.
झण्डु	गेंदा	Tagetes erecta Linn.
तगर	तगर	Valeriana wallichii DC.
तर्कारी	छोटी अरणी	Clerodendrum phlomidis Linn. f.
तवक्षीर	तेखुर	Curcuma angustifolia Roxb.
ताम्बूल	पान	Piper betle Linn.
तालमूली	स्याह मुसली, काली मुसली	Curculigo orchioides Gaertn.
तालीश	तालीसपत्र	Abies webbiana Lindle.
तिनिश	सन्दन, छानन	Ougenia oojeinensis (Roxb.) Hochr.
तिन्तिडीक	समाकदाना	Rhus parviflora Roxb.
तिन्दुक	गाभ, तेंदू	Diospyros peregrina (Gaertn.) Gurke
तिल	तिल	Sesamum indicum Linn.
तिलपर्णी	हुलहुल, हुरहुर	Gynandropsis gynandra (Linn.) Briq.
तुम्बुरु	तेजबल	Zanthoxylum armatum DC.
तुलसी	तुलसी	Ocimum sanctum Linn.
तुवरक	चालमोंगरा, पपीता	Hydnocarpus Laurifolia (Dennst.) Sleumer
त्रपुष	खीरा	Cucumis sativus Linn.
त्रायमाणा	सोलन, कडू, तीता, नीलकण्ठ	Gentiana kurroo Royle.
त्रिवृत्	निशोथ, पितोहरी	Operculina turpethum (Linn.) Silva Manso
त्वक्	दालचीनी	Cinnamomum zeylanicum Breyn.
दमनक	दौना	Artemisia vulgaris Linn.
दन्ती	दन्ती	Baliospermum montanum Muell-Arg.
दर्भ	दाभ, उलू	Imperata cylindrica Beauv.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
दाडिम	अनार	Punica granatum Linn.
दारुहरिद्रा	दारूहलदी	Berberis aristata DC.
दुग्धिका	दुद्धी	Euphorbia thymifolia Linn.
दूर्वा	दूब	Cynodon dactylon Pers.
देवदारु	देवदार	Cedrus deodara (Roxb.) Loud.
देवदाली	बन्दाल, घघरबेल	Luffa echinata Roxb.
द्रवन्ती	जमालगोटा	Croton tiglium Linn.
द्राक्षा	दाख, मनुक्का	Vitis vinifera Linn.
द्रोणपुष्पी	गूमा	Leucas cephalotes Spreng.
धत्तूर	धत्तूरा	Datura metel Linn.
धन्वन	धामन, धामिन	Grewia tiliaefolia Vahl.
धन्वयास	धमासा	Fagonia cretica Linn.
धातकी	धाय	Woodfordia fruticosa Kurz.
धान्यक	धनियाँ	Coriandrum sativum Linn.
धामार्गव	नेनुआ	Luffa cylindrica (Linn.) M.J. Roem
नल	नरकट	Arundo donax Linn.
नागकेशर	पीला नागकेशर	Mesua ferrea Linn.
नागबला	गुलशकरी, गुड़खण्डी	Grewia hersuta Vahl.
नाडीहिङ्गु	डिकामाली	Gardenia gummifera Linn.
नारिकेल	नारियल	Cocos nucifera Linn.
नाही	मामेजवा (गुजरात में)	Enicostemma littorale Blume.
निम्ब	नीम	Azadirachta indica A. Juss.
निर्गुण्डी	सम्हालू, मेउड़ी	Vitex negundo Linn.
नीलिनी	नील	Indigofera tinctoria Linn.
नीलोत्पल	नीलोफर	Nymphaea stellata Willd.
पटोल	परवल	Trichosanthes dioica Roxb.
पत्रांग	पतंग, बकम	Caesalpinia sappan Linn.
पद्मक	पद्माख	Prunus cerasoides D. Don
पनस	कटहल	Artocarpus integra (Thunb.) Merrill
पर्णबीज	जख्मे हयात	Bryophyllum pinnatum (Lam.) Kurz

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
पर्णयवानी	पत्ता अजवाइन	Coleus amboinicus Lour.
पर्पट	पित्तपापड़ा, धमगजरा	Fumaria vaillantii Loisel.
पलाण्डु	प्याज	Allium cepa Linn.
पलाश	ढाक, टेसू	Butea monosperma (Lam.) Kuntze.
पाटला	पाढ़ल, अधकपारी	Stereospermum suaveolens DC.
पाठा	पाढ़, पाढ़ी	Cissampelos pareira Linn.
पारसीक यवानी	खुरासानी अजवायन	Hyoscyamus niger Linn.
पारिजात	हरसिंगार, परजात	Nyctanthes arbor-tristis Linn.
पारिभद्र	फरहद	Erythrina variegata Linn. var. orientalis (Linn.) Merill.
पाषाणभेद	सिलफड़ा, पथरचूर, पखानभेद	Bergenia ligulata (Wall.) Engl.
पिप्पली	पीपल	Piper longum Linn.
पीत करवीर	पीला कनेर	Thevetia neriifolia Juss.
पीलु	पीलु, झाक	Salvadora persica Linn.
पुत्रजीवक	जियापोता, पितौजिया	Putranjiva roxburghii Wall.
पुनर्नवा	गदहपुरना, गदहबिण्डो	Boerhaavia diffusa Linn.
पुन्नाग	सुलतान चंपा	Colophyllum inophyllum Linn.
पुष्करमूल	पोहकरमूल	Inula racemosa Hook.f.
पूग	सुपारी	Areca catechu Linn.
पूतिहा	पुदीना	Mentha spicata Linn. Emend. Nathh.
पृश्निपर्णी	पिठवन	Uraria picta Desv.
प्रतिविषा	बिखमा	Aconitum palmatum D. Don.
प्रियंगु	प्रियंगु, डइया	Callicarpa macrophylla Vahl.
प्रियाल	चिरौंजी, पियार	Buchanania lanzan Spreng.
प्लक्ष	पाकर, पकड़ी	Ficus lacor Buch.-Ham.
फल्गु	अंजीर	Ficus carica Linn.
बकुल	मौलसिरी	Mimusops elengi Linn.
बन्दाक	बाँदा	Dendrophthoe falcata (Linn.f.) Ettingshaysen
बब्बूल	बबूल, कीकर	Acacia arabica Willd.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
बर्बरी	ममरी, वनतुलसी	Ocimum basilicum Linn.
बला	बरियार, खिरैटी	Sida cordifolia Linn.
बाकुची	बाकची, बावची	Psoralia corylifolia Linn.
बिभीतक	बहेड़ा	Terminalia bellirica Roxb.
बिम्बी	कुंदरू, तिरकोल	Coccinia indica W. & A.
बिल्व	बेल	Aegle marmelos Corr.
बीजक	विजयसार, बीआ	Pterocarpus marsupium Roxb.
बृहती	बड़ी कटेरी, बनभंटा	Solanum indicum Linn.
बृहदेला	बड़ी इलायची	Amomum subulatum Roxb.
बोल	हीराबोल, बोल	Commiphora myrrha (Nees) Engl.
भंगा	भांग	Cannabis sativa Linn.
भल्लातक	भिलावा	Semecarpus anacardium Linn.
भार्ङ्गी	भारङ्गी	Clerodendrum serratum (Linn.) Moon.
भाण्डीर	भटेस, तितभाँट	Clerodendrum infortunatum Linn.
भूम्यामलकी	भुई आँवला	Phyllanthus urinaria Linn.
भूर्ज	भोजपत्र	Betula utilis D.Don.
भृङ्गराज	भाँगरा, भँगरैया	Eclipta alba Hassk.
मखान्न	मखाना	Euryale ferox Salisb.
मञ्जिष्ठा	मंजीठ	Rubia cordifolia Linn.
मण्डूकपर्णी	बेंगसाग	Centella asiatica (Linn.) Urban
मदनफल	मैनफल	Randia spinosa Poir.
मदयन्तिका	मेहँदी	Lawsonia inermis Linn.
मधूक	महुआ	Madhuca indica J.F. Gmel.
मयूरशिखा	मयूरशिखा	Adiantum caudatum Linn.
मरिच	काली मिर्च	Piper nigrum Linn.
मरुबक	मरुआ	Majorana hortensis Moench
मलयवचा	कुलञ्जन	Alpinia galanga Willd.
मल्लिका	बेला, मोगरा, मोतिया	Jasminum sambac Linn.
महानिम्ब	बकायन	Melia azedarach Linn.
मांसरोहिणी	रोहण	Soymida febrifuga A. Juss.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
महाबला	पीला बरियार	Sida rhombifolia Linn. Mast.
मातुलुङ्ग	बिजौरा	Citrus medica Linn.
माणक	मानकन्द	Alocasia indica (Roxb.) Schott.
मायाफल	माजूफल	Quercus infectoria Oliv.
माष	उड़द	Phaseolus mungo Linn.
माषपर्णी	मषवन, बनउड़द	Teramnus labialis Spreng.
मिश्रेया	सौंफ	Foeniculum vulgare Mill.
मुचकुन्द	मुचकुन्द	Pterospermum acerifolium Willd.
मुञ्जातक	सालम, सालमपञ्जा	Orchis latifolia Linn.
मुण्डी	गोरखमुण्डी	Sphaeranthus indicus Linn.
मुद्गपर्णी	मुँगवन	Phaseolus trilobus Ait.
मुशली	सफेद मुसली	Asparagus adscendens Roxb.
मुस्तक	मोथा, नागरमोथा	Cyperus rotundus Linn.
मूर्वा	मरुबा बेल, जरतोर, चिन्हारु	Marsdenia tenacissima W. &A.
मेथिका	मेथी	Trigonella foenum-graecum Linn.
मेषशृंगी	गुड़मार	Gymnema sylvestre R. Br.
यवानी	अजवायन	Trachyspermum ammi (Linn.) Sprague
यवास	जवासा	Alhagi camelorum Fisch.
यष्टीमधु	मुलेठी	Glycyrrhiza glabra Linn.
रक्तचन्दन	लालचन्दन	Pterocarpus santalinus Linn f.
रक्तनिर्यास	खूनखराबा	Daemenorops draco Blume
रसोन	लहसुन	Allium sativum Linn.
राजिका	राई	Brassica juncea Czern. & Coss.
रास्ना	रायसन, वायसुरई	Pluchea lanceolata C.B.Clarke
रुदन्ती	रुदन्ती	Capparis moonii Wight.
रुद्राक्ष	रुद्राक्ष	Elaeocarpus ganitrus Roxb.
रोहिष	रूसा घास, मिरचागंध	Cymbopogon martini (Roxb.) Wats.
रोहीतक	रोहेड़ा	Tecoma undulata G.Don.
लकुच	बड़हर	Artocarpus lakoocha Roxb.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
लज्जालु	छुईमुई, लज्जावन्ती, लजौनी, लजालु	Mimosa pudica Linn.
लताकस्तूरी	लताकस्तूरी	Hibiscus abelmoschus Linn.
लवंग	लौंग	Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & Per.
लांगली	कलिहारी, कलियारी	Gloriosa superba Linn.
लोध्र	लोध्र	Symplocos racemosa Roxb.
वंश	बाँस	Bambusa arundinacea Willd.
वचा	घोरवच, घोड़वच	Acorus calamus Linn.
वट	बड़, बरगद	Ficus bengalensis Linn.
वत्सनाभ	बछनाग, मीठा विष	Aconitum ferox Wall. ex Seringe
वनत्रपुषी	बनककड़ी	Podophyllum hexandrum Royle.
वरुण	बरुना, बर्ना	Crataeva nurvala Buch.-Ham.
वाकेरी	वाकेरी	Caesalpinia digyna Rottl.
वाराही	वराही कन्द, गेंठी	Dioscorea bulbifera Linn.
वासा	अड़ूसा	Adhatoda vasica Nees
विकंकत	कटाई	Flacourtia ramontchi L. Herit.
विडङ्ग	बायबिडंग, भाभिरंग	Embelia ribes Burm.f.
विदारी	विदारीकन्द, बिलाईकन्द, सुराल, पतालकोहड़ा	Pueraria tuberosa DC.
विशाला	महाकाल	Trichosanthes palmata Roxb.
वीरतरु	वुर्तुली	Dichrostachys cineria W. & A.
वृक्षाम्ल	कोकम (गुजरात में)	Garcinia indica Chois.
वृद्धदारुक	बिधारा, घावपत्ता, समुद्रशोष	Argyreia speciosa Sweet
वेतस	बेदमुष्क	Salix caprea Linn.
शंखपुष्पी	शंखाहुली	Convolvulus pluricaulis Chois.
शटी	कपूरकचरी	Hedychium spicatum Buch.-Ham.
शण	सन, सनई	Crotalaria juncea Linn.
शतपुष्पा	सोया	Anethum sowa Kurz.
शतावरी	सतावर	Asparagus racemosus Willd.
शमी	छोंकर, छिकुर	Prosopis cineraria Druce

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
शर	सरपत, मूँज, कण्डा	Saccharum munja Roxb.
शरपुंखा	सरफोंका	Tephrosia purpurea Pers.
शल्लकी	सलई	Boswellia serrata Roxb.
शाक	सागौन, सागवान	Tectona grandis Linn.
शिंशपा	शीशम, शीशो	Dalbergia sissoo Roxb.
शाखोटक	सिहोरा	Streblus asper Lour.
शाल	साल, साखू, सखुआ	Shorea robusta Gaertn.
शालपर्णी	सरिवन	Desmodium gangeticum DC.
शाल्मली	सेमल, सेमर	Salmalia malabarica Schott & Endl.
शिरीष	सिरिस	Albizzia lebbeck Benth.
शुण्ठी	सोंठ	Zingiber officinale Rosc.
श्रृंगाटक	सिंघाड़ा	Trapa natans Linn. var. bispinosa (Roxb.) Makino
शैलेय	छड़ीला	Parmelia perlata Ach.
शैवाल	सेवार, काई	Ceratophyllum demersum Linn.
शोभाञ्जन	सहिजन, मुनगा	Moringa oleifera Lam.
श्योनाक	सोनापाठा	Oroxylum indicum Vent.
श्लेष्मातक	लसोड़ा	Cordia dichotoma Forst. f.
सदंपुष्पा	सदाबहार, सदासुहागिन	Lochnera rosea (Linn.) Reichb
सप्तचक्रा	सप्तरंगी	Salacia chinensis Linn.
सप्तपर्ण	सतौना, छितवन	Alstonia scholaris R. Br.
सरल	चीड़	Pinus roxburghii Sargent.
सर्ज	कहरुवा, संद्रस, सफेद डामर	Vateria indica Linn.
सर्पगन्धा	धवलबरुआ	Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz.
सर्षप	सरसों	Brassica campestris Linn. var. sarson Prain
सहदेवी	सहदेई	Vernonia cineria Less.
सारिवा	अनन्तमूल, कपूरी	Hemidesmus indicus R.Br.
सिल्हक	शिलारस	Liquidamber orientalis Miller.
सुदर्शन	सुदर्शन	Crinum latifolium Linn.

संस्कृत नाम	हिन्दी नाम	लेटिन नाम
सुनिषण्णक	चौपतिया, सुनसुनिया	Marsilea minuta Linn.
सुरञ्जान	सुरंजान	Colchicum luteum Baker.
सुरपुन्नाग	लाल नागकेशर	Mammea longifolia Planch. & Triana
सूरण	सूरन, ओल, जमीकन्द	Amorphophallus campanulatus Blume.
सैरेयक	कटसरैया, पियाबासा	Barleria prionitis Linn.
सोम		Ephedra gerardiana Wall.
स्नुही	सेहुण्ड, डंडा थूहर	Euphorbia neriifolia Linn.
स्वर्णक्षीरी	सत्यानाशी, भड़भांड़	Argemone mexicana Linn.
स्वर्णपत्री	सनाय	Cassia angustifolia Vahl.
हरिद्रा	हलदी, हरदी	Curcuma longa Linn.
हरिद्रु	हल्द	Adina cordifolia Benth. & Hook.f.
हरीतकी	हर्रे, हरड़	Terminalia chebula Retz.
हिंगु	हींग	Ferula narthex Boiss.
हिंस्रा	हैंस	Capparis sepiaria Linn.
हिज्जल	समुद्रफल, हिजल	Barringtonia acutangula Gaertn.
हैमवती	बालबच	Iris ensata Thunb.

*

अनुक्रमणिका

अंशांशकल्पना ३६९
अकृत यूष ४१६
अगद ३६१
अगुर्वादि ३३
अग्नि ४२५
अग्नि-विरोध ४२२
अग्निसादक १०५
अग्निसादन ३३३
अग्र्य ५७
अग्र्य-वर्ग ५८,८५
अङ्कुर ३४६
अङ्गभेद से (वर्गी०) २९
अङ्गमर्दप्रशमन ५१,१११
अङ्गराग ८२
अङ्गुलि-प्रमाण ३९६
अचिन्त्य २८०
अचिन्त्यक्रियाहेतु २६९
अञ्जनत्रितय १३४
अञ्जनादि ६६,९२
अतिलवणाम्लता ३३४
अद्वैतवादी १५८
अधस्त्वक् ३३९
अधिकरण १६०
अधिकार २३१
अधोभागहर ७२,३३८
अनन्तसेन का रस का लक्षण २०२
अनवधारणीय २८१
अनित्यद्रव्य (द्व्यणुक) १८२
अनित्यमान १८२
अनियत-विपाकवाद २४१,२४२,२४५
अनियत-संख्यावाद १५३
अनियत-संख्यावादी १५४
अनुपान ४२७
अनुमान १८६,२०७,२३१
अनुमेयार्थ २०६
अनुलोमन १०६
अनुवासन ५२,१०७,३४४
अनुवासनोपग ४८,१०७,३४४
अनेकता १८१
अनेकरस द्रव्यों के प्रभाव का विश्लेषण २२९
अनेकविषयत्व २३२
अन्तःकृमिघ्न १०७,३४४,३४५
अन्तर्भाववादी १५३
अन्तःस्नेहन ३१५
अन्यकल्प ४१४
अन्यतरकर्मज १७९
अन्यथाकारण १५८
अन्योन्याभाव १८१
अन्योन्यानुप्रवेश १३
अन्वय-व्यतिरेकविधि २६३
अपकर्षण ३४५
अपक्षेपण २९१
अपतर्पण ५५
अपदेश १८६,२३२
अपद्रव्यों का मिश्रण ३९८
अपरत्व १७६
अपरापातन ६२,७८
अपामार्गतण्डुलीय ३०९
अभयादि वर्ग १४४
अभावात्मक प्रतीति १८१
अभिष्यन्दी ११२,३६८

अभ्यवहरण (बुभुक्षा) ३३२
अभ्यवहरण शक्ति ३३३
अभ्यास १८३,४२६
अमीमांस्य २८०
अम्बष्ठादि ६७,९४
अम्ल १९१,१९६,१९९
अम्लपञ्चक १२४
अम्लवर्ग १२४
अम्लवर्धक १११
अम्लस्कन्ध ३०
अरिष्ट ४१२
अरुचि ३३०
अरुष्कर १०२
अरोचक ३३०
अरोचकहर ३३०
अर्कादि ६५,९३
अवच्छादन ३८८
अवटु (ग्रन्थि) ३१२
अवपीड ३०८
अवलेह ४१४
अवसादन ७८,११२,३६६
अवस्थापाक २३४
अवस्थापाक (प्रपाक) २३४
अवस्था-विरोध ४२३
अर्शःशातन ७९
अर्शोघ्न ४७,१०७,३४६
अशोष्य पार्थिव भाग ३३८
अश्मरीभेदन १०९,३५५
अश्मरीघ्न १३०
अश्मरी-प्रतिषेधन ३५६
अष्टलोह १३४
अष्टवर्ग १२६
अष्टविधवीर्यवाद २६९
अष्टाङ्गसङ्ग्रह ९७,१४०
अष्टाङ्गहृदय ९०,१४०
असंयोग १८१
असनादि ९२
असमवायिकारण १२
अस्थि ३६७
अस्थिक्षपण ११२,३६७
अस्थिधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
अस्थिवर्धन ११२,३६७
अस्थिसन्धानीय ११२,३६७
अहिततम ५६
अहिफेन (शोधन) ४०१
आकाशीय ३८२
आकृतिगत साधर्म्य ४२,११४
आकृति-भेद से (वर्गी०) ४१
आकृतिमान ३९०
आक्षेपजनन १०१,३०४
आक्षेपशमन १०१,३०४
आगम २३१
आग्नेय ३८१
आतुरीय द्रव्यगुणविज्ञान ७
आत्मगुण १५२
आत्रेयसम्प्रदाय २४३,२४६
आद्यपुष्प ११८
आधुनिक और प्राचीन रचनानुसार वर्गीकरण में अन्तर ३८
आधुनिक कालमान ३७९
आध्यात्मिक गुण १५१,१५२
आनूप देश ३७७, ३७८
आन्त्रगत कर्म ३३६
आप्तोपदेश २०७,२७८
आमग्राही ३४२
आमपाचन ११०,३५७,३५८
आमलक्यादि ६७
आमाशय ३२९
आमाशय के मुद्रिका भाग ३३२
आमाशय के शीर्ष भाग ३३२
आमाशयगत कर्म ३२९

आमाशय रस ३२९
आम्रादि १४४
आम्रादिफल वर्ग १४५
आम्रादि वर्ग १४३
आयुभेद से (वर्गी०) ४१
आयुर्वेदिक द्रुवय मान ३९६
आयुष्य ११०,३५९
आरग्वधादि ६४,९२
आरनाल ४१३
आरम्भसामर्थ्य १७
आरोहिणी ४२
आर्त्तवजनन १०८,३५०
आर्त्तवरोधक १०८,३५१
आर्द्र विधि ३८९
आवश्यक शक्ति ३१८
आवस्थिक गुण १५७
आशुकर्म (रस) २६१
आशुकारी १७४
आशुकारित्व २३२
आश्रयत्व १७
आसव ४१३
आसवयोनि १२९
आस्थापन ५२,१०६,३४३
आस्थापनोपग ४८,१०७,३४४
आस्वादरूप (रस) ३६१
आहार-कल्प
आहार-कल्पों का प्रयोजन ४१८
आहार में रसोपयोग-क्रम २२२
इक्षुकादि वर्ग १४४
इक्षुवर्ग १४५
इन्द्रलुप्त ३१३
इन्द्रियातीत ३०५
इन्द्रियाधिष्ठानों पर कर्म करने वाले द्रव्य १०१
इन्द्रियाधिष्ठानों के कर्म २९५,३०५
उत्पक्षेपण २९१
उत्क्लेशन ३२४
उत्पलादि ६७
उत्सादन ७८,११२,३६६
उदरशूल ३४३
उदर्द ३१७
उदर्दप्रशमन ५०,१०३,३१७
उद्भवभेद से (वर्गी०) ४०
उदानानुगत प्राणवायु ३२४
उदासीन ३३४
उपक्रम ३
उपचार-विरोध ४२३
उपदेश १८६,२३१
उपधातु १३४
उपयोगिता २७०
उपलब्धिभेद (रस और विपाक) २६१
उपविष १२८,३६१
उपशय १६१
उपशोषण ३३४,३३६
उपसंहार ४३४
उपादान कारण १२
उभयकर्मज १७९
उभयतोभागहर ७३,१०६,३४१
उभय-विपरीत ३२१
उपरत्न १३५
उपरस १३४
उष्ण १६४
उष्णग्राही ३४२
उष्णवीर्य द्रव्य ३३
उष्णीषक ३२३
उष्णोदक ४१७
ऊर्जस्कर द्रव्यों ८
ऊर्ध्वभागहर ७२
ऊषकादि ६६,९२
ऋतुविभाग ३७९
एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चलवण १२५
एककर्मज १७९,१८०

एकदेशसाध्यत्व १८
एकसर (विषघ्न) ८५
एकीय मत १९२
एरण्डतैल ३३८
एलादि ६५,९४
ओजस्य ३६०
ओजोवर्धक ११०,३६०
ओजोह्रासक ११०,३६०
ओजोविश्लेषण २९४
ओष २७
ओषधि २७
ओषधिवर्ग १४४
औद्भिद गण ११४
औद्भिदद्रव्य २
औद्भिद द्रव्यों का आधुनिक रचनात्मक वर्गीकरण ४०
औषध १४१
औषध-कर्म १५५
औषधद्रव्य ८
औषध में रसों का प्रयोग-क्रम २२०
औषध वर्ग १४०
औषध-व्यवस्था ४३३
ककारादिगण १२१
ककाराष्टक १२१
कटु १९१,१९९
कटुकस्कन्ध ३०,१९६
कटुचातुर्जातक १२३
कठिन १६८
कण्टक ११७
कण्टकपञ्चमूल ६८,११६,११७
कठोरतावादी १९१
कण्ठ (स्वर) ३२५
कण्ठ्य ४६,१०४,३२५
कण्डूघ्न ४७,१०३,३१६
कन्द ३८७
कफकोपन ३६,३७०
कफघ्न वर्ग १४३
कफदोष पर कर्म करने वाले द्रव्य ११३
कफनाशक गण १००
कफनि:सारक १०४,३२३
कफपित्तघ्न वर्ग १४३
कफप्रकोपण ७६
कफवर्धक ६१
कफवर्धन ११३
कफवातघ्न वर्ग १४३
कफोत्क्लेशक ३२३,३२४
कफसंशमन ३५,९१,११३,३७०
करवीरादि १४४
करवीरादिवर्ग १४३
कर्ण्य १०२,३०६
कर्पूरादिवर्ग १४४,१४५
कर्म ८,२९१
–निरुक्ति २९१
–प्रकार २९३
–लक्षण २९१
–स्वरूप २९१
कर्म के अनुसार द्रव्य का सङ्ग्रह ३८६
कर्मनिष्पत्ति २७८
कर्मबाहुल्य १८६
कर्मभेद (रस एवं विपाक) २६१
कर्म-विरोध ४२१
कर्मवीर्यवाद २६४
कर्माधिष्ठानभेद (रस और विपाक) २६१
कर्मों का वैज्ञानिक विश्लेषण २९४
कर्शन ३६५
कर्मों का उपसंहार ३७१
कर्मों का वर्गीकरण २९५
कर्मों का वैज्ञानिक विश्लेषण २९४
कर्म-साधर्म्य १२८
कलायिका-चतुष्टय ३०५
कल्क ४०६
कल्क की मात्र ४०६

कल्क में प्रक्षेप मान ४०६
कल्प ४०४,४२६
कल्प-परिभाषा ४१८
कल्पों का प्रयोग ४१८
कषाय १९१,१९९,३२८
कषाय-कल्प ४०४
कषाय त्रिफला ११९
कषाययोनि ४०४
कषायस्कन्ध ३१,१९६,३२९
कस्तूर्यादिवर्ग १४५
काकोल्यादि ६६
काञ्जिक ४१३
कादम्बरी ४१३
कामसादक १०९,३५३
कार्बोहाइड्रेट ३१८,३४७
कार्मुक २६५
कार्मुक अंश २९३
कार्यकारणभेद से (वर्गी॰) २४
कार्यसमारम्भ २९१
काल ४२६
कालभेद (रस और विपाक) २६१
काल-विभाग ३७८
काल-विरोध ४२२
कॉलिङ्ग का नियम ४२५
कॉलिङ्ग मान ३९४
कासकेन्द्र ३२३
कासहर ५०,१०४,३२४
किण्व ४१३
किण्वीकरण ४१२
कुपीलु (शोधन) ४००
कुमाररसायन ७९
कुमारीसार ३३८
कुल ११४
कुलगत साधर्म्य ४२
कुल-भेद से (वर्गी॰) ४२
कुष्ठघ्न ४७,१०३,१३०,३१६
कूष्माण्डादि गण ९९
कृत यूष ४१६
कृतान्नवर्ग १४५
कृमिघ्न ४७,३४४
कृमिनि:सारक ३४५
कृष्णबीज ३३८
कृष्णमण्डल ३०५
कृष्णवर्ग १२२
कृष्णीकरण १३१
केन्द्रीय नाडीमण्डल ३१३
केशरञ्जन ८१,१०२,३१३
केशवर्धन १०२,३१२
केश्य १०२,३१२
कैयदेवनिघण्टु १४४
कोथप्रशमन ३१७
कोषाणु २९३
कोष्ठ ४२६
कोष्ठ-विरोध ४२२
कोष्ठावरण ३३७
कोष्ठीय नाडियाँ ३३७
क्रम-विरोध ४२३
क्रमापेक्षितत्व १८
क्रिया २९१
क्वाथ ४०७
क्षणनशक्ति ३०६
क्षतिपूरक ३६१
क्षरण ३९९
क्षार ४१५
क्षारण १०२,३१४
क्षारत्रय १२७
क्षारदशक १२८
क्षारद्वय १२७
क्षारपञ्चक १२७
क्षारयोनि १२८
क्षारवर्ग १३५
क्षारवर्धक १११

क्षारषट्क १२७
क्षाराष्टक १२८
क्षीर ११८
क्षीरत्रय ११८
क्षीरपाक ४०८
क्षीरवर्ग १३५
क्षीरादि १४४
क्षीराष्टक १३१
क्षीरीवृक्ष ११८
क्षुद्रकुष्ठघ्न १३१
क्षुद्ररत्न १३५
क्षुधा की संज्ञा ३३३
क्षुधारस ३३१
क्षुप २७
क्षुपक ४१
क्षोद ४०६
खर १७०
खालित्य ३१२
गण ११४
गणीकरण ११४
गण्डमालानाशक १०४,३२१,३२२
गतरसत्व २६७
गन्ध १२५
गन्धक (शोधन) ४०२
गर्भप्रसुप्तिनिवारक (गर्भस्पन्दक) ६२
गर्भरोधक १०८,३५०
गर्भवृद्धिकर ६२
गर्भस्थापन ६२,७९
गर्भानुलोमन ६२
गर्भाशय १०८
गर्भाशयशामक १०८,३५०
गर्भाशयसङ्कोचक ३५०
गर्भोपघातकर ६२
गुग्गुलु (शोधन) ४००
गुञ्जा (शोधन) ४०१
गुटिका की मात्रा ४१५
गुटिका में द्रव्यों का प्रमाण ४१५
गुड ४१४
गुड़िका ४१४
गुडूचीसत्त्व ४१५
गुडूच्यादि ६७,९२,१४४
गुडूच्यादिवर्ग १४२,१४५
गुण ८,१४९
–कार्मुकता १५८
–निरुक्ति १४९
–लक्षण १४९
–वर्गीकरण १५०
–संख्या १५१
–स्वरूप १५५
गुणकर्मविज्ञान ७
गुण का प्राधान्य १८४
गुण का महत्त्व १८६
गुण-प्रभाव १६०
गुण-प्रभाव (वीर्य) २८५
गुणविपाकवाद २४४,२५२
गुण-विरोध ४२१
गुणवीर्यवाद २६४
गुणवैशेष्य २८५
गुणव्यपदेश २३२
गुण-सादृश्य १५९,१६०
गुण-साधर्म्य १२०,१६०
गुण-साधर्म्य के अनुसार १३३
गुण और वीर्य में अनन्तर १६०
गुणान्तराधान १५७,३९९
गुणोत्कर्षवाद २६६
गुणोत्पादक तत्त्व २६६
गुरु १६२
गुरुत्वमान १८२
गुर्वादि गुण १५१,१५२,१६२
गुर्वादि गुण (तालिका) १७२
गुर्वादि गुणों का प्रयोजन १७५
गुल्म २७

गुल्मक ४१
गुल्मकाण्ड १४३
ग्रहणशक्ति २९९
ग्रहाङ्गपञ्चलोहक १३३
ग्राही १०६,३४१,३४२
ग्राही और स्तम्भन में भेद ३४२
ग्राह्य अवयव १६०
ग्रैवयक सांवेदनिक सूत्र ३०६
घन ४१४
घृत-मूर्च्छन ४१२
घृतवर्ग १४५
चक्षुष्य ८५,१०१,३०५
चतुरूषण १२३
चतुर्जातक १२५
चतुर्बीज १२०
चन्दनादि ३२,१४४
चन्दनादिवर्ग १४३
चयापचय क्रिया २३६
चरक और सुश्रुत का कर्मात्मक वर्गीकरण : एक तुलात्मक समीक्षा ८६
चरक और सुश्रुत का रचनात्मक वर्गीकरण : एक तुलात्मक समीक्षा ४०
चरक के मत से पौतव मान ३९२
चरकसंहिता १३७
चरक, सुश्रुत और शार्ङ्गधर के मतों का आधुनिक मत से समन्वय ३९५
चरकोक्त वर्ग ३८,४५
चाक्षुषग्रन्थि ३०६
चातुर्भद्र १२७
चालन ३९९
चिरक्रिय ३१७
चिन्त्यक्रियाहेतु २६९
चूर्ण ४०६
चूर्ण में प्रक्षेप मान ४०७
चूर्ण की मात्रा ४०७
चूर्णोदक ४१५
चेतनाभेद से (वर्गी०) २४
चेष्टावह ३२३
छः रस का सिद्धान्त १९५
छर्दिनिग्रहण ४९,१०६,३३६
छिक्काजनन ३०७
छेदन ३२३
जगल ३९९,४१३
जयपाल (शोधन) ४०१
जरण (पाचन) ३३२
जरणशक्ति ३३३
जलीय ३८१
जाङ्गम गण १३१
जाङ्मद्रव्य २७
जाङ्गम द्रव्यों का सङ्ग्रह ३८७
जाङ्गम (विष) ८४
जाङ्गल देश ३७७,३७८
जाति-साधर्म्य १२८
जान्तवद्रव्य २६
जीवकादि (जीवन) पञ्चमूल १२२
जीवकादिवर्ग १२३
जीवनपञ्चमूल ११७
जीवनीय ४५,९१,११०,३५९
जीवनीयगण १२३
जैव-रूपान्तरण २३९
ज्वरघ्न १०९,३५७
ज्वरहर ५०
डिलिङ्ग का सूत्र ४२५
तक्र ४१७
तक्रवर्ग १४५
तण्डुलोदक ४०९
तरतमयोगानुपलब्धि १९
तर्पण ३०७
तापनियामक केन्द्र ३५७
तापक्रम पर कर्म करने वाले द्रव्य १३८

तिक्त १९१,१९६,१९९
तिक्तसत्त्व ३०४
तिक्तस्कन्ध ३१
तीक्ष्ण १६६
तीक्ष्णविरेचन १०६,३४०
तुलामान ३९०,३९१
तुषोदक ४१३
तृणकाण्ड १४३
तृणपञ्चमूल ६८,११६
तृप्ति ३३०
तृप्तिघ्न ४६,१०५,३२९
तृष्णानिग्रहण ४९,१०५,३२७
तृष्णाशामक ३२७
तैल-मूर्च्छन ४११
तैलवर्ग १४५
त्रप्वादि ६७
त्रिकण्टक ११७
त्रिकटु ६७,१२३
त्रिकर्षिक १२७
त्रिजातक १२५
त्रिधारग्रन्थि ३०६
त्रिफला ६७,११४,,११९
त्रिमद १२७
त्रिलोह १३३
त्रिवल्कल ११८
त्रिविधविपाक २५८
त्रिविधविपाकवाद २४१,२४३,२४४,२४६
त्रिविधविपाकवाद एवं द्विधा-विपाकवाद का समन्वय २४९
त्रिविध स्नेहपाक ४११
त्रिवृत् ३३८
त्वक् ११८
त्वग्दोष ३१६
त्वचा पर कर्म करने वाले द्रव्य १३८
त्रिशर्करा १२८
दधिवर्ग १४५
दन्तदार्ढ्यकर १०५,३२९
दन्तधावन ५३,३२८
दन्तपवन ३२८
दन्तशोधन ८१,१०५,३२८
दन्त्य १०५,३२८
दशमूल ११४,११५
दारण ७७,१०२,३१४
दाशमिक द्रवयमान ३९६
दाशमिक पाय्यमान ३९७
दाशमिक पौतव मान ३९५
दाहप्रशमन ५०,११०,३५८
दीपन १०५,३३१
दीपन और पाचन में अन्तर ३३२
दीपनीय ४६
दीर्घशष्कुलीन्याय १६
दुर्गन्ध १७४
दुर्गन्धनाशन ३१७,३२८
दुर्गन्धहर १०५,३१७
दुष्टव्रणशोधन १३०
दुग्धवर्ग १३५,१४५
दृष्टिरन्ध्र ३०५
दृष्टिकाविकासक १०१
दृष्टिविकासी ३०५
दृष्टिसंकोच ३०५
दृष्टिकासंकोचक १०१
दृष्टिसंकोची ३०६
देश ४२६
देवकर्दम १२६
देश-विभाग ३७७
देश-विरोध ४२२
देश-सात्म्य ३७७
देहबलकर ३५२
देहमनोबलकर ३५३
दैर्घ्यमान १८२

दोष ४२५
दोष-कर्म २९७,३६९
दोषकर्मभेद से (वर्गी०) ३४
दोषघ्न-वर्ग १४३
दोष-प्रत्यनीक २८५
दोषल वर्ग १४३
दोष-विरोध ४२२
दोषों पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
द्रव १७१
द्रव आदि का परिमाण ४१४
द्रववर्ग १४४,१४५
द्रव्य ८,४२६
–औषधत्व १४
–निरुक्ति ११
–प्राधान्य १५
–लक्षण ११
द्रव्य का सङ्ग्रहण और भण्डारण ३८१
द्रव्यगत पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध २८६
–प्रथम नियम २८६
–द्वितीय नियम २८६
–तृतीय नियम २८६
–चतुर्थ नियम २८७
द्रव्यगुण ३
–पदार्थ ७
–पदार्थ विज्ञान ७
–परिभाषा ३
–महत्त्व और प्रयोजन ३
–विभाग ६
द्रव्यगुण-प्रभाव १६०
द्रव्यगुणशास्त्र ३
द्रव्यनिरपेक्ष १५८
द्रव्य परिचय ३७५
द्रव्य-प्रभाव १६०,२८५
द्रव्य-विज्ञान ७
द्रव्य-वीर्यवाद २६५
द्रव्य-वैशेष्य
द्रव्य-साधर्म्य १३१
द्रव्य-स्वभाव २८०
द्रव्यादिवर्ग १४५
द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण ४४
द्रव्यों का नामकरण एवं पर्याय २१
द्रव्यों का भण्डारण ३८७
द्रव्यों का मौलिक वर्गीकरण २४
द्रव्यों का रचनात्मक वर्गीकरण ३८
द्रव्यों का संरक्षण ३८८
द्रव्यों की अशुद्धियाँ और उनका शोधन ३९८
द्रव्यों के कर्म की प्रक्रिया २९२
द्रव्यों के वर्गीकरण का विकास : ऐतिहासिक समीक्षा १३६
द्रव्यों के ३७ वर्ग ६४
द्रावक गण ९९
द्रुवय १८२
द्रुवय मान ३९०,३९६
द्वन्द्वकर्मज १७९,१८०
द्विविधविपाक २५८
द्विविधविपाकवाद २४१,२४३,२४४,२४७
धत्तूर (शोधन) ४०१
धन्वन्तरिनिघण्टु १४२
धन्वन्तरिसम्प्रदाय २४३
धमनी-पेशियाँ ३२०
धातुओं का सामान्य शोधन ४०२
धातुओं पर कर्म करने वाले द्रव्य १११
धातुकर्म २९७,३६२
धातुपरमाणु ३१४
धातुपोषक ३५९
धातुवर्ग १४४,१४५
धान्य ३८७
धान्यकाण्ड १४३
धान्यकृतान्नादि वर्ग १४४
धान्यगुण वर्ग १४४

धान्यवर्ग १४४,१४५
धान्याम्ल ४१३
धारण शक्ति २९९
धृति २९९
ध्मापन ३०८
ध्वंशी ३९१
धूम ३०८
नवनीतवर्ग १४५
नस्तःकर्म ३०७
नस्य ३०७,३०८
नाडीगण्ड ३१९
नाडीसंस्थापन ३२३
नाडीसंस्थापन के कर्म २९५,२९८
नाडी-संस्थापन पर कर्म करने वाले द्रव्य १०१,१३८
नानार्थवर्ग १४४
नाभिपाकहर ६३
नामरूपज्ञान ७
नावन ३०८
निघण्टु-वाङ्मय १४२
निघण्टुशेष १४३
नित्यत्व १६
नित्यद्रव्य (परमाणु) १८२
निद्राकर ५५
निद्राजनन ७८,१०१,३०२
निद्राहर ५५,७८,१०१,३०३
निमित्त कारण १२
नियत-संख्यावाद १५३
नियंत्रणशक्ति ३०१
नियामकगण ९९
निरूहण ९०
निर्मलीकरण ३९९
निर्माणशाला के उपकरण ४०३
निर्वापण ४००
निष्क्रियकरण २३९
निष्ठापाक २३४,२४०
निष्ठापाक (विपाक) २३५
निष्पत्ति (भौतिक सङ्घटन) भेद से (वर्गी०) २५
निस्यन्दन ३९९
निस्यन्दनपत्र ४१५
नेत्रगत दबाव ३०६
नेत्रगामी सांवेदनिक सूत्र ३०६
नेत्रचेष्टनी ३०५
नेचेष्टनी-केन्द्र ३०६
नेत्रचेष्टनी नाडी ३०६
नैमित्तिक (कृत्रिम) १७४
न्यग्रोधादि ६७,९४
पक्वग्राही ३४२
पक्वरस ४१३
पक्वान्नवर्ग १४४
पञ्चकर्म ३४४
पञ्चकषाय १२५
पञ्चकोल १२३,१२७
पञ्चगव्य १३३
पञ्चतिक्त १२४
पञ्चपल्लव ११८
पञ्चमधुर १२२
पञ्चमाहिष १३३
पञ्चमृत्तिका १३५
पञ्चलोहक १३३
पञ्चवल्कल ११८
पञ्चविधविपाकवाद २४१,२४२,२४६
पञ्चशूरण ११७
पञ्चसार १३१
पञ्चसिद्धौषधिक १३१
पञ्चसुगन्धिक १२६
पञ्चाज १३३
पञ्चामृत १३१,१३३
पञ्चीकरण १३
पञ्चेंद्रियग्रहण १६
पञ्चोषण १२३

पच्यमानावस्था ३३४
पटोलादि ६६,९२
पत्रारोहिणी ४२
पथ्यतम (आहार) वर्ग ७५
पथ्यापथ्यविबोधक १४४
पद्मकादि ९१
पन्द्रह वीर्य २७१
परत्व १७६
परसांवेदनिक ३०९,३१८
परसांवेदनिक नाडियाँ ३२७
परादि गुण १५१,१५४,१७६
परिमाण १२७,१८२
परिमाणजन्य १८२
परिणामलक्षण (विपाक) २६१
परिस्रवण ३९९
परिहार-विरोध ४२३
परोक्ष गर्भाशयसङ्कोचक ३५०
पर्पटादि १४४
परूषकादि ६६,९१
पर्याय २२
–अवयवबोधक २२
–आख्यानबोधक २३
–इतिहासप्रसिद्धि २३
–उद्भवबोधक २३
–कर्मबोधक २३
–कालबोधक २३
–गुणबोधक २२
–देशबोधक २३
–प्रभाव २३
–प्रशस्तिबोधक २३
–लोकोपयोगबोधक २३
–स्वरूपबोधक २२
पल्लव ११८
पाक-विरोध ४२३
पाचन ७७,१०२,१०५,३१४,३३२
पाचननलिका ३२६
पाचन संस्थान के कर्म २९६,३२६
पाचन संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०४,१३८
पाञ्चभौतिक ३
पाञ्चभौतिक द्रव्यों के गुण-कर्म २५
पाञ्चभौतिक निष्पत्ति १२
पाण्डूकरण १३१
पातन ४००
पादप ३८२
पानक ४१७
पानीयादि १४४
पानीयादि वर्ग १४४
पाय्य १८२
पाय्य मान ३९०,३९६
पारद (शोधन) ४०१
पारिभाषिक गण ११४
परिभाषिकवीर्यवाद २६४,२६९
पार्थिव ३८१
पार्थिवद्रव्य २६
पार्वत्य (देश) ३७८
पिच्छिल १६९,३९९
पिण्डी ४१४
पित्तकोपन ३६,३६९
पित्तगण १३३
पित्तघ्न वर्ग १४३
पित्तदोष पर कर्म करने वाले द्रव्य ११३
पित्तनाशक गण १००
पित्तपञ्चक १३२
पित्तप्रकोपण ७६
पित्तवर्धक ६१
पित्तवर्धन ११३
पित्तविरेचन १०६,३४०
पित्तशमन ११३,३७०
पित्तसंशमन ३५,७४,९१
पित्तसारक १०७,३४७
पित्तस्राव ३४७

पित्तस्रावक १०७,३४७
पित्तस्रावरोधक १०७,३४७
पित्तावजयन ६१
पित्ताश्मरी भेदन १०८,३४७
पिप्पल्यादि ६५,१४४
पिप्पल्यादिवर्ग १४५
पीतवर्ग १२२
पुं-प्रजनन-संस्थापन के कर्म २९७,३९१
पुं-प्रजनन-संस्थापन पर कर्म करने वाले द्रव्य १०८
पुंस्त्वघाती ३५३
पुरीषजनन ६१,१०६,३३७
पुरीषविरजनीय ४९,१०६,३४३
पुरीषसङ्ग्रहणीय ४९,१०६,३४१
पुष्प ११८
पुष्पवर्ग १४५
पूति ३२४
पूतिहर ३१७,३२४
पूयवर्धन ७५
पृथक्करण ३९९
पृथक्त्व १८१
पेया ४१६
पेशियों तथा श्लेष्मल कला की रोमिकायें ३२४
पोटाशियम हाइड्रोक्साड ३१४
पोषणक (ग्रन्थि) ३१२
पौतव मान ३९०,३९१
प्रकृतिगत साधर्म्य ४२
प्रकृतिविघात ३४५
प्रकृति-विघातकर ३४५
प्रकृति-समसमवाय १७९
प्रक्षालन ३९९
प्रचयजन्य १८२
प्रजनन-संस्थान के कर्म २९६,३४९
प्रजनन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०८,१३८
प्रजास्थापन ५१,१०८,३४९
प्रतानिनी ४२
प्रतिक्रिया २९४
प्रतिक्षोभक १०२,३१३
प्रतिमर्श ३०८
प्रतिरक्तस्कन्दन ३६४
प्रतिलोम ३४३
प्रतिविष ३६१
प्रतिहारिणी-सिरागत रक्तसंवहन ३४६
प्रतीघात-सामर्थ्य १९
प्रत्यक्ष २०७
प्रत्यक्ष गर्भाशयसङ्कोचक ३५०
प्रत्यक्षगम्य (रस) २६१
प्रत्यक्षार्थ २०६
प्रत्यभिज्ञा १८८
प्रत्यावर्त्तित ३२३
प्रपीडन ७७,१०२,३१४
प्रबलता २७०
प्रभाव ८,२७९
–निरुक्ति २७९
–लक्षण २७९
–स्वरूप २८०
प्रभाव का प्राधान्य २८३
–अचिन्त्यता २८४
–अद्भुत कर्म २८४
–आगम २८४
–कर्मवैशिष्ट्य २८४
–दैवप्रतीघात २८४
–विषप्रतीघात २८४
प्रभावजन्य कर्म २८१
–अगदीय कर्म २८१
–औषधीय कर्म २८१
–भौतिक कर्म २८१
–मानस कर्म २८१
–रक्षोघ्न कर्म २८१
प्रभावजन्य विशिष्ट कर्म का आधार २८१

प्रपाक २३४,२४०
प्रभद्रादि १४४
प्रमथ्या ४०८
प्रमाथी ११२,३४४,३६८
प्रमेहघ्न ७९,१३०
प्रयोगबाहुल्य १८६
प्रयोगभेद से (वर्गी०) २८
प्रयोगविज्ञान ७
प्रयोज्य-अंग ४२०
प्रयोज्य अंग के अनुसार द्रव्य का सङ्ग्रह ३८४
प्रलापजनन ३००
प्रवृत्ति २९१
प्रवृत्तिनिमत्तता २३२
प्रशस्त भेषज ४१९
प्रशस्त भूमि ३८२
प्रसन्ना ४१३
प्रसर ४२
प्रसिद्धि-साधर्म्य १३१
प्रसिद्धि-साधर्म्य के अनुसार १३३
प्राकृतिक असहिष्णुता ४२६
प्राङ्गार द्विजारेज ३२३
प्राणदा नाडी ३१८
प्राणवायु ३१८
प्रायोगिक द्रव्यगुणविज्ञान ७
प्रिय ३३०
प्रियङ्ग्वादि ९३,६६
प्रियनिघण्टु १४५
प्रोटीन ३४७
प्लीहा के कर्म ३४७
प्लीहवृद्धिहर ३४८
फल ११९,३८६
फलपञ्चाम्ल १२४
फलवर्ग १४५
फलादिवर्ग १४४
फलिनी ११९
फाणित ४१४
फाण्ट ४१०
फाण्ट की मात्रा ४१०
फाण्ट में जल का मान ४१०
फाण्ट में प्रक्षेप मान ४१०
फार्मेलिन ३८९
बडिशारोहिणी ४२
बल ४२५
बल्य ४६,८२,११०,३६०
बस्तिशोधन ३५४
बहुलता २७०
बाह्यकर्ण ३०६
बाह्यकृमिघ्न १०७,३४४,३४५
बीज १२०
बीजाङ्कुरन्याय २००
बृंहण ५४,७५,१११,३६५,३७१
बृंहण नस्य ३०७
बृंहणीय ४५
बृहत्पञ्चमूल ६८,११५
बृहत्यादि ६६
भक्तद्वेष ३२९
भण्डारण की अवधि ३८८
भल्लातक (शोधन) ४०१
भागशो ग्रह १८०
भारतीय पाय्यमान ३९६
भावना १८३
भावना-विधि ४०७
भावप्रकाशनिघण्टु १४५
भावात्मक प्रतीति १८१
भूतविपाकवाद २४४
भूतोत्कर्ष २७३
भूमि-परीक्षा ३८१
भेदनीय ४६,३४३
भेनदीय (गुल्मभेदन) १०६

भेदनीय (पुरीषभेदनीय) १०६
भेषज-निर्माणशाला ४०३
भेषज-प्रयोग ४१९
भेषजागार ३८८
भैषज्यकल्पना ४०३
भैषज्य-काल ४२८
–अन्तरभक्त ४२९
–ग्रासान्तर (दो कवलों के बीच में) ४२९
–निशा ४२९
–प्राग्भक्त (भोजन के पूर्व) ४२८
–प्रात:काल-अभक्त ४२८
–प्रातः पश्चाद्भक्त (भोजन के बाद) ४२८
–मध्यभक्त (भोजन के मध्य में) ४२८
–मुहुर्मुहुः (बार-बार) ४२९
–सग्रास (कवल में मिला कर) ४२९
–सभक्त (भोजन के साथ) ४२९
–सामद्ग (भोजन के आदि और अन्त में) ४२९
–सायं पश्चाद्भक्त ४२८
भैषज्य-मार्ग ४३२
–कर्ण ४३२
–गुदा ४३२
–त्वचा ४३३
–नासा ४३२
–नेत्र ४३२
–मुख ४३२
–मूत्रमार्ग ४३२
–योनिमार्ग ४३३
भौतिक ३९८
भौतिक और कार्मुक गुण १५५
भौतिक गुण १५५
भौतिक क्रिया ३२९
भौतिक संयोग १७९
भौमगण १३३
भौमद्रव्य २६
मज्जक्षपण ३६७
मज्जवर्धन ३६७
मज्जा ३६७
मज्जाक्षपण ११२
मज्जावर्धन ११२
मज्जाधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
मण्ड ४१६
मदकारी १०१,२९९
मदनपालनिघण्टु १४४
मदनविनोद १४४
मद्य ४१२
मधुरकजनन ११०,३५८
मधुरकशमन ११०,३५८
मधुरत्रय १२२
मधुर त्रिफला १२०
मधुर १९१,१९६,१९९
मधुरवर्ग १२३
मधुरस्कन्ध २९
मधुवर्ग १४५
मध्य (देश) ३७८
मध्यमपञ्चमूल ११६
मनोबलकर ३५३
मन्थ ४१७
मन्द १६६
मर्दन ४००
मलदोष ३९८
मलानुलोमन ३४०
मस्तिष्ककन्द ३०४
मस्तिष्क-बल्य २९८
महती त्रिफला १२०
महापञ्चविष १२८
महारस १३४
महावृक्ष ४१
महास्नेह १२१,१३३

महास्रोत ३२६
मांस ३६५
मांसधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य १११
मांसरस ४१७
मांस वर्ग १४४,१४५
मांसादि १४४
मागध और कालिङ्गमान ३९४
मागधमान ३९४
मात्रा ४२४
मात्रा-विरोध ४२२
मान ३९०
मान की निरुक्ति ३९०
मान के प्रकार ३९०
मानज्ञान का प्रयोजन ३९०
मान-परिभाषा ३९०
मान-विरोध ४२१
मानस द्रव्यगुणविज्ञान ७
मानसिक (कर्म) २९३
मानसिक प्रभाव ३२६
मानसिक स्थिति ४२६
मानों का तुलनात्मक स्वरूप ३९७
मारकगण १००
मित्रपञ्चक ९९
मिश्रक वर्ग १४४
मिश्रक वर्गीकरण ११४
मिश्रकादि १४४
मिश्रकादि वर्ग ११४,१४३
मिश्रगण १३५
मुखगत कर्म ३२६
मुखगत क्षोभ ३२७
मुखशोधन ५३,८१
मुख्य कर्म २९४
मुष्ककादि ६५,९३
मुस्तादि ६७,९४
मूत्रगत पूति ३५६
मूत्रजनन ६१,१३०
मूत्रदशक १३२
मूत्रपञ्चक १३२
मूत्रल ३५४
मूत्रवर्ग १४५
मूत्रवह-संस्थान के कर्म २९७,३५४
मूत्रवह-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०९,१३८
मूत्रविरजनीय ४९,१०९,३५५
मूत्रविरेचनीय ४९,,१०९,३५४
मूत्रविशोधन १०९,३५६
मूत्रसङ्ग्रहणीय ४९,१०९,३५६
मूत्राष्टक १३२
मूलकादि १४४
मूलारोहिणी ४२
मूलिनी ११७
मृदु १६८
मृदुविरेचन १०६,३४०
मेद ३६६
मेदक ४१३
मेद:क्षपण ११२,३६७
मेदोधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
मेदोनाशन ३६७
मेदोवर्धन ११२,३६६
मेधा २९९
मेध्य ८२,१०१,२९८
मोदक ४१४
यकृत् के कर्म ३४७
यकृत्-प्लीहा के कर्म २९६,३४७
यकृत्-प्लीहा पर कर्म करने वाले द्रव्य १०७
यकृत्प्लीहवृद्धिहर १०८
यकृदुत्तेजक १०७
यक्षकर्दम १२६
यज्ञ का सूत्र ४२५
यथारसविपाकवाद २४१,२४५
यत्न २९१
यमक-त्रिवृत् १२१

यवमण्ड ४१७
यवागू ४१६
यान्त्रिक क्रिया ३२६,३२९
यावद्द्रव्यभावी गुण १५७
युक्ति १७७
यूरिक एसिड ३३९
यूरिया ३३९,३४७
यूष ४१६
योग ४२३
योगविज्ञान ७
योनिभेद से (वर्गी०) २६
योनि-साधर्म्य १२८
योनि-साधर्म्य के अनुसार (वर्गी०) १३३
यौतव १८२
रक्त ३६३
रक्तकणवर्धक १११,३६३
रक्तक्षपण १११,३६४
रक्तचित्रक (शोधन) ४०१
रक्तदूषण १११,३६४
रक्तधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य १११
रक्तप्रतिस्कन्दन १११
रक्तप्रसादन १११,३६५
रक्तभारवर्धक १०३,३१८,३२०
रक्तभारशामक १०३,३१८,३२०
रक्तरङ्गवर्धक १११
रक्तरञ्जक पदार्थ ३६३
रक्तरोधक ७५
रक्तवर्ग १२२
रक्तवर्धक १११
रक्तवर्धन ३६३
रक्तवहसंस्थान के कर्म २९५,३१८
रक्तवहसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०३,१३८
रक्तवाहिनियों की पेशियाँ ३२०
रक्तवाहिनीचालक केन्द्र ३२०
रक्तवाहिनीचालक नाडियाँ ३२०
रक्तवाहिनीप्रसारक ३२०
रक्तवाहिनी-संङ्कोचन ३२०
रक्तशोधन ३६५
रक्तसंवहन ३२३
रक्तस्कन्दन ३६४
रक्तस्तम्भन १११,३६४
रक्तस्रावक ७५,३६४
रक्तार्शोघ्न १०७
रक्तोत्क्लेशक १०२,३१४
रक्षाकर (रक्षोघ्न) ६३
रक्षोघ्न ७४,३१७,३२८
रज ४०६
रत्न १३५
रत्नों का सामान्य शोधन ४०२
रस ८,१२२,१९०,३६२
–उपसंहार २३२
–निरुक्ति १९०
–लक्षण १९१
–संख्या १९१
रस अपरिसंख्येय हैं १९२
रस आठ हैं १९२
रस एक है १९२
रस और अनुरस १९७
रस और अनुरस में अन्तर १९८
रस और विपाक २६०
रस (कल्पना) १९०
रस का प्राधान्य २३१
रस का महत्त्व २३३
रस का रूपान्तर २०७
–आतप २०८
–उपसर्ग २०८
–काल २०८
–परिणाम २०८
–पाक २०८
–पात्र २०८
–भावना २०८

–विक्रिया २०८
–देश २०८
–संयोग २०८
–स्थिति २०८
रस की उपलब्धि २०७
रस के सम्बन्ध में अष्टाङ्गसङ्ग्रह की मान्यता १९५
रस के सम्बन्ध में आधुनिक मत १९६
रस के सम्बन्ध में नागार्जुन का मत १९६
रस के सम्बन्ध में शिवदास सेन के विचार २०१
रसक्षपण १११,३६२
रस (गुण-विशेष) १९०
रस ग्रन्थियाँ ३२१
रस चार हैं १९२
रस छः हैं १९१,१९२
रस तीन हैं १९२
रसदोषसन्निपात २४६
रस दो हैं १९२
रस (धातु) १९०
रस धातु पर कर्म करने वाले द्रव्य १११
रस पाँच हैं १९२
रस (पारद) १९०
रस-भेद विकल्प २२५
रसभेद से (वर्गी०) २९
रस (लसीका) ३२१
रसवर्धन १११
रसवहसंस्थान के कर्म २९५,३२१
रसवर्धन ३६२
रसवह-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०३
रसविपाकवाद २४३,२५२
रसवाही ग्रन्थियाँ ३२१
रसविरोध ४२१
रसशास्त्र में प्रयुक्त द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण ९९
रससंवहन ३२१
रस सात हैं १९२
रसानुग्रह १८४
रसाभिभव १८४,२७८
रसायन ८२,११०,३६०
रसों का औषधीय प्रयोग २३०
रसों का पाञ्चभौतिक आधार १९६
रसों का लक्षण २०९
–अम्ल २१०
–कटु २१०
–कषाय २११
–तिक्त २१०
–मधुर २०९
–लवण २१०
रसों का वर्गीकरण २०९
रसों का वैशिष्ट्य १९८
रसों की उत्पत्ति का ऋतु से सम्बन्ध २००
रसों की भौतिक निष्पत्ति का निर्धारण २०५
रसों की समीक्षा १९३
रसों के अतियोग से उत्पन्न होने वाले रोग २२३
रसों के कर्म २१४
–दोष-कर्म २१७
–धातु-कर्म २१६
–मल-कर्म २१७
–सांस्थानिक-कर्म २१४
रसों के गुण २११
–अम्ल २१२
–कटु २१२
–कषाय २१२
–तिक्त २१२
–मधुर २१२
–लवण २१२
रसों के गुण-कर्म २२१
रसों में महाभूताधिक्य २००
राजनिघण्टु १४४

रासायनिक ३९८
रासायनिक उत्तेजना ३२६
रासायनिक क्रिया ३२९
रासायनिक प्रतिक्रिया २९३
रासायनिक संयोग १७९
रुचि ३३०
रुचिकर ३३०
रुचिवर्धक ३३०
रूक्ष १६५
रूक्षण ५४,१०३,३१५
रूक्षण-स्नेहन ३७१
रूपान्तरण ३१८
रेचन ३०७
रोचन १०५,३३०
रोध्रादि ६५,९३
रोपण ७८,१०२,३१४
रोमशातन १०२,३१२
रोमसञ्जनन १०२,३१२
लक्षणभेद (रस और विपाक) २६१
लघु १६३
लघुपञ्चमूल ६८,११५
लङ्घन ५३,११२,३६५,३७१
लङ्घन-बृंहण ३७१
लता २७
लताकाण्ड १४३
लवण १९१,१९६,१९९
लवणवर्ग १३५
लवणस्कन्ध ३०
लाक्षादि ६७
लाक्षारस ४१५
लाजमण्ड ४१७
लालाग्रन्थियाँ ३२६
लालाप्रसेकजनन १०४,३२६
लालाप्रसेकशमन १०४,३२७
लालास्राव पर छः रसों का प्रभाव २११
–सान्द्रतापरिवर्तक २११
–स्रावर्धक २११
–स्रावशोषक २११
लाला-स्राव ३२६
लिङ्ग ४२५
लेखन ७५,३६५
लेखनीय ४५
लेह ४१४
लोक-पुरुष सामान्य २९२
लौहमारक गण १००
वंशी ३९२
वक्त्राभ्यङ्ग ८१
वचादि ६५,९३
वटक ४१४
वटादि वर्ग १४४,१४५
वटिका ४१४
वटी ४१४
वत्सकादि ९३
वत्सनाभ (शोधन) ४००
वनस्पति २७
वमन ५२,९०,१०५,१३०,३३४
वमन-केन्द्र ३३५
वमनोपग ४८,१०६,३३६
वय ४२४
वयःस्थापन ५१,३६०
वरुणादि ६४,९२
वर्ग ११४
वर्चस्व ३१६
वर्चस्य ३६०
वर्णक ३१६
वर्णविकार ३५५
वर्त्ति ४१४
वर्ण्य ४६,१०३,३१६
वलयाकार ३०५
वल्ली ४२
वल्लीपञ्चमूल ६८,११६
वल्लीफल ११७

वह्नि दोष ३९८
वह्नि:स्नेहन ३१५
वाग्भटोक्त ३३ वर्गों के कर्म एवं प्रयोग ९४
वाग्भटोक्त वर्गीकरण ९०
वाजीकरण ८२,१०८,३४९,३५२
वाट्यमण्ड ४१७
वात प्रकोप का प्रत्यात्म-लक्षण ३०३
वातकोपन ३५,३६९
वातघ्न वर्ग १४३
वात दोष पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
वातपित्तघ्न १३०
वातपित्तघ्न वर्ग १४३
वातपित्तशामक ३२७
वातप्रकोपण ७६
वातवर्धक ६१
वातवर्धन ११२
वातशमन ११३,३६९
वातसंशमन ३४,७४,९१
वातहर गण १००
वातहर सत्त्व ३०४
वातानुलोमन ३३७
वाताशोंघ्न १०७
वातावजयन ६१
वानस्पतिकद्रव्य २६
वानस्पत्य २७
वायव्य ३८२
वायुमण्डल ३२३
वायुशून्य ३८९
वारिवर्ग १४५
वारुणी ४१३
विकल्प ३६९
विकल्प-सामर्थ्य १९
विकासी १७४,३६०
विकृतिविषमसमवाय १७९
विजया (शोधन) ४०१
विड्वर्ग १३३
विदारिगन्धादि ६४
विदार्यादि ९१
विदाहशामक १०५,३३४
विदाही १०५,३३४
विदीर्ण ३१४
विधि-विरोध ४२३
विपाक ८,२३४,२५९
–अचिरकालिक २४७
–अधिष्ठानभेद से २५८
–अनुमेय २६१
–उपाधि-भेद २४४
–काल की दृष्टि से २४७
–गुण २५८
–गुण की दृष्टि से २४७
–गुणभेद से २५८
–चिरकालिक २४७
–त्रिदोषवाद २४४
–दोषकर्म २५८,२५९
–दोषप्रभाव २५१
–धातुकर्म २५८
–धातुप्रभाव २५१
–निरुक्ति २३४
–पञ्चमहाभूतवाद २४४
–प्रकार-निरूपण २४१
–मलकर्म २५८,२५९
–मलप्रभाव २५१
–रस की दृष्टि से २४७
–रस भेद से २५८
–लक्षण २३४
–विलम्बित कर्म २६१
–विशिष्टकर्म २८५
–सारांश २५८
विपाक का तारतम्य २५९
विपाक का प्राधान्य २६२
विपाक का स्वरूप २३६
विपाककारणत्व १८५

विपाक की उपलब्धि २६०
विपाक के गुण-कर्म २५८
विपाक के सम्बन्ध में शिवदास सेन के विचार २५३
विपाक विरोध ४२१
विभक्ति १८०
विभाग १८०
विभागज विभाग १८०
वियोग १८०
विरुध् २७
विरेचन ५२,९०,१०६,१३०,३३८,३४०
विरेचनोपग ४८,१०६,३४१
विरोध ४२१
विलायन ३९९
विलेपी ४१६
विवर्णीकरण ३९९
विशद १६८,३९९
विशिष्ट अन्त:कृमिघ्न ३४५
विशिष्ट ओषधियों का सङ्ग्रह ३८६
विशिष्ट कर्म २९३
विशिष्ट गुण १५१,१५५
विशिष्ट द्रव्यों का शोधन ४००
विशिष्ट प्रयोग ८६
विशिष्ट शक्ति २७९
विशिष्ट सङ्ग्रह-काल ३८४
विशेष पद्धति ८६
विष ८३,१११,३६१
विषघ्न ४७,१११,३६१
विष दोष ३९८
विषमज्वरघ्न ११०,३५८
विषयबाहुल्य १८६
विषाद ३६१
विष्टम्भी १०६,३३७
विसारी ३०५
विसारी सूत्र ३०६
विहारवर्ग १४४
वीरतरादि ९२
वीरतर्वादि ६४
वीर्य ८,२६३,२७३
–उदाहरण २७६
–उपलब्धि २७५
–कर्म २७३
–क्रिया २७६
–दोष कर्म २७३
–निरुक्ति २६३
–भौतिक सङ्घटन २७२
–भौतिक संगठन २७३
–लक्षण २६३
–संख्या २६९
–समीक्षा २६६
–स्वरूप २६३
वीर्य और प्रभाव में अन्तर २८४
–आधार २८५
–औषधीय स्वरूप २८४
–साध्य २८४
वीर्य का निर्धारण २७६
वीर्य का प्रमाण २७६
वीर्य का प्राधान्य २७७
वीर्यकृष्टि २६७
वीर्य के अनुसार द्रव्य का सङ्ग्रह ३८५
वीर्यभेद से (वर्गी०) ३२
वीर्यवान् द्रव्यों का प्राधान्य २७८
वीर्यविरोध ४२१,४२२
वीर्यसंक्रान्ति २६७,४०७
वीर्यों के कर्म २७५
वृक्ष २७
वृक्षक ४१
वृक्षकाण्ड १४३
वृष्य ३५२
वेग १८३
वेगशामक १०९
वेदनास्थापन ५१,१०१,३०३

वेशवार ४१७
वैज्ञानिक दृष्टिकोण ८८
वैदिक युग १३६
वैलक्षण्य १८१
वैशद्यकर १०५
वैशद्यकारक ३२८
व्यवस्थित्व १५
व्यवहारमुख्यता २७०
व्यवायी १७४
व्याधी ४२६
व्याधिप्रत्यनीक २८५
व्यापत्तिनिमित्तता २३२
व्रणधूपन ७७
व्रणशोथ ३२२
व्रणहर १०२,३१४
शकुन ६३
शक्तिमात्रवीर्यवाद २६४
शक्त्युत्कर्ष २७०
शङ्खविष-शोधन ४०२
शमन ३०८
शतपुष्पादिवर्ग १४३,१४५
शताह्वादि १४४
शरादिवर्ग १४५
शर्कराजन ३४७
शब्द १२१
शाक ३८७
शाककाण्ड १४३
शाकवर्ग १४४,१४५
शारीर-मानस प्रभाव २६१
शार्करपानक ४१५
शार्ङ्गधर के मत से पौतव मान ३९३
शाल्मल्यादि १४४
शाल्यादि १४४
शास्त्रप्रामाण्य १७
शिरोविरेचन ५२,७३,९०,१०२,१३०
शिरोविरेचन (नस्य) ३०७
शिरोविरेचनोपग ४८,३०९
शिश्नेन्द्रिय ३५२
शीत १६४
शीत या हिम ४०९
शीत का प्रयोग ४०९
शीत की मात्रा ४०९
शीतग्राही ३४२
शीतप्रशमन ५०,११०,३५८
शीत में जल का मान ४०९
शीत में प्रक्षेप-मान ४०९
शीतरस ४१३
शीलन १८३
शीतवीर्य द्रव्य ३२
शुक्त ४१२,४१३
शुक्र ३६८
शुक्रक्षपण ११२
शुक्रक्षय ३५२
शुक्रजनन ४७,१०८,३५२
शुक्रजनन-रेचन १०९,३५३
शुक्रधातु पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
शुक्रनाशन १०९,३६८
शुक्रप्रवर्त्तन ३५२
शुक्ररेचन १०९,३५२
शुक्रल ३५२
शुक्रवर्धक ३५२
शुक्रवर्धन ११२,३६८
शुक्रशोधन ४८,१०९,३५३
शुक्रशोषण १०९,३५३
शुष्क १७५
शुक्रस्तम्भन १०९,३५३
शुक्रस्रुतिकर ३५२
शुक्रस्रुति-वृद्धिकर ३५३
शुक्लवर्ग १२१
शुण्ठ्यादि वर्ग १४४
शुष्क गुण १५३
शुष्क विधि ३८९

शूल प्रशमन ५१,१०६,३४३
शृत ४०७
शृत का प्रक्षेपमान ४०८
शृत का प्रयोग ४०८
शृत में जल का प्रमाण ४०७
शृत की मात्रा ४०८
शोणितस्थापन ५१,१११,३६३
शोथजनन १०४,३२१,३२२
शोथहर १०३,३२१
शोथहर (विलायन) ३२२
शोथहर वर्ग ११४
शोधन ७७,१०२,३१४,३९८
शोधन का प्रायोजन ३९८
शोधन की सामान्य विधियाँ ३९९
शोधन त्रितय ९९
शोफहर ७७
शोषण और उत्सर्ग ४२६
श्यामादि ६६,९४
श्रद्धेयार्थ २०६
श्रमहर ५०,११२,३६६
श्लक्ष्ण १६९
श्लेष्मपूतिहर १०४,३२४
श्लेष्मल कला ३२४
श्लेष्मवर्धक ३०७
श्लेष्मसंशमन ७४
श्लेष्मावजयन ६१
श्वयथु-विलायन ३२२
श्वयथुहर ५०
श्वसन ३२३
श्वसनकेन्द्र ३२३
श्वसनयन्त्र ३२३
श्वसन-संस्थान के कर्म २९६,३२३
श्वसन-संस्थान पर कर्म १३८
श्वसन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०४
श्वसनावसादक १०४,३२३
श्वसनोत्तेजक १०४,३२३
श्वास कष्ट ३२५
श्वासपथ ३२४
श्वासप्रणालिकीय पेशियाँ ३२५
श्वासप्रणालिकीय श्लेष्मग्रन्थियाँ ३२४
श्वासहर ५०,१०४,३२५
षडङ्ग-पानीय ४१८
षड्लोहक १३४
षड्विधविपाकवाद २४१
षड्विधवीर्यवाद २७२
षडुपक्रम २७२
षड्रूषण १२४
षाण्ढ्ययकर ३५३
संयोग १७८,४२१
संयोगज १७९
संयोगविज्ञान ७
संयोग-विरोध ४२३
संयोजन २९९
संशमन ३७०
संस्कार १८३,३९९
संस्कार-विरोध ४२२
संस्रन ३४०
संहिता-काल १३७
संक्रान्त २६९
संख्या १२६,१७८
संख्याजन्य १८२
संख्याबाहुल्य १८५
संङ्ग्रहणीय ३४२
सङ्ग्रहणीय देश ३८३
सङ्ग्रह-विधि ३८३
सङ्ग्राहक ३४२
संज्ञाप्रबोधन ५५,३०२
संज्ञावह ३२३
संज्ञास्थापन ५१,१०१,३०२
सततक्रिया १८३
सनाय ३३८

सन्तर्पण ५५
सन्तापनिवारण ३५८
सन्तापहर १०९,३५७
सन्धानवर्ग १४५
सन्धानीय ४६,११०,३५९,३६७
सन्धान-कल्प ४१२
सप्तधातु १३४
समग्रगुणसारता २७०
समत्रितय १२७
समान-प्रत्ययारब्ध २८२
सम्पत्-विरोध ४२३
समवायी कारण १२
समूह ११४
सर १६७,३४०
सर्वकर्मज १७९,१८०
सर्वगन्ध १२६
सर्वरसात्मक ३२२
सर्वातिशायी २८०
सर्वौषधिगण १२६
सहकार्य ४२१
सहज (दोष) ३९८
सहिष्णु ४२६
स्कन्दन ३६४
सांग्राहिक ३४२
सांवेदनिक ३०९,३१८
सांसिद्धिक (स्वाभाविक) १७४
सांस्थानिक कर्मभेद से (वर्गी॰) ३७
सांस्थानिक कर्मात्मक वर्गीकरण १०१
सात्मीकरण ३४७,३५९
सात्म्य-विरोध ४२२
साधारण देश ३७८
साधारण रस १३४
सान्द्र १७१
सामान्य पद्धति ८६
सारभाग २६७
सारिवादि ६६,९१
सार्वदैहिक (कर्म) २९३,२९७,३५७
सार्वदैहिक कर्म करने वाले द्रव्य १०९
सार्वदैहिक प्रभाव (विपाक) २६१
सार्वधातुक कर्म १३८,२९७,३५९
सार्वधातुक कर्म करने वाले द्रव्य ११०
सालसारादि ६४
सिद्धमन्त्र १४३
सिद्धोदक ४१७
सिरका ४१३
सीधु ४१३
सुखविरेचन १०६,३४०
सुगन्ध १७४
सुगन्धामलक १२६
सुगंधि त्रिफला १२०
सुरसादि ६५,९३
सुरा ४१३
सुराविलयन ३९९
सुरासव ४१४
सुवर्णादि १४४
सुवर्णादिवर्ग १४३,१४४,१४५
सुश्रुत के मत से पौतव मान ३९१
सुश्रुतसंहिता १३८
सुश्रुतोक्त गण ६४
सुश्रुतोक्त वर्ग ३९
सुश्रुतोक्त ३७ गणों के कर्म और प्रयोग ६८
सुषुम्नाशीर्षक ३२३,३३५
सूक्ष्म १७०
सूक्ष्म धमनियाँ ३२०
सूत्रारोहिणी ४२
सेंक ३०९
सैन्धव (देश) ३७८
सैकत (देश) ३७८
सोडियम ३१४
सौमनस्यजनन ३००
सौम्य (दिव्य) ८२
सौवीर ४१३

स्तन्यजनन ४७,७८,१०८,३५१
स्तन्यरोधक १०८,३५१
स्तन्यशोधन ४७,१०८,३५१
स्तन्य-स्राव ३४९
स्तम्भन ५४,१०६,३११,३४२
स्त्री-प्रजनन-संस्थान के कर्म २९६,३४९
स्त्री-प्रजनन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य १०८
स्थानिक (कर्म) २९३
स्थानिक प्रभाव (रस) २६१
स्थावर (विष) ८३
स्थितिस्थापक १८३
स्थिर १६७
स्थूल १७१
स्निग्ध १६५
स्नुहीक्षीर (शोधन) ४०१
स्नेह-विकल्प ४१०
स्नेह-कल्प में जल आदि का मान ४१०
स्नेहन ५४,१०३,३१५
स्नेह प्रयोग ४११
स्नेहयोनि १२९
स्नेहोपग ४८,१०३,३१५
स्पर्श १२१
स्फोटजनन (अरुष्कर) ३१४
स्मृति २९९
स्रावक नाडियाँ ३२४
स्रोतों के कर्म ३६८
स्रोतों पर कर्म करने वाले द्रव्य ११२
स्वजात्यवस्थान १६
स्वप्नजनन ३०३
स्वभावोपरमवाद १५८
स्वरस ४०५
स्वरस का प्रयोग ४०६
स्वरस की मात्रा ४०५
स्वरस में प्रक्षेप-द्रव्यों का मान ४०५
स्वर्य ३२५
स्वल्प त्रिफला १२०
स्वस्थहित ३७
स्वादु ३३०
स्वेद-केन्द्र ३०९
स्वेद-ग्रन्थियाँ ३०९
स्वेदजनन १०२,३०९
स्वेदन ५४,३०९,३१०,४००
स्वेदन-स्तम्भन ३७१
स्वेदागम ३२०
स्वेदापनयन १०२,३११
स्वेदोपगम ४८,१०२,३११
हरिद्रादि ६५,९३
हरीतक्यादिवर्ग १४५
हर्षण ३५२
हिंगु (शोधन) ४०१
हिङ्गुल (शोधन) ४०२
हिक्कानिग्रहण ४९,१०४,३२५
हिततम ५५
हृत्पेशी ३१९
हृदय पर द्रव्यों के कर्म ३१८
हृदयावसादक १०३,३१८,३१९
हृदयोत्तेजक १०३,३१८,३१९
हृद्य ४६,१०३,३१८,३१९,३३०
हृद्यगण ३३०
हृद्विरोध ४२३
हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी १६१

*

Index

Absorption and excretion 426
Acid 412
Acquatic 40
Action 8
Action physio-psychological 261
Active fraction 293
Active principle 264-267
Administration of drugs 7,419
Adulteration 398
Active property or potency 263
Affinity 159
Agreement in presence and absence 263
Air-tight 389
Alcohol 412
Alkali 415
Analgesic 101,303
Animal product 26
Animate 24
Annuals 41
Anaphrodisiac 353
Anthelmintic 345
Anthelmintic or vermicide 344
Anthelmintics, vermicides or vermifuges 107
Anticholagogues 107,347
Anticoagulants 111
Anti-coagulant 364
Anti-convulsant 304
Anti-convulsant or spinal depressant 304
Anti-diaphoretic or anhidrotic 311
Anti-diuretic 356
Anti-emetic 336
Anti-emmenagogue 108,351
Anti-galactagogue 351
Antagonism 421
Anti-hypnotic 303
Antiperiodic 110,358
Antipyretic 109,357
Antilithic 356
Antiseptic 317,328
Anti-sialagogue 104,327
Aphrodisiac 352
Arid 378
Astringents 196
Association of ideas 299
Astringent 328,329
Bacteriological 281
Basic classification of dravyas 24
Basic concepts 7
Beneficial for throat 325
Biennials 41
Biliary lithontriptic 347
Biotransformation 239
Bitter 196
Boiling 400
Brain tonic 298
Bronchial antispasmodics 104,325
Bronchial sedatives or anti-tussive 104,324
Brucine 304
Calcium 367
Cardiac depressants 103,319
Cardiac stimulants 103,319
Cardiac tonics 103,319
Caustics 102,314
Cellulose 337
Central 378
Central emetic 335

Central expectorant 324
Cholagogues 107
Channels of administration 432
Chemical 398
Chemical combination 179
Chemical stimulation 326
Cholagogue 347
Cholagogue purgative 340
Choleretics 107,347
Chronic 317
Climate 426
Clinical pharmacology 7
Coagulant 364
Cold 164
Cold infusion 409
Collection and storage of drugs 381
Colloids 399
Combination 421
Confection 414
Conjunction 178
Convulsant 304
Convulsant or spinal simulant 304
Cosmetic 316
Counter-irritants 102,313
Cowling's rule 425
Crystalloids 399
Decoction 407
Decoloration 399
Deduction 86
Deductive method 86
Definition 11
Delayed action 261
Delirients 300
Dentifrice 328
Deodorant 317
Depilatories 312
Despumation 399
Dialysis 399
Diaphoresis 309
Diarrhoea 342
Diaphoretics 102,309
Diaphoretic or sudorific 309
Digestive 332
Dilling's formula 425
Dimension 182
Dipping 400
Direct action 294
Direct ecbolic 350
Disinfectant 317
Disjunction 180
Distribution 377
Diuretics 109,354
Dosage or posology 424
Drastic purgative 340
Dravya as drug 14
Drug 8
Dry preservation 389
Dyspnoea 325
Ecbolics 108,350
Ecology 7,377
Efficient or auxiliary cause 12
Elasticity 183
Elutriation 399
Emetic 334
Emmenagogue 108,350
Emollient 315
Enumeration 178
Epiphytic 40
Errhines 307
Exhilarants 300
Expectorants 104,323
Experimental pharmacology 7
Expressed juice 405
Fatigue 366
Fatty preparations 410
Fermentation 412
Fermentative preparations 412
Filter-paper 415
Filtration 399
Fine 170
Fomentation 309

Formulation 423
Forest 378
Fundus 332
Galactagogue 108,351
Gastric juice 329
Gastric sedative 334
Gastro-intestinal tract 326
Genaeological 42
General (action) 293
General or systemic (action) 293
General methods of purification 399
Glucose 358
Gross 171
Habit 426
Haematinic 363
Haemostatic or coagulants 111
Haemoglobin 363
Hard 168
Heavy 162
Hilly 378
Histology 7
Hot 164
Hot infusion 410
Hyperchlorhydria 334
Hypertensive 320
Hypotensive 320
Hypnotic(s) 101,302
Ideal drug 419
Indentification of drugs 375
Idiosyncrasy 426
Immediate action 261
Importance 15
Impression 183
Impurities of drugs and their purification 398
Impulse 183
Inactivation 240
Inanimate 24
Incompatibility 421
Indirect ecbolic 350
Inductive method 86
Inferiority 176
Inferable 261
Inherent or meterial cause 12
Iris 305
Insecticide 107,344,345
Intellect-promoting 298
Intra-ocular tension 306
Jars 389
Laxative 340
Leaf chimber 41
Life-promoter 359
Light 163
Lime water 415
Linctus 414
Liquid 171
Liquid extract 414
Lixiviation 399
Local (action) 293
Local effect 261
Local or reflex emetic or gastric emetic 335
Locus of action 160
Maceration 399
Marc 399
Measurement 182
Measures of volume or capacity 390
Measures of capacity-volume 396
Measures of length 390,396
Measures of weight 390
Mechanical stimulation 326
Medium trees 27
Mental condition 426
Metabolism 236
Metabolic property 8
Metric system 395,397
Mild 166
Mineral or inorganic 26
Mixed classification 114
Morphology 7

Morphological and natural similarity 42
Morphological classification 38,40
Morphological similarity 114
Mydriatic(s) 101,305
Myotics 101,306
Narcotics 101,299
Natural 398
Nomenclature and synonyms of dravyas 21
Non-inherent cause 12
Non-slimy 168
Non-unctuous 165
Nutra cetics 8
Oceanic 378
Oculomotor 305
Only physiological 261
Oxygen 318
Packing 388
Pāñcabhautika composition 12
Parasitic 40
Part used 420
Paste 406
Perceivable 261
Percolation 399
Perennials 41
Pharmaceutical preprations 404
Pharmacodynamics 7
Pharmacognosy 7
Pharmacological 281
Pharmacological actions 155
Pharmacotherapeutical classification 43,44
Pharmacotherapeutics 7
Pharmacological incompatibility 421
Pharmacological similarity 128
Pharmacy 7,403
Pharmacology 8
Physical 281,398
Physical and chemical incompatibility 421
Physical mixture 179
Physical and pharmacological properties 155
Physical properties 155
Place of origin 377
Pills 414
Poison 361
Potency 8
Powder 406
Power of acquisition 299
Practice 183
Premature labour 349
Preparations 426
Preservation 388
Processing 183
Property 8
Psychic or appetite juice 331
Psychic reflex 326
Psychological 281
Psycho-pharmacology 7
Pulmonary antiseptic 324
Pupil 305
Purgative 338,340
Pylorus 332
Quantitative incompatibility 421
Qualitative similarity 120
Rational application 177
Receptor 160
Recollection 299
Reflex action 294
Reflex expectorant 324
Refrigerant 358
Relish 330
Respiratory depressant 323
Respiratory stimulant 323
Rest and reserve force 318
Restorative 361
Retention 299

Rough 170
Rubbing 400
Rubefacient 102,314
Salt 196
Salivary secretions 326
Sensation 333
Separateness 181
Sepsis 324,356
Sharp 166
Shrubs and weak plants 27
Sialagogue 104,326
Sifting 399
Skin diseases 316
Slimy 169
Smooth 169
Soft 168
Solid 171
Solid extract 414
Sour 196
Specific action 293
Specific potency 8,279
Splanchnic nerves 337
Stable 167
Storage 387
Store-house 388
Sternutatory 307
Stomach 329
Stomachic 331
Strength 360
Structure-function relationship 292
Strychnine 304
Styptic 364
Sub-aquatic 378
Subcutaneous 339
Sublimation 400
Synergism 421
Substances 7,8
Superiority 176
Systemic effect 261
Systemic pharmacological classification 101
Syrup 415
Sweet 196
Tablet 414
Tall trees 27
Taste 8
Terrestrial 40
Thalamus 304
Time 426
Time of administration 428
Tolerant 426
Tonic 110,360
Toxicological 281
Transpiration 378
Unctuous 165
Union-promotor 359
Unstable 167
Urinary antiseptic 356
Urinary lithontriptic 355
Urticaria 317
Uterine sedatives 108,350
Vasicant 102
Vaso-constrictor 320,364
Vaso-dilator 320
Vegetable or plant 26
Vesicant 314
Vermifuge 345
Volatile oils and pungents 196
Vitaliser 359
Washing 399
Weight 182
Weights and measures 390
Wet preservation 389
Young's formula 425